नमो नमो निम्मलदंसणस्स

पूज्य आनंद-क्षमा-ललित-सुशील-सुधर्मसागर-गुरुभ्यो नमः

सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि

भाग 36



आगम ४३

"उत्तराध्ययनानि" मूलं एवं वृत्तिः [२]

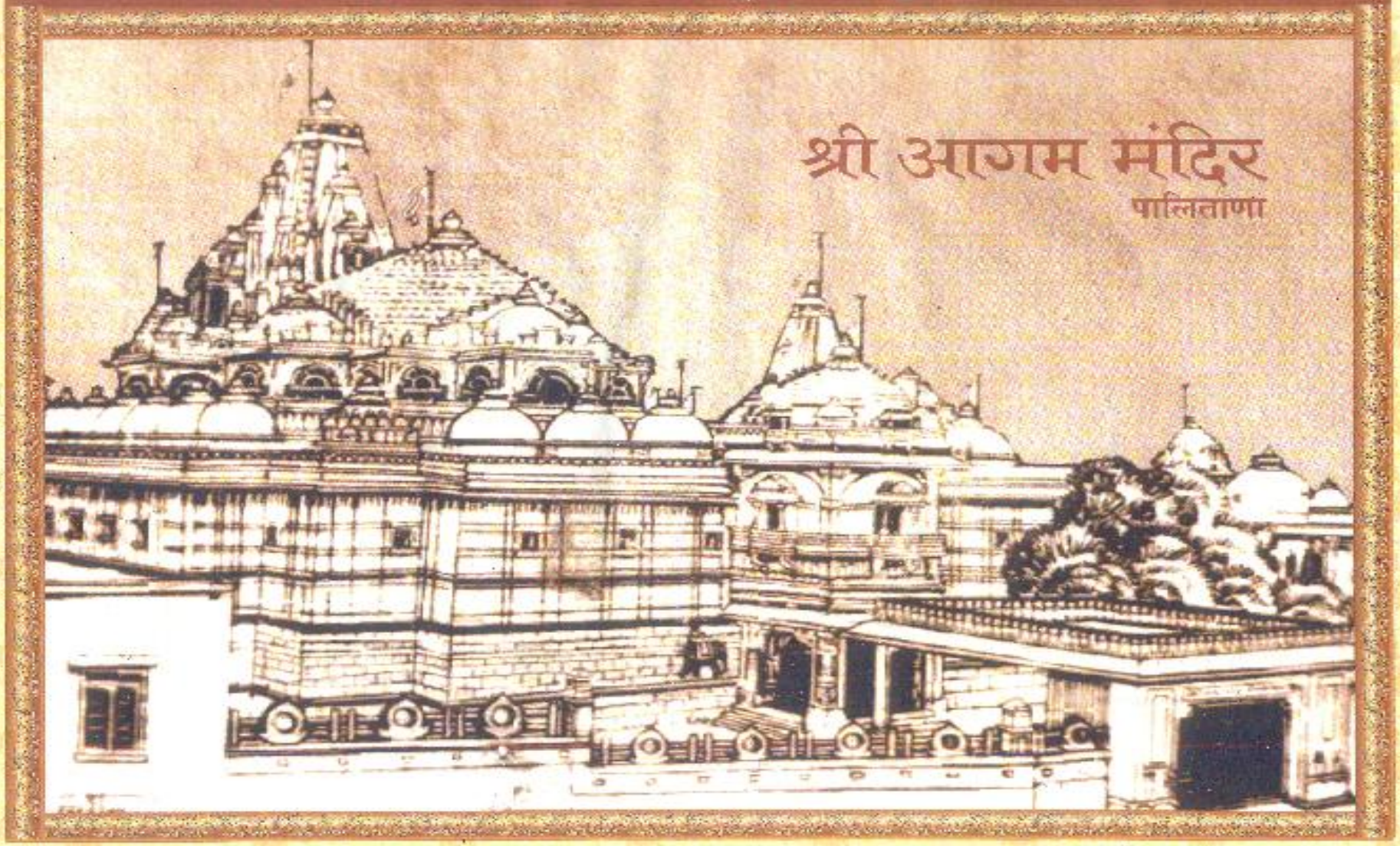
मूल संशोधक :- पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्यश्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराजसाहेब

अभिनव-संकलनकर्ता :- आगम दिवाकर मुनिश्री दीपरत्नसागरजी [M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि]

पूज्य शासनप्रभावक आचार्यश्री हर्षसागरसूरिजी की प्रेरणा से

'वर्धमान जैन आगम मंदिर संस्था' पालिताणा

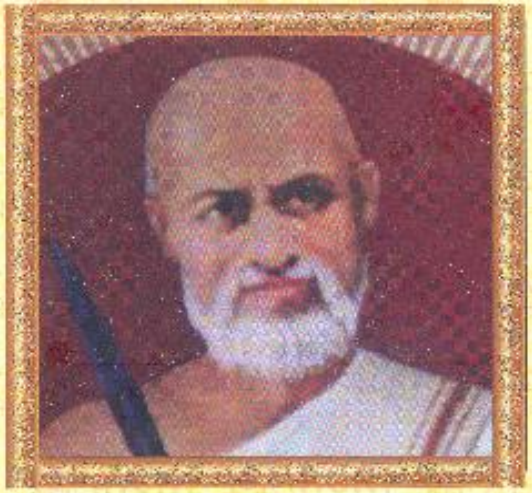
ईस प्रोजेक्ट के संपूर्ण-अनुदान-दाता



नमो नमो निम्मलदंसणस्स

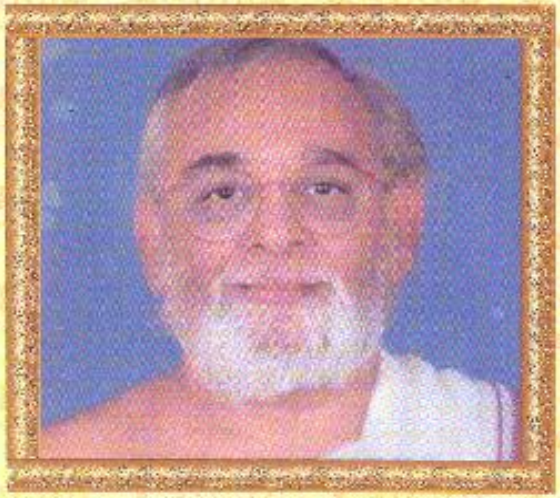
सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि

मूल संशोधक



पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्य
श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराज

अभिनव-संकलनकर्ता



आगम दिवाकर मुनिश्री दीपरत्नसागरजी
[M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि]

प्रत-प्राप्ति और पेज-सेटिंग कर्ता : www.jainelibrary.org के चेरमन श्री प्रवीणभाई शाह, अमेरिका
मुद्रक : नवप्रभात प्रिन्टींग प्रेस अमदाबाद Mo 9825598855 / 9825306275


आगम
वाचना शताब्दी वर्ष

[भाग-३६] श्री उत्तराध्ययनानि (मूलसूत्रम्-४/२)

नमो नमो निम्मलदंसणस्स

पूज्य श्रीआनंद-क्षमा-ललित-सुशील-सुधर्मसागर गुरूभ्यो नम:

"उत्तराध्ययनानि" मूलं एवं वृत्ति:

[मूलं + निर्युक्ति: + शान्तिसूरि-रचिता वृत्ति:]

[आद्य संपादकश्री]

पूज्य आगमोद्धारक आचार्यदेव श्री आनंदसागर सूरीश्वरजी म॰ सा॰

(किञ्चित् वैशिष्ठ्यं समर्पितेन सह)

पुन: संकलनकर्ता→ मुनि दीपरत्नसागर (M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि)

28/07/2017, शुक्रवार, २०७३ श्रावण शुक्ल ५ 'सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि' श्रेणि भाग-36

श्री आगमोद्धारक-वाचना-शताब्दी-वर्ष-निमित्त 'आगम-वृत्ति-मुद्रण-प्रोजेक्ट'

सामाचारी-संरक्षक, ज्ञानधनी, आगम-संशोधक, तीव्र-मेधावी, समाधिमृत्यु-प्राप्त, बहुमुखीप्रतिभाधारक

पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्यदेव श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराज साहेब

◆ जिन्होने शुद्ध-श्रद्धा, सम्यक्-श्रुत आराधना, यथाख्यातचारित्र के प्रति गति और अंत समय देह-ममत्व के त्याग के द्वारा कायोत्सर्ग नामक अभ्यंतर-तप कि मिशाल कायम कि है ऐसे बहुश्रुत आचार्य श्री सागरानंदसूरीश्वरजी महाराज का परिचय कराना मेरे लिए नामुमकिन है , फ़िर भी गुरुभक्ति बुद्धि से श्रद्धांजली स्वरुप एक मामुली सी झलक पैस करने का यह प्रयास मात्र है |

◆ चारित्र-ग्रहण के बाद अल्प कालमे जो अपने गुरुदेव की छत्रछाया से दूर हो गये , तो भी गुरुदेव के स्वर्ग-गमन को सिर्फ़ कर्मो का प्रभाव मानकर अपने संयम के लक्ष्य प्रति स्थिर रहते हुए अकेले ज्ञान-मार्ग कि साधना के पथ पर चले | पढाई के लिए ही कितने महिनो तक रोज एकासणा तप के साथ बारह किल्लोमिटर पैदल विहार भी किया | लेकिन अपने मंझिल पे डटे रहे, और परिणाम स्वरुप संस्कृत एवं प्राकृत भाषा का, प्राचीन लिपिओ का, व्याकरण-न्याय-साहित्य आदि का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया | जैन आगमशास्त्रो के समुद्र को भी पार कर गए|

◆ एक अकेला आदमी भी क्या नहीं कर शकता? इस प्रश्न का उत्तर हमें इस महापुरुष के जीवन और कवन से मिल गया, जब वे चल पड़े देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के स्थापित पथ पर. बिना किसी सहाय लिए हुए सिर्फ अकेले ही "जैन-आगम-शास्त्रो" को दीर्घजीवी बनाने के लिए अनेक हस्तप्रतो से शुद्ध-पाठ तैयार किये | दो वैकल्पिक आगम, कल्पसूत्र और निर्युक्तिओ को जोड़कर ४५ आगम-शास्त्रो को संशोधित कर के संपादित किया | फिर पालीताणामें आगम मंदिर बनवाकर आरस-पत्थर के ऊपर ये सभी आगम-साहित्य को कंडारा , सूरतमें ताम्रपत्र पर भी अंकित करवाए और "आगम मंजूषा" नाम से मुद्रण भी करवा के बड़ी बड़ी पेटीमें रखवा के गाँव गाँव भेज दिए | वर्तमानकालमे सर्व प्रथमबार ऐसा कार्य हुआ |

◆ सिर्फ मूल आगम के कार्य से ही उन के कदम रुके नही थे , उन्होंने आगमो की वृत्ति, चूर्णि, निर्युक्ति, अवचूरी, संस्कृत-छाया आदि का भी संशोधन-सम्पादन किया | उपयोगी विषयो के लिए उन्होंने एक लाख श्लोक प्रमाण संस्कृत-प्राकृत नए ग्रंथो की रचना भी की | कितने ही ग्रंथो की प्रस्तावना भी लिखी | ये सम्यक्-श्रुत मुद्रित करवाने के लिए आगमोदय समिति, देवचंद लालभाई इत्यादि विभिन्न संस्था की स्थापना भी की |

◆ ज्ञानमार्ग के अलावा सम्मेतशिखर, अंतरीक्षजी, केशरियाजी आदि तीर्थरक्षा कर के सम्यक-दर्शन-आराधना का परिचय भी दिया | राजाओं को प्रतिबोध कर के और वाचनाओ द्वारा अपनी प्रवचन-प्रभावकता भी उजागर करवाई | बालदिक्षा, देवद्रव्य-संरक्षण, तिथि-प्रश्न इत्यादि विषयोमे सत्य-पक्षमें अंत तक दृढ़ रहे | जैनशासन के लिए जब जरुरत पड़ी तब अदालती कारवाईंओ का सामना भी बड़ी निडरता से किया था |

◆ सागरानंदजी के नाम से मशहूर हो चुके पूज्य आनंदसागरसूरीश्वरजीने अपने परिवार स्वरुप ८७० साधू-साध्वीजी भी शासन को भेट किये |

...ये थे हमारे गुरुदेव "सागरजी"... *.....मुनि दीपरत्नसागर...*

संयमैकलक्षी, उपधान-तप-प्रेरक, चारित्र-मार्ग-रागी, प्रवचन-पटु, सुपरिवार-युक्त

पूज्य गच्छाधिपतिआचार्यदेव श्री देवेन्द्रसागरसूरीश्वरजी महाराज साहेब

*** परमपूज्य आचार्यश्री आनंदसागरसूरीश्वरजी के पाट-परंपरामे हुए तिसरे गच्छाधिपति थे पूज्य आचार्य श्री देवेन्द्रसागरसूरीश्वरजी , जो एक पून्यवान् आत्मा थे, दीक्षा ग्रहण के बाद अल्पकालमे ही एक शिष्य के गुरु बन गये | फ़िर क्या ! शिष्यो कि संख्या बढती चली , बढ़ते हुए पुन्य के साथ-साथ वे आखिर 'गच्छाधिपति' पद पे आरूढ़ हो गए | इस महात्मा का पुन्य सिर्फ शिष्यों तक सिमित नही था, वे जहा कहीं भी 'उपधान-तप' की प्रेरणा करते थे, तुरंत ही वहां 'उपधान' हो जाते थे | प्रवचनपटुता एवं पर्षदापुन्य के कारण उन के उपदेश-प्राप्त बहोत आत्माओने संयम-मार्ग का स्वीकार किया | खुद भी संयमैकलक्षी होने के कारण चारित्रमार्ग के रागी तो थे ही , साथसाथ ज्ञानमार्ग का स्पर्श भी उन का निरंतर रहेता था | आप कभी भी दुपहर को चले जाइए, वे खुद अकेले या शिष्य-परिवार के साथ कोई भी ग्रन्थ के अध्ययन-अध्यापनमें रत दिखाई देंगे |

*** ये तो हमने उनके जीवन के दो-तीन पहेलु दिखाए | एक और भी अनुसरणीय बात उन के जीवनमें देखने को मिली थी- 'आराधना-प्रेम'. कैसी भी शारीरिक स्थिति हो , मगर उन्होंने दोनों शाश्वती ओलीजी , [पोष}दशमी, शुक्ल पंचमी, त्रिकाल देववंदन, पर्व या पर्वतिथि के देववंदन आदि आराधना कभी नहीं छोड़ी | आखरी सालोमें जब उन को एहसास हो गया की अब 'अंतिम-आराधना' का अवसर नजदीक है, तब उन के मुहमें एक ही रटण बारबार चालु हो गया- "*अरिहंतनुं शरण, सिद्धनुं शरण, साधुनुं शरण, केवली भगवंते भाखेला धर्मनुं शरण*" इसी चार शरणो के रटण के साथ ही वे समाधि-मृत्यु-रूप सम्यक् निद्रा को प्राप्त हुए थे | ऐसे महान् सूरिवर को भावबरी वंदना | *** मुनि दीपरत्नसागर...

◆◆◆ श्री वर्धमान जैन आगम मंदिर संस्था, पालिताणा ◆◆◆

पूज्यपाद आनंदसागर-सूरीश्वरजी की बौद्धिक-प्रतिभा का मूर्तिमंत स्वरुप ऐसी इस संस्था की स्थापना विक्रम-संवत १९९९ मे महा-वद ५ को हुइ | *पूज्य आचार्य हर्षसागरसूरिजी की प्रेरणा से* जिन की तरफ़ से इस *सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि* के लिए संपूर्ण द्रव्य-सहाय की प्राप्ति हुइ |

शिल्प-स्थापत्य , शिलोत्कीर्ण आगम और समवसरण स्थित नयनरम्य ४५ चौमुख जिन-प्रतिमाजी से सुशोभित ऐसा ये 'आगममंदिर' है, जो शत्रुंजय-गिरिराज कि तलेटीमे स्थित है | वर्तमान २४ जिनवर, २० विहरमान जिनवर और १ शाश्वत मिलाकर ४५ चौमुखजी यहा बिराजमान है | जहां ४० समवसरण की रचना मेरु पर्वत के तिनो काण्ड के वर्णो के अनुसार चार अलग-अलग रंगो के आरस-पत्थर से बना है, देवो द्वारा रचित समवसरण के शास्त्र वर्णन-अनुसार आगम-मंदिर कि समवसरण का स्थापत्य है | ऐसी अनेक विशेषता से युक्त ये आगममंदिर है |

*** *मुनि दीपरत्नसागर...*

'सागर-समुदाय-एकता-संरक्षक, तीर्थ-उद्धार-कार्य-प्रवृत्त, गुणानुरागी'

इस "सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि' श्रेणि भाग १ से ४० के संपूर्ण अनुदान के प्रेरणादाता

पूज्य शासनप्रभावक आचार्य श्री हर्षसागरसूरिजी महाराज साहेब

पूज्यपाद स्व॰ गच्छाधिपति देवेन्द्रसागर-सूरीश्वरजी के विनयी शिष्य एवं दो गच्छाधिपतिओ के मुख्य सहायक के रुपमे 'सागर समुदाय' के सुचारु संचालक पूज्य हर्षसागरसूरिजी, जिन की प्रेरणा से ये "सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि" के मुद्रण के लिए संपूर्ण द्रव्यराशि प्राप्त हुई, उनका अत्यल्प परिचय यहां करेंगे| समुदाय-एकता के लिए सदैव प्रयत्नशील रहते हुए ये महात्मा *समुदाय के साधु-साध्वीजी* की आवश्यकताओकी पूर्ती के लिए भी प्रवृत्त रहेते है, प्राचीन-अर्वाचीन तीर्थो के जीर्णोद्धार एवं विकाश के लिए भी उत्साहित रहेते है, ज्ञान-क्षेत्र अछूता न रहे इसीलिए अनुमोदना, अनुदान एवं समय मिलने पर शास्त्र-वांचनमें भी रूचि रखते है | समुदाय के जरूरतमंद साध्वीजी भगवंतो के आवास का विषय हो या साध्वीजी के विहारमें मजदूर का वेतन चुकाना हो, ऐसे छोटे-छोटे कार्यो के प्रति भी उन का लक्ष्य रहेता है | दर्शन-शुद्धि के लिए जब उन्होंने समग्र भारतवर्ष के १०० साल तक के पुराने जिनालयो में १८ अभिषेक की प्रेरणा की, उस वक्त लगभग सभी अभिषेक-सामग्री की द्रव्य-शुद्धि का ख़याल रखते हुए अपनी मेधावी बुद्धि का परिचय दिया था, साथमे अनुकंपा भाव से पुजारी या विधि करानेवाले को यत्किंचित् बहुमान प्रगट करते हुए कुछ धन-राशि प्रदान करवाई |

ऐसे बहुगुण-संपन्न महात्मा पूज्य आचार्यश्री हर्षसागर-सूरिजी को हम भावभरी वंदना करते हुए इस श्रुतकार्य का प्रारंभ करने जा रहे है |

**** मुनि दीपरत्नसागर*

[कात्रज]पूना, कपडवंज, प्रभासपाटण आदि स्थानोमे आगममंदिर के प्रेरक, कर्मग्रंथ अभ्यासु, निस्पृह महात्मा

पूज्यपाद गच्छाधिपति आचार्य श्री दौलतसागर-सूरीश्वरजी महाराज साहेब

(एवं) अजातशत्रु, स्वाध्याय-रसिक, प्रशांतमूर्ती और अपने गुरु के प्रीतिपात्र

परम पूज्य आचार्य श्री नंदीवर्धनसागर-सूरिजी महाराज साहेब

इस पवित्र श्रुत-कार्यमे दोनो सूरिवरो का स्मरण करते हुए कोटि कोटि वंदना के साथ

.....मुनि दीपरत्नसागर

मूलांक:	अध्ययनं	पृष्ठांक:		मूलांक:	अध्ययनं	पृष्ठांक:		मूलांक:	अध्ययनं	पृष्ठांक
०००१	०१ विनयसूत्तं			०४०७	१३ चित्रसंभूतियं	२४५		०९६३	२५ यज्ञकियं	
००४९	०२ परिषह विभक्ति:			०४४२	१४ इषुकारियं	२८३		१००७	२६ सामाचारी	
००९५	०३ चातुरंगियं			०४९५	१५ सभिक्षुकं	३२१		१०५९	२७ खलुंकियं	
०११५	०४ असंस्कृतं			०५११	१६ ब्रह्मचर्यसमाधि$_0$	३३७		१०७६	२८ मोक्षमार्गगति:	
०१२८	०५ अकाममरणियं			०५३९	१७ पापश्रमणियं	३५८		१११२	२९ सम्यक्त्वपराक्रमं	
०१६०	०६ क्षुल्लकनिर्ग्रन्थियं	००७		०५६०	१८ संयतियं	३७१		११८९	३० तपोमार्गगति:	
०१७९	०७ औरभ्रियं	०३३		०६१४	१९ मृगापुत्रिकं	३९७		१२२६	३१ चरणविधि:	
०२०९	०८ कापिलियं	०६८		०७१३	२० महानिर्ग्रन्थियं	४२९		१२४७	३२ प्रमादस्थानं	
०२२८	०९ नमिप्रव्रज्या	०९३		०७७३	२१ समुद्रपालितं	४६०		१३५८	३३ कर्मप्रकृत्ति:	
०२९१	१० द्रुमपत्रकं	१३७		०७९७	२२ रथनेमियं			१३८३	३४ लेश्या-अध्ययनं	
०३२८	११ बहुश्रुतपूजा	१८०		०८४७	२३ केशीगौतमियं			१४४४	३५ अणगारमार्गगति:	
०३६०	१२ हरिकेशियं	२०४		०९३६	२४ प्रवचनमाता			१४६५	३६ जीवाजीव-विभक्ति:	

[उत्तराध्ययनानि- मूलं एवं वृत्ति:] इस प्रकाशन की विकास-गाथा

यह प्रत सबसे पहले "उत्तराध्ययनानि सूत्र" के नामसे सन १९१६ (विक्रम संवत १९७२) में देवचन्द्र लालभाइ पुस्तकोद्धार संस्था द्वारा प्रकाशित हुई, इस के संपादक-महोदय थे पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्यदेव श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी (सागरानंदसूरिजी) महाराज साहेब |

इसी प्रत को फिर अपने नामसे 'जिनशासन आराधना ट्रस्ट' की तरफ से आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरिजीने छपवाई , जिसमे उन्होंने खुदने तो कुछ नहीं किया, मगर इसी प्रत को ऑफसेट करवा के , ऊपर अपना नाम एवं अपनी प्रकाशन संस्था का नाम छाप दिया. यह स्पष्ट रूपसे एक प्रकारसे अदत्तादान ही है, ऐसी अनेक प्रतो के अगले दो पेज पलटकर या नए डालकर उन्होंने अपने नामसे छपवाइ है , इस तरह वो अपने आपको बड़ा आगम संरक्षक साबित करनेकी अनुचित चेष्टा कर चुके है |

इसी उत्तराध्ययन०-सूत्र की प्रत को ऑफसेट की मदद से दुसरोने भी प्रकाशित करवाई है , किसीने पूज्यश्री सागरानंदसूरीश्वरजी महाराजश्री का नाम बड़ी इज्जत के साथ अपनी जगह पे ही रखा है , और खुदका नाम पुन: संपादक रूप से पेश किया है तो किसीने अपना नाम आगे कर दिया है और पूज्य सागरानंदसूरीश्वरजीका नाम गौण कर दिया है या उड़ा दिया है |

✣ हमारा ये प्रयास क्यों?✣ आगम की सेवा करने के हमें तो बहोत अवसर मिले, ४५-आगम सटीक भी हमने ३० भागोमे १२५०० से ज्यादा पृष्ठोमें प्रकाशित करवाए है, किन्तु लोगो की पूज्यश्री सागरानंदसूरीश्वरजी के प्रति श्रद्धा तथा प्रत स्वरुप प्राचीन प्रथा का आदर देखकर हमने इसी प्रत को स्केन करवाई, उसके बाद एक स्पेशियल फोरमेट बनवाया , जिसमे बीचमे पूज्यश्री संपादित प्रत ज्यों की त्यों रख दी , ऊपर शीर्षस्थानमे आगम का नाम , फिर अध्ययन--मूलसूत्र आदि के नंबर लिख दिए, ताँकि पढ़नेवाले को प्रत्येक पेज पर कौनसा अध्ययन, सूत्र, आदि चल रहे है उसका सरलतासे ज्ञान हो शके | बायीं तरफ आगम का क्रम और इसी प्रत का सूत्रक्रम दिया है , उसके साथ वहाँ 'दीप अनुक्रम' भी दिया है, जिससे हमारे प्राकृत, संस्कृत, हिंदी गुजराती, इंग्लिश आदि सभी आगम प्रकाशनोमें प्रवेश कर शके | हमारे अनुक्रम तो प्रत्येक प्रकाशनोमें एक सामान और क्रमशः आगे बढते हुए ही है , इसीलिए सिर्फ क्रम नंबर दिए है, मगर प्रत में गाथा और सूत्रों के नंबर अलग-अलग होने से हमने जहां सूत्र है वहाँ कौंस [-] दिए है और जहां गाथा है वहाँ ||-|| ऐसी दो लाइन खींची या 'गाथा' शब्द लिखा है| हर पृष्ठ के नीचे विशिष्ठ फूटनोट दी है |

शासनप्रभावक पूज्य आचार्यश्री हर्षसागरसूरिजी म०सा० की प्रेरणासे और श्री वर्धमान जैन आगममंदिर, पालिताणा की संपूर्ण द्रव्य सहाय से ये 'सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि' भाग-३६ का मुद्रण हुआ है, हम उन के प्रति हमारा आभार व्यक्त करते है |

.....मुनि दीपरत्नसागर.

प्रत सूत्रांक ॥३२॥

दीप अनुक्रम [१६०]

॥ उक्तं पञ्चममध्ययनं, साम्प्रतं षष्ठमारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः–अनन्तराध्ययने मरणविभक्तिरुक्ता, तत्रापि चानन्तरं पण्डितमरणं, तच्च 'विरयाण पंडियं बेंति'त्ति वचनाद्विरतानामेव, न चैते विद्याचरणविकला इति तत्–स्वरूपमनेनोच्यते, इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्याध्ययनस्य महापुरुषेव चत्वार्यनुयोगद्वाराणि भवन्तीत्यादिचर्चस्तावद्या-वन्नामनिष्पन्ननिक्षेपे क्षुल्लकनिर्ग्रन्थीयमिति नाम, ततः क्षुल्लकस्य निर्ग्रन्थस्य च निक्षेपः कार्यः, तत्र क्षुल्लकस्य विपक्षो महान्, तदपेक्षत्वात् क्षुल्लकस्य, इति तन्निक्षेपे निक्षिप्तमेव तद्भवतीत्यभिप्रायेणाह—

नामं ठवणा दविए खित्ते काले पहाण पइ भावो। एएसि महंताणं पडिवक्खो खुल्लया हुंति ॥ २३६ ॥

व्याख्या—अत्र नामस्थापने क्षुण्णे, महच्छब्दश्च प्रक्रमात् सर्वत्र गम्यते, तत्रागमतो ज्ञाताऽनुपयुक्तो द्रव्यमहत्, नोआगमतो ज्ञशरीरभव्यशरीरतद्व्यतिरिक्तं द्रव्यमहद् अचित्तमहास्कन्धो दण्डादिकरणेन यश्चतुर्भिः समयैः सक-ललोकमापूरयति, क्षेत्रमहत् लोकालोकव्याप्याकाशं, कालमहद् अनागताद्धा, प्रधानमहत्त्रिधा–सचित्तमचित्तं मिश्रं च, तत्र सचित्तं द्विपदं चतुष्पदमपदं च, तत्र द्विपदं तीर्थकृत् चतुष्पदं सरभः अपदं पद्मादिह्रदोत्पन्नं पद्मम्, अचित्तं चिन्तामणिः, मिश्रं तीर्थकृदेव राज्याभिषेकादिष्वलङ्कृतः, प्रतिमहत् यदन्यापेक्षया महदुच्यते, यथा सर्षपाच्चनकश्च-नकाद्बदरमित्यादि, भावमहत् प्राधान्यतः क्षायिको भावः कालतः पारिणामिकोऽनाद्यनन्तजीवाजीवत्वादिरूपत्वा-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ अध्ययनं – ६ "क्षुल्लकनिर्ग्रन्थिय" आरभ्यते

प्रत सूत्रांक ॥३२॥

दीप अनुक्रम [१६०]

तस्य आश्रयतः औदयिको बहुतरजीवाश्रयत्वात् तस्य, तथा च वृद्धाः—"आसयओ ओदयितो भावो, तंमि भावे बहुतरा जीवा वट्टंति" पारिणामिकाविवक्षया चैतत् सम्भाव्यते, अतः पारिणामिक एवाश्रयतो महान्, अशेषजीवाजीवद्रव्याश्रयत्वात्, प्रस्तुतमर्थमाह—'एतेषाम्' अनन्तरमुक्तानां नामादिमहतां 'प्रतिपक्षो' विपक्षः क्षुल्लकानि भवन्ति, तत्रापि नामस्थापने प्रतीते, द्रव्यतः परमाणुः, क्षेत्रतः आकाशप्रदेशः, कालतः समयः, प्राधान्यतः सचित्ताचित्तमिश्रभेदतस्त्रिधा, तत्र सचित्तं द्विपदमाहारकं शरीरं चतुष्पदं सिंहः अपदं लवङ्गपुष्पम्, अचित्तं हीरकः, मिश्रं जन्मसमयानन्तरमलङ्कृतस्तीर्थकृत्, प्रतिक्षुल्लकमामलकाद्बदरं बदराचनक इत्यादि, भावक्षुल्लकं क्षायिको भावः, उक्तं हि वृद्धैः—"सव्वेत्थोवा जीवा खाइए भावे वट्टंति" सांसारिकसत्त्वापेक्षं चैतद्, अन्यथौपशमिक एव सर्वस्तोकतया भावक्षुल्लकं सम्भवतीति गाथार्थः ॥ इत्थं क्षुल्लकनिक्षेपमभिधाय निर्ग्रन्थनिक्षेपमाह—

निक्खेवो नियंठंमि चउव्विहो दुव्विहो य दव्वंमि। आगमनोआगमओ नोआगमतो य सो तिविहो २३७

व्याख्या—'निक्षेपो' न्यासः 'णियंठंमि'त्ति निर्ग्रन्थे निर्ग्रन्थविषयः 'चतुर्विधो' नामस्थापनाद्रव्यभावभेदात्, तत्र नामस्थापने क्षुण्णे, द्विविधो भवति द्रव्ये आगमनोआगमतश्च, तत्रागमतः प्राग्वत्, नोआगमतश्च 'स' इति निर्ग्रन्थः 'त्रिविधः' त्रिभेद इति गाथार्थः ॥ त्रैविध्यमेवाह—

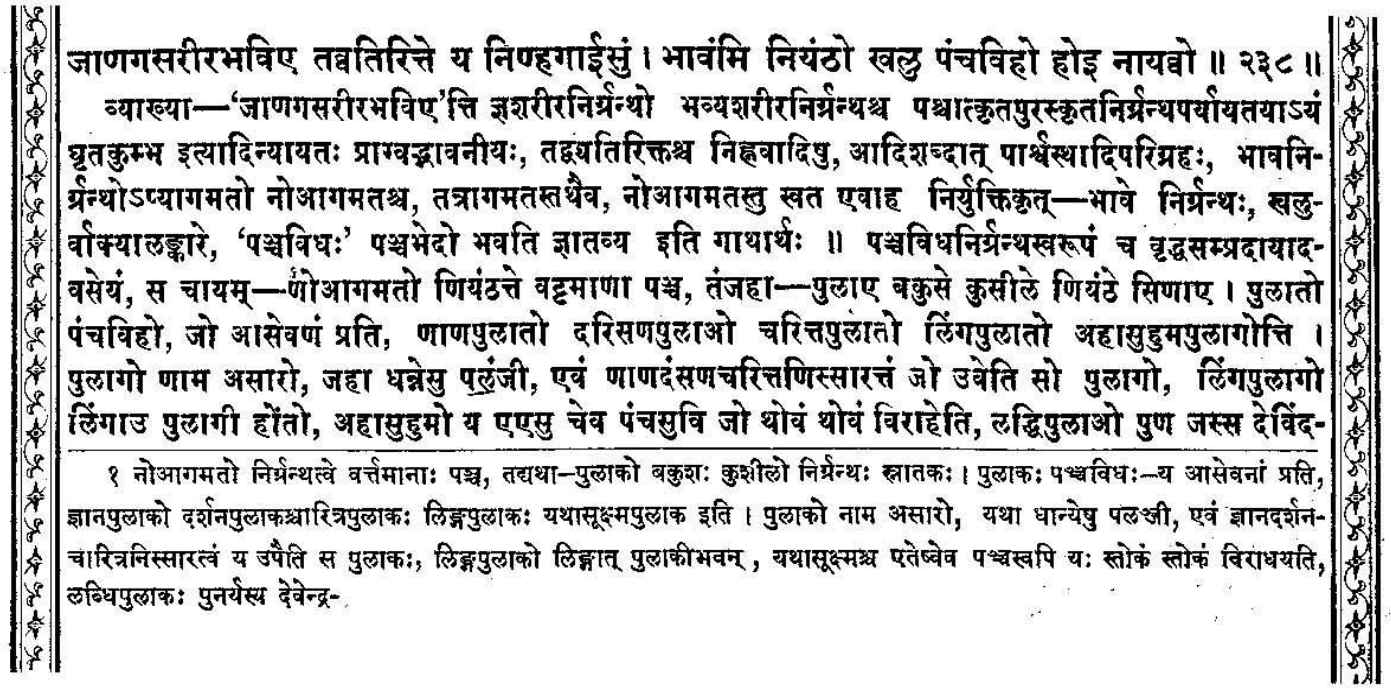
१ आश्रयत औदयिको भावः तस्मिन् भावे बहुतरा जीवा वर्त्तन्ते। २ सर्वस्तोका जीवाः क्षायिके भावे वर्त्तन्ते

॥२५५॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३२॥

दीप अनुक्रम [१६०]



जाणगसरीरभविए तव्वतिरित्ते य निण्हगाईसुं। भावंमि नियंठो खलु पंचविहो होइ नायवो ॥ २३८ ॥

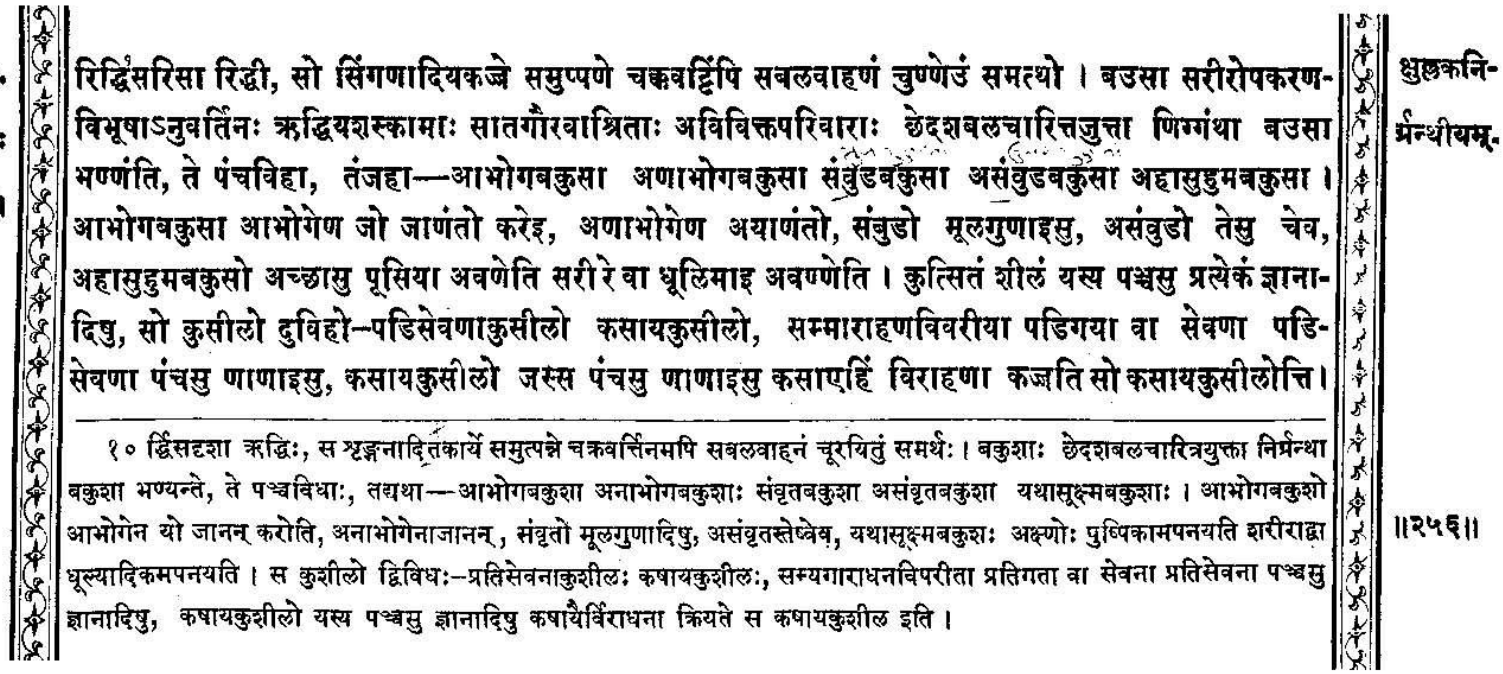
व्याख्या—'जाणगसरीरभविए'त्ति ज्ञशरीरनिर्ग्रन्थो भव्यशरीरनिर्ग्रन्थश्च पश्चात्कृतपुरस्कृतनिर्ग्रन्थपर्यायतयाऽयं घृतकुम्भ इत्यादिन्यायतः प्राग्वद्भावनीयः, तद्व्यतिरिक्तश्च निह्नवादिषु, आदिशब्दात् पार्श्वस्थादिपरिग्रहः, भावनिर्ग्रन्थोऽप्यागमतो नोआगमतश्च, तत्रागमतस्तथैव, नोआगमतस्तु स्वत एवाह निर्युक्तिकृत्—भावे निर्ग्रन्थः, खलुर्वाक्यालङ्कारे, 'पञ्चविधः' पञ्चभेदो भवति ज्ञातव्य इति गाथार्थः ॥ पञ्चविधनिर्ग्रन्थस्वरूपं च वृद्धसम्प्रदायादवसेयं, स चायम्—णोआगमतो णियंठत्ते वट्टमाणा पञ्च, तंजहा—पुलाए बकुसे कुसीले णियंठे सिणाए। पुलातो पंचविहो, जो आसेवणं प्रति, णाणपुलातो दरिसणपुलाओ चरित्तपुलातो लिंगपुलातो अहासुहुमपुलागोत्ति। पुलागो णाम असारो, जहा धन्नेसु पलंजी, एवं णाणदंसणचरित्तणिस्सारत्तं जो उवेति सो पुलागो, लिंगपुलागो लिंगाउ पुलागी होंतो, अहासुहुमो य एएसु चेव पंचसुवि जो थोवं थोवं विराहेति, लद्धिपुलाओ पुण जस्स देविंद-

१ नोआगमतो निर्ग्रन्थत्वे वर्त्तमानाः पञ्च, तद्यथा—पुलाको बकुशः कुशीलो निर्ग्रन्थः स्नातकः। पुलाकः पञ्चविधः—य आसेवनां प्रति, ज्ञानपुलाको दर्शनपुलाकश्चारित्रपुलाकः लिङ्गपुलाकः यथासूक्ष्मपुलाक इति। पुलाको नाम असारो, यथा धान्येषु पलञ्जी, एवं ज्ञानदर्शनचारित्रनिस्सारत्वं य उपैति स पुलाकः, लिङ्गपुलाको लिङ्गात् पुलाकीभवन्, यथासूक्ष्मश्च एतेष्वेव पञ्चस्वपि यः स्तोकं स्तोकं विराधयति, लब्धिपुलाकः पुनर्यस्य देवेन्द्र-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३२॥

दीप अनुक्रम [१६०]



उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥२५६॥

रिद्धिसरिसा रिद्धी, सो सिंगणादियकज्जे समुप्पण्णे चक्कवट्टिंपि सबलवाहणं चुण्णेउं समत्थो । बउसा सरीरोपकरण-विभूषाऽनुवर्तिनः ऋद्धियशस्कामाः सातगौरवाश्रिताः अविविक्तपरिवाराः छेदशबलचारित्तजुत्ता णिग्गंथा बउसा भण्णंति, ते पंचविहा, तंजहा—आभोगबकुसा अणाभोगबकुसा संवुडबकुसा असंवुडबकुसा अहासुहुमबकुसा । आभोगबकुसा आभोगेण जो जाणंतो करेइ, अणाभोगेण अयाणंतो, संवुडो मूलगुणाइसु, असंवुडो तेसु चेव, अहासुहुमबकुसो अच्छासु पूसिया अवणेति सरीरे वा धूलिमाइ अवण्णेति । कुत्सितं शीलं यस्य पञ्चसु प्रत्येकं ज्ञानादिषु, सो कुसीलो दुविहो–पडिसेवणाकुसीलो कसायकुसीलो, सम्माराहणविवरीया पडिगया वा सेवणा पडिसेवणा पंचसु णाणाइसु, कसायकुसीलो जस्स पंचसु णाणाइसु कसाएहिं विराहणा कज्जति सो कसायकुसीलोत्ति।

१० र्द्धिसदृशा ऋद्धिः, स शृङ्गनादितकार्ये समुत्पन्ने चक्रवर्त्तिनमपि सबलवाहनं चूरयितुं समर्थः । बकुशाः छेदशबलचारित्रयुक्ता निर्ग्रन्था बकुशा भण्यन्ते, ते पञ्चविधाः, तद्यथा—आभोगबकुशा अनाभोगबकुशाः संवृतबकुशा असंवृतबकुशा यथासूक्ष्मबकुशाः । आभोगबकुशो आभोगेन यो जानन् करोति, अनाभोगेनाजानन्, संवृतो मूलगुणादिषु, असंवृतस्तेष्वेव, यथासूक्ष्मबकुशः अक्ष्णोः पुष्पिकामपनयति शरीराद्वा धूल्यादिकमपनयति । स कुशीलो द्विविधः–प्रतिसेवनाकुशीलः कषायकुशीलः, सम्यगाराधनविपरीता प्रतिगता वा सेवना प्रतिसेवना पञ्चसु ज्ञानादिषु, कषायकुशीलो यस्य पञ्चसु ज्ञानादिषु कषायैर्विराधना क्रियते स कषायकुशील इति ।

क्षुल्लकनिर्ग्रन्थीयम्. ॥२५६॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४३], मूलसूत्र[४] उत्तराध्ययनानि मूलं एवं शान्तिसूरिविरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक ॥३२॥

दीप अनुक्रम [१६०]

णियंठो अब्भिंतरबाहिरगंथणिग्गतो, सो उवसंतकसातो खीणकसातो वा अंतोमुहुत्तकालितो, सो पंचविहो–पढमसमयणियंठो अपढमसमयनियंठो, अहवा चरमसमयनियंठो अचरमसमयनियंठो अहासुहुमणियंठोत्ति, अंतोमुहुत्तणियंठकालसमयरासीए पढमसमए पडिवज्जमाणो पढमसमयनियंठो, सेसेसु समयएसु वट्टमाणो अपढमसमयनियंठो, चरमे–अंतिमे समए वट्टमाणो चरमसमयणियंठो, अचरमा–आदिमज्झा, अहासुहुमो एएसु सव्वेसुऽवि। सिणातो–ण्हातको मोहणिज्जाइघातियचउकम्मावगतो सिणातो भण्णति, सो पंचविहो–अच्छवी असबलो अकम्मंसो संसुद्धणाणदंसणधरो अरहा जिणो केवली, अच्छवी–अव्यथकः, सबलो सुद्धासुद्धो एगंतसुद्धो असबलो, अंशा–अवयवाः कर्मणस्ते अवगया जस्स सो अकम्मंसो, संसुद्धाणि णाणदंसणाणि धारेति जो सो संसुद्धणाणदं-

१ निर्ग्रन्थः अभ्यन्तरबाह्यग्रन्थनिर्गतः, स उपशान्तकषायः क्षीणकषायो वा अन्तर्मुहूर्त्तकालिकः, स पञ्चविधः—प्रथमसमयनिर्ग्रन्थः अप्रथमसमयनिर्ग्रन्थः अथवा चरमसमयनिर्ग्रन्थः अचरमसमयनिर्ग्रन्थः यथासूक्ष्मनिर्ग्रन्थ इति । अन्तर्मुहूर्त्तनिर्ग्रन्थकालसमयराशौ प्रथमसमयं प्रतिपद्यमानः प्रथमसमयनिर्ग्रन्थः, शेषेषु समयेषु वर्त्तमानोऽप्रथमसमयनिर्ग्रन्थः, चरमे—अन्तिमे समये वर्त्तमानश्चरमसमयनिर्ग्रन्थः, अचरमा–आदिमध्याः, यथासूक्ष्म एतेषु सर्वेष्वपि । मोहनीयादिघातिचतुष्कर्मापगतः स्नातको भण्यते, स पञ्चविधः–अच्छविः अशबलः अकर्मांशः संशुद्धज्ञानदर्शनधरः अर्हन् जिनः केवली, शबलः शुद्धाशुद्धः एकान्तशुद्धोऽशबलः,–अपगता यस्मात् सोऽकर्मांशः, संशुद्धे ज्ञानदर्शने धारयति यः स संशुद्धज्ञान–

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३२॥

दीप अनुक्रम [१६०]

सर्णधरो, पूजामर्हतीति अरहा, अथवा नास्य रहस्यं विद्यत इति अरहा, जितकषायत्वाज्जिनः, एसो पंचविहो सिणायगो । आह च भाष्यकृत्—

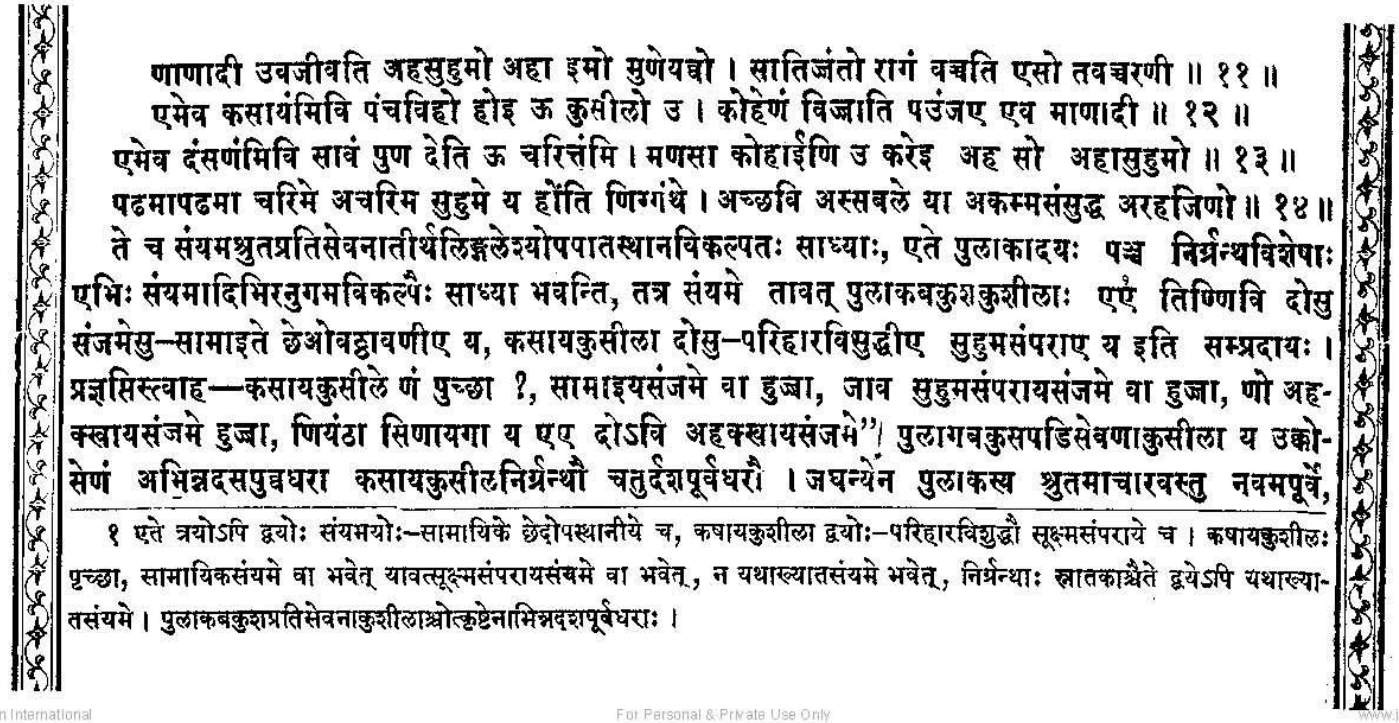
तत्थ णियंठपुलातो बकुसकुसीलो णियंठ ण्हातो य । तत्थ पुलाओ दुविहो आसेवण लद्धितो चेव ॥ १ ॥
पुलागबकुसकुसीला नियंठसिणायगा य णायव्वा । एएसिं पंचण्हवि होइ विभासा इमा कमसो ॥ २ ॥
तत्थ पुलातो दुविहो लद्धिपुलातो तहेव इयरो वा । लद्धिपुलातो संघाइकज्ज इयरो य पंचविहो ॥ ३ ॥
णाणे दंसणचरणे लिंगे अहसुहुमए य णायव्वो । णाणे दंसणचरणे तेसिं तु विराहण असारो ॥ ४ ॥
लिंगपुलातो अन्नं णिकारणतो करेति सो लिंगं । मणसा अकप्पियाईणिसेवओ होयहासुहुमो ॥ ५ ॥
सरीरे उवकरणे वा बाउसियत्तं दुहा समक्खायं । सुक्किलवत्थाणि धरे देसे सव्वे सरीरंमि ॥ ६ ॥
आभोगमणाभोगं संवुडमसंवुडे अहासुहुमे । सो दुविहोऽवी बउसो पंचविहो होइ णायव्वो ॥ ७ ॥
आभोगे जाणंतो करेति दोसं तहा अणाभोगे । मुलुत्तरेहि संवुडो विवरीय असंवुडो होति ॥ ८ ॥
अच्छिमुहमज्जमाणो होइ अहासुहुमतो तहा बउसो । पडिसेवणाकसाए होइ कुसीलो दुहा एसो ॥ ९ ॥
णाणे दंसणचरणे तवे य अहसुहुमए य बोद्धव्वे । पडिसेवणाकुसीलो पंचविहो ऊ मुणेयव्वो ॥ १० ॥

१० दर्शनधरः । एष पञ्चविधः स्नातकः । २ भाष्यं प्राय एवदनुगतमेवेति न संस्कृतम्

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३२॥

दीप अनुक्रम [१६०]



णाणादी उवजीवति अहसुहुमो अहा इमो सुणेयव्वो । सातिज्जंतो रागं वच्चति एसो तवच्चरणी ॥ ११ ॥
एमेव कसायंमिवि पंचविहो होइ ऊ कुसीलो उ । कोहेणं विज्जाति पउंजए एव माणादी ॥ १२ ॥
एमेव दंसणंमिवि सावं पुण देति ऊ चरित्तंमि । मणसा कोहाईणि उ करेइ अह सो अहासुहुमो ॥ १३ ॥
पढमापढमा चरिमे अचरिम सुहुमे य होंति णिग्गंथे । अच्छवि अस्सबले या अकम्मसंसुद्ध अरहजिणो ॥ १४ ॥
ते च संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिङ्गलेश्योपपातस्थानविकल्पतः साध्याः, एते पुलाकादयः पञ्च निर्ग्रन्थविशेषाः एभिः संयमादिभिरनुगमविकल्पैः साध्या भवन्ति, तत्र संयमे तावत् पुलाकबकुशकुशीलाः एएं तिण्णिवि दोसु संजमेसु–सामाइते छेओवट्ठावणीए य, कसायकुसीला दोसु–परिहारविसुद्धीए सुहुमसंपराए य इति सम्प्रदायः । प्रज्ञसिस्त्वाह—कसायकुसीले णं पुच्छा ?, सामाइयसंजमे वा हुज्जा, जाव सुहुमसंपरायसंजमे वा हुज्जा, णो अहक्खायसंजमे हुज्जा, णियंठा सिणायगा य एए दोऽवि अहक्खायसंजमे"। पुलागबकुसपडिसेवणाकुसीला य उक्कोसेणं अभिन्नदसपुव्वधरा कसायकुसीलनिर्ग्रन्थौ चतुर्दशपूर्वधरौ । जघन्येन पुलाकस्य श्रुतमाचारवस्तु नवमपूर्वे,

१ एते त्रयोऽपि द्वयोः संयमयोः–सामायिके छेदोपस्थानीये च, कषायकुशीला द्वयोः–परिहारविशुद्धौ सूक्ष्मसंपराये च । कषायकुशीलः पृच्छा, सामायिकसंयमे वा भवेत् यावत्सूक्ष्मसंपरायसंयमे वा भवेत्, न यथाख्यातसंयमे भवेत्, निर्ग्रन्थाः स्नातकाश्चैते द्वयेऽपि यथाख्यातसंयमे । पुलाकबकुशप्रतिसेवनाकुशीलाश्चोत्कृष्टेनाभिन्नदशपूर्वधराः ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३२॥

दीप अनुक्रम [१६०]

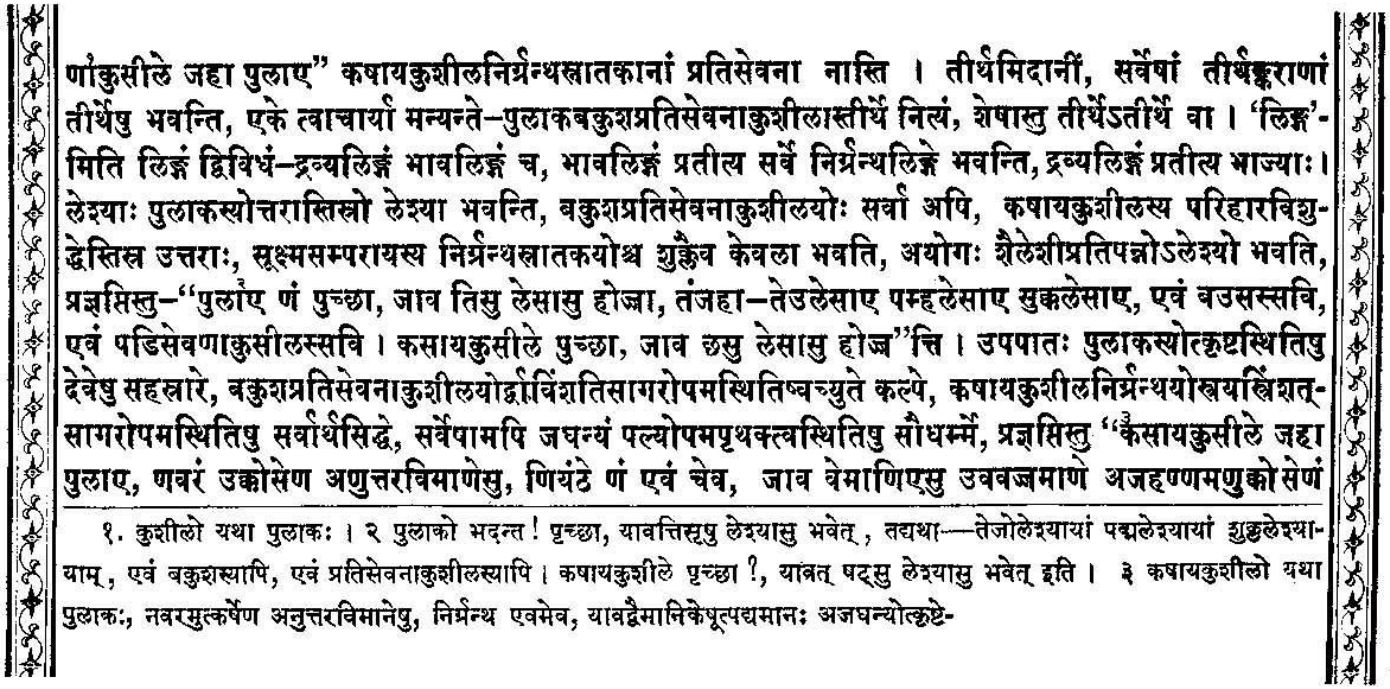
बकुशकुशीलनिर्ग्रन्थानां श्रुतमष्टौ प्रवचनमातरः, श्रुतापगतः केवली स्नातक इति सम्प्रदायाभिप्रायः। प्रज्ञप्त्यभिप्रायस्तु—"पुलाए णं भंते! केवतियं सुयं अहिज्जेज्जा?, गोयमा! जहण्णेणं णवमस्स पुव्वस्स तइयं आयारवत्थुं, उक्कोसेणं नव पुव्वाइं अहिज्जेज्जा"। इदानीं प्रतिसेवना—पञ्चानां मूलगुणानां रात्रिभोजनस्य च पराभियोगाद्बलात्कारेण अन्यतमत् प्रतिसेवमानः पुलाको भवति, मैथुनमेवेत्येके, प्रज्ञप्तिस्तु—"पुलाए णं पुच्छा, जाव मूलगुणे पडिसेवेमाणे पंचण्हं आसवाणं अन्नयरं पडिसेवेज्जा, उत्तरगुणे पडिसेवेमाणे दसविहस्स पच्चक्खाणस्स अन्नयरं पडिसेवेज्जा" बकुशो द्विविधः—उपकरणबकुशः शरीरबकुशश्च, तत्रोपकरणाभिष्वक्तचित्तो विविधविचित्रमहाधनोपकरणपरिग्रहयुक्तः विशेषयुक्तोपकरणकाङ्क्षायुक्तो नित्यं तत्प्रतिकारसेवी भिक्षुरुपकरणबकुशो भवति, शरीराभिष्वक्तचित्तो विभूषार्थं तत्प्रतिकारसेवी शरीरबकुशः। प्रतिसेवनाकुशीलो मूलगुणानविराधयन्नुत्तरगुणेषु काश्चिद्विराधनां प्रतिसेवते, प्रज्ञप्तिस्तु—"बकुसे णं पुच्छा, जाव णो मूलगुणपडिसेवए होज्जा, उत्तरगुणपडिसेवए हुज्जा, पडिसेव-

१ पुलाको भदन्त! कियत् श्रुतमधीयेत?, गौतम! जघन्येन नवमस्य पूर्वस्य तृतीयमाचारवस्तु, उत्कर्षेण नव पूर्वाणि अधीयेत। २ पुलाकः पृच्छा, यावत् मूलगुणान् प्रतिसेवमानः पञ्चानामाश्रवाणामन्यतरं प्रतिसेवेत, उत्तरगुणान् प्रतिसेवमानो दशविधस्य प्रत्याख्यानस्यान्यतरत् प्रतिसेवेत। ३ बकुशः पृच्छा, यावन्नो मूलगुणप्रतिसेवको भवेत् उत्तरगुणप्रतिसेवको भवेत् प्रतिसेवना–

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३२॥

दीप अनुक्रम [१६०]



णाकुसीले जहा पुलाए" कषायकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातकानां प्रतिसेवना नास्ति । तीर्थमिदानीं, सर्वेषां तीर्थङ्कराणां तीर्थेषु भवन्ति, एके त्वाचार्या मन्यन्ते–पुलाकबकुशप्रतिसेवनाकुशीलास्तीर्थे नित्यं, शेषास्तु तीर्थेऽतीर्थे वा । 'लिङ्ग'-मिति लिङ्गं द्विविधं–द्रव्यलिङ्गं भावलिङ्गं च, भावलिङ्गं प्रतीत्य सर्वे निर्ग्रन्थलिङ्गे भवन्ति, द्रव्यलिङ्गं प्रतीत्य भाज्याः। लेश्याः पुलाकस्योत्तरास्तिस्रो लेश्या भवन्ति, बकुशप्रतिसेवनाकुशीलयोः सर्वा अपि, कषायकुशीलस्य परिहारविशुद्धेस्तिस्र उत्तराः, सूक्ष्मसम्परायस्य निर्ग्रन्थस्नातकयोश्च शुक्लैव केवला भवति, अयोगः शैलेशीप्रतिपन्नोऽलेश्यो भवति, प्रज्ञप्तिस्तु–"पुलाए णं पुच्छा, जाव तिसु लेसासु होज्जा, तंजहा–तेउलेसाए पम्हलेसाए सुक्कलेसाए, एवं बउसस्सवि, एवं पडिसेवणाकुसीलस्सवि । कसायकुसीले पुच्छा, जाव छसु लेसासु होज्ज"त्ति । उपपातः पुलाकस्योत्कृष्टस्थितिषु देवेषु सहस्रारे, बकुशप्रतिसेवनाकुशीलयोर्द्वाविंशतिसागरोपमस्थितिष्वच्युते कल्पे, कषायकुशीलनिर्ग्रन्थयोस्त्रयस्त्रिंशत्-सागरोपमस्थितिषु सर्वार्थसिद्धे, सर्वेषामपि जघन्यं पल्योपमपृथक्त्वस्थितिषु सौधर्म्मे, प्रज्ञप्तिस्तु "कसायकुसीले जहा पुलाए, णवरं उक्कोसेण अणुत्तरविमाणेसु, णियंठे णं एवं चेव, जाव वेमाणिएसु उववज्जमाणे अजहण्णमणुक्कोसेणं

१. कुशीलो यथा पुलाकः । २ पुलाको भदन्त ! पृच्छा, यावत्तिसृषु लेश्यासु भवेत्, तद्यथा—तेजोलेश्यायां पद्मलेश्यायां शुक्ललेश्यायाम्, एवं बकुशस्यापि, एवं प्रतिसेवनाकुशीलस्यापि । कषायकुशीले पृच्छा ?, यावत् षट्सु लेश्यासु भवेत् इति । ३ कषायकुशीलो यथा पुलाकः, नवरमुत्कर्षेण अनुत्तरविमानेषु, निर्ग्रन्थ एवमेव, यावद्वैमानिकेषूत्पद्यमानः अजघन्योत्कृष्टे-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३२॥

दीप अनुक्रम [१६०]

अणुत्तरविमाणेसु उववज्जति," स्नातकस्य निर्वाणमिति। स्थानम्–असङ्ख्येयानि संयमस्थानानि कषायनिमित्तानि भवन्ति, तत्र सर्वजघन्यानि संयमलब्धिस्थानानि पुलाककषायकुशीलयोः, तौ युगपदसङ्ख्येयानि स्थानानि गच्छतः, ततः पुलाको व्युच्छिद्यते, कषायकुशीलस्ततोऽसङ्ख्येयानि स्थानान्येकाकी गच्छति, ततः कषायकुशीलप्रतिसेवनाकुशीलबकुशा युगपदसङ्ख्येयानि स्थानानि गच्छन्ति, ततो बकुशो व्युच्छिद्यते, ततोऽप्यसंख्येयानि स्थानानि गत्वा प्रतिसेवनाकुशीलो व्युच्छिद्यते, ततोऽसङ्ख्येयानि स्थानानि गत्वा कषायकुशीलो व्युच्छिद्यते, अत ऊर्द्धमकषायस्थानानि गत्वा निर्ग्रन्थः प्रतिपद्यते, सोऽप्यसङ्ख्येयानि स्थानानि गत्वा व्युच्छिद्यते, प्रज्ञप्तिस्तु–"णियंठस्स णं भंते ! केवइया णं संजमठाणा पन्नत्ता ?, गोयमा ! एगे अजहण्णमुक्कोसए संजमट्ठाणे पण्णत्ते" अत एव ऊर्द्धमेकमेव स्थानं गत्वा स्नातको निर्वाणं प्राप्नोति, एषां संयमलब्धिरुत्तरोत्तरस्थानन्तगुणा भवतीति एष सम्प्रदायः। भाष्यकारोऽप्याह—

संयम सुय पडिसेवण तित्थे लिंगे य लेस उववाए। ठाणं च पति विसेसो पुलागमाईण जोएज्जा ॥ १ ॥
पुलाग बकुसकुसीला सामाइयछेयसंजमे होंति। होति कसायकुसीलो परिहारे सुहुमरागे य ॥ २ ॥
णिग्गंथो य सिणातो अहखाए संजमे मुणेयव्वो। दसपुव्वधरुक्कोसा पडिसेव पुलाय बउसा य ॥ ३ ॥

१. नानुत्तरविमानेषु उत्पद्यते। २ निर्ग्रन्थस्य भदन्त! कियन्ति संयमस्थानानि प्रज्ञप्तानि ?, गौतम! एकं अजघन्योत्कृष्टं संयमस्थानं प्रज्ञप्तम्

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३२॥

दीप अनुक्रम [१६०]

चोद्दसपुव्वधरातो कसायणियंठा य होंति णायव्वा । ववगयसुतो य केवलि मूलासेवीपुलाओ य ॥ ४ ॥
चित्तलवत्थासेवि बलाभिओगेण सो भवति बउसो । मूलगुण उत्तरगुणे सरीरबउसो मुणेयव्वो ॥ ५ ॥
ण्हाय कसायकुसीले निग्गंथाणं च नत्थि पडिसेवा । सव्वेसुं तित्थेसुं होंति पुलागादि य णियंठा ॥ ६ ॥
लिंगे उ भावलिंगे सव्वेसिं दव्वलिंग भयणिज्जा । लेसाउ पुलागस्स य उवरिल्लातो भवे तिण्णि ॥ ७ ॥
बकुसपडिसेवगाणं सव्वा लेसाउ होंति णायव्वा । परिहारविसुद्धीणं तिण्हुवरिल्ला कसाए उ ॥ ८ ॥
णिग्गंथसुहुमरागे सुक्का लेसा तहा सिणाएसुं । सेलेसिं पडिवण्णो लेसातीए मुणेयव्वो ॥ ९ ॥
पुलागस्स सहस्सारे सेवगबउसाण अच्चुए कप्पे । सकसायणियंठाणं सव्वट्ठे ण्हायगो सिद्धो ॥ १० ॥
पुलागकुसीलाणं सव्वजहण्णाइं होंति ठाणाइं । वोलीणेहिं असंखेहिं होइ पुलागस्स वोच्छित्ती ॥ ११ ॥
कसायकुसीलो उवरिं असंखिज्जाइं तु तत्थ ठाणाइं । पडिसेवणबउसे वा कसायकुसीलो तओऽसंखा ॥ १२ ॥
वोच्छिण्णे उ बउसो उवरिं पडिसेवणा कसाओ य । गंतुमसंखिज्जाइं छिज्जइ पडिसेवणकुसीलो ॥ १३ ॥
उवरिं गंतुं छिज्जति कसायसेवी ततो हु सो णियमा । उद्धं एगट्ठाणं णिग्गंथसिणायगाणं तु ॥ १४ ॥
अत्र च यत्पुलाकादीनां मूलोत्तरगुणविराधकत्वेऽपि निर्ग्रन्थत्वमुक्तं तज्जघन्यजघन्यतरोत्कृष्टोत्कृष्टतरादिभेदतः संयमस्थानानामसङ्ख्यतया तदात्मकतया च चारित्रपरिणतेरिति भावनीयं । यदप्येषां संयमित्वेऽपि षड्लेश्याभिधानं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३२॥

दीप अनुक्रम [१६०]

तदप्याद्यानां भावपरावृत्तिमपेक्ष्य 'आगारभावमायाए वा से सिया पलिभागमायाए वा से सिया' इत्याद्यागमप्रामाण्यादविरुद्धमेव, इत्यलं प्रसङ्गेनेति ॥ सम्प्रति निर्युक्तिरनुस्रियते, तत्र च 'भावे निर्ग्रन्थः खलुः पञ्चविधो भवति ज्ञातव्यः' इत्यनेन बाह्याभ्यन्तरहेतुका निर्ग्रन्थभेदा उक्ताः, साम्प्रतं त्वान्तरसंयमस्थाननिबन्धनांस्तद्भेदानाह—

उक्कोसो उ नियंठो जहन्नओ चेव होइ णायव्वो। अजहन्नमणुक्कोसा हुंति णियंठा असंखिज्जा ॥२३९॥

व्याख्या—उत्कृष्यत इत्युत्कर्षः स एवोत्कर्षकः, कोऽर्थः ?–उत्कृष्टो निर्ग्रन्थो, जघन्यकश्चैव भवति ज्ञातव्यः, तथा 'अजहण्णमणुक्कोस'त्ति अजघन्या अनुत्कृष्टा भवन्ति निर्ग्रन्थाः असङ्ख्येयाः, संयमस्थानापेक्षया च निर्ग्रन्थानां जघन्यत्वमुत्कृष्टत्वमजघन्यानुत्कृष्टत्वं वा ज्ञेयं, तथा च वृद्धाः—जो उक्कोसएसु संजमट्ठाणेसु वट्टति सो उक्कोसगणियंठो भण्णति, एवं जहण्णओ जहण्णएसु, सेसो अजहन्नमणुक्कोस'त्ति गाथार्थः ॥ इह च निर्गतो ग्रन्थान्निर्ग्रन्थ इति ग्रन्थभेदाभिधानद्वारेणाह—

दुविहो य होइ गंथो बज्झो अब्भिंतरो य नायव्वो। अंतो य चउदसविहो दसहा पुण बाहिरो गंथो २४०

व्याख्या—'द्विविधश्च' द्विभेदो भवति ग्रथ्यते–बध्यते कषायवशगेनात्मनेति ग्रन्थः, अथवा ग्रथ्नाति–बध्नात्या-

१ आकारभावमादाय (मात्रया) वा सा (तस्याः) स्यात् प्रतिभागमादाय (मात्रया) वा सा स्यात्। २ य उत्कृष्टेषु संयमस्थानेषु वर्त्तते स उत्कृष्टकनिर्ग्रन्थो भण्यते, एवं जघन्यो जघन्यकेषु, शेषा अजघन्योत्कृष्टाः

॥२६० ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३२॥

दीप अनुक्रम [१६०]

त्मानं कर्मणेति ग्रन्थः, तद्वैविध्यमेवाह—बहिर्भवो बाह्योऽभ्यन्तरश्च 'ज्ञातव्यः' अवबोद्धव्यः, तत्र च 'अंतो अ'त्ति अन्तःशब्दोऽधिकरणप्रधानमव्ययं, चः पूरणे, ततश्चान्तरिति मध्ये यो ग्रन्थोऽभ्यन्तर इत्यर्थः, स किमित्याह–'चतुर्दशविधः' चतुर्दशभेदो 'दशधा' दशप्रकारः, पुनःशब्दो विशेषद्योतकः, 'बाहिरो'त्ति बाह्यो ग्रन्थ इति गाथार्थः ॥ तत्रान्तरस्य चतुर्दश भेदानाह–

कोहो माणो माया लोभे पिज्जे तहेव दोसे य। मिच्छत्त वेअ अरइ रइ हास सोगे य दुग्गंछा ॥ २४१ ॥

व्याख्या—'क्रोधः' अप्रीतिलक्षणः, 'मानः' अहमितिप्रत्ययहेतुः, 'माया' स्वपरव्यामोहोत्पादकं शाठ्यं, 'लोभो' द्रव्याद्यभिकाङ्क्षा, 'प्रेम' प्रियेषु प्रीतिहेतुः, 'तथैवे'त्यान्तरग्रन्थरूप एव, कोऽसौ ?–'दोषश्च' उपशमत्यागात्मको विकारो, द्वेष इत्यर्थः। इह च यद्यपि प्रेम मायालोभरूपं द्वेषश्च क्रोधमानात्मकः तथापि तयोः पृथगुपादानं कथञ्चित् सामान्यस्य विशेषेभ्योऽन्यत्वख्यापनार्थं, 'मिथ्यात्वं' तत्त्वार्थाश्रद्धानं, तच्च षड्भिः स्थानैर्भवति, तानि च नास्ति न नित्य इत्यादीनि, तदुक्तम्–"णत्थि ण णिच्चो ण कुणति कयं ण वेएति णत्थि णेव्वाणं। णत्थि य मोक्खोवाओ छम्मिच्छत्तस्स ठाणाइं ॥ १ ॥" 'वेदः' स्त्रीवेदादिस्त्रिधा, 'अरतिः' संयमेऽप्रीतिः, 'रतिः' असंयमे प्रीतिः, आह च–"इत्थीवेयाईओ तिविहो वेओ य होइ बोद्धव्वो। अरती य संजमंमी होइ रती असंजमे यावि ॥ १ ॥" 'हासो' विस्मयादिषु

१ नास्ति न नित्यो न करोति कृतं न वेदयति नास्ति निर्वाणम्। नास्ति च मोक्षोपायः षड् मिथ्यात्वस्य स्थानानि ॥ १ ॥ २ स्त्रीवेदादिकस्त्रिविधो वेदश्च भवति बोद्धव्यः। अरतिश्च संयमे भवति रतिः असंयमे चापि ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३२॥

दीप अनुक्रम [१६०]

वक्रविकाशात्मकः, 'शोक' इष्टवियोगात् मानसं दुःखं, 'भयम्' इहलोकभयादि सप्तधा, तथा चाह—"इहपरलोयादाणे आजीवंसिलोय तह अकम्हा य। मरणभयं सत्तमयं विभासमेएसि वोच्छामि ॥ १ ॥ इहलोगभयं च इमं जं मणुयाइओ सरिसजाईओ। बीहेइ जं तु परजाइयाणं परलोयभयमेयं ॥ २ ॥ आयाणत्थो भण्णति मा हीरिज्जत्ति तस्स जं बीहे। आयाणभयं तं तू आजीवोमे ण जीवेऽहं॥ ३ ॥ असिलोगभयं अयसो होति अकम्हाभयं तु अणिमित्तं। मरियवस्स उ भीए मरणभयं होइ एयं तु ॥ ४ ॥" 'जुगुप्सा' अज्ञानादिमलिनतनुसाधुहीलना, तथा चाह–अण्हाणमाइएहिं साधुं तु दुगुंछति दुगुंछे'ति गाथार्थः ॥ साम्प्रतं बाह्यग्रन्थभेदानाह—

खेत्तं वत्थू धणधन्नसंचओ मित्तनाइसंजोगो। जाणसयणासणाणि अ दासीदासं च कुवियं च॥ २४२ ॥

व्याख्या—'क्षेत्रं' सेत्वादि, 'वास्तु' खातादि, धनं–हिरण्यादि, धान्यं च–शाल्यादि तयोः सञ्चयो–राशिर्धनधान्यसञ्चयः, मित्राणि च–सहवर्द्धितानि ज्ञातयश्च–स्वजनाः तैः संयोगः–सम्बन्धो मित्रज्ञातिसंयोगः, यानानि च–

१ इहपरलोकादानानि आजीवाश्लोकौ तथाऽकस्माच्च। मरणभयं सप्तमकं विभाषामेतेषां वक्ष्यामि ॥ १ ॥ इहलोकभयं चेदं यन्मनुजादितः सदृशजातितो। बिभेति यत्तु परजातिभ्यः परलोकभयमेतत् ॥२॥ आदानमर्थो भण्यते मा हार्षीदिति तस्माद्यद्भिभेति। आदानभयं तत्तु आजीवोऽवमे न जीविष्याम्यहम् ॥ ३ ॥ अश्लोकभयमयशो भवत्यकस्माद्भयं त्वनिमित्तम्। मर्त्तव्यात्तु भीते मरणभयं भवत्येतत्तु ॥४॥
२ अज्ञानादिकैः साधुं तु जुगुप्सते जुगुप्सा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३२॥

दीप अनुक्रम [१६०]

शिबिकादीनि शयनानि च–पल्यङ्कादीनि आसनानि च–सिंहासनादीनि यानशयनासनानि, चः समुच्चये, दास्यः–अङ्कपतिताः दासा अपि तथाविधा एव अनयोः समाहारः, चः प्राग्वत्, 'कुवियं च'त्ति कुप्यं च–विविधं गृहोपस्करात्मकम्। अत्र च धनधान्यसञ्चयो मित्रज्ञातिसंयोगश्चेति द्वौ शेषाश्चाष्टेति दशविधो बाह्यग्रन्थ इति गाथार्थः ॥ निगमयितुमाह—

सावज्जगंथमुक्का अब्भिंतरबाहिरेण गंथेण। एसा खलु निज्जुत्ती खुड्डागनियंठसुत्तस्स ॥ २४३ ॥

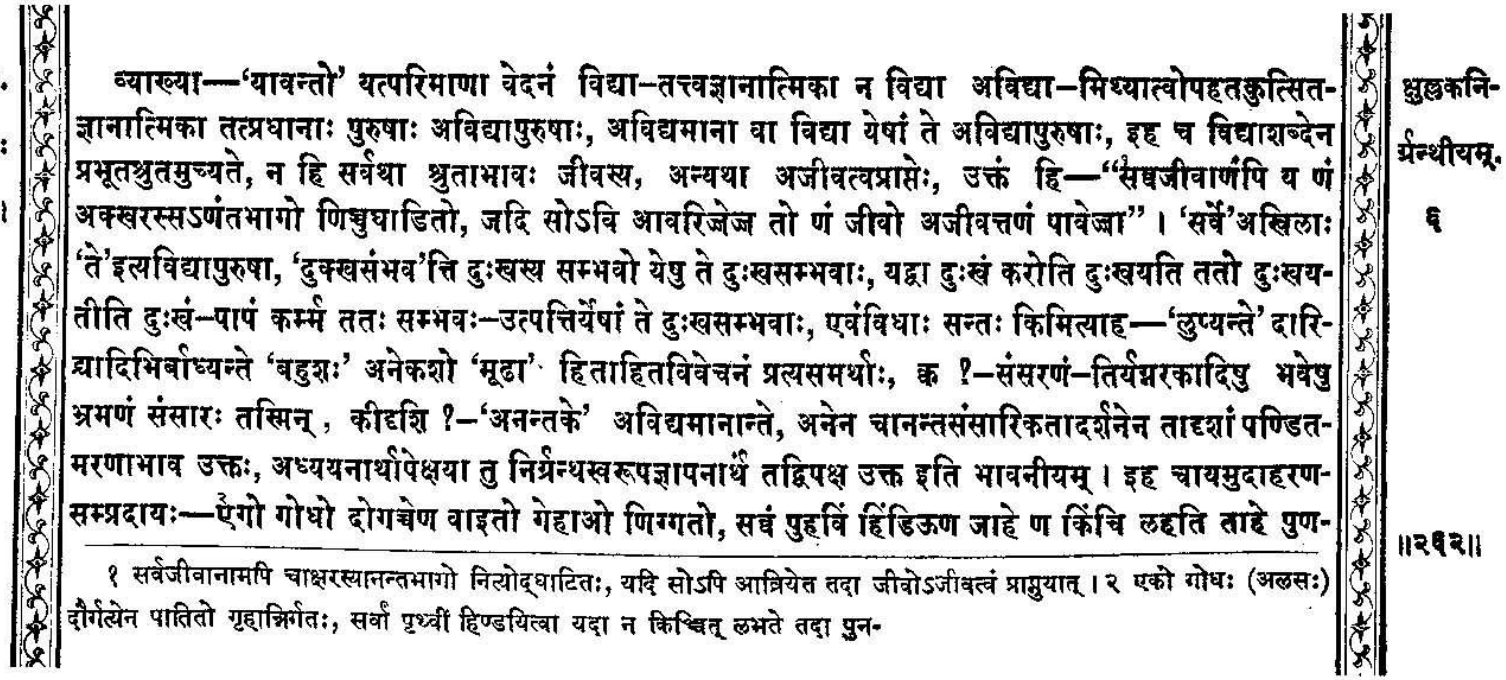
व्याख्या—सहावद्येन–दोषेण वर्त्तत इति सावद्यः स चासौ ग्रन्थश्च सावद्यग्रन्थस्तेन मुक्ताः सावद्यग्रन्थमुक्ताः, अनेन च रजोहरणमुखवस्त्रिकावर्षाकल्पादेर्दशविधबाह्यग्रन्थान्तर्गतत्वेऽपि धर्मोपकरणत्वेनानवद्यतयाऽमुक्तावपि निर्ग्रन्थत्वमुक्तम्, एवं च मा भूत्कस्यचिद्व्यामोहो–बाह्येनैव सावद्यग्रन्थेन मुक्ता इत्याह–आभ्यन्तरबाह्येन ग्रन्थेन, न तु बाह्येनैव, मुक्ता इति शेषः, 'एषा' अनन्तरोक्ता 'खलु' निश्चितं निरिति–निश्चिताऽधिका वा युक्तिरस्यामिति निर्युक्तिः–नामनिष्पन्ननिक्षेपनिर्युक्तिरित्यर्थः, कस्येत्याह–'खुड्डागणियंठसुत्तस्स'त्ति क्षुल्लकनिर्ग्रन्थनामकं सूत्रं तस्येति गाथार्थः ॥ इत्युक्तो नामनिष्पन्ननिक्षेपः, सम्प्रति सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयं, तस्य चायमभिसम्बन्धः–इहानन्तराध्ययनसूत्रे 'मुनिः सकाममरणं म्रियते' इत्युक्तं, स च मननान्मुनिरिति ज्ञान्येव, ये त्वज्ञानिनस्ते किमित्याह—

जावंतऽविज्जा पुरिसा, सव्वे ते दुक्खसंभवा। लुप्पंति बहुसो मूढा, संसारंमि अणंतए ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१६१]



उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥२६२॥

व्याख्या—'यावन्तो' यत्परिमाणा वेदनं विद्या–तत्त्वज्ञानात्मिका न विद्या अविद्या–मिथ्यात्वोपहतकुत्सित-ज्ञानात्मिका तत्प्रधानाः पुरुषाः अविद्यापुरुषाः, अविद्यमाना वा विद्या येषां ते अविद्यापुरुषाः, इह च विद्याशब्देन प्रभूतश्रुतमुच्यते, न हि सर्वथा श्रुताभावः जीवस्य, अन्यथा अजीवत्वप्राप्तेः, उक्तं हि—"[1]सव्वजीवाणंपि य णं अक्खरस्सऽणंतभागो णिच्चुघाडितो, जदि सोऽवि आवरिज्जेज्ज तो णं जीवो अजीवत्तणं पावेज्जा"। 'सर्वे'अखिलाः 'ते'इत्यविद्यापुरुषा, 'दुक्खसंभव'त्ति दुःखस्य सम्भवो येषु ते दुःखसम्भवाः, यद्वा दुःखं करोति दुःखयति ततो दुःखय-तीति दुःखं–पापं कर्म्म ततः सम्भवः–उत्पत्तिर्येषां ते दुःखसम्भवाः, एवंविधाः सन्तः किमित्याह—'लुप्यन्ते' दारि-द्र्यादिभिर्बाध्यन्ते 'बहुशः' अनेकशो 'मूढा' हिताहितविवेचनं प्रत्यसमर्थाः, क्व ?–संसरणं–तिर्यग्नरकादिषु भवेषु भ्रमणं संसारः तस्मिन्, कीदृशि ?–'अनन्तके' अविद्यमानान्ते, अनेन चानन्तसंसारिकतादर्शनेन तादृशां पण्डित-मरणाभाव उक्तः, अध्ययनार्थापेक्षया तु निर्ग्रन्थस्वरूपज्ञापनार्थं तद्विपक्ष उक्त इति भावनीयम्। इह चायमुदाहरण-सम्प्रदायः—[2]ऐगो गोधो दोग्गच्चेण वाइतो गेहाओ णिग्गतो, सव्वं पुहविं हिंडिऊण जाहे ण किंचि लहति ताहे पुण-

१ सर्वजीवानामपि चाक्षरस्यानन्तभागो नित्योद्घाटितः, यदि सोऽपि आवियेत तदा जीवोऽजीवत्वं प्राप्नुयात्। २ एको गोधः (अलसः) दौर्गत्येन पातितो गृहान्निर्गतः, सर्वां पृथ्वीं हिण्डयित्वा यदा न किञ्चित् लभते तदा पुन-

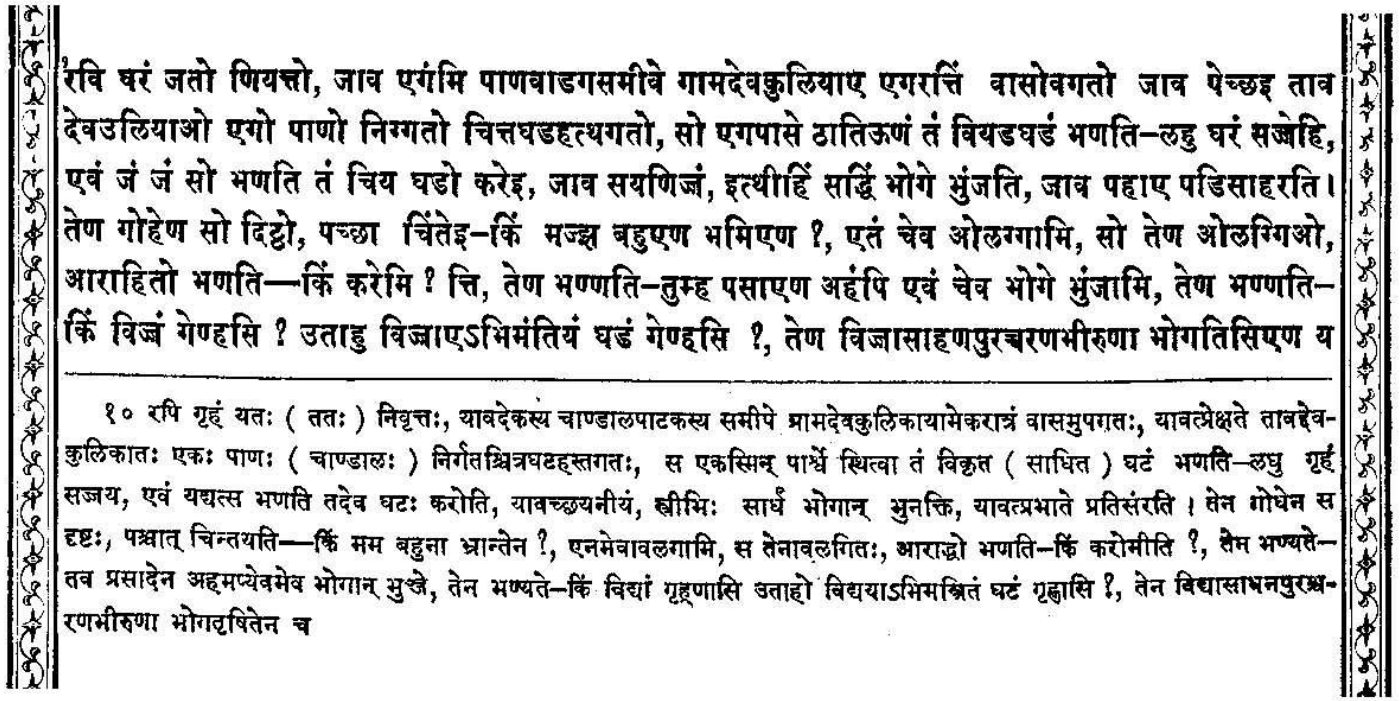
क्षुल्लकनि-र्ग्रन्थीयम्. ६

॥२६२॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१६१]



रवि घरं जतो णियत्तो, जाव एगंमि पाणवाडगसमीवे गामदेवकुलियाए एगरत्तिं वासोवगतो जाव पेच्छइ ताव देवउलियाओ एगो पाणो निग्गतो चित्तघडहत्थगतो, सो एगपासे ठातिऊणं तं वियडघडं भणति–लहु घरं सज्जेहि, एवं जं जं सो भणति तं चिय घडो करेइ, जाव सयणिज्जं, इत्थीहिं सद्धिं भोगे भुंजति, जाव पहाए पडिसाहरति। तेण गोहेण सो दिट्ठो, पच्छा चिंतेइ–किं मज्झ बहुएण भमिएण ?, एतं चेव ओलग्गामि, सो तेण ओलग्गिओ, आराहितो भणति—किं करेमि ? त्ति, तेण भण्णति–तुम्ह पसाएण अहंपि एवं चेव भोगे भुंजामि, तेण भण्णति–किं विज्जं गेण्हसि ? उताहु विज्जाएऽभिमंतियं घडं गेण्हसि ?, तेण विज्जासाहणपुरच्चरणभीरुणा भोगतिसिएण य

१० रपि गृहं यतः (ततः) निवृत्तः, यावदेकस्य चाण्डालपाटकस्य समीपे ग्रामदेवकुलिकायामेकरात्रं वासमुपगतः, यावत्प्रेक्षते तावद्देवकुलिकातः एकः पाणः (चाण्डालः) निर्गतश्चित्रघटहस्तगतः, स एकस्मिन् पार्श्वे स्थित्वा तं विकृत (साधित) घटं भणति–लघु गृहं सज्जय, एवं यद्यत्स भणति तदेव घटः करोति, यावच्छयनीयं, स्त्रीभिः सार्धं भोगान् भुनक्ति, यावत्प्रभाते प्रतिसंरति । तेन गोधेन स दृष्टः, पश्चात् चिन्तयति—किं मम बहुना भ्रान्तेन ?, एनमेवावलगामि, स तेनावलगितः, आराद्धो भणति–किं करोमीति ?, तेन भण्यते–तव प्रसादेन अहमप्येवमेव भोगान् भुञ्जे, तेन भण्यते–किं विद्यां गृह्णासि उताहो विद्ययाऽभिमन्त्रितं घटं गृह्णासि ?, तेन विद्यासाधनपुरश्चरणभीरुणा भोगतृषितेन च

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१६१]

भण्णंति–विज्जाभिमंतियं घडयं देहि, तेण से विज्जाए अभिमंतिऊण घडो दिण्णो, सो तं गहाय गतो सगामं, तत्थ बंधूहिं सहवासेहिंवि समं जहारुइयं भवणं विगुरुविय, भोगे तेहिं सह भुंजंतो अच्छति, कम्मंता य से सीदिउमारद्धा, गवादओ य असंगोविज्जमाणा प्रलयीभूताः, सो य कालंतरेण अतितोसएण तं घडं खंधे काऊण एयस्स पभावेण अहं बंधुमज्झे पमोयामि, आसवपीतो पणचितो, तस्स पमाएण सो घडो भग्गो, सो य विज्जाकओ उवभोगो णट्ठो, पच्छा ते गामेयगा प्रलयीभूतविभवाः परपेसाईहिं दुक्खाणि अणुभवंति, जति पुण सा विज्जा गहिया होंता ततो भग्गेवि घडे पुणोवि करेंतो। एवं अविज्जाणरा दुक्खाणि संभूताः क्लिश्यन्ते, नागार्जुनीयास्तु पठन्ति– "ते सव्वे दुक्खमज्जिया" इह च मकारोऽलाक्षणिकः, अर्जितम्–उपार्जितं दुःखं यैस्तेऽर्जितदुःखाः, प्राकृतत्वान्निष्ठान्तस्य परनिपातः, शेषं प्राग्वत्, यद्वा यावन्तो 'विद्यापुरुषा' विद्याप्रधानाः पुरुषास्ते सर्वे 'अदुःखसम्भवाः' अविद्य-

१ भण्यते–विद्याभिमन्त्रितं घटं देहि, तेन तस्मै विद्ययाऽभिमन्त्र्य घटो दत्तः, स तं गृहीत्वा गतः स्वग्रामं, तत्र बन्धुभिः सहवासिभिरपि समं यथारुचितं भवनं विकुर्व्वितं, भोगांस्तैः सह भुञ्जानस्तिष्ठति, कर्मकराश्च तस्य सीदितुमारब्धाः, गवादयश्चासंगोप्यमानाः प्रलयीभूताः, स च कालान्तरे अतितोषेण तं घटं स्कन्धे कृत्वा एतस्य प्रभावेणाहं बन्धुमध्ये प्रमोदे, पीतासवः प्रणर्त्तितः, तस्य प्रमादेन स घटो भग्नः, स च विद्याकृत उपभोगो नष्टः, पश्चात् ते ग्रामेयकाः प्रलयीभूतविभवाः परप्रैषादिभिर्दुःखान्यनुभवन्ति, यदि पुनः सा विद्या गृहीताऽभविष्यत्तदा भग्नेऽपि घटे पुनरप्यकरिष्यत्। एवमविद्यानरा दुःखानि (समनुभवन्तः) क्लिश्यन्ते।

॥२६३॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२॥

दीप अनुक्रम [१६२]

मानदुःखोत्पत्तयः, अमुमेवार्थं व्यतिरेकेणाह—'मूढा' अज्ञानाऽऽकुलितमतय एव लुप्यन्ते बहुशः संसारेऽनन्तक इति, काका वा व्याख्येयं, दृश्यन्ते हि यानपात्रिण इहैव मोहाद्व्यालुप्यमानाः, तथा च वृद्धाः–जहा समुद्दे वाणिया दुव्वायाहयजाणवत्ता दिसामूढा खणेण अंतोजलगयपव्वयमासाएऊण भिन्नपोया महावीतिकल्लोलेहिं वुज्झमाणा कुम्मगमगराईहिं विलुप्पंति, एवं तेऽवि अविज्जा बहुसो मूढा सारीरमाणसेहिं महादुक्खेहिं विलुप्पन्तीति सूत्रार्थः । यतश्चैवं ततो यत्कृत्यं तदाह—

समिक्ख पंडिए तम्हा, पास जाइपहे बहू । अप्पणा सच्चमेसेज्जा, मित्तिं भूएहिं कप्पए ॥ २ ॥

व्याख्या—'समीक्ष्य' आलोच्य 'पण्डितो' हिताहितविवेकभाक् 'त(ज)म्ह'त्ति यस्मादेवमविद्यावन्तो लुप्यन्ते तस्मात्, पाठान्तरतश्च तस्मात्, समीक्ष्य मेधावी–मर्यादावर्ती, किं तत् समीक्ष्येत्याह–पाशा–अत्यन्तपारवश्यहेतवः कलत्रादिसम्बन्धास्त एव तीव्रमोहोदयादिहेतुतया जातीनाम्–एकेन्द्रियादिजातीनां पन्थानः–तत्प्रापकत्वान्मार्गाः पाशजातिपथाः तान् 'बहून्' प्रभूतान् अविद्यावतां विलुसिहेतून्, किमित्याह—'आत्मना' स्वयं न तु परोपरोधादिना, सद्भ्यो –जीवादिभ्यो हितः–सम्यग् रक्षणप्ररूपणादिभिः सत्यः–संयमः सदागमो वा तमेषयेत्–गवेषयेत्, एषयंश्च सत्यं किं कुर्याद् इत्याह–'मैत्रीं' मित्रभावं 'भूतेषु' पृथिव्यादिषु जन्तुषु 'कल्पयेत्' कुर्यात्, पठ्यते वा–'अत्तट्ठा सच्चमेसेज्जा'

१ यथा समुद्रे वणिजो दुर्वाताहतयानपात्रा दिग्मूढाः क्षणेन जलान्तर्गतपर्वतमासाद्य भिन्नपोता महावीचिकल्लोलैरुह्यमानाः कूर्ममकरादिभिर्विलुप्यन्ते, एवं तेऽप्यविद्यामूढाः बहुशो शारीरमानसैर्महादुःखैः विलुप्यन्ते ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३-४॥

दीप अनुक्रम [१६३--१६४]

उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥२६४॥

इह च यस्मादविद्यावन्तः संसारे लुप्यन्ते तस्मात् 'मय्येव निपतत्वेतज्जगदुश्चरितं हि यत् । मत्सुचरितयोगेन, स वै कल्याणभाजनम् ॥ १ ॥' इति शाक्यादिपरिकल्पिताविद्यापरिहारेणात्मार्थमेव, न तु परार्थं, सत्यमेषयेद्, अपरकृतस्यापरत्रासङ्क्रमणेन परार्थानुष्ठानस्यानर्थकत्वाद्, अन्यत् प्राग्वदिति सूत्रार्थः ॥ अपरं च—

माया पिया एहुसा भाया, भज्जा पुत्ता य ओरसा । नालं ते मम ताणाय, लुप्पंतस्स सकम्मुणा ॥ ३ ॥
एयमट्ठं सपेहाए, पासे समियदंसणे । छिंद गेहिं सिणेहं च, ण कंखे पुव्वसंथवं ॥ ४ ॥

व्याख्या—तत्राद्यसूत्रपूर्वार्धं स्पष्टं, नवरं स्नुषा–वध्वः, पुत्राश्च उरसि भवा औरसाः स्वयमुत्पादिताः, आस्तां जातपुत्रादयः, किमित्याह—'नालं' न समर्थाः 'ते' मात्रादयो मम 'त्राणाय' रक्षणाय, कथंभूतस्य ?–'लुप्यमानस्य' छिद्यमानस्य, केन ?–'स्वकर्म्मणा' स्वकृतेन ज्ञानावरणादिना, किमुक्तं भवति ?–स्वकर्म्मविहितां बाधामनुभवतः एते मात्रादयो न त्राणायेति, एवमात्मकमनन्तरोक्तमर्थं–वस्तु 'सपेहाए'त्ति प्राकृतत्वात् संप्रेक्षया–सम्यग्बुद्ध्या स्वप्रेक्षया वा, 'पासे'त्ति पश्येदवधारयेत्, शमितं दर्शनं प्रस्तावात् मिथ्यात्वात्मकं येन स तथोक्तः, यदिवा सम्यक् इतं–गतं जीवादिपदार्थेषु दर्शनं–दृष्टिरस्येति समितदर्शनः, कोऽर्थः ?–सम्यग्दृष्टिः सन्, ततश्च 'छिंद'त्ति छिन्द्यात्, सूत्रत्वात्तिङ्व्यत्ययः, एवं सर्वत्रानुच्यमानोऽप्ययं भावनीयः, 'गृद्धिं' विषयाभिकाङ्क्षां 'स्नेहं च' स्वजनादिषु प्रेम 'न' नैव 'काङ्क्षेद्' अभिलषेद्, अपेर्गम्यमानत्वात् काङ्क्षेदपि न, किं पुनः कुर्यादिति भावः । 'पूर्वसंस्तवं' पूर्वपरिचयमे-

क्षुल्लकनिर्ग्रन्थीयम्- ६

॥२६४॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥५॥

दीप अनुक्रम [१६५]

कग्रामोषितोऽयमित्यादिकं, यतो न कश्चिदिह परत्र वा त्राणाय स्वकर्मणा विलुप्यमानस्य धर्मं विनेति भाव इति सूत्रद्वयार्थः ॥ अमुमेवार्थं विशेषतोऽनूद्यास्यैव फलमाह—

गवासं मणिकुंडलं, पसवो दासपोरुसं । सव्वमेयं चइत्ता णं, कामरूवी भविस्ससि ॥ ५ ॥

व्याख्या—गावश्चाश्वाश्च गवाश्वं, 'गवाश्वप्रभृतीनि चे'ति (पा० २–४–११) समाहारः, तत्र गावो–वाहदोहोपलक्षिताः अश्वाः–तुरगाः, पशुत्वेऽप्यनयोः पृथगुपादानं अत्यन्तोपयोगित्वेन प्राधान्यात्, तथा मणयश्च–मरकतादयः कुण्डलानि च–कर्णाभरणानि मणिकुण्डलम्, उपलक्षणं चैतच्छेषालङ्काराणां स्वर्णादीनां च, पश्यन्ति प्रसूयन्ते वा पशवः–अजैडकादयः, दासाश्च–गृहजातादयः'पोरुसं'ति सूत्रत्वात् पुरुषाणां समूह इत्यर्थः, 'पुरुषाद्वधविकारसमूहे'त्यां'-दिना ढकि पौरुषेयं च–पदात्यादिपुरुषसमूहो दासपौरुषेयं, यद्वा 'दासपोरुसं'ति दासपुरुषाणां समूहो दासपौरुषं, पुरुषाद् ढक् न भवति, ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधेरभावात्, 'सर्वं' निरवशेषं 'एतद्' अनन्तरोक्तं 'त्यक्त्वा' हित्वा, संयममनुपाल्येत्यभिप्रायः, किमित्याह—'कामरूपी' अभिलषितरूपविकरणशक्तिमान् भविष्यसि, इहैव वैक्रियकरणाद्यनेकलब्धियोगात् परत्र च देवभावावाप्तेरिति सूत्रार्थः ॥ पुनः सत्यस्वरूपमेव विशेषत आह—

थावरं जंगमं चेव, धणं धण्णं उवक्खरं । पच्चमाणस्स कम्मेहिं, नालं दुक्खाउ मोयणे ॥ ६ ॥

अब्भत्थं सव्वओ सव्वं, दिस्स पाणे पियायए । न हणे पाणिणो पाणे, भयवेराओ उवरए ॥ ७ ॥

१ पुरुषाद्वधविकारसमूहतेनकृतेषु इति भाष्यकारप्रयोगात् २ नैषा व्याख्याता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥६-७॥

दीप अनुक्रम [१६६--१६७]

व्याख्या—'अब्भत्थं'ति अध्यात्ममात्मनि यद्वर्तते, यदिवा अध्यात्मं–मनः तस्मिंस्तिष्ठत्यध्यात्मस्थं, सूत्रत्वाद्वर्णलोपः, तच्चेह प्रस्तावात् सुखादि 'सर्वतः' इष्टसंयोगानिष्टसंप्रयोगादिहेतुभ्यो, जातमिति गम्यते, 'सर्वं' निरवशेषं 'दृष्ट्वा' प्रियत्वादिस्वरूपेणावधार्य, तथा 'पाणे'त्ति चस्य गम्यमानत्वात् प्राणांश्च–प्राणिनश्च 'पियाइए'त्ति आत्मवत् सुखप्रियत्वेन प्रिया दया–रक्षणं येषां तान् प्रियदयान्, प्रिय आत्मा येषां तान् प्रियात्मकान् वा, दृष्ट्वा इत्यत्रापि सम्बन्धनीयं, ततः किमित्याह—'न हन्यात्' नातिपातयेत्, उपलक्षणत्वान्नापि घातयेत् न वा घ्नन्तं समनुजानीयात्, प्राणिन इति जातावेकवचनं, पाठान्तरतश्च—प्राणिनां प्राणान्–इन्द्रियादीन्, कीदृशः सन्? इत्याह—भयं च उक्तस्वरूपं, वैरं च–प्रद्वेषः भयवैरमिति समाहारस्तस्मादुपरतो निवृत्तः सन्, यदिवा—अध्यात्मस्थशब्दस्याभिप्रेतपर्यायत्वेन रूढत्वादध्यात्मस्थं–यद्यस्याभिमतं, तच्च सुखमेव, 'सर्वत'इति सर्वाभ्यो दिग्भ्यः सर्वेभ्यो वा मनोऽभिमतशब्दादिभ्यो जातं सर्वं शारीरं मानसं च यथा तवेष्टं तथाऽन्येषामपि प्राणिनामित्युपस्कारः, 'दृष्ट्वा' अवधार्य, इहापि चस्य गम्यमानत्वात् प्राणान् प्राणप्राण्यभेदोपचारात् प्रियदयांश्च, दृष्ट्वेत्यत्रापि योज्यते, अन्यत् प्राग्वदिति सूत्रार्थः ॥ इत्थं प्राणातिपातलक्षणाश्रवनिरोधमभिधाय शेषाश्रवनिरोधमाह—

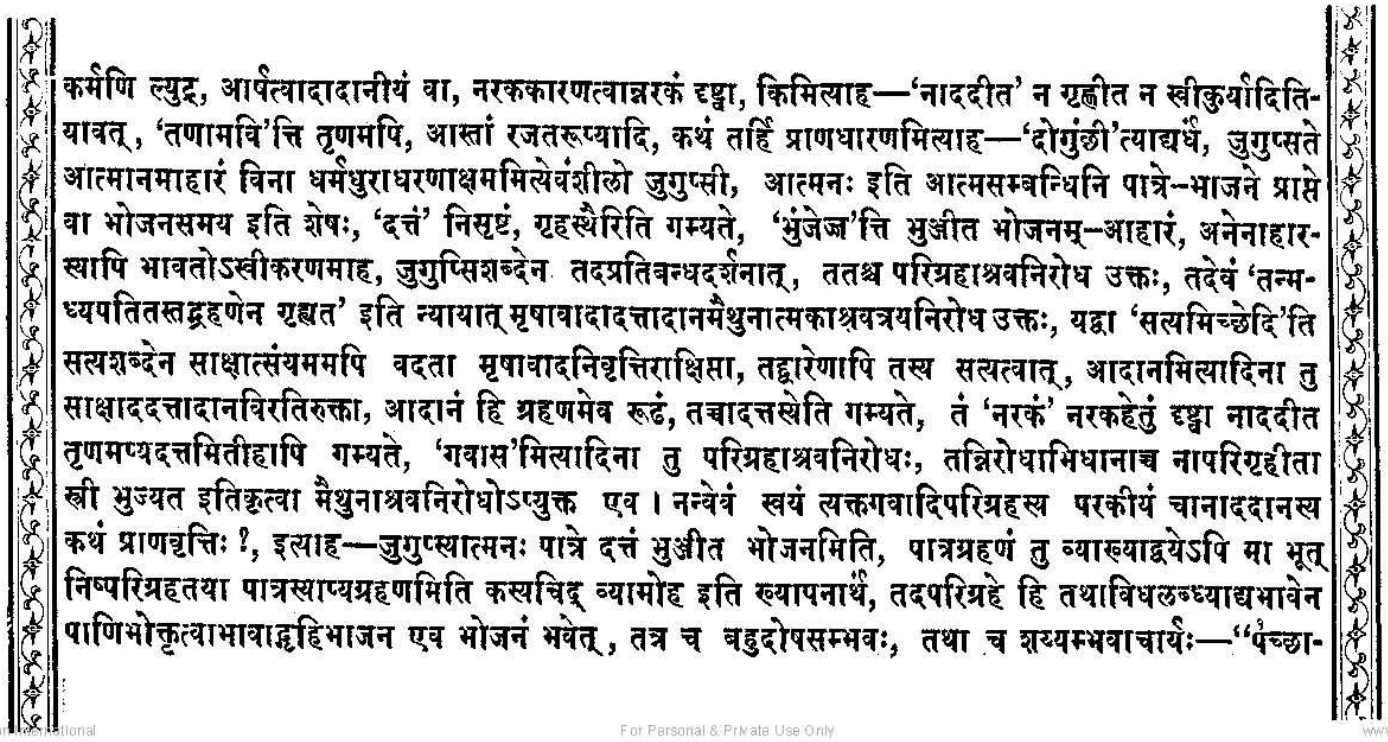
आयाणं नरयं दिस्स, नायइज्ज तणामवि। दोगुंछी अप्पणो पाते, दिन्नं भुंजेज्ज भोयणं ॥ ८ ॥

व्याख्या—आदीयत इत्यादानं–धनधान्यादि "कृत्यल्युटोऽन्यत्रापी"ति (कृत्यल्युटो बहुलम् पा० ३-३-११३)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥८॥

दीप अनुक्रम [१६८]



कर्मणि ल्युट्, आर्षत्वादादानीयं वा, नरककारणत्वान्नरकं दृष्ट्वा, किमित्याह—'नाददीत' न गृह्णीत न स्वीकुर्यादिति-यावत्, 'तणामवि'त्ति तृणमपि, आस्तां रजतरूप्यादि, कथं तर्हि प्राणधारणमित्याह—'दोगुंछी'त्याद्यर्धं, जुगुप्सते आत्मानमाहारं विना धर्मधुराधरणाक्षममित्येवंशीलो जुगुप्सी, आत्मनः इति आत्मसम्बन्धिनि पात्रे–भाजने प्राप्ते वा भोजनसमय इति शेषः, 'दत्तं' निसृष्टं, गृहस्थैरिति गम्यते, 'भुंजेज्ज'त्ति भुञ्जीत भोजनम्–आहारं, अनेनाहार-स्यापि भावतोऽस्वीकरणमाह, जुगुप्सिशब्देन तदप्रतिबन्धदर्शनात्, ततश्च परिग्रहाश्रवनिरोध उक्तः, तदेवं 'तन्म-ध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यत' इति न्यायात् मृषावादादत्तादानमैथुनात्मकाश्रवत्रयनिरोध उक्तः, यद्वा 'सत्यमिच्छेदि'ति सत्यशब्देन साक्षात्संयममपि वदता मृषावादनिवृत्तिराक्षिप्ता, तद्द्वारेणापि तस्य सत्यत्वात्, आदानमित्यादिना तु साक्षाददत्तादानविरतिरुक्ता, आदानं हि ग्रहणमेव रूढं, तच्चादत्तस्येति गम्यते, तं 'नरकं' नरकहेतुं दृष्ट्वा नाददीत तृणमप्यदत्तमितीहापि गम्यते, 'गवास'मित्यादिना तु परिग्रहाश्रवनिरोधः, तन्निरोधाभिधानाच्च नापरिगृहीता स्त्री भुज्यत इतिकृत्वा मैथुनाश्रवनिरोधोऽप्युक्त एव। नन्वेवं स्वयं त्यक्तगवादिपरिग्रहस्य परकीयं चानाददानस्य कथं प्राणवृत्तिः ?, इत्याह—जुगुप्स्यात्मनः पात्रे दत्तं भुञ्जीत भोजनमिति, पात्रग्रहणं तु व्याख्याद्वयेऽपि मा भूत् निष्परिग्रहतया पात्रस्याप्यग्रहणमिति कस्यचिद् व्यामोह इति ख्यापनार्थं, तदपरिग्रहे हि तथाविधलब्ध्याद्यभावेन पाणिभोक्तृत्वाभावाद्गृहिभाजन एव भोजनं भवेत्, तत्र च बहुदोषसम्भवः, तथा च शय्यम्भवाचार्यैः—"पच्छा-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥९॥

दीप अनुक्रम [१६९]

कम्मं पुरेकम्मं, सिया तत्थ ण कप्पइ । एयमट्ठं ण भुंजंति, णिग्गंथा गिहिभायणे ॥ १ ॥" इतिसूत्रार्थः ॥ एवं पञ्चाश्रवविरमणात्मके संयम उक्ते यथा परे विप्रतिपद्यन्ते तथा दर्शयितुमाह—

इहमेगे उ मन्नंति, अप्पच्चक्खाय पावगं । आयरियं विदित्ता णं, सव्वदुक्खा विमुच्चइ ॥ ९ ॥

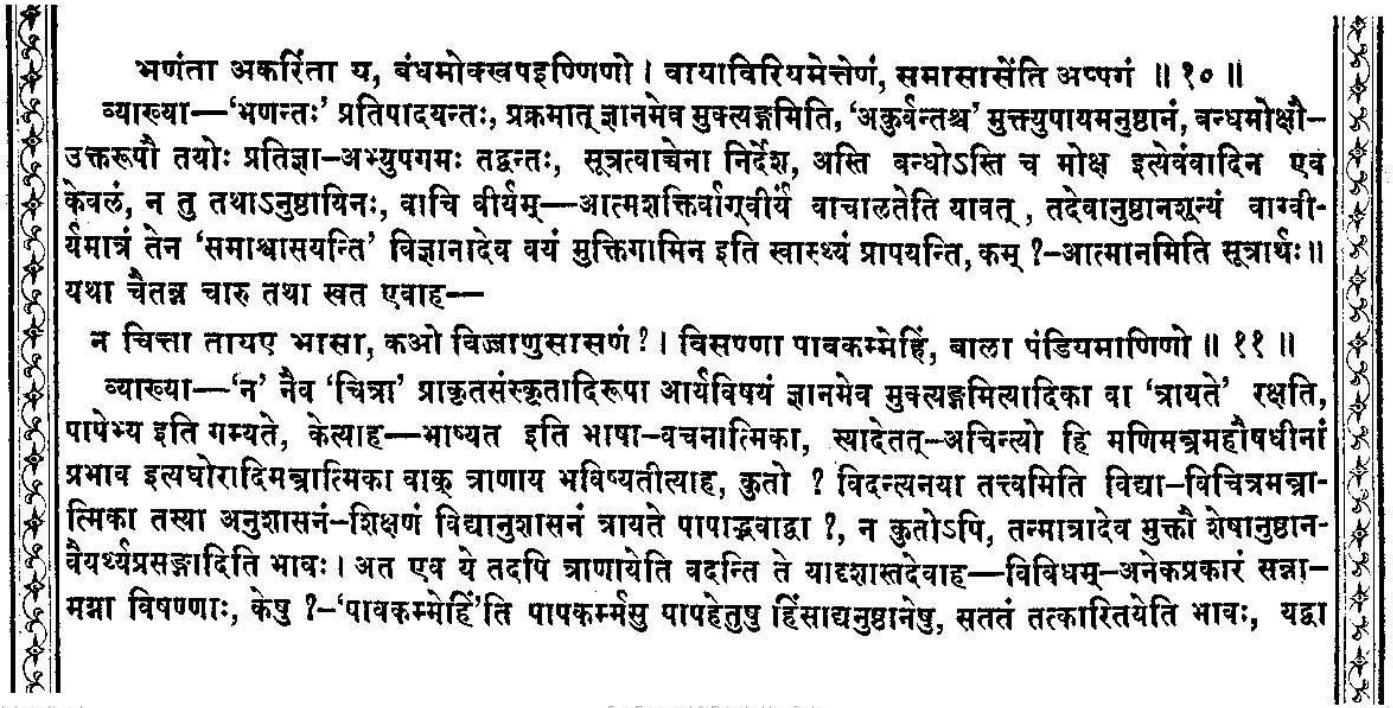
व्याख्या—'इहे'त्यस्मिन् जगति मुक्तिमार्गविचारे वा 'एके' केचन कपिलादिमतानुसारिणः 'तुः' पुनरर्थे 'मन्यन्ते' अभ्युपगच्छन्ति, उपलक्षणत्वात्प्ररूपयन्ति च, यथा 'अप्रत्याख्याय' अनिराकृत्य 'पापकं' प्राणातिपातादिविरतिमकृत्वैव 'आयरियं'ति सूत्रत्वात् आराद्यातं सर्वकुयुक्तिभ्य इत्यार्यं–तत्त्वं तद् 'विदित्वा' ज्ञात्वा 'सर्वदुःखेभ्य' आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकलक्षणेभ्यः स्वपरिभाषया शारीरमानसेभ्यो वा 'मुच्यते' पृथग् भवति, तथा चाह– "पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो, यत्र तत्राश्रमे रतः । शिखी मुण्डी जटी वापि, मुच्यते नात्र संशयः ॥१॥" यद्वाऽऽचरणमाचरितं तत्तत्क्रियाकलापः, पाठान्तरतश्च—'आचारिकं' निजनिजाचारभवमनुष्ठानमेव, तद्विदित्वा–स्वसंवेदनतोऽनुभूय सर्वदुःखाद्विमुच्यते, एवं सर्वत्र ज्ञानमेव मुक्त्यङ्गं, न चैतच्चारु, न हि रोगिण इवौषधादिपरिज्ञानतो भावरोगेभ्यो ज्ञानावरणादिकर्मभ्यो महाव्रतात्मकपञ्चाङ्गोपलक्षितां क्रियामननुष्ठाय मुक्तिः ॥ ते चैवमनालोचयन्तो भवदुःखाकुलिता वाचालतयैवमात्मानं स्वस्थयन्ति, तथा चाह—

१ पश्चात्कर्म पुरःकर्म स्यात्तत्र न कल्पते । एतदर्थं न भुञ्जते, निर्ग्रन्था गृहिभाजने ॥ १ ॥ २ अर्थतो युग्मरूपत्वान्नात्र सूत्रार्थ इति, एवमग्रेऽपि ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१०॥

दीप अनुक्रम [१७०]



भणंता अकरिंता य, बंधमोक्खपइण्णिणो। वायाविरियमेत्तेणं, समासासेंति अप्पगं ॥ १० ॥

व्याख्या—'भणन्तः' प्रतिपादयन्तः, प्रक्रमात् ज्ञानमेव मुक्त्यङ्गमिति, 'अकुर्वन्तश्च' मुक्त्युपायमनुष्ठानं, बन्धमोक्षौ–उक्तरूपौ तयोः प्रतिज्ञा–अभ्युपगमः तद्वन्तः, सूत्रत्वाच्चेना निर्देश, अस्ति बन्धोऽस्ति च मोक्ष इत्येवंवादिन एव केवलं, न तु तथाऽनुष्ठायिनः, वाचि वीर्यम्—आत्मशक्तिर्वाग्वीर्यं वाचालतेति यावत्, तदेवानुष्ठानशून्यं वाग्वीर्यमात्रं तेन 'समाश्वासयन्ति' विज्ञानादेव वयं मुक्तिगामिन इति स्वास्थ्यं प्रापयन्ति, कम् ?–आत्मानमिति सूत्रार्थः॥ यथा चैतन्न चारु तथा स्वत एवाह—

न चित्ता तायए भासा, कओ विज्जाणुसासणं ?। विसण्णा पावकम्मेहिं, बाला पंडियमाणिणो ॥ ११ ॥

व्याख्या—'न' नैव 'चित्रा' प्राकृतसंस्कृतादिरूपा आर्यविषयं ज्ञानमेव मुक्त्यङ्गमित्यादिका वा 'त्रायते' रक्षति, पापेभ्य इति गम्यते, केत्याह—भाष्यत इति भाषा–वचनात्मिका, स्यादेतत्–अचिन्त्यो हि मणिमन्त्रमहौषधीनां प्रभाव इत्यघोरादिमन्त्रात्मिका वाक् त्राणाय भविष्यतीत्याह, कुतो ? विदन्त्यनया तत्त्वमिति विद्या–विचित्रमन्त्रात्मिका तस्या अनुशासनं–शिक्षणं विद्यानुशासनं त्रायते पापाद्धवाद्वा ?, न कुतोऽपि, तन्मात्रादेव मुक्तौ शेषानुष्ठानवैयर्थ्यप्रसङ्गादिति भावः। अत एव ये तदपि त्राणायेति वदन्ति ते यादृशास्तदेवाह—विविधम्–अनेकप्रकारं सन्नामज्ञा विषण्णाः, केषु ?–'पावकम्मेहिं'ति पापकर्म्मसु पापहेतुषु हिंसाद्यनुष्ठानेषु, सततं तत्कारितयेति भावः, यद्वा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥११॥

दीप अनुक्रम [१७१]

विषण्णा–विषादं गताः पापकर्म्मभिः–पापानुष्ठानैः यथा कथमेवमनुष्ठायिनो वयं भविष्याम इति, पठन्ति च–'विसन्ना पावकिच्चेहिं'ति तथैव, कुतस्त एवंविधा इत्याह—'बाला' रागद्वेषाकुलिताः पण्डितमात्मानं मन्यन्ते इत्येवंशीलाः पण्डितमानिनः, ये हि बालाः पण्डितमानिनश्च न स्युस्ते स्वयं सम्यगजानानाः परं पृच्छेयुः तदुपदेशतश्च तानि परिहरेयुः न तु विषण्णा एवासीरन् , ये तु बालाः पण्डितमानिनश्च ते स्वयमजानाना अपि जानानमन्यमात्मन्यभिमानतोऽनुपासमाना एवंविधा एव भवन्तीति सूत्रार्थः ॥ साम्प्रतं सामान्येनैव मुक्तिपथपरिपन्थिनां दोषदर्शनायाह—

जे केइ सरीरे सत्ता, वण्णे रूवे य सव्वसो । मणसा कायवक्केणं, सव्वे ते दुक्खसंभवा ॥ १२ ॥

व्याख्या—ये केचित् 'शरीरे ' शरीरविषये 'सक्ता' बद्धाग्रहाः, क ? इत्याह—'वण्णे' सुस्निग्धगौरत्वादिके 'रूपे च' सुसंस्थानतायां, चशब्दात् स्पर्शादिषु, वस्त्राद्यभिष्वङ्गोपलक्षणं चैतत् , 'सव्वसो'त्ति सूत्रत्वात् सर्वथा–सर्वैः स्वयंकरणकारणादिभिः प्रकारैः, मनसा कथं वर्णादिमन्तो वयं भविष्याम ? इत्यभिसन्धिना, वचसा रसायनादिप्रश्नात्मकेन, चशब्दात् कायेन च रसायनाद्युपयोगेन, एवेति पूरणे, पठ्यते च—'कायवक्केणं'ति कायश्च–शरीरं वाक्यं च–वचनं कायवाक्यं तेन, 'सर्वे' निरवशेषा गुरुपादुकातो मुक्तिः नास्ति वा मुक्तिरित्यादिवादिनोऽपि न केवलमार्यादि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१२॥

दीप अनुक्रम [१७२]

विदित्वा दुःखाद्विमुक्तिरितिवादिन एवेति भावः, 'ते' इति ये अप्रत्याख्याय पापमित्यादिवादिनो 'दुःखसम्भवाः' इहान्यजन्मनि च दुःखभाजनं इति सूत्रार्थः ॥ यथा चैते दुःखभाजनं तथा दर्शयन्नुपदेशसर्वस्वमाह—

आवण्णा दीहमद्धाणं, संसारंमि अणंतए । तम्हा सव्वदिसं पस्सं, अप्पमत्तो परिव्वए ॥ १३ ॥

व्याख्या—'आपन्नाः' प्राप्ताः 'दीर्घम्' अनाद्यनन्तमध्वानमिवाध्वानम्–उत्पत्तिप्रलयरूपं, अन्यान्यभवभ्रमणेनैकत्रावस्थितेरभावात्, क्व ?–'संसारे' नरकादिगतिचतुष्टयात्मके 'अनन्तके' अविद्यमानान्ते, अपर्यवसितानन्तकायिकाद्युपलक्षितत्वेनेति गर्भः, 'तम्ह'त्ति यस्मादेवमेते मुक्तिपरिपन्थिनो दुःखसम्भवाः तस्मात् 'सव्वदिसं'ति सर्वदिशः–प्रस्तावादशेषभावदिशः, ताश्च पृथिव्याद्यष्टादशभेदाः, उक्तं च—'[1]पुढवि जलजलणवाया मूला खंधग्गपोरबीया य । बितिचउपणिंदितिरिया य णारया देवसंघाया ॥१॥ संम्मुच्छिमकम्माकम्मभूमिगणरा तहंतरद्दीवा । भावदिसा दिस्सइ जं संसारी णियममेयाहिं ॥ २ ॥" 'पश्यन्' अवलोकयन् 'अप्रमत्तः' प्रमादविरहितः, यथैषामेकेन्द्रियादीनां विराधना न भवति तथा 'परिव्रजेः' संयमाध्वनि यायाः, यद्वा–संसारापन्नानां सर्वदिशः पश्य, दृष्ट्वा चाप्रमत्तो–निद्रादिप्रमादपरिहारतो यथैतासु न पर्यटसि तथा परिव्रजेः सुशिष्येति सूत्रार्थः ॥ यथा चाप्रमत्तेन परिव्रजितव्यं तथा दर्शयितुमाह—

१ पृथ्वी जलज्वलनवाता मूलानि स्कन्धाग्रपर्वबीजानि च । द्वित्रिचतुष्पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चश्च नारका देवसंघाताः ॥१॥ संमूर्च्छिमकर्माकर्मभूमिगनरास्तथाऽऽन्तरद्वीपाः । भावदिशः दिश्यते यत्संसारी नियमादेताभिः ॥ २ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१४॥

दीप अनुक्रम [१७४]

बहिया उड्ढमायाय, नावकंखे कयाइवि । पुव्वकम्मक्खयट्ठाए, इमं देहमुदाहरे ॥ १४ ॥

व्याख्या—'बहिय'त्ति बहिः, कोऽर्थः ?–बहिर्भूतं भवादिति गम्यते, ऊर्ध्वं सर्वोपरिस्थितम् अर्थान्मोक्षमादाय–गृहीत्वा मयैतदर्थं यतितव्यमिति निश्चित्य बुद्धया सम्प्रधार्येतियावत्, अथवा बहिः–आत्मनो बहिर्भूतं धनधान्यादि ऊर्ध्वम्–अपवर्गमादाय–गृहीत्वा, हेयत्वेनोपादेयतया च ज्ञात्वेतियावत्, 'नावकाङ्क्षेत्' विषयादिकं नाभिलषेत्, न कचिदभिष्वङ्गं कुर्वीतेति तात्पर्यं, 'कदाचिदपि' उपसर्गपरीषहाकुलितायामपि, आस्तामन्यदा, एवं सति शरीरधारणमप्ययुक्तमेव, एतद्धारणे सत्याकाङ्क्षासम्भवात्, तस्यापि चात्मनो बहिर्भूतत्वात् अत आह—पुव्वेत्यादर्द्धं, पूर्वं–पूर्वकालभावि तच्च तत्कर्म च पूर्वकर्म तस्य क्षयः तदर्थमिमं–प्रत्यक्षं 'देहं' शरीरं 'समुद्धरेद्' उचिताहारादिभोगतः परिपालयेत्, तद्धारणस्य विशुद्धिहेतुत्वात्, तत्पाते हि भवान्तरोत्पत्तावविरतिरपि स्यात्, उक्तं च—"सव्वत्थ संजमं संजमातो अप्पाणमेव रक्खेज्जा । मुच्चति अतिवायातो पुणो विसोही ण याविरती ॥ १ ॥" ततः शरीरोद्धरणमपि निरभिष्वङ्गतयैव विधेयमिति सूत्रार्थः ॥ यथा च देहपालनेऽपि नाभिष्वङ्गसम्भवः तथा दर्शयितुमाह—

विविच्च कम्मणो हेउं, कालकंखी परिव्वए । मायं पिंडस्स पाणस्स, कडं लद्धूण भक्खए ॥ १५ ॥

व्याख्या—'विविच्य' पृथक्कृत्य 'कर्म्मणो' ज्ञानावरणादेः 'हेतुम्' उपादानकारणं मिथ्यात्वाविरत्यादि, कालम्–

१ सर्वत्र संयमं संयमादात्मानमेव रक्षेत् । मुच्यतेऽतिपातात् पुनर्विशुद्धिर्न चाविरतिः ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१५॥

दीप अनुक्रम [१७५]

अनुष्ठानप्रस्तावं काङ्क्षत इत्येवंशीलः कालकाङ्क्षी, 'परिव्रजे'रिति पूर्ववत्, पठन्ति च 'विगिंच कम्मुणो हेउ'न्ति अत्र च 'वेविग्घि' परित्यजेत्युपदेशान्तरतया व्याख्येयं, मात्रां यावत्या संयमनिर्वाहस्तावतीं, ज्ञात्वेति गम्यते, कस्य ?–'पिण्डस्य' ओदनादेरन्नस्य 'पानस्य च' आयामादेः, स्वाद्यस्वाद्यानुपादानं च यतेः प्रायस्तत्परिभोगासम्भवात्, कृतम्–आत्मार्थमेव निर्वर्तितं, गृहिभिरिति गम्यते, प्रक्रमात्पिण्डादिकमेव 'लब्ध्वा' प्राप्य 'भक्षयेद्' अभ्यवहरेदिति सूत्रार्थः ॥ कदाचिद्भुक्तशेषं धारयतोऽभिष्वङ्गसम्भवः स्यादित्याह—

सन्निहिं च न कुव्विज्जा, लेवमायाय संजए। पक्खी पत्तं समायाय, निरवेक्खो परिव्वए ॥ १६ ॥

व्याख्या—सम्यग्–एकीभावेन निधीयते–निक्षिप्यतेऽनेनाऽऽत्मा नरकादिष्विति सन्निधिः–प्रातरिदं भविष्यतीत्याद्यभिसन्धितोऽतिरिक्ताशनादिस्थापनं तं च न कुर्वीत, चशब्दः पूर्वापेक्षया समुच्चये, 'लेवमायाय'त्ति लेपः–शकटाक्षादिनिष्पादितः पात्रगतः परिगृह्यते, तस्य मात्रा–मर्यादा, मात्राशब्दस्य मर्यादावाचित्वेनापि रूढत्वात्, यथोक्तम्—"ईषदर्थक्रियायोगे, मर्यादायां परिच्छदे। परिमाणे धने चेति, मात्राशब्दः प्रकीर्तितः ॥१॥" लेपमात्रतया, किमुक्तं भवति ?–लेपमेकं मर्यादीकृत्य न स्वल्पमप्यन्यत् सन्निदधीत, यद्वा परिमाणार्थोऽयं मात्राशब्दः, लक्षणे तृतीया, ततोऽयमर्थः–लेपमात्रयेति यावता पात्रमुपलिप्यते तावत्परिमाणमपि सन्निधिं न कुर्वीत, आस्तां बहुमित्यभिप्रायः, 'संयतो' यतिः, किमित्येवं पात्राद्युपकरणसन्निधिरपि न कर्तव्य इत्याह—'पक्खि'त्ति पक्षीव पक्षी, यथा पक्षी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१६॥

दीप अनुक्रम [१७६]

पतन्तं त्रायत इति पत्रं—पक्षसञ्चयं 'समादाय' गृहीत्वा व्रजति, एवं भिक्षुरपि 'पत्ते'त्ति पात्रमुपलक्षणत्वाच्छेषोपकरणं चादाय परिव्रजेदिति सम्बन्धः, कीदृग् ?–'निरपेक्षो' निरभिलाषः, तस्य वा विनाशादौ शोकाकरणतो निरपेक्षो–निरभिष्वङ्गः, तथा च प्रतिदिनमसंयमपलिमन्थभीरुतया पात्राद्युपकरणसन्निधिकरणेऽपि न दोष इत्यर्थः, अथवा यदि लेपमात्रयाऽपि सन्निधिं न कुर्वीत कथमागामिनि दिने भोक्तव्यमित्याह—पक्षीव निरपेक्षः, पात्रं पतद्ग्रहादिभाजनमथ तन्नियोगं च समादाय व्रजेद्–भिक्षार्थं पर्यटेद्, इदमुक्तं भवति–मधुकरवृत्त्या हि तस्य निर्वहणं, तत्किं तस्य सन्निधिना ? इति सूत्रार्थः ॥ सम्प्रति यदुक्तं 'कृतं लब्ध्वा भक्षयेदि'ति, तत्र कथं तल्लाभ इति तदुपायमाह–यद्वा–यदुक्तं 'निरपेक्षः परिव्रजेदि'ति तदभिव्यक्तीकर्तुमाह—

एसणासमिओ लज्जू, गामे अनियओ चरे । अप्पमत्तो पमत्तेहिं, पिंडवातं गवेसए ॥ १७ ॥

व्याख्या—एषणायाम्–उत्पादनग्रहणग्रासविषयायां सम्यगितः–स्थितः समितः एषणासमितः, प्राधान्याच्च इहैषणाया एवोपादानं, प्रायस्तद्भावे ईर्याभाषादिसमितिसम्भव इति ज्ञापनार्थं वा, अनेन निरपेक्षत्वमुक्तं, 'लज्जू'त्ति लज्जा–संयमस्तदुपयोगानन्यतया यतिरपि तथोक्तः, आर्षत्वाच्चैवं निर्देशः, ग्रामे उपलक्षणत्वान्नगरादौ च 'अनियतः' अनियतवृत्तिः 'चरेद्' विहरेत्, अनेनापि निरपेक्षतैवोक्ता । चरंश्च किं कुर्यादित्याह—'अप्रमत्तः' प्रमादरहितः सन् 'पमत्तेहिं'ति प्रमत्तेभ्यो गृहस्थेभ्यः, ते हि विषयादिप्रमादसेवनात् प्रमत्ता उच्यन्ते, 'पिण्डपातं' भिक्षां 'गवेषयेद्'

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१८॥

दीप अनुक्रम [१७८]

अन्वेषयेदिति सूत्रार्थः ॥ इत्थं प्रसक्तानुप्रसक्त्या संयमस्वरूपमुक्तं, तदुक्तौ च निर्ग्रन्थस्वरूपं, सम्प्रत्यत्रैवादरोत्पादनार्थमाह—

एवं से उदाहु अणुत्तरनाणी अणुत्तरदंसी अणुत्तरनाणदंसणधरे ।
अरहा णायपुत्ते भयवं वेसालीए वियाहिए ॥ १९ ॥ त्तिबेमि ॥

व्याख्या—'एवम्' अमुना प्रकारेण 'से' इति भगवान् 'उदाहु'त्ति उदाहृतवान् 'अनुत्तरज्ञानी' सर्वोत्कृष्टज्ञानवान् । ननु चानुत्तरज्ञानीति मत्वर्थीयेन न भवितव्यं, बहुव्रीहिणैव तदर्थस्योक्तत्वात्, सत्यम्, अनुत्तरज्ञानशब्दोऽयं गौरखरशब्दवत् संज्ञाप्रकार एव, केवलज्ञानवाचकत्वात् अस्य, ततो गौरखरवदरण्यमित्यादिवन्न दोषः, नास्योत्तरमस्तीत्यनुत्तरं तथा पश्यतीत्यनुत्तरदर्शी, सामान्यविशेषग्राहितया च ज्ञानदर्शनयोर्भेदः, यत उक्तम्—"जं सामण्णग्गहणं दंसणमेयं विसेसियं नाणं"[1]ति, अनुत्तरे ज्ञानदर्शने युगपदुपयोगाभावेऽपि लब्धिरूपतया धारयतीत्यनुत्तरज्ञानदर्शनधरः । ननु प्रागुक्ताभ्यां विशेषणाभ्यामस्यार्थस्योक्तत्वात् कथं न पौनरुक्त्यम् ?, उच्यते, अस्यान्याभिप्रायत्वात्, अत्र हि अनुत्तरज्ञान्यनुत्तरदर्शीति भेदाभिधानेन ज्ञानदर्शनयोर्भिन्नकालमाह, ततश्च मा भूदुपयोगवल्लब्धिद्वयमपि भिन्नकालभावीति व्यामोह इत्युपदिश्यते ज्ञानदर्शनधरः, अर्हति देवादिभ्यः पूजामित्यर्हन्, स चार्थात्तीर्थकृत्, ज्ञातः—उदा-

१ यत्सामान्यग्रहणं दर्शनमेतत् विशेषितं ज्ञानम् ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्र सूत्रक्रमांक ॥१८॥ वर्तते, मूल संपादने मुद्रणदोषात् ॥१९॥ इति लिखितं

प्रत सूत्रांक ॥१८॥

दीप अनुक्रम [१७८]

रक्षत्रियः स चेह प्रस्तावात् सिद्धार्थः तस्य पुत्रो ज्ञातपुत्रः–वर्तमानतीर्थाधिपतिर्महावीर इतियावत् 'भगवान्' समग्रैश्वर्यादिमान्, 'वेसालीय'त्ति विशालाः–शिष्याः तीर्थं यशःप्रभृतयो वा गुणा विद्यन्ते यस्येति विशालिकः "इनि ठना" (अत इनि ठनौ पा० ५-२-११५) विति ठन्, यद्वा विशालेभ्यः–उक्तस्वरूपेभ्यो हित इति हितार्थे ठन्प्रत्ययः (तस्मै हितम् पा० ५-१-५), ततश्च विशालीयः 'वियाहिए'त्ति व्याख्याता सदेवमनुजासुरायां पर्षदि विशेषेणान्यसाधारणात्मकेनाख्याता–कथयिता, केचित्त्वधीयते–'एवं से उदाहु अरिहा पासे पुरिसादाणीए भगवं वेसालीए बुद्धे परिणिव्वुए'त्ति स्पष्टमेव, नवरमर्हन्निति सामान्योक्तावपि प्रक्रमात् महावीरः, पश्यति समस्तभावान् केवलालोकेनावलोकत इति पश्यः, तथा पुरुषश्चासौ पुरुषाकारवर्तितया आदानीयश्च आदेयवाक्यतया पुरुषादानीयः, पुरुषविशेषणं तु पुरुष एव प्रायस्तीर्थकर इति ख्यापनार्थं, पुरुषैर्वाऽऽदानीयो ज्ञानादिगुणतया पुरुषादानीय इति सूत्रार्थः ॥ इतिः परिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् । उक्तोऽनुगमः, सम्प्रति नयाः, ते च पूर्ववद्वाच्याः । इति श्रीशान्त्याचार्यविरचितायां शिष्यहितायामुत्तराध्ययनटीकायां षष्ठमध्ययनं समाप्तमिति ॥ ॥ ॥ ॥ ॥

॥ इति श्रीशान्त्याचार्यीयटीकायां श्रीक्षुल्लकनिर्ग्रन्थीयं षष्ठमध्ययनं समाप्तम् ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्र अध्ययनं- ६ परिसमाप्तं

प्रत सूत्रांक ॥१८॥

दीप अनुक्रम [१७८]

॥ व्याख्यातं क्षुल्लकनिर्ग्रन्थीयं षष्ठमध्ययनं, साम्प्रतं सप्तममारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः–इहानन्तराध्ययने निर्ग्रन्थत्वमुक्तं, तच्च रसगृद्धिपरिहारादेव जायते, स च विपक्षेऽपायदर्शनात्, तच्च दृष्टान्तोपन्यासद्वारेणैव परिस्फुटं भवतीति रसगृद्धिदोषदर्शकोरभ्रादिदृष्टान्तप्रतिपादकमिदमध्ययनमारभ्यते, इत्यनेनाभिसम्बन्धेनायातस्याध्ययनस्योपक्रमादिद्वारचतुष्टयमुपवर्ण्य तावद्यावन्नामनिष्पन्ननिक्षेपे उरभ्रीयमिति नाम, अत उरभ्रनिक्षेपमाह—

निक्खेवो उ उरब्भे चउविहो दुविहो य होइ दव्वंमि । आगमनोआगमओ नोआगमओ अ सो तिविहो ॥

व्याख्या—'निक्षेपः' न्यासः, तुः पूरणे, 'उरभ्रे' उरभ्रविषयः 'चतुर्विधः' चतुष्प्रकारः, नामस्थापनाद्रव्यभावभेदात्, तत्र नामस्थापने क्षुण्णे एव इति द्रव्योरभ्रमाह—द्विविधो भवति 'द्रव्य' इति द्रव्यविषयः, आगमनोआगमतः, तत्रागमत उरभ्रशब्दार्थज्ञः तत्र चानुपयुक्तः, नोआगमतः पुनः, चस्य पुनरर्थत्वात्, 'स' इति द्रव्योरभ्रः 'त्रिविधः' त्रिभेद इति गाथार्थः ॥ त्रैविध्यमेवाह—

जाणगसरीरभविए तव्वइरित्ते अ सो पुणो तिविहो। एगभविअ बद्धाऊ अभिमुहओ नामगोए अ ॥२४५॥

व्याख्या—ज्ञशरीरोरभ्र उरभ्रशब्दार्थज्ञस्य सिद्धशिलातलगतं शरीरमुच्यते, भव्यशरीरोरभ्रस्तु यस्तावदुरभ्रशब्दार्थं न जानाति कालान्तरे च ज्ञास्यति तस्य यच्छरीरं, 'तद्व्यतिरिक्तश्च' ताभ्यां–ज्ञशरीरभव्यशरीरोरभ्राभ्यां व्यतिरिक्तो–

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ अध्ययनं – ७ "औरभ्रीय" आरभ्यते

प्रत सूत्रांक ॥१८॥

दीप अनुक्रम [१७८]

भिन्नः तद्व्यतिरिक्तः, चः समुच्चये, 'स' तद्व्यतिरिक्तः पुनः 'त्रिविधः' त्रिभेदः, त्रैविध्यमेवाह—एकस्मिन् भवे तस्मिन्नेवातिक्रान्ते भावी एकभविको–योऽनन्तर एव भवे उरभ्रतयोत्पत्स्यते, तथा स एवोरभ्रायुर्बन्धानन्तरं बद्धमायुरनेनेति बद्धायुष्क उच्यते, तृतीयमाह—'अभिमुहतो नामगोए य'त्ति आर्षत्वादभिमुखनामगोत्रश्च, तत्राभिमुखे–सम्मुखे अन्तर्मुहूर्तानन्तरभावितया नामगोत्रे उरभ्रसम्बन्धिनी यस्य स तथोक्तः, अन्तर्मुहूर्तानन्तरमेवोरभ्रभवभावीति गाथार्थः ॥ भावोरभ्रमध्ययननामनिबन्धनं चाह—

उरभाउणामगोयं वेयंतो भावओ उ ओरब्भो । तत्तो समुट्ठियमिणं उरब्भिज्जन्ति अज्झयणं ॥२४६॥

व्याख्या—उरभ्र–ऊरणकः तस्यायुश्च नाम च गोत्रं चोरभ्रायुर्नामगोत्रं, यदुदयादुरभ्रो भवति, 'वेदयन्' अनुभवन् 'भावतो' भावमाश्रित्योरभ्रः, तुशब्दः पर्यायास्तिकमतमेतदिति विशेषणार्थः, 'ततो' भावोरभ्राद् दृष्टान्ततयेहाभिधेयात्समुत्थितम्—उत्पन्नमिदमिति प्रस्तुतं, यस्मादिति गम्यते, 'उरब्भिज्ज'ति उरभ्रीयं ग्रहादित्वाच्छैषिकठप्रत्ययः 'इती'ति तस्माद् अध्ययनं प्रागुक्तनिरुक्तमुच्यत इति शेष इति गाथार्थः ॥ उरभ्रस्यैव चेह प्रथममुच्यमानत्वाद्बहुवक्तव्यत्वाच्चेत्थमुक्तम्, अन्यथा हि काकिण्यादयोऽपि दृष्टान्ता इहाभिधीयन्ते एव, तथा चाह निर्युक्तिकृत्—

ओरब्भे अ कागिणी अंबए अ ववहार सागरे चेव । पंचेए दिट्ठंता उरब्भिज्जंमि अज्झयणे ॥ २४७ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१८॥

दीप अनुक्रम [१७८]

व्याख्या—'उरभ्र' उक्तरूपः 'काकिणिः' विंशतिकपर्दकाः 'उरब्भे य'त्ति चशब्दस्य भिन्नक्रमत्वात् काकिणिश्च 'अंबए य'त्ति आम्रकं च–आम्रफलं, व्यवहारश्च–क्रयविक्रयरूपो वणिग्धर्मः, चस्य गम्यमानत्वात्, सागरश्च–समुद्रः, चः सर्वत्र समुच्चये, एवोऽवधारणे, भिन्नक्रमश्चैवं योज्यते–पञ्चैवैते न तु न्यूनाधिकाः 'दृष्टान्ता' उदाहरणानि 'उरभ्रीये' उरभ्रीयनाम्न्यध्ययन इति गाथार्थः ॥ सम्प्रति यदर्थसाधर्म्यादुरभ्रस्य दृष्टान्तता तदुपदर्शनायाह—

आरंभे रसगिद्धी दुग्गतिगमणं च पच्चवाओ य। उवमा कया उरब्भे उरब्भिज्जस्स निज्जुत्ती ॥ २४८ ॥

व्याख्या—आरम्भणं आरम्भः–पृथिव्याद्युपमर्दः, रसेषु–मधुरादिषु गृद्धिः–अभिकाङ्क्षा रसगृद्धिः, दुर्गतिगमनं च–नरकतिर्यगादिषु च पर्यटनं, प्रत्यपायश्चैहैव शिरश्छेदादिः, वक्ष्यति हि "सिरं छेत्तूण भुजति'त्ति शिरश्छेदादार्तरौद्रोपगतस्य दुर्गतिपाते दुःखानुभवनादिरुपमा–सादृश्योपदर्शनरूपा, प्रक्रमादेभिरेवारम्भादिभिरर्थैः 'कृता' विहिता 'उरभ्रे' उरभ्रविषया, इदमुक्तं भवति–साम्प्रतेक्षिणो हि विषयामिषगृध्नवस्तांस्तानारम्भानारभन्ते, आरभ्य चोपचितकर्म्मभिः कालशौकरिकादिवदिहैव दुःखमुपलभ्य नरकादिकां कुगतिमाप्नुवन्तीत्युरभ्रोदाहरणता इहोपदर्श्यते, काकिण्यादिसाधर्म्यदृष्टान्तोपलक्षणं चैतद्, 'उरभ्रीयस्य निर्युक्ति'रिति निगमनमेतदिति गाथार्थः ॥ इत्यवसितो नामनिष्पन्ननिक्षेपः, सम्प्रति सूत्रालापकनिक्षेपावसरः, स च सूत्रे सति भवतीत्यतः सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

जहाऽऽएसं समुद्दिस्स, कोइ पोसेज्ज एलयं। ओयणं जवसं देज्जा, पोसेज्जावि सयंगणे ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१७९]

व्याख्या—'यथे'त्युदाहरणोपन्यासे, आदिश्यते–आज्ञाप्यते विविधव्यापारेषु परिजनोऽस्मिन्नायात इत्यादेशः–अभ्यर्हितः प्राहुणकस्तं 'समुद्दिश्य' आश्रित्य यथाऽसौ समेष्यति समागतश्चैनं भोक्ष्यत इति 'कश्चित्' परलोकापायनिरपेक्षः 'पोषयेत्' पुष्टं कुर्यात् 'एलकम्' ऊरणकं, कथमित्याह—'ओदनं' भक्तं, तद्योग्यशेषान्नोपलक्षणमेतत्, 'यवसं' मुद्गमाषादि 'दद्यात्' तदग्रतो ढौकयेत्, तत एव पोषयेत्, पुनर्वचनमादरख्यापनाय, अपिः सम्भावने, सम्भाव्यत एवैवंविधः कोऽपि गुरुकर्मेति, 'स्वकाङ्गणे' स्वकीयगृहाङ्गणे, अन्यत्र नियुक्तकाः कदाचिन्नौदनादि दास्यन्तीति स्वकाङ्गण इत्युक्तं, यदि वा 'पोसेज्जा विसयंगणे'त्ति विशन्त्यस्मिन् विषयो–गृहं तस्याङ्गणं विषयाङ्गणं तस्मिन्, अथवा विषयं–रसलक्षणं वचनव्यत्ययाद् विषयान्वा गणयन्–संप्रधारयन् धर्मनिरपेक्ष इति भावः, इहोदाहरणं सम्प्रदायादवसेयं, जहेगो ऊरणगो पाहुणयणिमित्तं पोसिज्जति, सो पीणियसरीरो सुण्हातो हलिद्दादिकयंगरागो कयकण्णचूलतो कुमारगा य तं नाणाविहेहिं कीलाविसेसेहिं कीलावेंति, तं च वच्छगो एवं लालिज्जमाणं दट्ठूण माऊए णेहेण य गोवियं दोहएण य तयणुकंपाए मुक्कमवि खीरं ण पिवति रोसेणं, ताए पुच्छिओ भणति–अम्मो ! एस णंदियगो सवेहिं

१ यथैक ऊरणकः प्राघूर्णकनिमित्तं पोष्यते, स पीनशरीरः सुस्नातो हरिद्रादिकृताङ्गरागः कृतकर्णचूलकः कुमाराश्च तं नानाविधैः क्रीडाविशेषैः क्रीडयन्ति, तं च वत्स एवं लाल्यमानं दृष्ट्वा मात्रा स्नेहेनैव गोपितं दोहकेन च तदनुकम्पया मुक्तमपि क्षीरं न पिबति रोषेण, तया पृष्टो भणति–अम्ब ! एष नन्दितकः सर्वैः-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२॥

दीप अनुक्रम [१८०]

एएहिं अम्हसामिसालेहिं अहोहिं जवसजोगासणेहिं तदुवओगेहिं च अलंकारविसेसेहिं अलंकारितो पुत्त इव परिपालिज्जति, अहं तु मंदभग्गो सुक्काणि तणाणि काहेवि लभामि, ताणिवि ण पज्जत्तगाणि, एवं पाणियंपि, ण यमं कोऽवि लालेति। ताए भण्णति–पुत्त !

आउरचिन्नाइं एयाइं, जाइं चरइ नंदिओ। सुक्कत्तणेहिं लाढाहि, एयं दीहाउलक्खणं ॥ २४९ ॥

जहा आउरो मरिउकामो जं मग्गति पत्थं वा अपत्थं वा तं दिज्जति से, एवं सो णंदितो मारिज्जिहिति जदा तदा पेच्छिहिसि, इति सूत्रार्थः ॥

ततोऽसौ कीदृशो जातः ? किं च करुते ? इत्याह–

तओ स पुट्ठे परिवूढे, जायमेदे महोयरे। पीणिए विपुले देहे, आदेसं परिकंखए ॥ २ ॥

व्याख्या—'तत'इत्योदनादिदानाद्धेतौ पञ्चमी, 'स' इत्युरभ्रः 'पुष्ट' उपचितमांसतया पुष्टिभाक् 'परिवृढः' प्रभुः

१ रेतैरस्मत्स्वामिश्यालैराढ्यैर्यवसयोग्याशनैस्तदुपयोगैश्चालङ्कारविशेषैरलङ्कृतः पुत्र इव परिपाल्यते, अहं तु मन्दभाग्यः शुष्काणि तृणानि कदापि लभे, तान्यपि न पर्याप्तानि, एवं पानीयमपि, न च मां कोऽपि लालयति। तया भण्यते–पुत्र ! आतुरचिह्नानि एतानि, यानि चरति नन्दिकः। शुष्कतृणैर्यापयैतत् दीर्घायुर्लक्षणम् ॥ १ ॥ यथा आतुरो मर्तुकामो यन्मार्गयति पथ्यमपथ्यं वा तद्दीयते तस्मै, एवं स नन्दिको मारयिष्यते यदा तदा प्रेक्षयिष्ये

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३॥

दीप अनुक्रम [१८१]

समर्थ इतियावत् 'जातमेदा' उपचितचतुर्थधातुः अत एव 'महोदरः' बृहज्जठरः 'प्रीणितः' तर्पितः, यथासमयमुपढौकिताहारत्वात्, एभिरेव च हेतुभिः 'विपुले' विशाले 'देहे' शरीरे सति "यस्य च भावेन भावलक्षण"मिति (पा० २-३-३७) सप्तमी, किमित्याह—आदेशं 'प्रतिकाङ्क्षति' प्रतिपालयति, पाठान्तरतः 'परिकाङ्क्षति' इच्छति, न चास्य तत्त्वतः प्रतिपालनमिच्छा वा सम्भवति, अतः प्रतिकाङ्क्षतीव प्रतिकाङ्क्षतीत्युपमार्थोऽवगन्तव्यः, एवं परिकाङ्क्षतीत्यत्रापि, इति सूत्रार्थः ॥ स किमेवं चिरस्थायी स्यादित्याह—

जाव न एज्जति आएसो, ताव जीवति सेऽदुही । अह पत्तंमि आएसे, सीसं छेत्तूण भुज्जति ॥ ३ ॥

व्याख्या—'यावदि'ति कालावधारणे 'नेति' नायाति, कोऽसौ ?—आदेशः, तावत् नोत्तरकालं 'जीवति' प्राणान् धारयति, 'सेऽदुहि'त्ति अकारप्रश्लेषात् स इत्युरभ्रोऽदुःखी सुखी सन्, अथवा वध्यमण्डनमिवास्यौदनदानादिनीति तत्त्वतो दुःखितैवास्येति दुःखी, 'अह पत्तंमि आएसे' अथानन्तरं 'प्राप्ते' आगते आदेशे श्रिता अस्मिन् प्राणा इति शिरः तच्छित्त्वा–द्विधा विधाय भुज्यते, तेनैव स्वामिना प्राहुणकसहितेनेति शेषः । सम्प्रति सम्प्रदायशेषमनुस्रियते—ततो सो वच्छगो तं नंदियगं पाहुणगेसु आगएसु वधिज्जमाणं दट्ठुं तिसितोऽवि भएणं माऊए थणं णाभि-

१ ततः स वत्सस्तं नन्दितकं प्राघूर्णकेष्वागतेषु वध्य (हन्य)मानं दृष्ट्वा तृषितोऽपि भयेन मातुः स्तन्यं नाभि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४॥

दीप अनुक्रम [१८२]

लसंति, ताए भण्णति–किं पुत्त ! भयभीतोऽसि ?, णेहेण पण्हुयंपि मं ण पियसि, तेण भण्णइ–अम्म ! कतो मे थणाभिलासो ?, णणु सो वराको णंदितो अज्ज केहिवि पाहुणएहिं आगएहिं ममं अग्गतो विणिग्गयजीहो विलोलनयणो विस्सरं रसंतो अत्ताणो असरणो मारितो, तब्भयातो कतो मे पाउमिच्छा ?, ततो ताए भण्णति–पुत्त ! णणु तदा चेव ते कहियं, जहा–आउरचिण्णाइं एयाइं०, एस तेसिं विवागो अणुपत्तो। एस दिट्ठंतो इति सूत्रार्थः ॥

इत्थं दृष्टान्तमभिधाय तमेवानुवदन् दार्ष्टान्तिकमाह—

जहा खलु से ओरब्भे, आएसाए समीहिए। एवं बाले अहम्मिट्ठे, ईहति निरयाउयं ॥ ४ ॥

व्याख्या—'यथा' येन प्रकारेण 'खलु' निश्चयेन 'स' इति प्रागुक्तस्वरूप उरभ्रः 'आदेशाय' आदेशार्थं 'समीहितः' कल्पितः सन् यथाऽयमस्मै भवितेत्यादेशं परिकाङ्क्षति इत्यनुवर्तते, 'एवम्' अमुनैव न्यायेन 'बालः' अज्ञोऽधर्मो–धर्मविपक्षः पापमितियावत् स इष्टः–अभिलषितोऽस्येत्यधर्मिष्ठः, आहिताग्न्यादेराकृतिगणत्वादिष्टशब्दस्य परनिपातः, यद्वा-

१० लभ्यते, तया भण्यते–किं पुत्र ! भयभीतोऽसि ?, स्नेहेन प्रस्नुतामपि मां न पिबसि, तेन भण्यते–अम्ब ! कुतो मे स्तन्याभिलाषः ?, ननु स वराको नन्दिकोऽद्य केष्वपि प्राघूर्णकेष्वागतेषु ममाग्रतो विनिर्गतजिह्वो विलोलनयनो विस्वरं रसन् अत्राणोऽशरणो मारितः, तद्भयात्कुतो मे पातुमिच्छा ?, ततस्तया भण्यते–पुत्र ! ननु तदैव तुभ्यं कथितं, यथा–आतुरचिह्नान्येतानि०, एष तेषां विपाकोऽनुप्राप्तः । एष दृष्टान्तः ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥५-७॥

दीप अनुक्रम [१८३--१८५]

ऽधर्म्मगुणयोगादधर्मोऽतिशयेनाधर्मोऽधर्मिष्ठः, ईहत इवेहते वाञ्छतीव तदनुकूलचारितया, किं तत् ?–'नरकायुष्कं' नरकजीवितमिति सूत्रार्थः ॥ उक्तमेवार्थं प्रपञ्चयितुमाह—

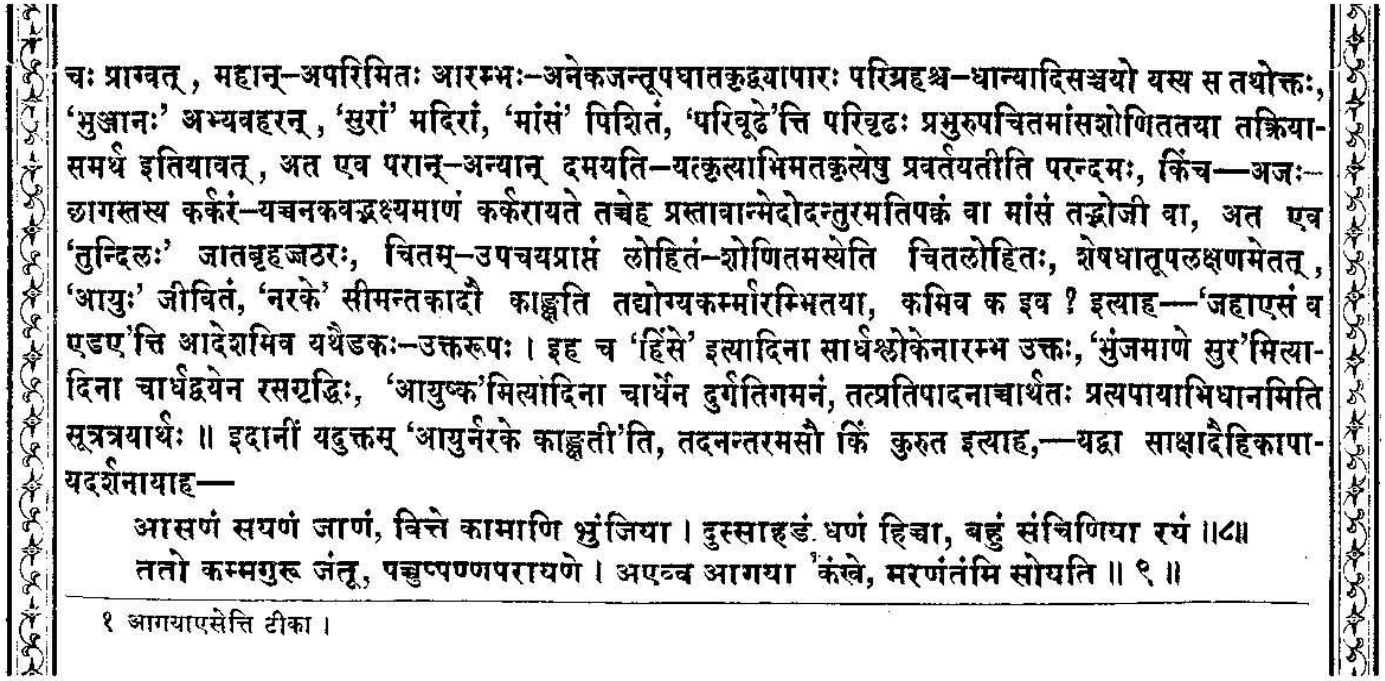
हिंसे बाले मुसावाई, अद्धाणंमि विलोवए । अण्णदत्तहरे तेणे, माई कण्हुहरे सढे ॥ ५ ॥
इत्थीविसयगिद्धे य, महारंभपरिग्गहे । भुंजमाणे सुरं मंसं, परिवूढे परंदमे ॥ ६ ॥
अयकक्करभोई य, तुंदिले चिय लोहिए । आउयं नरए कंखे, जहाऽऽएसं व एलए ॥ ७ ॥

व्याख्या—हिनस्तीत्येवंशीलो हिंस्रः–स्वभावत एव प्राणव्यपरोपणकृत् 'बालः' अज्ञः, पाठान्तरश्च कुध्यति–हेतुमन्तरेणापि कुप्यतीत्येवंधर्मा क्रोधी, मृषा–अलीकं वदति–प्रतिपादयतीत्येवंशीलो मृषावादी, 'अध्वनि' मार्गे 'विलुम्पति' मुष्णातीति विलोपकः, यः पथि गच्छतो जनान् सर्वस्वहरणतो लुण्टति, 'अण्णदत्तहरि'त्ति अन्येभ्यो दत्तं–राजादिना वितीर्णं हरति अपान्तराल एवाच्छिनत्त्यदत्तहरः, अन्यैर्वाऽदत्तम्–अनिसृष्टं हरति–आदत्ते अन्यादत्तहरः–ग्रामनगरादिषु चौर्यकृत्, अत एव 'बालः' अज्ञः, विस्मरणशीलस्मरणार्थमेतदिति न पौनरुक्त्यं, सर्वावस्थासु वा बालत्वख्यापनार्थं, पाठान्तरश्च 'स्तेनः' स्तैन्येनैवोपकल्पितात्मवृत्तिः, यद्वा–अन्यादत्तहरः अन्यादत्तं ग्रन्थिच्छेदादिनोपायेनापहरति स्तेनः क्षत्रादिखननेनेति विशेषो, 'मायी' वञ्चनैकचित्तः, 'कण्हुहरः' कण्हु कस्यार्थं हरिष्यामीत्येवमध्यवसायी 'शठः' वक्राचारः । तथा स्त्रियश्च विषयाश्च स्त्रीविषयाः तेषु गृद्धः–अभिकाङ्क्षावान् स्त्रीविषयगृद्धः,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥५-७॥

दीप अनुक्रम [१८३--१८५]



चः प्राग्वत्, महान्–अपरिमितः आरम्भः–अनेकजन्तूपघातकृद्व्यापारः परिग्रहश्च–धान्यादिसञ्चयो यस्य स तथोक्तः, 'भुञ्जानः' अभ्यवहरन्, 'सुरां' मदिरां, 'मांसं' पिशितं, 'परिवूढे'त्ति परिवृढः प्रभुरुपचितमांसशोणिततया तक्रिया-समर्थ इतियावत्, अत एव परान्–अन्यान् दमयति–यत्कृत्याभिमतकृत्येषु प्रवर्तयतीति परन्दमः, किंच—अजः–छागस्तस्य कर्करं–यचनकवद्भक्ष्यमाणं कर्करायते तच्चेह प्रस्तावान्मेदोदन्तुरमतिपक्वं वा मांसं तद्भोजी वा, अत एव 'तुन्दिलः' जातबृहज्जठरः, चितम्–उपचयप्राप्तं लोहितं–शोणितमस्येति चितलोहितः, शेषधातूपलक्षणमेतत्, 'आयुः' जीवितं, 'नरके' सीमन्तकादौ काङ्क्षति तद्योग्यकर्म्मारम्भितया, कमिव क इव ? इत्याह—'जहाएसं व एडए'त्ति आदेशमिव यथैडकः–उक्तरूपः। इह च 'हिंसे' इत्यादिना सार्धश्लोकेनारम्भ उक्तः, 'भुंजमाणे सुर'मित्यादिना चार्धद्वयेन रसगृद्धिः, 'आयुष्क'मित्यादिना चार्धेन दुर्गतिगमनं, तत्प्रतिपादनाचार्थतः प्रत्यपायाभिधानमिति सूत्रत्रयार्थः ॥ इदानीं यदुक्तम् 'आयुर्नरके काङ्क्षती'ति, तदनन्तरमसौ किं कुरुत इत्याह,—यद्वा साक्षादैहिकापा-यदर्शनायाह—

आसणं सयणं जाणं, वित्ते कामाणि भुंजिया। दुस्साहडं धणं हिच्चा, बहुं संचिणिया रयं ॥८॥
ततो कम्मगुरू जंतू, पच्चुप्पण्णपरायणे। अएव्व आगया [1]कंखे, मरणंतंमि सोयति ॥ ९ ॥

१ आगयाएसेत्ति टीका।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥८-९॥

दीप अनुक्रम [१८६--१८७]

व्याख्या—आसनं शयनं यानमिति प्राग्वत्, नवरं भुक्त्वेति सम्बन्धनीयं, 'वित्ते'त्ति वित्तं द्रव्यं, 'कामान्' मनोज्ञशब्दादीन् 'भुक्त्वा' उपभुज्य,दुःखेनात्मनः परेषां च दुःखकरणेन सुष्ठु–आदरातिशयेनाहृतम्–उपार्जितं दुःखाहृतं,यद्वा प्राकृतत्वात् दुःखेन संहियते–मील्यते स्मेति दुःसंहृतं 'धनं' द्रव्यं 'हित्वा' आसनाद्युपभोगेन धूताद्यसद्व्ययेन च त्यक्त्वा, तथा च मिथ्यात्वादिकर्मबन्धुहेतुसम्भवाद् 'बहु' प्रभूतं 'सञ्चित्य' उपार्ज्य 'रजः' अष्टप्रकारं कर्म, ततः किमित्याह–'ततो'त्ति ततो रजःसञ्चयात् तको वा सञ्चितरजाः, कर्म्मणा गुरुरिव गुरुः अधोनरकगामितया कर्म्मगुरुः, 'जन्तुः' प्राणी 'प्रत्युत्पन्नं' वर्त्तमानं तस्मिन्परायणः–तन्निष्ठः प्रत्युत्पन्नपरायणः, 'एतावानेव लोकोऽयं,यावानिन्द्रियगोचरः' इति नास्तिकमतानुसारितया परलोकनिरपेक्ष इतियावत्, 'अएव'त्ति अजः–पशुः, स चेह प्रक्रमादुरभ्रस्तद्वत् 'आगयाएसे'त्ति प्राकृतत्वादागते–प्राप्ते आदेशे-प्राहुणके, एतेन प्रपञ्चितज्ञविनेयानुग्रहायोक्तमेवोरभ्रदृष्टान्तं स्मारयति, किमित्याह—'मरणान्ते' प्राणपरित्यागात्मनि, अवसाने शोचति, किमुक्तं भवति ?—यथाऽऽदेशे आगते उरभ्र उक्तनीत्या शोचति, तथाऽयमपि धिङ् मां विषयव्यामोहत उपार्जितगुरुकर्माणं, हा ! क्वेदानीं मया गन्तव्यमित्यादिप्रलापतः खिद्यते, अत्यन्तनास्तिकस्यापि प्रायस्तदा शोकसम्भवादिति सूत्रद्वयार्थः ॥ अनेनैहिकापाय उक्तः, सम्प्रति पारभविकमाह—

तओ आउ परिक्खीणे, चुतदेहा विहिंसगा। आसुरियं दिसं बाला, गच्छंति अवसा तमं ॥ १० ॥

व्याख्या—'ततः' शोचनानन्तरं 'तको वा' उपार्जितगुरुकर्म्मा 'आउ'त्ति आयुषि तद्भवसम्बन्धिनि जीविते

॥२७५॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१०॥

दीप अनुक्रम [१८८]

'परिक्षीणे' सर्वथा क्षयं गते, कदाचिदायुःक्षयस्याऽऽवीच्चिमरणेन प्रागपि सम्भवादेवमुच्यते, 'च्युतः' भ्रष्टो 'देहात्' शरीरात्, पाठान्तरतस्तु 'च्युतदेहो' अपगतेहत्यशरीरः ' 'विहिंसकः' विविधप्रकारैः प्राणिघातकः, 'आसुरियं'ति अविद्यमानसूर्यां, उपलक्षणत्वाद्ग्रहनक्षत्रविरहितां च, दिशं दृश्यते नारकादित्वेनास्यां संसारीति दिक् ताम्, अर्थात् भावदिशम्, अथवा रौद्रकर्मकारी सर्वोऽप्यसुर उच्यते, ततश्चासुराणामियमासुरी या तामासुरीयां दिशं, नरकगतिमित्यर्थः, 'बालः' अज्ञो गच्छति–याति 'अवशः' कर्म्मपरवशो, वचनव्यत्ययाच्च सर्वत्र बहुवचननिर्देशो व्याप्तिख्यापनार्थो वा, यथा नैक एवंविधः किन्तु बहव इति, 'तमं'[1]ति तमोयुक्तत्वात् तमः, देवगतेरप्यसूर्यत्वसम्भवात् तद्व्यवच्छेदाय दिशो विशेषणं, ततोऽर्थान्नरकगतिम्, उक्तं हि–[1]—"णिच्चंधयारतमसा ववगयगहचंदसूरणक्खत्ता" इत्यादिस्वरूपख्यापकं वा द्वितीयं व्याख्यानमिति सूत्रार्थः ॥ सम्प्रति काकिण्याम्रदृष्टान्तद्वयमाह—

जहा कागिणीए हेउं, सहस्सं हारए नरो। अपत्थं अंबगं भोच्चा, राया रज्जं तु हारए ॥ ११ ॥

व्याख्या—'यथा' इत्युदाहरणोपन्यासार्थः, 'काकिण्याः' उक्तरूपायाः 'हेउं'ति हेतोः कारणात् 'सहस्रं' दशशतात्मकं, कार्षापणानामिति गम्यते, 'हारयेत्' नाशयेत्तत् 'नरः' पुरुषः। अत्रोदाहरणसम्प्रदायः—

१ नित्यान्धकारतमसा व्यपगतग्रहचन्द्रसूर्यनक्षत्राः।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥११॥

दीप अनुक्रम [१८९]

उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥२७६॥

एगो दमगो, तेण वित्तिं करेंतेण सहस्सं काहावणाण अज्जियं, सो य तं गहाय सत्थेण समं सगिहं पत्थितो, तेण भत्तणिमित्तं रूवगो काकिणीहिं भिन्नो, ततो दिणे दिणे काकिणीए भुंजति, तस्स य अवसेसा एगा काकणी, सा विस्सारिया, सत्थे पहाविए सो चिंतेति–मा मे रूवगो भिंदियवो होहित्ति णउलगं एगत्थ गोवेउं काकिणीणिमित्तं णियत्तो, सावि काकिणी अन्नेण हडा, सोऽवि णउलतो अण्णेण दिट्ठो ठविज्जंतो, सोवि तं घेत्तूण णट्ठो, पच्छा सो घरं गतो सोयति । एस दिट्ठंतो,

तथा 'अपथ्यं' अहितम् 'आम्रकम्' आम्रफलं 'भुक्त्वा' अभ्यवहृत्य 'राजा' इति नृपतिः 'राज्यं' पृथिवीपतित्वं, 'तुः' अवधारणे भिन्नक्रमश्च, तेन हारयेदेव, सम्भवत्येव अस्यापथ्यभोजिनो राज्यहरणमित्यक्षरार्थः । भावार्थस्तु वृद्धसम्प्रदायादवसेयः, स चायम्—

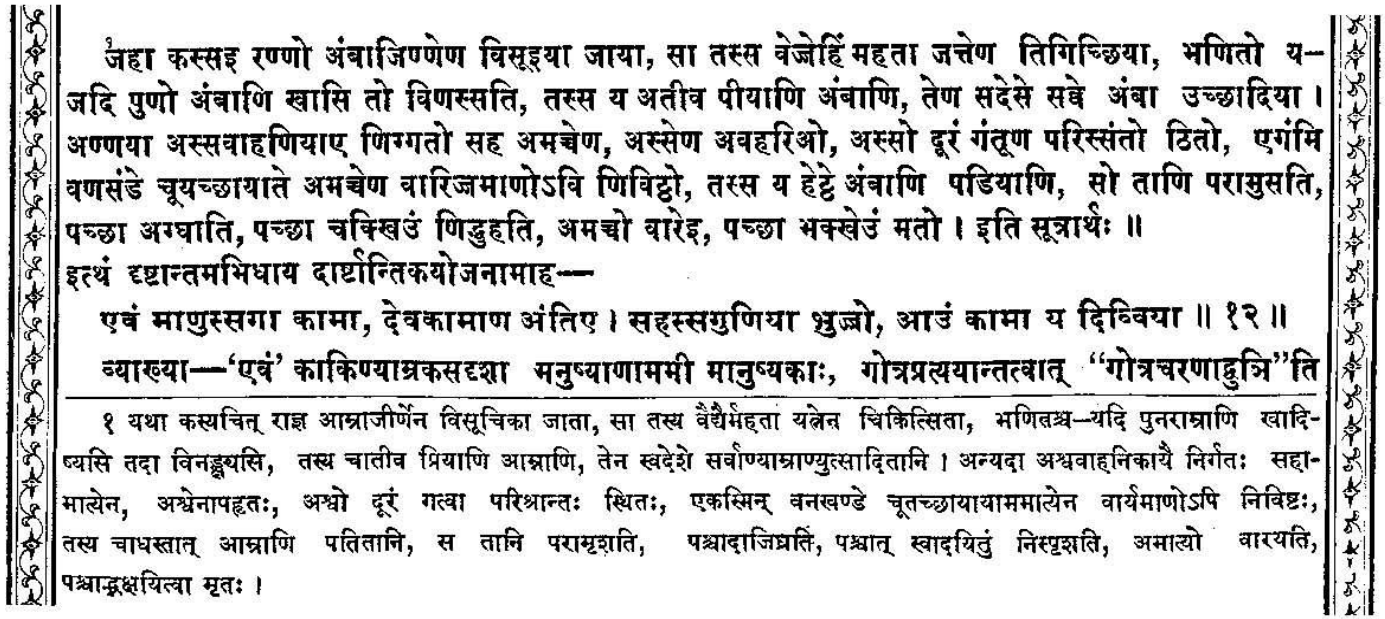
१ एको द्रमकः, तेन वृत्तिं कुर्वता सहस्रं कार्षापणानामर्जितं, स च तद् गृहीत्वा सार्थेन समं स्वगृहं प्रस्थितः, तेन भक्तनिमित्तं रूप्यकः काकिणीभ्यो भिन्नः, ततो दिने दिने काकिण्या भुङ्क्ते, तस्य चावशेषा एका काकिणी, सा विस्मृता, सार्थे प्रधाविते स चिन्तयति– मा मे रूप्यको भेत्तव्यो भविष्यतीति नकुलकमेकत्र गोपयित्वा काकिणीनिमित्तं निवृत्तः, साऽपि काकिणी अन्येन हृता, सोऽपि नकुलकोऽन्येन दृष्टः स्थाप्यमानः, सोऽपि तं गृहीत्वा नष्टः, पश्चात्स गृहं गतः शोचति । एष दृष्टान्तः ।

औरभ्रीयाध्य. ७ ॥२७६॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥११॥

दीप अनुक्रम [१८९]



जहा कस्सइ रण्णो अंबाजिण्णेण विसूइया जाया, सा तस्स वेज्जेहिं महता जत्तेण तिगिच्छिया, भणितो य—जदि पुणो अंबाणि खासि तो विणस्सति, तस्स य अतीव पीयाणि अंबाणि, तेण सदेसे सवे अंबा उच्छादिया। अण्णया अस्सवाहणियाए णिग्गतो सह अमच्चेण, अस्सेण अवहरिओ, अस्सो दूरं गंतूण परिस्संतो ठितो, एगंमि वणसंडे चूयच्छायाते अमच्चेण वारिज्जमाणोऽवि णिविट्ठो, तस्स य हेट्ठे अंबाणि पडियाणि, सो ताणि परामुसति, पच्छा अग्घाति, पच्छा चक्खिउं णिद्धुहति, अमच्चो वारेइ, पच्छा भक्खेउं मतो। इति सूत्रार्थः ॥

इत्थं दृष्टान्तमभिधाय दार्ष्टान्तिकयोजनामाह—

एवं माणुस्सगा कामा, देवकामाण अंतिए। सहस्सगुणिया भुज्जो, आउं कामा य दिव्विया ॥ १२ ॥

व्याख्या—'एवं' काकिण्याम्रकसदृशा मनुष्याणाममी मानुष्यकाः, गोत्रप्रत्ययान्तत्वात् "गोत्रचरणाद्वुञ्रि"ति

१ यथा कस्यचित् राज्ञ आम्राजीर्णेन विसूचिका जाता, सा तस्य वैद्यैर्महता यत्नेन चिकित्सिता, भणितश्च—यदि पुनराम्राणि खादिष्यसि तदा विनङ्क्ष्यसि, तस्य चातीव प्रियाणि आम्राणि, तेन स्वदेशे सर्वाण्याम्राण्युत्सादितानि। अन्यदा अश्ववाहनिकायै निर्गतः सहामात्येन, अश्वेनापहृतः, अश्वो दूरं गत्वा परिश्रान्तः स्थितः, एकस्मिन् वनखण्डे चूतच्छायाया आममात्येन वार्यमाणोऽपि निविष्टः, तस्य चाधस्तात् आम्राणि पतितानि, स तानि परामृशति, पश्चादाजिघ्रति, पश्चात् खादयितुं निस्पृशति, अमात्यो वारयति, पश्चाद्भक्षयित्वा मृतः।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१२॥

दीप अनुक्रम [१९०]

(पा०४-३-१२६) वुञ् 'कामाः' विषयाः, 'देवकामानां' देवसम्बन्धिनां विषयाणाम् 'अन्तिके' समीपे, अन्तिकोपादानं च दूरेऽनवधारणमपि स्यादिति, किमित्येवम् ?, अत आह–'सहस्रगुणिताः' सहस्रैस्ताडिता 'भूयः' अतिशयेन बहु, बहून् वारानित्यर्थः, मनुष्यायुःकामापेक्षयेति प्रक्रमः, अनेनैषामतिभूयस्त्वं सूचयन् कार्षापणसहस्रराज्यतुल्यतामाह, 'आयुः' जीवितं, कामाश्च–शब्दादयः, 'दिविय'त्ति दिवि भवा दिव्याः "द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यदि"ति (पा० ४-२-१०१) यत्, त एव दिव्यकाः, इह चादौ 'देवकामाण अंतिए'त्ति काममात्रोपादानेऽपि 'आउं कामा य दिविय'त्ति आयुषोऽप्युपादानं तत्रत्यप्रभावादीनामपि तदपेक्षयैवंविधत्वख्यापनार्थं, यद्वा 'सूचनात् सूत्र'मिति पूर्वत्राप्यायुषः सूचितत्वाददोष इति सूत्रार्थः ॥ मनुष्यकामानामेव काकिण्याम्रफलोपमत्वं भावयितुमाह—

अणेगवासानउया, जा सा पण्णवओ ठिई । जाइं जीयंति दुम्मेहा, जाण वाससयाउए ॥ १३ ॥

व्याख्या—अनेकानि–बहूनि तानि चेहासङ्ख्येयानि वर्षाणि–वत्सराणि तेषां नयुतानि–सङ्ख्याविशेषाणि वर्षनयुतान्यनेकानि च तानि वर्षनयुतानि च अनेकवर्षनयुतानि "स्वरोऽन्योऽन्यस्य" इति प्राकृतलक्षणात् सकाराकारदीर्घत्वम्, एवमन्यत्रापि स्वरान्यत्वं भावनीयं,यदिवाऽनेकानि वर्षनयुतानि येषु तान्यनेकवर्षनयुतानि, उभयत्रार्थात् पल्योपमसागरोपमाणीतियावत्, नयुतानयनोपायस्त्वयम्—चतुरशीतिवर्षलक्षाः पूर्वाङ्गं, तच्च पूर्वाङ्गेन गुणितं पूर्वं, पूर्वं (क्रमेणैकान्नविंशतिंवारान्)चतुरशीतिलक्षाहतं नयुताङ्गं,नयुताङ्गमपि चतुरशीतिलक्षाभिताडितं नयुतं,कैवमुच्यत इत्या।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१३॥

दीप अनुक्रम [१९१]

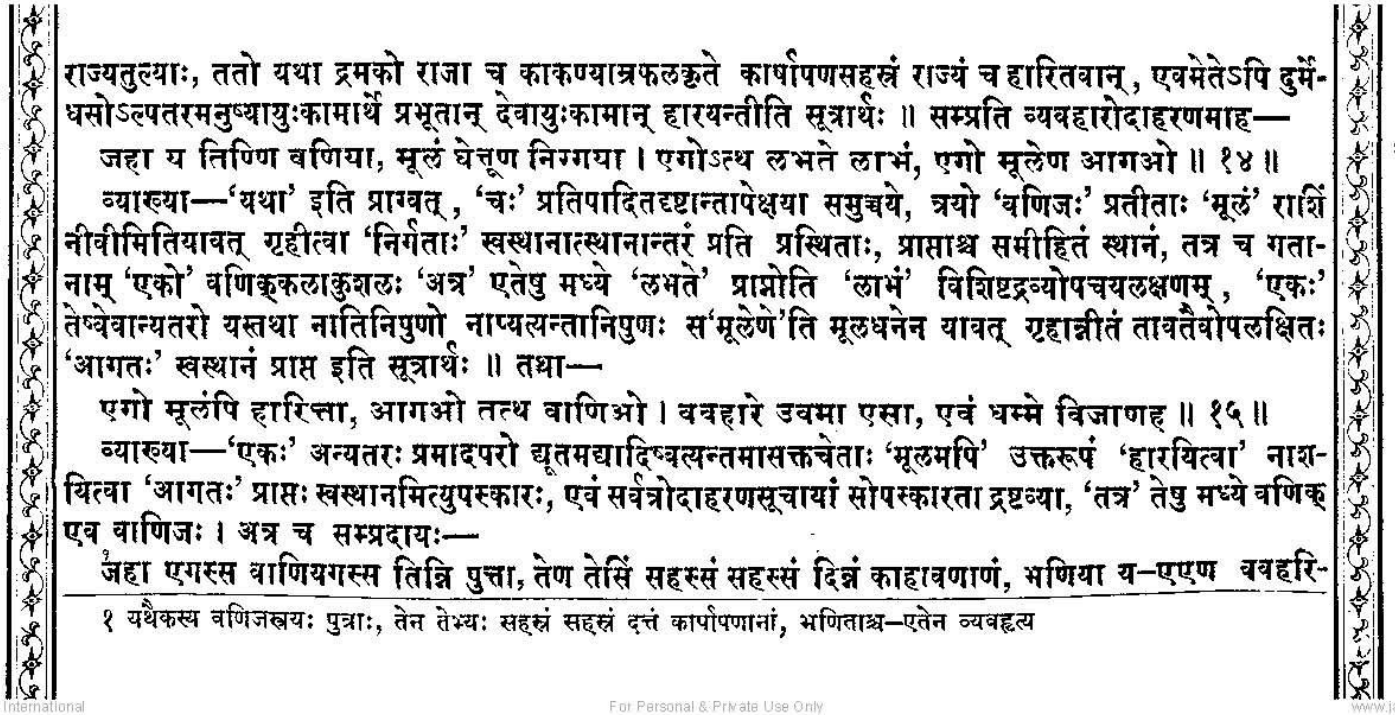
ह—'या से'ति प्रज्ञापकः शिष्यान् प्रत्येवमाह—या सा भवतामस्माकं च प्रतीता, प्रकर्षेण ज्ञायते वस्तु-सतत्त्वमनयेति प्रज्ञा–हेयोपादेयविवेचिका बुद्धिः सा विद्यतेऽस्यासौ प्रज्ञावान्, 'अतिशायने मतुप्' अतिशयश्चास्या हेयोपादेययोः हानोपादाननिबन्धनत्वमिहाभिमतं ततश्च क्रियाया अप्याक्षिप्तत्वात् यदिवा निश्चयनयमतेन क्रियारहिता प्रज्ञाऽप्यप्रज्ञैवेति प्रज्ञयैव क्रियाऽऽक्षिप्यते ततः प्रज्ञावान् ज्ञानक्रियावानित्युक्तं भवति, तस्य प्रज्ञावतः स्थीयतेऽनयाऽर्थात् देवभव इति स्थितिः–देवायुः, अधिकृतत्वात् दिव्यकामाश्च, तानि च कीदृशीत्याह—यान्यनेकवर्षनयुतानि दिव्यस्थितेर्दिव्यकामानां च विषयभूतानि 'जीयन्ते' हार्यन्ते, तद्धेतुभूतानुष्ठानानासेवनेनेति भावः, पाठान्तरतो 'हारयन्ति वा,' के ते ?–दुष्टा–विपर्ययादिदोषदुष्टत्वेन मेधा–वस्तुस्वरूपावधारणशक्तिरेषां ते दुर्मेधसः, विषयैर्जिता जन्तव इति गम्यते, कदा पुनस्तानि दुर्मेधसो विषयैर्जीयन्त इत्याह—ऊने वर्षशतायुषि, अनेनायुषोऽल्पत्वात् मनुष्यकामानामप्यल्पतामाह, यदिवा प्रभूते ह्यायुषि प्रमादेनैकदा हारितान्यपि पुनर्जीयेरन्, अस्मिंस्तु संक्षिप्तायुष्येकदा हारितानि हारितान्येव, भगवतश्च वीरस्य तीर्थे प्रायो न्यूनवर्षशतायुष एव जन्तव इतीत्थमुपन्यासः, अयं चात्र भावार्थः—अल्पं मनुष्याणामायुर्विषयाश्चेति काकण्याम्रफलोपमाः, देवायुर्देवकामाश्चातिप्रभूततया कार्षापणसहस्र-

१ भूमनिन्दाप्रशंसासु, नित्ययोगेऽतिशायने । संबन्धेऽस्ति विवक्षायां, भवन्ति मतुबादयः ॥ १ ॥ इत्युक्तेः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१४॥

दीप अनुक्रम [१९२]



उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥२७८॥

राज्यतुल्याः, ततो यथा द्रमको राजा च काकण्यास्रफलकृते कार्षापणसहस्रं राज्यं च हारितवान्, एवमेतेऽपि दुर्मेधसोऽल्पतरमनुष्यायुःकामार्थे प्रभूतान् देवायुःकामान् हारयन्तीति सूत्रार्थः ॥ सम्प्रति व्यवहारोदाहरणमाह—

जहा य तिण्णि वणिया, मूलं घेत्तूण निग्गया । एगोऽत्थ लभते लाभं, एगो मूलेण आगओ ॥ १४ ॥

व्याख्या—'यथा' इति प्राग्वत्, 'चः' प्रतिपादितदृष्टान्तापेक्षया समुच्चये, त्रयो 'वणिजः' प्रतीताः 'मूलं' राशिं नीवीमितियावत् गृहीत्वा 'निर्गताः' स्वस्थानात्स्थानान्तरं प्रति प्रस्थिताः, प्राप्ताश्च समीहितं स्थानं, तत्र च गतानाम् 'एको' वणिक्कलाकुशलः 'अत्र' एतेषु मध्ये 'लभते' प्राप्नोति 'लाभं' विशिष्टद्रव्योपचयलक्षणम्, 'एकः' तेष्वेवान्यतरो यस्तथा नातिनिपुणो नाप्यत्यन्तानिपुणः स'मूलेणे'ति मूलधनेन यावत् गृहान्नीतं तावतैवोपलक्षितः 'आगतः' स्वस्थानं प्राप्त इति सूत्रार्थः ॥ तथा—

एगो मूलंपि हारित्ता, आगओ तत्थ वाणिओ । ववहारे उवमा एसा, एवं धम्मे विजाणह ॥ १५ ॥

व्याख्या—'एकः' अन्यतरः प्रमादपरो द्यूतमद्यादिष्वत्यन्तमासक्तचेताः 'मूलमपि' उक्तरूपं 'हारयित्वा' नाशयित्वा 'आगतः' प्राप्तः स्वस्थानमित्युपस्कारः, एवं सर्वत्रोदाहरणसूचायां सोपस्कारता द्रष्टव्या, 'तत्र' तेषु मध्ये वणिक् एव वाणिजः । अत्र च सम्प्रदायः—

जहा एगस्स वाणियगस्स तिन्नि पुत्ता, तेण तेसिं सहस्सं सहस्सं दिन्नं काहावणाणं, भणिया य–एएण ववहरि-

१ यथैकस्य वणिजस्त्रयः पुत्राः, तेन तेभ्यः सहस्रं सहस्रं दत्तं कार्षापणानां, भणिताश्च–एतेन व्यवहृत्य

औरश्री-याध्य. ७

॥२७८॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१५॥

दीप अनुक्रम [१९३]

ऊण एंत्तिएण कालेण एज्जाह, ते तं मूलं घेत्तूण णिग्गया सणगरातो, पिथप्पिथेसु पट्टणेसु ठिया, तत्थेगो भोयणच्छायणवज्जं जूयमज्जमंसवेसावसणविरहितो विहीए ववहरमाणो विपुललाभसमन्नितो जातो, बितितो पुण मूलमवि देंतो लाभगं भोयणच्छायणमल्लालंकारादिसु उवभुंजति, ण य अच्चादरेण ववहरति, ततितो न किंचि संववहरति, केवलं जूयमज्जमंसवेसगंधमल्लतंबोलसरीरकियासु अप्पेणेव कालेण तं दव्वं णिट्ठवियंति, जहावहिकालस्स सपुरमागया। तत्थ जो छिन्नमूलो सो सवस्स असामी जातो, पेसए उवचरिज्जति, बितितो घरवावारे णिउत्तो भत्तपाणसंतुट्ठो ण दायव्वभोत्तव्वेसु ववसायति, ततितो घरवित्थरस्स सामी जातो। केति पुण कहंति–तिन्नि वाणियगा पत्तेयं २ ववहरंति, तत्थेगो छिन्नमूलो पेसत्तमुवगतो, केण वा संववहारं करेउ ?, अच्छिन्नमूलो पुणरवि वाणिज्जाए भवति, इयरो बंधुसहितो मोदए, एस दिट्ठंतो।

१ इयता कालेनागच्छत। ते तन्मूल्यं गृहीत्वा निर्गताः स्वनगरात्, पृथक् पृथक् पत्तनेषु स्थिताः, तत्रैको भोजनाच्छादनवर्जं द्यूतमद्यमांसवेश्याव्यसनविरहितो वीथ्यां व्यवहरन् विपुललाभसमन्वितो जातः, द्वितीयः पुनः मूलमपि द्रव्यायमाणो लाभं भोजनाच्छादनमाल्यालङ्कारादिषूपभुङ्क्ते, न चात्यादरेण व्यवहरति, तृतीयो न किञ्चित्संव्यवहरति, केवलं द्यूतमद्यमांसवेश्यागन्धमाल्यताम्बूलशरीरक्रियासु अल्पेनैव कालेन तद्द्रव्यं निष्ठितमिति, यथावधिकालेन स्वपुरमागताः। तत्र यश्छिन्नमूलः स सर्व्वस्वास्वामी जातः, प्रेष्ये उपचर्यते, द्वितीयो गृहव्यापारे नियुक्तो भक्तपानसंतुष्टो न दातव्यभोक्तव्येषु व्यवस्यति, तृतीयो गृहविस्तारस्य स्वामी जातः। केचित्पुनः कथयन्ति–त्रयो वणिजः प्रत्येकं प्रत्येकं व्यवहरन्ति, तत्रैकश्छिन्नमूलः प्रेष्यत्वमुपगतः, केनैव संव्यवहारं करोतु ?, अच्छिन्नमूलः पुनरपि वाणिज्यायै भवति, इतरो बन्धुसहितो मोदते, एष दृष्टान्तः। २० मविद्दवंतो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१६॥

दीप अनुक्रम [१९४]

सम्प्रति सूत्रमनुस्रियते–'व्यवहारे' व्यवहारविषया 'उपमा' सादृश्यं 'एषा' अनन्तरोक्ता 'एवं' वक्ष्यमाणन्यायेन 'धर्मे' धर्मविषयामेवोपमां 'विजानीत' अवबुध्यध्वमिति सूत्रार्थः ॥ कथमित्याह—

माणुसत्तं भवे मूलं, लाभो देवगई भवे । मूलच्छेएण जीवाणं, नरगतिरिक्खत्तणं धुवं ॥ १६ ॥

व्याख्या—'मानुषत्वं' मनुजत्वं 'भवेत्' स्यात् मूलमिव मूलं, स्वर्गापवर्गात्मकतदुत्तरोत्तरलाभहेतुतया, तथा लाभ इव लाभः मनुजगत्यपेक्षया विषयसुखादिभिर्विशिष्टत्वात् 'देवगतिः' देवत्वावाप्तिर्भवेत्, एवं च स्थिते किमित्याह—'मूलच्छेदेन' मानुषत्वगतिहान्यात्मकेन 'जीवानां' प्राणिनां 'नरकतिर्यक्त्वं' नरकत्वं तिर्यक्त्वं च तद्रूपात्मकं 'ध्रुवं' निश्चितम्, इहापि सम्प्रदायः–तिन्नि संसारिणो सत्ता माणुस्सेसु आयाता, तत्थेगो मद्दवज्जवादिगुणसंपन्नो मज्झिमारंभपरिग्गहजुत्तो कालं काऊण काहावणसहस्समूलत्थाणीयं तमेव माणुस्सत्तं पडिलहति, बितितो पुण सम्मद्दंसणचरित्तगुणसुपरिट्ठितो सरागसंजमेण लद्धलाभवणिय इव देवेसु उववन्नो, ततितो पुण हिंसे बाले मुसावाती इचेतेहिं पुव्वभणितेहिं सावज्जजोगेहिं वट्टिउं छिन्नमूलवणिय इव णारगेसु तिरिएसु वा उववज्जतित्ति सूत्रार्थः॥

१ त्रयः संसारिणः सत्त्वा मानुषेष्वायाताः, तत्रैको मार्दवार्जवादिगुणसंपन्नो मध्यमारम्भपरिग्रहयुक्तः कालं कृत्वा कार्षापणसहस्रमूलस्थानीयं तदेव मानुषत्वं प्रतिलभते, द्वितीयः पुनः सम्यग्दर्शनचारित्रगुणसुपरिस्थितः सरागसंयमेन लब्धलाभवणिगिव देवेषूत्पन्नः, तृतीयः पुनर्हिंस्रो बालो मृषावादीत्येतैः पूर्वभणितैः सावद्ययोगैः वर्त्तित्वा छिन्नमूलवणिगिव नारकेषु तिर्यक्षु वोत्पद्यते इति ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१७॥

दीप अनुक्रम [१९५]

यथा मूलच्छेदेन नरकतिर्यक्त्वप्राप्तिः तथा स्वयं सूत्रकृदाह—

दुहओ गती बालस्स, आवती वहमूलिया। देवत्तं माणुसत्तं च, जं जिए लोलुआसढे ॥ १७ ॥

व्याख्या—'दुहतो'त्ति द्विधा द्विप्रकारा, गम्यत इति गतिः, सा चेह प्रक्रमान्नरकगतितिर्यग्गतिश्च, कस्येत्याह—'बालस्य' द्वाभ्यां रागद्वेषाभ्यामाकुलितस्य, 'आवइ'त्ति आगच्छत्यापतति वधः—प्राणिघातः, उपलक्षणत्वान्महारम्भ-महापरिग्रहानृतभाषणमायादयश्च मूलं—कारणं यस्याः सा वधमूलिका, यदिवा—द्विधा गतिर्बालस्य, भवतीति गम्यते, तत्र च गतस्य 'आवइ'त्ति आपत्, सा च कीदृशीत्याह—वधो—विनाशस्ताडनं वा मूलम्—आदिर्यस्याः सा वधमूलिका, वधग्रहणाच्छेदभेदातिभारारोपणादिपरिग्रहः, लभन्ते हि प्राणिनो नरकतिर्यक्षु विविधा वधाद्यापदः, किमित्येवम् ?, अत आह—'देवत्वं' देवभवं 'मानुषत्वं' मनुजभवं 'यद्' यस्मात् 'जितो' हारितो 'लोलयासढे'त्ति लोलता—पिशितादिलाम्पट्यं तद्योगाज्जन्तुरपि तन्मयत्वख्यापनार्थं लोलतेत्युक्तः, शाठ्ययोगाच्छठः—विश्वस्तजनवञ्चकः, ततो लोलता चासौ शठश्च लोलताशठः, इह च लोलता पञ्चेन्द्रियवधाद्युपलक्षणं, तथा च नरकहेतुत्वाभिधानमेतत्, यदुक्तम्—"[1]महारंभयाए महापरिग्गहयाए कुणिमाहारेणं पंचेंदियवहेणं जीवा णेरयाउयं णियच्छंति" शठ इत्यनेन तु शाठ्यमुक्तं, तच्च तिर्यग्गतिहेतुः, उक्तं च—"माया तैर्यग्योनस्ये" (तत्त्वार्थे अ० ६-सू० १७) ति, अतश्चायमाशयः

१ महारम्भतया महापरिग्रहतया मांसाहारेण पञ्चेन्द्रियवधेन जीवा नैरयिकायुर्नियमयन्ति।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१८॥

दीप अनुक्रम [१९६]

–यतोऽयं बालो लोलताशठः ततो नरकगतितिर्यग्गतिनिबन्धनाभ्यां लोलताशठत्वाभ्यां देवत्वमनुजत्वे हारितस्वास्योक्तरूपा द्विविधैव गतिः सम्भवति, एवं च मूलच्छेदेन जीवानां नरकतिर्यक्त्वमुच्यते, मूलं हि मनुष्यत्वं लाभश्च देवत्वम्, उभयोरपि तयोर्हारणादिति सूत्रार्थः ॥ पुनर्मूलच्छेदमेव समर्थयितुमाह—

ततो जिए सई होइ, दुविहं दुग्गतिं गते। दुल्लहा तस्स उम्मज्जा, अद्धाए सुचिरादवि ॥ १८ ॥

व्याख्या—'ततः' देवत्वमानुषत्वजयनात् तको वा बालः 'जिय'त्ति व्यवच्छेदफलत्वाद्वाक्यस्य जित एव 'सति'त्ति सदा भवति 'द्विविधां' नारकतिर्यग्भेदां, दुर्निन्दायां, दुष्टा–निन्दिता गतिर्दुर्गतिस्तां 'गतः' प्राप्तः, सदाजितत्वमेवाभिव्यनक्ति–'दुर्लभाः' दुष्प्रापाः 'तस्से'ति देवमनुजत्वे हारितवतो बालस्य 'उम्मज्ज'त्ति सूत्रत्वादुन्मज्जनमुन्मज्जा–नरकतिर्यग्गतिनिर्गमनात्मिका, स्यादेतत्–चिरतरकालेनोन्मज्जाऽस्य भविष्यति, अत आह–'अद्धायां' काले अर्थादागामिन्यां, किं स्वल्पायामेव ?, इत्याह—सुचिरादपीत्यद्धाशब्देनैव कालाभिधानात् सुचिराच्छब्दः प्रभूतत्वमेवाह, ततोऽयमर्थः–अनागताद्धायां प्रभूतायामपि, बाहुल्याच्चेत्थमुक्तम्, अन्यथा हि केचिदेकभवेनैव तत उद्धृत्य मुक्तिमप्यासुवन्त्येवेति सूत्रार्थः ॥ इत्थं पश्चानुपूर्व्यपि व्याख्याङ्गमिति पश्चादुक्तेऽपि मूलहारिण्युपनयमुपदर्श्य मूलप्रवेशिन्यभिधातुमाह—यद्वा विपक्षापायपरिज्ञानतयैवोपादेये प्रवृत्तिरिति पश्चादुक्तमपि मूलहारिणमादावुपदर्श्यैतदाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१९॥

दीप अनुक्रम [१९७]

एवं जियं सपेहाए, तुलिया बालं च पंडियं । मूलियं ते पविस्संति, माणुसं जोणिमिंति जे ॥ १९ ॥

व्याख्या—'एवम्' उक्तनीत्या 'जिए'त्ति सुब्व्यत्ययाज्जितं लोलतया शाठ्येन च देवमनुजत्वे हारितं बालमिति प्रक्रमः, 'सपेहाए'त्ति सम्प्रेक्ष्य सम्यगालोच्य, तथा तोलयित्वेव तोलयित्वा–गुणदोषवत्तया परिभाव्य, यदिदैवं जितं सम्यग्–अविपरीता प्रेक्षा–बुद्धिः सम्प्रेक्षा तया तोलयित्वा, कम् ?–'बालं' चस्य भिन्नक्रमत्वात् 'पण्डितं च' तद्विपरीतम्,अथवा मनुष्यदेवगतिगामिनम्, इह च द्वितीयव्याख्यायामेवं जितमिति बालस्य विशेषणं, न तु पण्डितस्य, असम्भवात्, तथा च सति मूले भवं मौलिकं–मौलधनं ते प्रवेशयन्तीव प्रवेशयन्ति, मूलप्रवेशकवणिक्सदृशास्त इत्यभिप्रायः, ये किमित्याह—'माणुस्सं'ति मनुष्याणामियं मानुषी तां 'योनिम्' उत्पत्तिस्थानम् 'आयान्ति' आगच्छन्ति, बालत्वपरिहारेण पण्डितत्वमासेवमाना ये त इति सूत्रार्थः ॥ यथा च मानुषीं योनिमायान्ति तथा चाह—

वेमायाहिं सिक्खाहिं, जे नरा गिहि सुव्वया । उविंति माणुसं जोणिं, कम्मसच्चा हु पाणिणो ॥ २० ॥

व्याख्या—विविधा मात्रा–परिमाणमासां विमात्राः–विचित्रपरिमाणाः ताभिः परिमाणविशेषमाश्रित्य विसदृशीभिः 'शिक्षाभिः' प्रकृतिभद्रकत्वाद्यभ्यासरूपाभिः, उक्तं हि–"[1]चउहिं ठाणेहिं जीवा मणुयाउं बंधंति, तंजहा–पगतिभद्दयाए पगतिविणीययाए साणुक्कोसयाए अमच्छरियाए"त्ति 'ये'इत्यविवक्षितविशेषाः 'नराः' पुरुषाः,

१ चतुर्भिः स्थानैर्जीवा मनुजायुर्बध्नन्ति, तद्यथा–प्रकृतिभद्रकतया प्रकृतिविनीततया सानुक्रोशतया अमत्सरितया ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२०॥

दीप अनुक्रम [१९८]

'गृहिणश्च' ते गृहस्थाः 'सुव्रताश्च' धृतसत्पुरुषव्रताः, ते हि प्रकृतिभद्रकत्वाद्यभ्यासानुभावत एव न विपद्यपि विषीदन्ति सदाचारं वा नावधीरयन्तीत्यादिगुणान्विताः, इदमेव च सतां व्रतं, लौकिका अप्याहुः–"विपद्युच्चैः स्थेयं पदमनुविधेयं च महतां, प्रिया न्याय्या वृत्तिर्मलिनमसुभङ्गेऽप्यसुकरम् । असन्तो नाभ्यर्थ्याः सुहृदपि न याच्यस्तनुधनः, सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम् ? ॥ १ ॥" आगमविहितव्रतधारणं त्वमीषामसम्भवि, देवगतिहेतुतयैव तदभिधानात्, त ईदृशाः किमित्याह–उपयन्ति 'माणुसं'ति मानुषीं–मानुषसम्बन्धिनीं 'योनिम्' उक्तरूपां कर्म्मणा–मनोवाक्कायक्रियालक्षणेन सत्या–अविसंवादिनः कर्म्मसत्याः, 'हुः' अवधारणे, ततः कर्म्मसत्या एव सन्तः, तदसत्तायास्तिर्यग्योनिहेतुत्वेनोक्तत्वात्, तथा च वाचकः–"धूर्ता नैकृतिकाः स्तब्धा, लुब्धाः कार्पटिकाः शठाः । विविधां ते प्रपद्यन्ते, तिर्यग्योनिं दुरुत्तराम् ॥१॥" इत्यादि, पाठान्तरतश्च 'कर्मसु' अर्थान्मनुष्यगतियोग्यक्रियारूपेषु सक्ता–अभिष्वङ्गवन्तः कर्मसक्ताः प्राणिनः–जीवाः, इह च नरग्रहणेऽपि प्राणिग्रहणं देवादिपरिग्रहार्थमिति न पुनरुक्तम् । यदिवा–विमात्रादिभिः शिक्षाभिर्ये नरा गृहिसुव्रताः यत्तदोर्नित्याभिसम्बन्धात् ते मानुषीं योनिमुपयान्ति, किमित्येवम् ?, अत आह–'कम्मसच्चा हुपाणिणो'त्ति हुशब्दो यस्मादर्थे, यस्मात् सत्यानि–अवन्ध्यफलानि कर्म्माणि—ज्ञानावरणादीनि येषां ते सत्यकर्म्माणः प्राणिनः, निरुपक्रमकर्म्मापेक्षं चैतदिति सूत्रार्थः ॥ सम्प्रति लब्धलाभोपनयमाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२१॥

दीप अनुक्रम [१९९]

जेसिं तु विउला सिक्खा, मूलियंते अतिच्छिया । सीलवंता सविसेसा, अदीणा जंति देवयं ॥ २१ ॥

व्याख्या—'येषां तु' येषां पुनः 'विपुला' निःशङ्कितत्वादिसम्यक्त्वाचाराणुव्रतमहाव्रतादिविषयत्वेन विस्तीर्णा 'शिक्षा' ग्रहणासेवनात्मिका, अस्तीति गम्यते, मूले भवं मौलिकं–मूलधनमिव मानुषत्वं, त एवंविधाः, विउट्टियन्ति अतिट्टियन्ति अतिच्छियन्ति पाठत्रयेऽपि अतिक्रान्ताः–उल्लङ्घितवन्त इत्यर्थः, यद्वाऽतिक्रम्य–उल्लङ्घ्य, कीदृशाः सन्तः ?–शीलं–सदाचारः अविरतसम्यग्दृशां विरतिमतां तु देशसर्वविरमणात्मकं चारित्रं तद्विद्यते येषां ते शीलवन्तः, तथा सह विशेषेण–उत्तरोत्तरगुणप्रतिपत्तिलक्षणेन वर्त्तन्त इति सविशेषाः, अत एव 'अदीनाः' कथं वयममुत्र भविष्याम इति वैक्लव्यरहिताः परिषहोपसर्गादिसम्भवे वा न दैन्यभाज इत्यदीनाः 'यान्ति' प्राप्नुवन्ति, देवभावो देवता सैव दैवतं । ननु तत्त्वतो मुक्तिगतिरेव लाभः, तत्किमिह तत्परिहारतो देवगतिरुक्तेति ?, उच्यते, सूत्रस्य त्रिकालविषयत्वात्, मुक्तेश्चेदानीं विशिष्टसंहननाभावतोऽभावाद्देवगतेश्च "छेवट्टेण उ गम्मइ चत्तारि उ जाव आदिमा कप्पा" इति वचनाच्छेदपरिवर्तिसंहननिनामिदानींतनानामपि सम्भवादेवमुक्तमिति सूत्रार्थः ॥ प्रस्तुतमेवार्थं निगमयन्नुपदेशमाह—

एवं अदीणवं भिक्खुं, अगारिं च विजाणिया । कहन्नु जिच्चमेलिक्खं, जिच्चमाणो न संविदे ॥ २२ ॥

१ सेवार्त्तेन तु गम्यते चत्वारो यावदादिमाः कल्पाः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२२॥

दीप अनुक्रम [२००]

व्याख्या—'एवम्' अमुना न्यायेन लाभान्वितं 'अदीणव'न्ति दीक्षवतौ दीनवन्तं न तथाऽदीनवन्तम्–अदीनं, दैन्यरहितमित्यर्थः 'भिक्षुं' यतिम् 'अगारिणं' च गृहस्थं 'विज्ञाय' विशेषेण तथाविधशिक्षावशाद्देवमनुजगामित्वलक्षणेन 'ज्ञात्वा' अवगम्य, यतमान इति शेषः, 'कथम्'? केन प्रकारेण ?, न कथञ्चिदित्यर्थः, 'नुः' वितर्के, 'जिच्चं' ति सूत्रत्वात् जीयेत–हार्येत विवेकी, तत्प्रतिकूलैः कषायोदयादिभिरिति गम्यते, 'ईदृक्षम्' अन्तरोक्तं देवगत्यात्मकं लाभं 'जिच्चमाणो'त्ति वाशब्दस्य गम्यमानत्वाज्जीयमानो वा–हार्यमाणः, तैरेव कषायादिभिः 'न संविदे'त्ति सूत्रत्वान्न संवित्ते–न जानीते यथाऽहमेभिर्जीये इति, कथं न्वितीहापि योज्यते, ततोऽयमर्थः–कथं नु न संवित्ते ?, संवित्त एव, जानीत एव ज्ञपरिज्ञया, प्रत्याख्यानपरिज्ञया च तन्निरोधं प्रति प्रवर्तत एव, इत्येवं च वदन् काक्वोपदिशति–यत एवं ततो यूयमप्येवं जानाना यथा न देवगतिलक्षणं लाभं जीयेध्वं कषायादिभिस्तथा यतध्वं, कथञ्चिज्जीयमानाश्च सम्यग् विज्ञाय तत्प्रतीकारायैव प्रवर्तध्वमिति, यद्वा–एवमदीनवन्तं भिक्षुमगारिणं च विज्ञाय यतमानो 'जिच्चं'ति जीयते–हार्यते अतिरौद्रैरिन्द्रियादिभिः आत्मा तदिति ज्ञेयं, तच्चेह प्रक्रमान्मनुष्यदेवगतिलक्षणम्, 'एलिक्खं'ति सुब्व्यत्ययादीदृक्षोऽभिहितार्थाभिज्ञः कथं नु जीयमानो न संवित्ते ?, अपि तु संवित्त एव, संविदानश्च यथा न जीयेत तथा यतेतेत्यभिप्रायः। अथवा–एवमदीनवन्तं भिक्षुमगारिणं च लब्धलाभं विज्ञाय यतमानः कथं नु 'जिच्चं'ति आर्षत्वाज्जीयते–हार्यते, विषयादिभिरिति गम्यते, ईदृक्षं देवगतिलक्षणं लाभमिति शेषः, अयमाशयो–यदि लभमाना न विज्ञाताः

॥२८२॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२३॥

दीप अनुक्रम [२०१]

स्युर्लाभो वा न तथाविधस्तदा जयनमपि स्यात्, यदा तु लभमानौ भिक्ष्वगारिणौ दृश्येते लाभश्च देवत्वलक्षणः तदा कथमयं जानानोऽपि जन्तुर्जीयते ?, अत आह—जीयमानो न संवित्ते, किमुक्तं भवति ?–यद्यसौ जीयमानो जानीयात्तदा तदुपायपरतया न जीयेत, यदा त्वसौ विषयव्यामोहतो न जानीते तदा जीयत एवेति किमत्र चित्रम् ? इति सूत्रार्थः ॥ समुद्रदृष्टान्तमाह—

जहा कुसग्गे उदयं, समुद्देण समं मिणे । एवं माणुस्सगा कामा, देवकामाण अंतिए ॥ २३ ॥

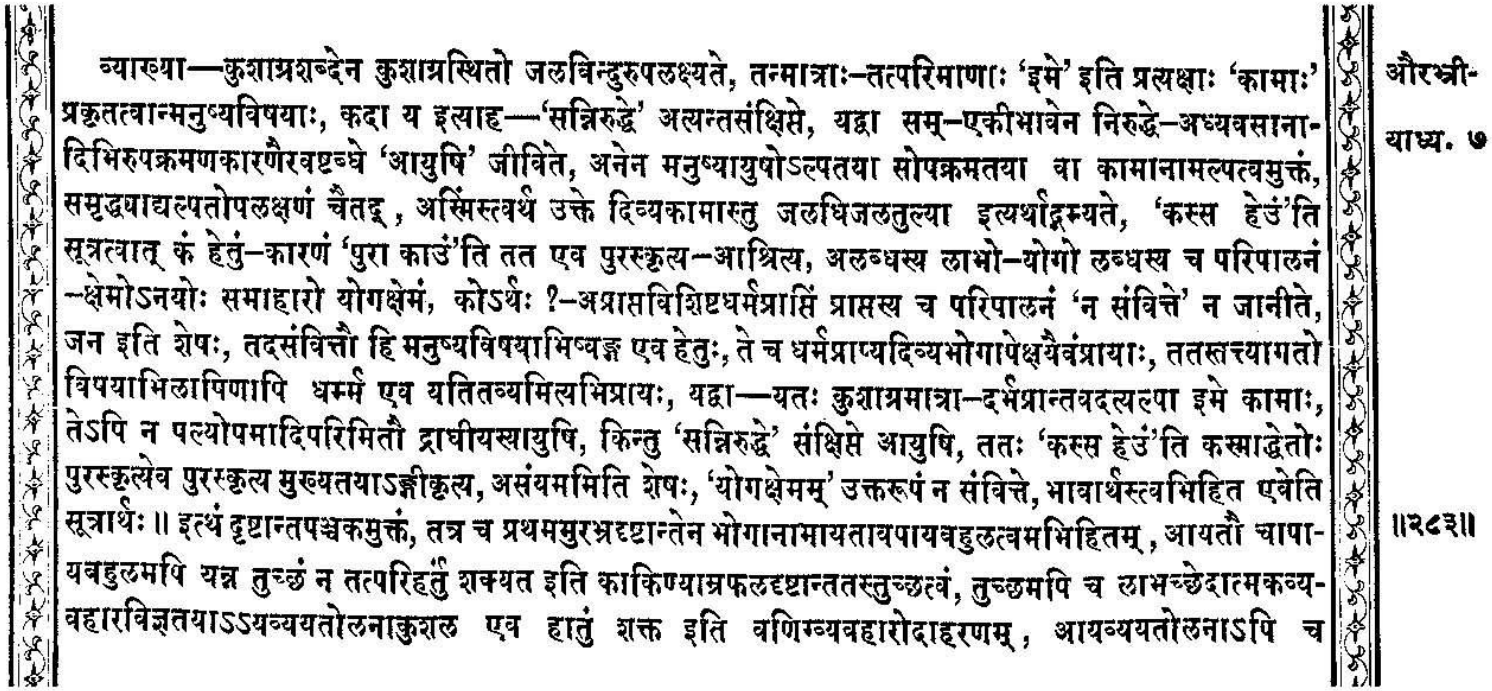
व्याख्या—'यथा' इति दृष्टान्तोपन्यासे, कुशो–दर्भविशेषस्तस्याग्रं–कोटिः कुशाग्रं तस्मिन् 'उदकं' जलं, तत्किमित्याह—'समुद्रेण' इति 'तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेश' इतिन्यायात् समुद्रजलेन 'समं' तुल्यं 'मिनुयात्' परिच्छिन्द्यात्, तथा किमित्याह—'एवम्' उक्तनीत्या 'मानुष्यकाः कामाः' मनुष्यसम्बन्धिनः कामा–विषयाः, मानुष्यविशेषणं तु तेषामेवोपदेशार्हत्वाद्विशिष्टभोगसम्भवाच्च, 'देवकामानां' दिव्यभोगानाम् 'अन्तिके' समीपे, कृता इति शेषः, दूरस्थितानां हि न सम्यगवधारणमित्येवमाह, किमुक्तं भवति ?–यथाऽज्ञः कश्चित् कुशाग्रस्थितं जलबिन्दुमालोक्य समुद्रवन्मन्यते, एवं मूढाश्चक्रवर्त्यादिमनुष्यकामान् दिव्यभोगोपमान् अध्यवस्यन्ति, तत्त्वतस्तु कुशाग्रजलबिन्दोरिव समुद्रान्मनुष्यकामानां दिव्यभोगेभ्यो महदेवान्तरमिति सूत्रार्थः ॥ उक्तमेवार्थं निगमयन्नुपदेशमाह—

कुसग्गमित्ता इमे कामा, सन्निरुद्धंमि आउए । कस्स हेउं पुरा काउं, जोगक्खेमं न संविदे ? ॥ २४ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२४॥

दीप अनुक्रम [२०२]



उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥२८३॥

व्याख्या—कुशाग्रशब्देन कुशाग्रस्थितो जलबिन्दुरुपलक्ष्यते, तन्मात्राः–तत्परिमाणाः 'इमे' इति प्रत्यक्षाः 'कामाः' प्रकृतत्वान्मनुष्यविषयाः, कदा य इत्याह—'सन्निरुद्धे' अत्यन्तसंक्षिप्ते, यद्वा सम्–एकीभावेन निरुद्धे–अध्यवसानादिभिरुपक्रमणकारणैरवष्टब्धे 'आयुषि' जीविते, अनेन मनुष्यायुषोऽल्पतया सोपक्रमतया वा कामानामल्पत्वमुक्तं, समृद्धयाद्यल्पतोपलक्षणं चैतद्, अस्मिंस्त्वर्थ उक्ते दिव्यकामास्तु जलधिजलतुल्या इत्यर्थाद्गम्यते, 'कस्स हेउं'ति सूत्रत्वात् कं हेतुं–कारणं 'पुरा काउं'ति तत एव पुरस्कृत्य–आश्रित्य, अलब्धस्य लाभो–योगो लब्धस्य च परिपालनं –क्षेमोऽनयोः समाहारो योगक्षेमं, कोऽर्थः ?–अप्राप्तविशिष्टधर्मप्राप्तिं प्राप्तस्य च परिपालनं 'न संवित्ते' न जानीते, जन इति शेषः, तदसंवित्तौ हि मनुष्यविषयाभिष्वङ्ग एव हेतुः, ते च धर्मप्राप्यदिव्यभोगापेक्षयैवंप्रायाः, ततस्तत्त्यागतो विषयाभिलाषिणापि धर्म्म एव यतितव्यमित्यभिप्रायः, यद्वा—यतः कुशाग्रमात्रा–दर्भाग्रान्तवदत्यल्पा इमे कामाः, तेऽपि न पल्योपमादिपरिमितौ द्राघीयस्यायुषि, किन्तु 'सन्निरुद्धे' संक्षिप्ते आयुषि, ततः 'कस्स हेउं'ति कस्माद्धेतोः पुरस्कृत्येव पुरस्कृत्य मुख्यतयाऽङ्गीकृत्य, असंयममिति शेषः, 'योगक्षेमम्' उक्तरूपं न संवित्ते, भावार्थस्त्वभिहित एवेति सूत्रार्थः ॥ इत्थं दृष्टान्तपञ्चकमुक्तं, तत्र च प्रथममुरभ्रदृष्टान्तेन भोगानामायतावपायबहुलत्वमभिहितम्, आयतौ चापायबहुलमपि यन्न तुच्छं न तत्परिहर्तुं शक्यत इति काकिण्याम्रफलदृष्टान्ततस्तुच्छत्वं, तुच्छमपि च लाभच्छेदात्मकव्यवहारविज्ञतयाऽऽयव्ययतोलनाकुशल एव हातुं शक्त इति वणिग्व्यवहारोदाहरणम्, आयव्ययतोलनाऽपि च

औरश्री-याध्य. ७

॥२८३॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२५॥

दीप अनुक्रम [२०३]

कथं कर्तव्येति समुद्रदृष्टान्तः, तत्र हि दिव्यकामानां समुद्रजलोपमत्वमुक्तं, तथा च तदुपार्जनं महानायोऽनुपार्जनं तु महान् व्यय इति तत्त्वतो दर्शितमेव भवति ॥ इह च योगक्षेमासंवेदने कामानिवृत्त एव भवतीति तस्य दोषमाह—

इह कामानियट्टस्स, अत्तट्ठे अवरज्झति । सुचा नेयाउअं मग्गं, जं भुज्जो परिभस्सति ॥ २५ ॥

व्याख्या—'इह' इति मनुष्यत्वे जिनशासने वा, प्राप्त इति शेषः, कामेभ्योऽनिवृत्तः—अनुपरतः कामानिवृत्तः तस्यात्मनोऽर्थ आत्मार्थः—अर्थ्यमानतया स्वर्गादिः 'अपराध्यति' अनेकार्थत्वाद्धातूनां नश्यति, यद्वा—आत्मैवार्थ आत्मार्थः स एवापराध्यति, नान्यः कश्चिदात्मव्यतिरिक्तोऽर्थः सापराधो भवति, उभयत्र दुर्गतिगमनेनेति भावः । आह—विषयवाञ्छाविरोधिनि जिनागमे सति कथं कामानिवृत्तिसम्भवः ?, उच्यते, 'श्रुत्वा' आकर्ण्य 'नैयायिकं' न्यायोपपन्नं 'मार्गं' सम्यग्दर्शनादिकं मुक्तिपथं यद् 'भूयः' पुनरपि परिभ्रश्यति, कामानिवृत्तित इति शेषः, कोऽभिप्रायः ?—जिनागमश्रवणात् कामनिवृत्तिं प्रतिपन्नोऽपि गुरुकर्मत्वात् प्रतिपतति, ये तु श्रुत्वापि तदप्रतिपन्नाः श्रवणं च येषां नास्ति ते कामानिवृत्ता एवेतिभावः । यद्वा—यदसौ कामानिवृत्तः सन् श्रुत्वा नैयायिकं मार्गं भूयः परिभ्रश्यति—मिथ्यात्वं गच्छति तदस्यात्मार्थ एव गुरुकर्मापराध्यति, अनेन मा भूत्कस्यचिन्मूढस्य सिद्धान्तमधीत्याप्यु-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२६॥

दीप अनुक्रम [२०४]

त्पथप्रस्थितान् विलोक्य सिद्धान्त एव दोष इति तदनपराधित्वमुक्तं, पठ्यते च—'पत्तो णेयाउयं'ति स्पष्टमिति सूत्रार्थः ॥ यस्तु कामेभ्यो निवृत्तस्तस्य गुणमाह—

इह कामा नियट्टस्स, अत्तट्ठे नावरज्झति । पूतिदेहनिरोहेणं, भवे देवेत्ति मे सुयं ॥ २६ ॥

व्याख्या—इह कामेभ्यो निवृत्तः कामनिवृत्तः तस्यात्मार्थः–स्वर्गादिः 'नापराध्यति' न भ्रश्यति, आत्मलक्षणो वाऽर्थो न सापराधो भवति, किं पुनरेवं ?, यतः–पूतिः–कुथितो देहः–अर्थादौदारिकं शरीरं तस्य निरोधः–अभावः पूतिदेहनिरोधः तेन 'भवेत्' स्यात्, प्रकृतत्वात् कामनिवृत्तो 'देवः' सौधर्म्मादिनिवासी सुरः, उपलक्षणत्वात् सिद्धो वा, 'इती'त्येतत् मया 'श्रुतम्' आकर्णितं, परमगुरुभ्य इति गम्यते, अनेन स्वर्गाद्यवाप्तिः आत्मार्थानपराधे निमित्तमुक्तमिति सूत्रार्थः ॥ ततश्च यदसावाप्नोति तदाह—

इड्ढी जुती जसो वन्नो, आउं सुहमणुत्तरे । भुज्जो जत्थ मणुस्सेसुं, तत्थ से उववज्जति ॥ २७ ॥

व्याख्या—'ऋद्धिः' कनकादिसमुदायः 'द्युतिः' शरीरकान्तिः 'यशः' पराक्रमकृता प्रसिद्धिः 'वर्णः' गाम्भीर्यादिगुणैः श्लाघा गौरादिर्वा 'आयुः' जीवितं 'सुखं' यथेप्सितं विषया(ग्रन्थाग्रम् ७०००)वाप्तावाह्लादः, न विद्यते उत्तरं –प्रधानमस्मादित्यनुत्तरम्, इदं च सर्वत्र योज्यते, 'भूयः' पुनः, देवभवापेक्षमेतत्, तत्रापि ह्यनुत्तराण्येवैतान्यस्य सम्भवन्ति 'यत्र' येषु 'मनुष्येषु' मनुजेषु 'तत्र' तेषु 'से'त्ति सोऽथशब्दार्थो वा, ततोऽनन्तरम् 'उत्पद्यते' जायत इति सूत्रार्थः ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२८--३०॥ दीप अनुक्रम [२०६--२०८]

एवं कामानिवृत्त्या यस्मात्मार्थोऽपराध्यति स बालः इतरस्तु पण्डित इत्यर्थादुक्तम् ॥ सम्प्रति पुनरनयोरेव साक्षात्-स्वरूपं फलं चोपदर्शयन्नुपदेशमाह—

बालस्स पस्स बालत्तं, अहम्मं पडिवज्जिआ । चिच्चा धम्मं अहम्मिट्ठे, नरएसूववज्जइ ॥ २८ ॥
धीरस्स पस्स धीरत्तं, सव्वधम्माणुवत्तिणो । चिच्चा अधम्मं धम्मिट्ठे, देवेसु उववज्जइ ॥ २९ ॥
तुलिआण बालभावं, अबालं चेव पंडिए । चइऊण बालभावं, अबालं सेवए मुणी ॥ ३० ॥ त्तिबेमि ॥

व्याख्या—'बालस्य' अज्ञस्य 'पश्य' अवधारय 'बालत्वम्' अज्ञत्वं, किं तदित्याह—'अधर्मं' धर्मविपक्षं विषयासक्तिरूपं 'प्रतिपद्य' अभ्युपगम्य, पठ्यते च—'पडिवज्जिणो'त्ति प्रतिपादिनोऽवश्यंप्रतिपद्यमानस्य 'त्यक्त्वा' अपहाय 'धर्मं' विषयनिवृत्तिरूपं सदाचारं 'अहमिट्ठे'त्ति प्राग्वत् 'नरके' सीमन्तकादावुपलक्षणत्वात् अन्यत्र वा दुर्गतावुत्पद्यते ॥ तथा धीः बुद्धिस्तया राजत इति धीरः—धीमान् परीषहाद्यक्षोभ्यो वा धीरः तस्य 'पश्य' प्रेक्षस्व 'धीरत्वं' धीरभावं, सर्वे धर्मे क्षान्त्यादिरूपमनुवर्तते तदनुकूलाचारतया स्वीकुरुत इत्येवंशीलो यस्तस्य सर्वधर्मानुवर्तिनः, धीरत्वमेवाह—'त्यक्त्वा' हित्वा अधर्मं—विषयाभिरतिरूपमसदाचारं 'धम्मिट्ठे'त्ति इष्टधर्मा, यदिवा—अतिशयेन धर्मवानिति, इष्टनि "विन्मतोर्लुगि" (पा० ५-३-६५) ति मतुल्लोपे धर्मिष्ठ इति, देवेषूपपद्यत इत्याह ॥ यतश्चैवमतो यद्विधेयं तदाह—'तोलयित्वा' इति प्राग्वत् 'बालभावं' बालत्वम् 'अबालं'ति भावप्रधानत्वान्निर्देशस्यावालत्वं धीरत्वं, 'चः' समुच्चये, एवेति प्राकृतत्वादनुस्वारलोपः 'एवम्' अनन्तरोक्तप्रकारेण 'पण्डितः' बुद्धिमान्

उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः

त्यक्त्वा 'बालभावं' बालत्वम् 'अबालं'ति अबालत्वं 'सेवते' अनुतिष्ठति 'मुनिः' यतिरिति सूत्रत्रयार्थः ॥ 'इतिः' परिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् । उक्तोऽनुगमः, सम्प्रति नयाः, तेऽपि प्राग्वदेवेति सूत्रार्थः ॥ इति श्रीशान्त्याचार्यविरचितायामुत्तराध्ययनटीकायामरभ्रीयमध्ययनं समाप्तम् ॥ ॥ ॥

और श्री-याध्य. ७

अत्र अध्ययनं- ७ परिसमाप्तं

प्रत सूत्रांक ॥३०॥

दीप अनुक्रम [२०८]

॥ व्याख्यातं उरभ्रीयाख्यं सप्तममध्ययनं, सम्प्रत्यष्टममारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः–अनन्तराध्ययने रसगृद्धेरपायबहुलत्वमभिधाय तत्त्याग उक्तः, स च निर्लोभस्यैव भवतीति इह निर्लोभत्वमुच्यते, इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्याध्ययनस्यानुयोगद्वारचर्चा प्राग्वद् यावन्नामनिष्पन्ननिक्षेपे कापिलीयमिति नाम, अतः कपिलनिक्षेपमाह—

निक्खेवो कविलंमी चउविहो दुविहो य दव्वंमि। आगमनोआगमओ नोआगमओ य सो तिविहो २५०

व्याख्या—'निक्षेपः' न्यासः 'कपिले' कपिलविषयः 'चतुर्विधः' चतुष्प्रकारो नामस्थापनाद्रव्यभावभेदात्, तत्राद्ये प्रतीते, 'द्विविधः' द्विभेदो भवति 'द्रव्य' इति द्रव्यविषयः, द्वैविध्यमेवाह—आगमतो नोआगमतः, तत्रागमतो ज्ञाताऽनुपयुक्तो नोआगमतश्च स 'त्रिविधः' त्रिभेद इति गाथार्थः ॥ त्रैविध्यमेवाह—

जाणगसरीरभविए तव्वतिरित्ते य सो पुणो तिविहो। एगभविअबद्धाउअ अभिमुहओ नामगोए अ २५१

व्याख्या—कपिलशब्दार्थज्ञशरीरं पश्चात्कृतपर्यायं ज्ञशरीरमित्युच्यते, तदेव द्रव्यकपिलो, 'भविय'त्ति भव्यशरीरं पुरस्कृतकपिलशब्दार्थज्ञतात्मकपर्यायं द्रव्यकपिलः, तद्व्यतिरिक्तश्च, स तद्व्यतिरिक्तद्रव्यकपिलः पुनः 'त्रिविधः' त्रिभेदः, त्रैविध्यमेवाह–एकभविको बद्धायुष्कोऽभिमुखनामगोत्रश्चेति गाथार्थः ॥ भावकपिलमाह—

कविलाउणामगोयं वेयंतो भावओ भवे कविलो। तत्तो समुट्ठियमिणं अज्झयणं काविलिज्जंति ॥ २५२ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ अध्ययनं – ८ "कापिलीय" आरभ्यते

प्रत सूत्रांक ॥३०॥

दीप अनुक्रम [२०८]

व्याख्या—कपिलायुर्नामगोत्रं 'वेदयन्' अनुभवन् 'भावतः' भावमाश्रित्य भवेत् कपिलः, 'ततः' तस्मात् समुत्थितम् 'इदं' प्रस्तुतम् अध्ययनं 'काविलिज्जं'त्ति कापिलीयमिति, उच्यत इति शेष इति गाथार्थः ॥ कथं पुनरिदं कपिलात्समुत्थितमित्याह—

कोसंबी कासवजसा कविलो सावत्थि इंददत्तो य। इब्भे य सालिभद्दे धणसिट्ठि पसेणई राया ॥२५३॥
कविलो निच्चियपरिवेसिआइ आहारमित्तसंतुट्ठे। वावारिओ(य) दुहि मासेहिं सो निग्गओ रत्तिं ॥२५४॥
दक्खिण्णे पत्थंतो बद्धो अ तओ अ अप्पिओ रण्णो। राया से देइ वरं किं देमी केण ते अत्थो ? ॥२५५॥
जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढति। दोमासकयं कज्जं, कोडिएवि न निट्ठियं ॥ २५६ ॥
कोडिंपि देमि अज्जेत्ति भणइ राया पहिट्ठमुहवण्णो।सोऽवि चइऊण कोडिं समणो जाओ समिअपावो२५७
छम्मासे छउमत्थो अट्ठारस जोयणाइ रायगिहे। बलभद्दप्पमुहाणं इक्कडदासाण पंचयमे ॥ २५८ ॥
अइसेसे उप्पण्णे होही अट्ठो इमोत्ति नाऊणं। अद्धाणगमणचित्तं करेइ धम्मट्ठया गीयं ॥ २५९ ॥

आसामक्षरार्थः सुगम एव, नवरं 'निच्चियपरिवेसियाए'त्ति नैत्यिकपरिवेषिकया–प्रतिदिननियुक्तभक्तदात्र्या वावारितो'त्ति व्यापारितो–नियुक्तः 'दुहिं मासेहिं'ति द्वाभ्यां माषकाभ्यां, "तादर्थ्ये चतुर्थी" (वार्त्तिकम्) 'दक्खि-

॥२८६॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३०॥

दीप अनुक्रम [२०८]

ण्णं'ति प्राकृतत्वाद्दक्षिणां 'पहट्ठमुहवण्ण'त्ति प्रहृष्टः-प्रहर्षवान् मुखवर्णो–मुखच्छाया यस्य स तथा, मुखस्य प्रहृष्टत्वादुपचारात्तद्वर्णोऽपि प्रहृष्ट उक्तः, यद्वा प्रहृष्टमुखस्येव मुखवर्णो यस्य स तथा, मयूरव्यंसकादित्वात् समासः, मानसत्वाच्च हर्षादीनां मुखस्यापि प्रहृष्टत्वं रूढित इति भावनीयम्। 'इक्कडदासाणं'ति इक्कडदासजातीनाम् 'अतिशेषे' अतिशये 'होही अट्ठो इमो'त्ति भविष्यति अर्थः–प्रयोजनम् 'अयं' पूर्वसङ्गतिकचौरशतपञ्चकप्रतिबोधलक्षण इति ज्ञात्वा च 'अद्धाणगमणचित्तं'ति अध्वा–मार्गस्तद्गमने चित्तम्–अभिप्रायोऽध्वगमनचित्तं तत्करोतीव करोति, तत्त्वतो हि केवलित्वेनामनस्कत्वान्न तस्याभिप्रायकरणसम्भवः, 'धम्मट्ठय'त्ति आर्षत्वाद्धर्मार्थं–तत्त्वावबोधतस्तेषां धर्मः स्यादित्येवमर्थं 'गीयं'ति चस्य गम्यमानत्वाद्गीतं च–स्वरग्रामानुगतगीतिकानिबद्धमिदमेवाध्ययनं करोतीति योगः, वर्तमाननिर्देशस्तु सूत्रस्य त्रिकालगोचरतामाह, यदिवा–'गीत'मिति स्वराद्यनुगमनेन शब्दितमिदमिति गम्यते। भावार्थः कथानकादवसेयः, तत्र च सम्प्रदायः—

तेणं[1] कालेणं तेणं समएणं कोसंबीए णयरीए जितसत्तू राया, कासवो बंभणो चोद्दसविज्जाठाणपारगो, रायणो बहुमतो, वित्ती से उवकप्पिया, तस्स जसा णाम भारिया, तेसिं पुत्तो कविलो णाम, कासवो तंमि कविले खुड्ड-

१ तस्मिन् काले तस्मिन् समये कौशाम्ब्यां नगर्यां जितशत्रू राजा, काश्यपो ब्राह्मणः चतुर्दशविद्यास्थानपारगः, राज्ञो बहुमतः, वृत्तिस्तस्मै उपकल्पिता, तस्य यशा नाम भार्या, तयोः पुत्रः कपिलो नाम, काश्यपस्तस्मिन् कपिले क्षुल्लक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३०॥

दीप अनुक्रम [२०८]

लए चेव कालगतो, ताधे तंमि मए तं पयं रायणा अण्णस्स मरुयगस्स दिण्णं, सो य आसेण छत्तेण य धरिज्जमाणेण वच्चइ, तं दट्ठूण जसा परुण्णा, कविलेण पुच्छिया, ताए सिट्ठं–जहा पिया ते एवंविहाए इड्ढीए णिगच्छियाइओ, तेण भण्णति–कथं ?, सा भणति–जेण सो विज्जासंपण्णो, सो भणइ–अहंपि अहिज्जामि, सा भणइ–इहं तुमं मच्छरेण ण कोइ सिक्खवेति, वच्च सावत्थीए नयरीए पिइमित्तो इंददत्तो णाम माहणो सो ते सिक्खावेहित्ति । सो गतो तस्स सगासं, तेण पुच्छितो–कओऽसि तुमं ?, तेण जहावत्तं कहियं, सो तस्स सगासे अहिज्जिउं पयत्तो । तत्थ सालिभद्दो णाम इब्भो, सो से तेण उवज्झाएण णेच्चतियं दवावितो, सो तत्थ जिमितो २ अहिज्जइ, दासचेडी य तं परिवेसेइ । सो य हसणसीलो तीए सद्धिं संपलग्गो, तीए भण्णइ–तुमे मे पीतो, ण य ते किंचिवि, णवरि मा

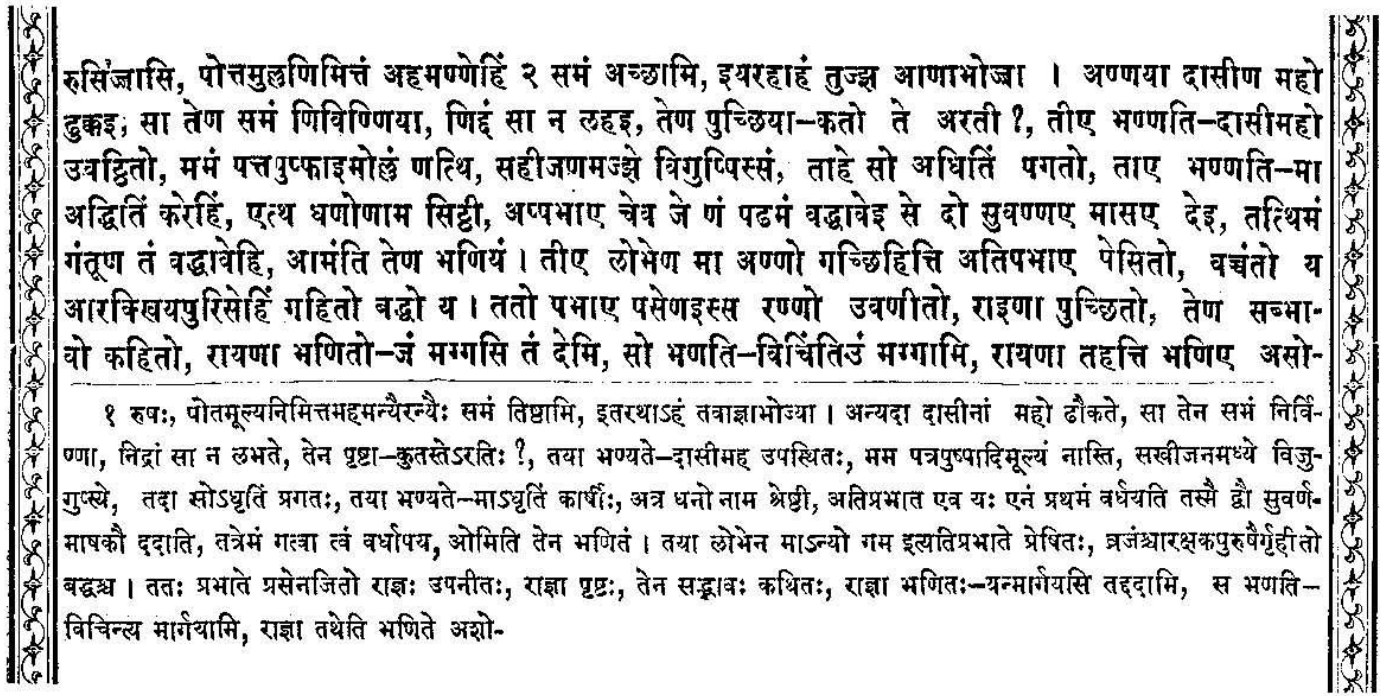
१ एव कालगतः, तदा तस्मिन् मृते तत्पदं राज्ञाऽन्यस्मै मरुकाय (ब्राह्मणाय) दत्तं, स चाश्वेन छत्रेण च ध्रियमाणेन व्रजति, तं दृष्ट्वा यशाः प्ररुदिता, कपिलेन पृष्टा, तया शिष्टं–यथा पिता तवैवंविधया ऋद्ध्या निर्गतवान्, तेन भण्यते–कथम् ?, सा भणति–येन स विद्यासंपन्नः, स भणति–अहमप्यधीये, सा भणति–इह त्वां मत्सरेण न कोऽपि शिक्षयति, व्रज श्रावस्त्यां नगर्यां पितृमित्रमिन्द्रदत्तो नाम ब्राह्मणः स त्वां शिक्षयिष्यतीति । स गतस्तत्सकाशं, तेन पृष्टः–कुतोऽसि त्वं ?, तेन यथावृत्तं कथितं, स तत्सकाशेऽध्येतुं प्रवृत्तः । तत्र शालिभद्रो नाम इभ्यः, अथ स तेन उपाध्यायेन नैत्यिकं दापितः, स तत्र जिमितो २ऽध्येति, दासचेटी च तं परिवेषयति । स च हसनशीलस्तया सार्धं संप्रलग्नः, तया भण्यते—त्वं मे प्रियः, न च तव किञ्चिदपि, नवरं मा

॥२८७॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३०॥

दीप अनुक्रम [२०८]



रुसिज्जासि, पोत्तमुल्लणिमित्तं अहमण्णेहिं २ समं अच्छामि, इयरहाहं तुज्झ आणाभोज्जा । अण्णया दासीण महो ढुक्कइ; सा तेण समं णिविण्णिया, णिद्दं सा न लहइ, तेण पुच्छिया–कतो ते अरती ?, तीए भण्णति–दासीमहो उवट्ठितो, ममं पत्तपुप्फाइमोल्लं णत्थि, सहीजणमज्झे विगुप्पिस्सं, ताहे सो अधितिं पगतो, ताए भण्णति–मा अद्धितिं करेहिं, एत्थ धणोणाम सिट्ठी, अप्पभाए चेव जे णं पढमं वद्धावेइ से दो सुवण्णए मासए देइ, तत्थिमं गंतूण तं वद्धावेहि, आमंति तेण भणियं । तीए लोभेण मा अण्णो गच्छिहित्ति अतिपभाए पेसितो, वच्चंतो य आरक्खियपुरिसेहिं गहितो बद्धो य । ततो पभाए पसेणइस्स रण्णो उवणीतो, राइणा पुच्छितो, तेण सब्भावो कहितो, रायणा भणितो–जं मग्गसि तं देमि, सो भणति–विचिंतिउं मग्गामि, रायणा तहत्ति भणिए असो-

१ रुषः, पोतमूल्यनिमित्तमहमन्यैरन्यैः समं तिष्ठामि, इतरथाऽहं तवाज्ञाभोज्या । अन्यदा दासीनां महो ढौकते, सा तेन समं निर्विण्णा, निद्रां सा न लभते, तेन पृष्टा–कुतस्तेऽरतिः ?, तया भण्यते–दासीमह उपस्थितः, मम पत्रपुष्पादिमूल्यं नास्ति, सखीजनमध्ये विजुगुप्स्ये, तदा सोऽधृतिं प्रगतः, तया भण्यते–माऽधृतिं कार्षीः, अत्र धनो नाम श्रेष्ठी, अतिप्रभात एव यः एनं प्रथमं वर्धयति तस्मै द्वौ सुवर्णमाषकौ ददाति, तत्रेमं गत्वा त्वं वर्धापय, ओमिति तेन भणितं । तया लोभेन माऽन्यो गम इत्यतिप्रभाते प्रेषितः, व्रजंश्चारक्षकपुरुषैर्गृहीतो बद्धश्च । ततः प्रभाते प्रसेनजितो राज्ञः उपनीतः, राज्ञा पृष्टः, तेन सद्भावः कथितः, राज्ञा भणितः–यन्मार्गयसि तद्दामि, स भणति–विचिन्त्य मार्गयामि, राज्ञा तथेति भणिते अशो-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३०॥

दीप अनुक्रम [२०८]

गवंणियाए चिंतेउमारद्धो–किं दोहिं मासेहिं साडिगाभरणे पडिवासिगा जाणवाहणाउज्जाणोवभोगा मम वयस्साणं पव्वागयाण घरं भज्जाचउट्ठयं जंचण्णं उवउज्जं ?, एवं जाव कोडीएवि ण ठाएति। चिंतंतो सुहज्झवसाणो संवेगमावण्णो जाइं सरिऊण सयंबुद्धो सयमेव लोयं काऊण देवयादिण्णगहियायारभंडगो आगतो रायसगासं, रायणा भण्णति–किं चिंतियं ?, सो भणति–'जहा लाभो तहा लोभो' कण्ठ्यः, राया भणति–'कोडिंपि देमि अज्जोत्ति भणति राया पहट्ठमुहवण्णो। सोऽवि चइऊण कोडिं जातो समणो समियपावो ॥१॥ छम्मासा छउमत्थो आसि। इत्तो य रायगिहस्स नयरस्स अंतरा अट्ठारसजोयणाए अडवीए बलभद्दपामोक्खा इक्कडदासा णाम पंच चोरसया अच्छंति, णाणेण जाणियं–जहा ते संबुज्झिस्संति, ततो पट्ठितो संपत्तो य तं पएसं, सोहिएण (साहिएण)य दिट्ठो कोवि एतित्ति आस-

१० कवनिकायां चिन्तयितुमारब्धः–किं द्वाभ्यां मासाभ्यां शाटिकाभरणे प्रतिवेशिका यानवाहनातोद्यानामुपभोगा (नानि उद्यानोपभोगाः) मम वयस्यानां पर्वागतानां गृहं भार्योपकरणं यच्चान्यत् उपयोज्यम् , एवं यावत् कोट्याऽपि न तिष्ठति। चिन्तयन् शुभाध्यवसानः संवेगमापन्नो जातिं स्मृत्वा स्वयंबुद्धो लोचं स्वयमेव कृत्वा देवतादत्तगृहीताचारभाण्डक आगतो राजसकाशं, राज्ञा भण्यते–किं चिन्तितम् ?, स भणति–यथा लाभस्तथा लोभः० (लाभाल्लोभः प्रवर्धते । द्विमासकनकेनार्थः कोट्या न निवर्त्तते ॥ १ ॥)। राजा भणति–कोटीमपि ददामि आर्य इति भणति राजा प्रहृष्टमुखवर्णः। सोऽपि त्यक्त्वा कोटीं जातः श्रमणः शमितपापः ॥ १ ॥ षण्मासान् छद्मस्थ आसीत्। इतश्च राजगृहस्य नगरस्य अन्तरा (अवकाशे) अष्टादशयोजनायामटव्यां बलभद्रप्रमुखा इक्कडदासा नाम पञ्च चौरशतानि तिष्ठन्ति, ज्ञानेन ज्ञातं–यथा ते संबोत्स्यन्ते, ततः प्रस्थितः संप्राप्तश्च तं प्रदेशं, शोधितेन (शोधकेन) च दृष्टः कोऽप्येतीत्यास-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [२०९]

ण्णीभूतो, नाओ जहा समणगोत्ति, अम्हं परिभविउं आगच्छति, रोसेण व गहितो सेणावइसमीवं णीतो, तेण भण्णति –मुयह एयंति, ते भणंति–खेल्लामो एतेणंति, तेहिं भण्णति–नच्चसु समणगोत्ति, सो भणइ–वायंतगो णत्थि, ताहे ताणवि पंचवि चोरसयाणि ताले कुट्टेंति, सोऽवि गायति ध्रुवगं, "अधुवे असासयंमी, संसारंमि दुक्खपउराए। किं णाम तं होज्ज कम्मयं ? जेणाहं दुग्गइं ण गच्छेज्जा ॥१॥" एवं सव्वत्थ सिलोगन्तरे ध्रुवगं गायति 'अधुवेत्यादि,' तत्थ केइ पढमसिलोगे संबुद्धा, केइ बीए, एवं जाव पंचवि सया संबुद्धा पव्वतियत्ति।

इत्यभिहितः सम्प्रदायोऽवसितश्च नामनिष्पन्नो निक्षेपः, सम्प्रति सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

अधुवे असासयंमि संसारंमि दुक्खपउराए। किं नाम होज्ज तं कम्मयं? जेणाहं दुग्गइं न गच्छेज्जा॥ १ ॥

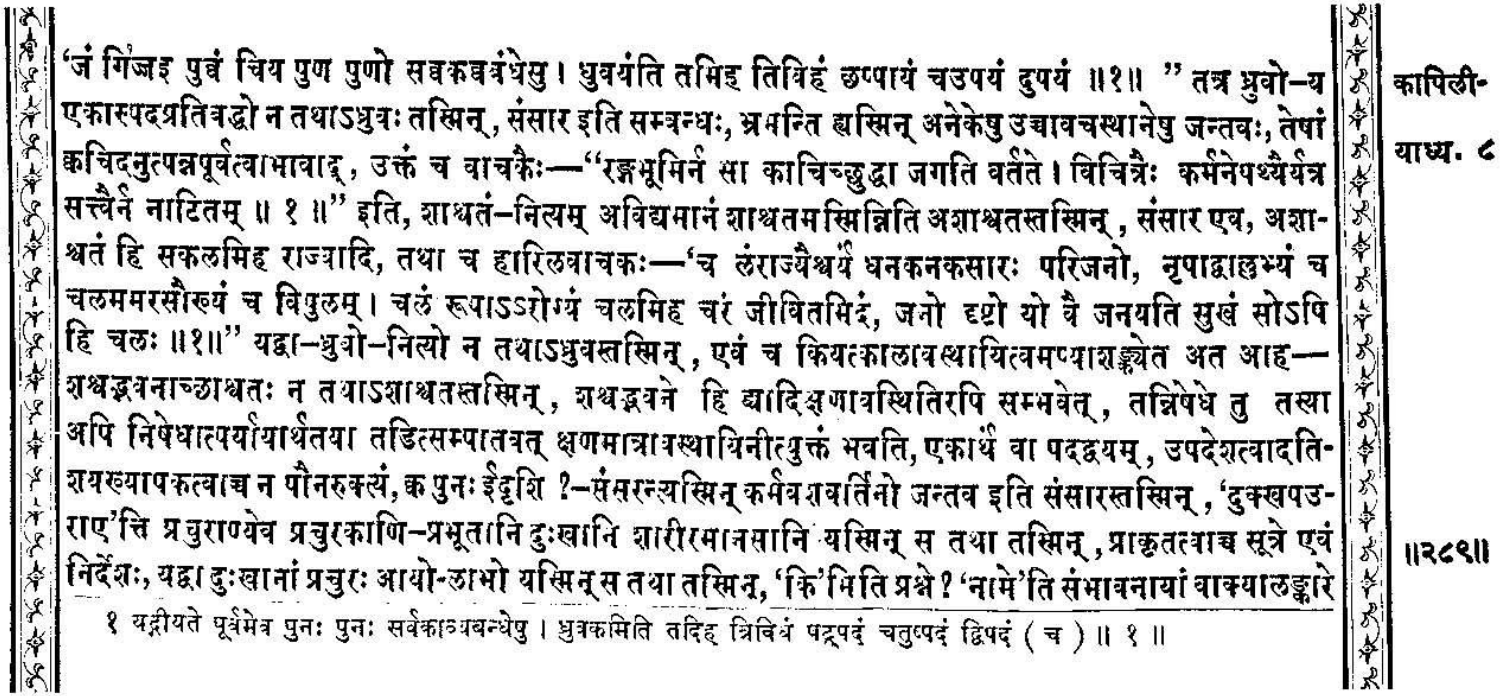
व्याख्या—स हि भगवान् कपिलनामा स्वयंबुद्धश्चौरसङ्घातसम्बोधनायेमं ध्रुवकं सङ्गीतवान्, ध्रुवकलक्षणं चेदम्–

१० ज्ञीभूतः, ज्ञातो यथा श्रमणक इति, अस्मान् पराभवितुमागच्छति, रोषेण च गृहीतः सेनापतिसमीपं नीतः, तेन भण्यते–मुञ्चैनमिति, ते भणन्ति–क्रीडाम एतेनेति, तैर्भण्यते–नृत्य श्रमणकेति, स भणति–वादको नास्ति, तदा तान्यपि पञ्चापि चौरशतानि तालान् कुट्टयन्ति, सोऽपि गायति ध्रुवकम्–अधुवे अशाश्वते संसारे प्रचुरदुःखे। किं नाम तद्भवेत्कर्म ? येनाहं दुर्गतिं न गच्छेयम् ॥१॥ एवं सर्वत्र श्लोकान्तरे ध्रुवकं गायति अधुवेत्यादि, तत्र केचित् प्रथमश्लोके संबुद्धाः केचिद्द्वितीये, एवं यावत्पञ्चापि शतानि संबुद्धानि प्रव्रजिताः इति।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [२०९]



उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥२८९॥

'जं गिज्जइ पुवं चिय पुण पुणो सवकवबंधेसु। धुवयंति तमिह तिविहं छप्पायं चउपयं दुपयं ॥१॥ " तत्र ध्रुवो–य एकास्पदप्रतिबद्धो न तथाऽध्रुवः तस्मिन्, संसार इति सम्बन्धः, भ्रमन्ति ह्यस्मिन् अनेकेषु उच्चावचस्थानेषु जन्तवः, तेषां क्वचिदनुत्पन्नपूर्वत्वाभावाद्, उक्तं च वाचकैः—"रङ्गभूमिर्न सा काचिच्छुद्धा जगति वर्तते। विचित्रैः कर्मनेपथ्यैर्यत्र सत्त्वैर्न नाटितम् ॥ १ ॥" इति, शाश्वतं–नित्यम् अविद्यमानं शाश्वतमस्मिन्निति अशाश्वतस्तस्मिन्, संसार एव, अशाश्वतं हि सकलमिह राज्यादि, तथा च हारिलवाचकः—'च लंराज्यैश्वर्यं धनकनकसारः परिजनो, नृपाद्वाल्लभ्यं च चलममरसौख्यं च विपुलम्। चलं रूपाऽऽरोग्यं चलमिह चरं जीवितमिदं, जनो दृष्टो यो वै जनयति सुखं सोऽपि हि चलः ॥१॥" यद्वा–ध्रुवो–नित्यो न तथाऽध्रुवस्तस्मिन्, एवं च कियत्कालावस्थायित्वमप्याशङ्क्येत अत आह—शश्वद्भवनाच्छाश्वतः न तथाऽशाश्वतस्तस्मिन्, शश्वद्भवने हि द्व्यादिक्षणावस्थितिरपि सम्भवेत्, तन्निषेधे तु तस्या अपि निषेधात्पर्यायार्थतया तडित्सम्पातवत् क्षणमात्रावस्थायिनीत्युक्तं भवति, एकार्थं वा पदद्वयम्, उपदेशत्वादतिशयख्यापकत्वाच्च न पौनरुक्त्यं, क्व पुनः ईदृशि ?–संसरन्त्यस्मिन् कर्मवशवर्तिनो जन्तव इति संसारस्तस्मिन्, 'दुक्खपउराए'त्ति प्रचुराण्येव प्रचुरकाणि–प्रभूतानि दुःखानि शारीरमानसानि यस्मिन् स तथा तस्मिन्, प्राकृतत्वाच्च सूत्रे एवं निर्देशः, यद्वा दुःखानां प्रचुरः आयो-लाभो यस्मिन् स तथा तस्मिन्, 'किं'मिति प्रश्ने ? 'नामे'ति संभावनायां वाक्यालङ्कारे

१ यद्गीयते पूर्वमेव पुनः पुनः सर्वकाव्यबन्धेषु। ध्रुवकमिति तदिह त्रिविधं षट्पदं चतुष्पदं द्विपदं (च) ॥ १ ॥

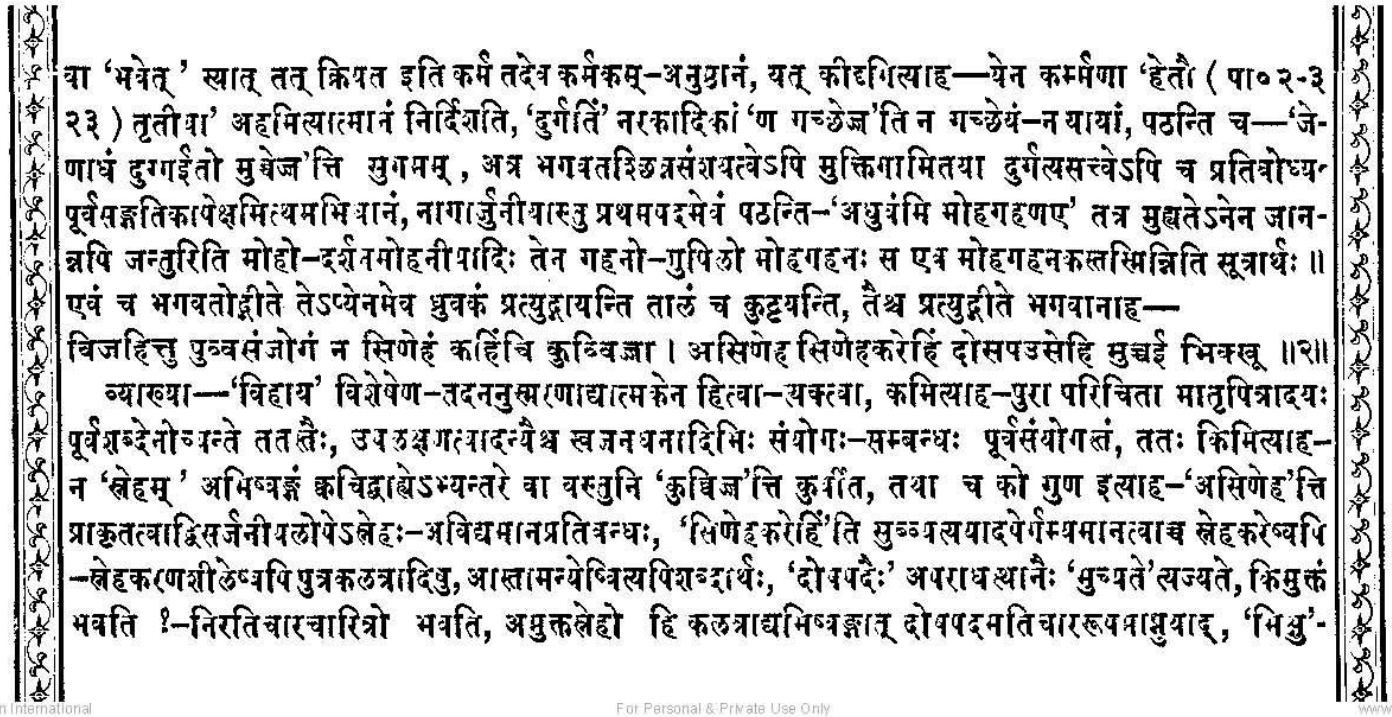
कापिलीय. ८

॥२८९॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२॥

दीप अनुक्रम [२१०]



वा 'भवेत्' स्यात् तत् क्रियत इति कर्म तदेव कर्मकम्–अनुष्ठानं, यत् कीदृशमित्याह—येन कर्म्मणा 'हेतौ (पा० २-३ २३) तृतीया' अहमित्यात्मानं निर्दिशति, 'दुर्गतिं' नरकादिकां 'ण गच्छेज्ज'त्ति न गच्छेयं–न यायां, पठन्ति च—'जेणाहं दुग्गईतो मुच्चेज्ज'त्ति सुगमम्, अत्र भगवतश्छिन्नसंशयत्वेऽपि मुक्तिगामितया दुर्गत्यसत्त्वेऽपि च प्रतिबोध्यपूर्वसङ्गतिकापेक्षमित्थमभिधानं, नागार्जुनीयास्तु प्रथमपदमेवं पठन्ति–'अधुवंमि मोहगहणए' तत्र मुह्यतेऽनेन जानन्नपि जन्तुरिति मोहो–दर्शनमोहनीयादिः तेन गहनो–गुपिलो मोहगहनः स एव मोहगहनकस्तस्मिन्निति सूत्रार्थः ॥ एवं च भगवतोद्वीते तेऽप्येनमेव ध्रुवकं प्रत्युद्गायन्ति तालं च कुट्टयन्ति, तैश्च प्रत्युद्वीते भगवानाह—

विजहित्तु पुव्वसंजोगं न सिणेहं कहिंचि कुव्विज्जा । असिणेह सिणेहकरेहिं दोसपउसेहि मुच्चई भिक्खू ॥२॥

व्याख्या—'विहाय' विशेषेण–तदननुस्मरणाद्यात्मकेन हित्वा–त्यक्त्वा, कमित्याह–पुरा परिचिता मातृपित्रादयः पूर्वशब्देनोच्यन्ते ततस्तैः, उपलक्षणत्वादन्यैश्च स्वजनधनादिभिः संयोगः–सम्बन्धः पूर्वसंयोगस्तं, ततः किमित्याह–न 'स्नेहम्' अभिष्वङ्गं क्वचिद्बाह्येऽभ्यन्तरे वा वस्तुनि 'कुविज्ज'त्ति कुर्वीत, तथा च को गुण इत्याह–'असिणेह'त्ति प्राकृतत्वाद्विसर्जनीयलोपेऽस्नेहः–अविद्यमानप्रतिबन्धः, 'सिणेहकरेहिं'ति सुब्व्यत्ययादपेक्ष्यमाणत्वाच्च स्नेहकरेष्वपि –स्नेहकरणशीलेष्वपि पुत्रकलत्रादिषु, आस्तामन्येष्वित्यपिशब्दार्थः, 'दोषपदैः' अपराधस्थानैः 'मुच्यते'त्यज्यते, किमुक्तं भवति ?–निरतिचारचारित्रो भवति, अमुक्तस्नेहो हि कलत्राद्यभिष्वङ्गात् दोषपदमतिचाररूपमाप्नुयाद्, 'भिक्षु'-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३॥

दीप अनुक्रम [२११]

रिति साधुः, पाठान्तरतश्च 'दोषप्रदोषैः' तत्र दोषैः–इहैव मनस्तापादिभिः प्रदोषैश्च–परत्र नरकगत्यादिभिरिति सूत्रार्थः ॥ पुनर्यदसौ कृतवांस्तदाह—

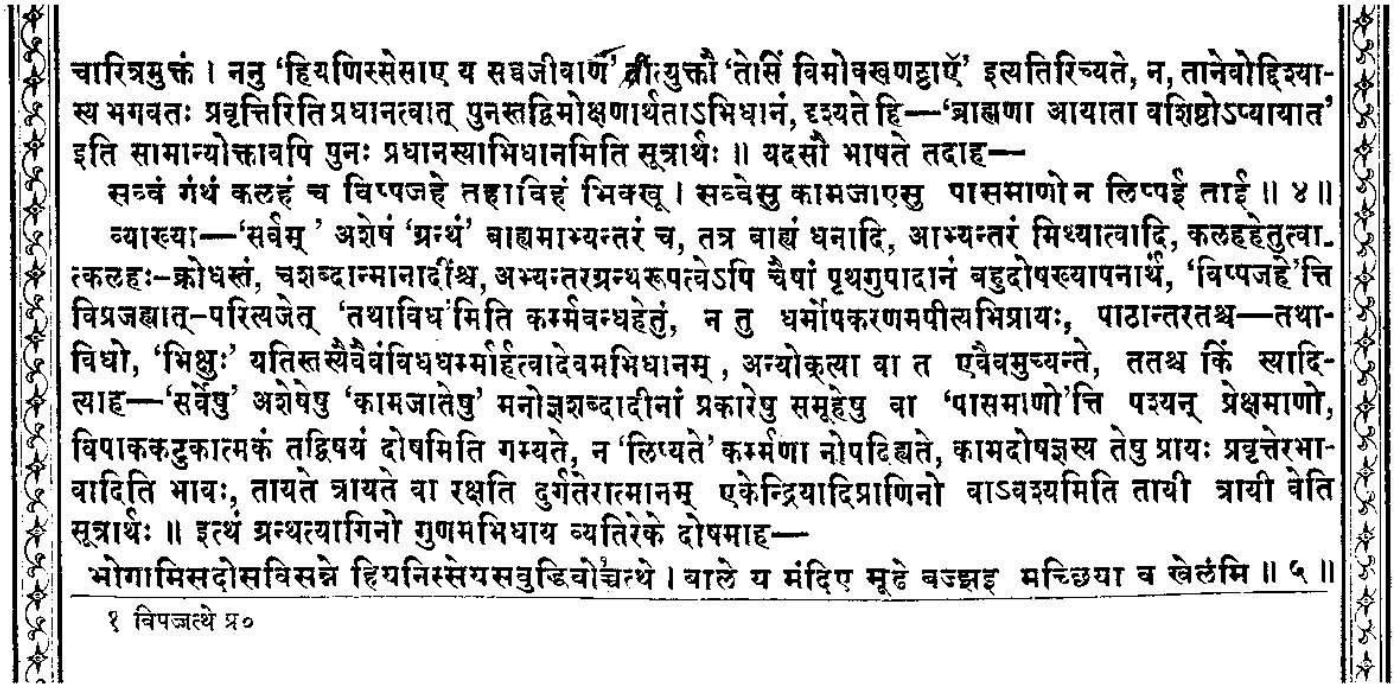
तो णाणदंसणसमग्गो हियनिस्सेसाए य सव्वजीवाणं। तेसिं विमोक्खणट्ठाएँ भासइ मुणिवरो विगयमोहो ३

व्याख्या—'तो'त्ति ततोऽनन्तरं, भाषते मुनिवर इति सम्बन्धः, स च कीदृग् ?–ज्ञायतेऽनेन विशेषात्मना वस्त्विति ज्ञानं, दृश्यतेऽनेन सामान्यरूपेण वस्त्विति दर्शनं, ताभ्यां प्रस्तावात् केवलाभ्यां समग्रः–समन्वितः, यदिवा प्राकृतत्वात्समग्रे–परिपूर्णे ज्ञानदर्शने यस्यासौ समग्रज्ञानदर्शनः, किमर्थमसौ भाषत इत्याह–'हियणिस्सेसाए' इति सूत्रत्वात् हितः–पथ्यो भावाऽऽरोग्यहेतुत्वात् निःश्रेयसो–मोक्षः, हितश्चासौ निःश्रेयसश्च हितनिःश्रेयसस्तस्मै, यद्वा प्राकृतत्वादेव निश्शेषं–समस्तं हितं–सम्यग्ज्ञानादि, तस्यैव तत्त्वतो हितत्वात्, ततो निश्शेषं च तद्धितं च निश्शेषहितं तस्मै, कथं नाम निश्शेषहितावाप्तिः स्यादिति, चशब्दो भिन्नक्रमः, तेषामित्यत्र योज्यते, केषाम् ?–'सर्वजीवानाम्' अशेषप्राणिनां 'तेषां' च पञ्चशतसङ्ख्यचौराणां विमोक्षणम्–अष्टविधकर्मणः पृथक्करणं तदेवार्थः–प्रयोजनं विमोक्षणार्थस्तस्मै–तन्निमित्तं, भाषते इति वर्तमाननिर्देशः प्राग्वत्, यद्वा–'भवति स नामातीतः प्राप्तो यो नाम वर्तमानत्व'मितिवचनात् तस्यापि तदा वर्तमानतैवेति तत्कालत्वस्य विवक्षितत्वान्न दोषः, 'मुनिवरः' मुनिप्रधानः, विगतो–विनष्टो मोहो यस्य यस्माद्वा स तादृक्। इह च विगतमोहवचनेन चारित्रमोहनीयाभावतो यथाख्यात-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४॥

दीप अनुक्रम [२१२]



चारित्रमुक्तं । ननु 'हियणिस्सेसाए य सव्वजीवाणं' इतीयुक्तौ 'तेसिं विमोक्खणट्ठाए' इत्यतिरिच्यते, न, तानेवोद्दिश्यास्य भगवतः प्रवृत्तिरिति प्रधानत्वात् पुनस्तद्विमोक्षणार्थताऽभिधानं, दृश्यते हि—'ब्राह्मणा आयाता वशिष्ठोऽप्यायात' इति सामान्योक्तावपि पुनः प्रधानस्याभिधानमिति सूत्रार्थः ॥ यदसौ भाषते तदाह—

सव्वं गंथं कलहं च विप्पजहे तहाविहं भिक्खू । सव्वेसु कामजाएसु पासमाणो न लिप्पई ताई ॥ ४ ॥

व्याख्या—'सर्वम्' अशेषं 'ग्रन्थं' बाह्यमाभ्यन्तरं च, तत्र बाह्यं धनादि, आभ्यन्तरं मिथ्यात्वादि, कलहहेतुत्वात्कलहः—क्रोधस्तं, चशब्दान्मानादींश्च, अभ्यन्तरग्रन्थरूपत्वेऽपि चैषां पृथगुपादानं बहुदोषख्यापनार्थं, 'विप्पजहे'त्ति विप्रजह्यात्—परित्यजेत् 'तथाविधं'मिति कर्म्मबन्धहेतुं, न तु धर्मोपकरणमपीत्यभिप्रायः, पाठान्तरतश्च—तथाविधो, 'भिक्षुः' यतिस्तस्यैवंविधधर्म्मार्हत्वादेवमभिधानम्, अन्योक्त्या वा त एवैवमुच्यन्ते, ततश्च किं स्यादित्याह—'सर्वेषु' अशेषेषु 'कामजातेषु' मनोज्ञशब्दादीनां प्रकारेषु समूहेषु वा 'पासमाणो'त्ति पश्यन् प्रेक्षमाणो, विपाककटुकात्मकं तद्विषयं दोषमिति गम्यते, न 'लिप्यते' कर्म्मणा नोपदिह्यते, कामदोषज्ञस्य तेषु प्रायः प्रवृत्तेरभावादिति भावः, तायते त्रायते वा रक्षति दुर्गतेरात्मानम् एकेन्द्रियादिप्राणिनो वाऽवश्यमिति तायी त्रायी वेति सूत्रार्थः ॥ इत्थं ग्रन्थत्यागिनो गुणमभिधाय व्यतिरेके दोषमाह—

भोगामिसदोसविसन्ने हियनिस्सेयसबुद्धिवोच्चत्थे । बाले य मंदिए मूढे बज्झइ मच्छिया व खेलंमि ॥ ५ ॥

१ विपज्जत्थे प्र०

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥५॥

दीप अनुक्रम [२१३]

व्याख्या—भुज्यन्त इति भोगाः–मनोज्ञाः शब्दादयः ते च ते आमिषं चात्यन्तगृद्धिहेतुतया भोगामिषं तदेव दूषयत्यात्मानं दुःखलक्षणविकारकरणेन भोगामिषदोषस्तस्मिन् विशेषेण सन्नो–निमग्नो भोगामिषदोषविषण्णः, यद्वा–भोगामिषस्य दोषा भोगामिषदोषाः ते च तदासक्तस्य विचित्रक्लेशा अपत्योत्पत्तौ च तत्पालनोपायपरतया व्याकुलत्वादयस्तैर्विषण्णो–विषादं गतो भोगामिषदोषविषण्णः, आह च—"[1]जया य कुक्कुडुंबस्सा, कुतत्तीहिं विहम्मइ । हत्थीव बंधणे बद्धो, स पच्छा परितप्पइ ॥१॥ पुत्तदारपरिकिण्णो, मोहसंताणसंतता । पंकोसण्णो जहा णागो, स पच्छा परितप्पति ॥ २ ॥"त्ति । 'हियणिस्सेसबुद्धिवोच्चत्थे'त्ति हितः–एकान्तपथ्यो निःश्रेयसो–मोक्षः अनयोः कर्मधारये हितनिःश्रेयसः,–यद्वा हितो–यथाभिलाषितविषयावाप्त्याऽभ्युदयः निःश्रेयसः स एव तयोर्द्वन्द्वः, ततश्च तत्र तयोर्वा 'बुद्धिः' तत्प्राप्त्युपायविषया मतिः तस्यां विपर्ययवान् सा वा विपर्यस्ता यस्य स हितनिःश्रेयसबुद्धिविपर्यस्तः विपर्यस्तहितनिःश्रेयसबुद्धिर्वा, विपर्यस्तशब्दस्य तु परनिपातः प्राग्वत्, यद्वा विपर्यस्ता हिते निःशेषा बुद्धिर्यस्य स तथा, बालश्च–अज्ञः 'मंदिए'त्ति सूत्रत्वान्मन्दो–धर्मकार्यकरणं प्रत्यनुद्यतः 'मूढो' मोहाकुलितमानसः, स एवंविधः किमित्याह–'बध्यते' श्लिष्यतेऽर्थाज्ज्ञानावरणादिकर्मणा मक्षिकेव 'खेले' श्लेष्मणि, रजसेति गम्यते, इदमुक्तं भवति–

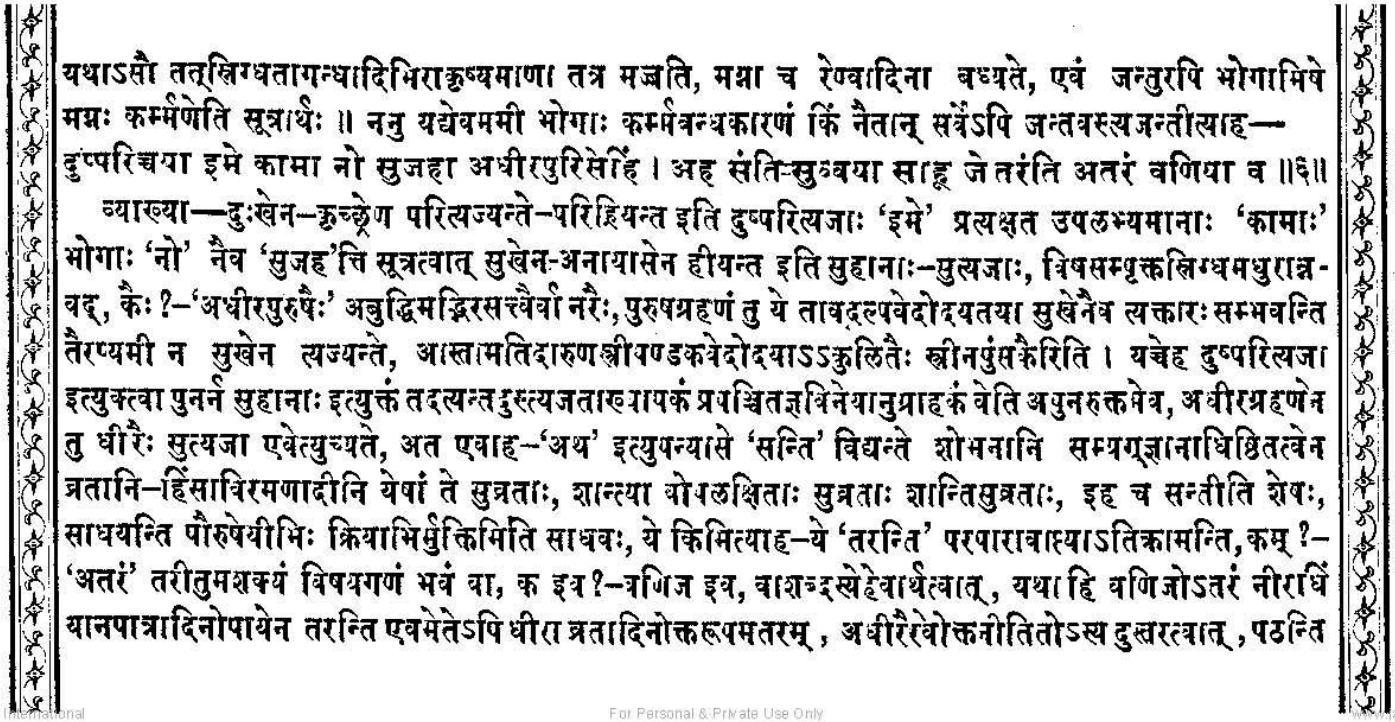
॥२९१॥

१ यदा च कुकुटुम्बस्य कुतप्तिभिर्विहन्यते । हस्तीव बन्धने बद्धः स पश्चात्परितप्यते ॥ १ ॥ पुत्रदारपरिकीर्णो मोहसंतानसंततः । पङ्कावसन्नो यथा नागः स पश्चात्परितप्यते ॥ २ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥६॥

दीप अनुक्रम [२१४]



यथाऽसौ तत्स्निग्धतागन्धादिभिराकृष्यमाणा तत्र मज्जति, मग्ना च रेण्वादिना बध्यते, एवं जन्तुरपि भोगाभिषे मग्नः कर्म्मणेति सूत्रार्थः ॥ ननु यद्येवममी भोगाः कर्म्मबन्धकारणं किं नैतान् सर्वेऽपि जन्तवस्त्यजन्तीत्याह—

दुप्परिच्चया इमे कामा नो सुजहा अधीरपुरिसेहिं । अह संति-सुव्वया साहू जे तरंति अतरं वणिया व ॥६॥

व्याख्या—दुःखेन–कृच्छ्रेण परित्यज्यन्ते–परिहियन्त इति दुष्परित्यजाः 'इमे' प्रत्यक्षत उपलभ्यमानाः 'कामाः' भोगाः 'नो' नैव 'सुजह'त्ति सूत्रत्वात् सुखेन-अनायासेन हीयन्त इति सुहानाः–सुत्यजाः, विषसम्पृक्तस्निग्धमधुरान्नवद्, कैः ?–'अधीरपुरुषैः' अबुद्धिमद्भिरसत्त्वैर्वा नरैः, पुरुषग्रहणं तु ये तावदल्पवेदोदयतया सुखेनैव त्यक्तारः सम्भवन्ति तैरप्यमी न सुखेन त्यज्यन्ते, आस्तामतिदारुणस्त्रीषण्डकवेदोदयाऽऽकुलितैः स्त्रीनपुंसकैरिति । यच्चेह दुष्परित्यजा इत्युक्त्वा पुनर्न सुहानाः इत्युक्तं तदत्यन्तदुस्त्यजताख्यापकं प्रपञ्चितज्ञविनेयानुग्राहकं वेति अपुनरुक्तमेव, अधीरग्रहणेन तु धीरैः सुत्यजा एवेत्युच्यते, अत एवाह–'अथ' इत्युपन्यासे 'सन्ति' विद्यन्ते शोभनानि सम्यग्ज्ञानाधिष्ठितत्वेन व्रतानि–हिंसाविरमणादीनि येषां ते सुव्रताः, शान्त्या वोपलक्षिताः सुव्रताः शान्तिसुव्रताः, इह च सन्तीति शेषः, साधयन्ति पौरुषेयीभिः क्रियाभिर्मुक्तिमिति साधवः, ये किमित्याह–ये 'तरन्ति' परपारावाप्त्याऽतिक्रामन्ति, कम् ?–'अतरं' तरीतुमशक्यं विषयगणं भवं वा, क इव ?–वणिज इव, वाशब्दस्येहेवार्थत्वात्, यथा हि वणिजोऽतरं नीरार्धिं यानपात्रादिनोपायेन तरन्ति एवमेतेऽपि धीरा व्रतादिनोक्तरूपमतरम्, अधीरैरेवोक्तनीतितोऽस्य दुस्तरत्वात्, पठन्ति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥७॥

दीप अनुक्रम [२१५]

च—'जे तरंति वणिया व समुद्द'मिति, स्पष्टम्, उक्तं च केनचित्–"विषयगणः कापुरुषं करोति वशवर्त्तिनं न सत्पुरुषम्। बध्नाति मशकमेव हि लूतातन्तुर्न मातङ्गम् ॥१॥" इति सूत्रार्थः ॥ किं सर्वेऽपि साधवोऽतरं तरन्ति उत नेत्याह— समणा मु एगे वदमाणा पाणवहं मिया अजाणंता। मंदा निरयं गच्छंति बाला पावियाहिं दिट्ठीहिं ॥ ७॥

व्याख्या—श्राम्यन्ति–मुक्त्यर्थं खिद्यन्त इति श्रमणाः–साधवः 'मु' इत्यात्मनिर्देशार्थत्वाद्वयमिति 'एके' केचन तीर्थान्तरीयाः 'वदमानाः' स्वाभिप्रायमुद्दीपयन्तो 'भासनोपसम्भाषाज्ञानयत्नविमत्युपनिमन्त्रणेषु वदः' (पा० १-३-४७) इत्यनेन भासने आत्मनेपदं, प्राणा–उक्तरूपास्तेषां वधो–घातस्तमजानन्त इति सम्बन्धः, मृगा इव मृगाः प्राग्वत्, अजानन्त इति ज्ञपरिज्ञया के प्राणिनः ? के च तेषां प्राणाः ? कथं वा वधः ? इत्यनवबुध्यमानाः प्रत्याख्यानपरिज्ञया च तद्वधमप्रत्याचक्षाणाः, अनेन च प्रथमव्रतमपि न विदन्ति आस्तां शेषाणीत्युक्तं भवति, अत एव मन्दा इव मन्दा मिथ्यात्वमहारोगग्रस्ततया 'निरयं' पाठान्तरतो 'नरकं वा' प्रतीतं गच्छन्ति–यान्ति, बाला इव बाला–हेयोपादेयविवेकविकलत्वात् 'पावियाहिं'ति प्रापयन्ति नरकमिति प्रापिकास्ताभिः, यद्वा–पापा एव पापिकास्ताभिः, परस्परविरोधादिदोषात् स्वरूपेणैव कुत्सिताभिः, 'न हिंस्यात् सर्वभूतानी'त्याद्यभिधाय 'श्वेतं छागमालभेत वायव्यां दिशि भूतिकाम' इत्यादिपरस्परविरुद्धार्थाभिधायिनीभिः, पापहेतुभिर्वा पापिकाभिर्दृष्टिभिः–दर्शनाभिप्रायरूपाभिः 'ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभेत, इन्द्राय क्षत्रियं, मरुद्भ्यो वैश्यं, तपसे शूद्रं, तथा च–'यस्य बुद्धिर्न लिप्यते, हत्वा सर्वमिदं जगत्।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥८॥

दीप अनुक्रम [२१६]

आकाशमिव पङ्केन, न स पापेन लिप्यते ॥ १ ॥' इत्यादिकाभिर्दयादमबहिष्कृताभिः, तद्बहिष्कृतानां हि विविध-वल्कलवेषादिधारिणामपि न केनचित्पापात् परित्राणं, तथा च वाचकः–"चर्म्मवल्कलचीराणि, कूर्चमुण्डजटा-शिखाः । न व्यपोहन्ति पापानि, शोधकौ तु दयादमौ ॥ १ ॥" इति सूत्रार्थः ॥ अत एवाह सूत्रकृत्—

न हु पाणवहं अणुजाणे मुच्चेज्ज कयाइ सव्वदुक्खाणं । एवमारिएहिमक्खायं जेहिं इमो साहुधम्मो पन्नत्तो ८

व्याख्या—'न हु' नैव 'प्राणवधं' प्राणघातं, मृषाद्युपलक्षणं चैतत्, 'अणुजाणे'त्ति अपिशब्दस्य लुप्तनिर्दिष्टत्वात् अनुजानन्नपि, आस्तां कुर्वन् कारयन् वा, 'मुच्येत'त्यज्येत, सम्भावने लिङ् (ङ्), ततो मुक्तिसम्भावनाऽपि नास्तीत्युक्तं भवति, 'कदाचित्' कस्मिंश्चिदपि काले, कैर्मुच्येत? इत्याह–'सव्वदुक्खाणं'ति दुःखयन्तीति दुःखानि-कर्म्माणि सर्वाणि च तानि दुःखानि च सर्वदुःखानि तैः, सुव्व्यत्ययाच्च तृतीयार्थे षष्ठी, यद्वा सर्वदुःखैः-नरकादिगतिभाविभिः शारीरमानसैः क्लेशैः, ततः प्राणातिपातनिवृत्ता एव श्रमणास्त एव चातरं तरन्ति न त्वितर इत्युक्तं भवति, किमेतत् त्वयैवोच्यते? इत्याह—'एवारिएहिं'ति 'एवम्' उक्तप्रकारेणाऽऽर्यैः–सकलहेयधर्मेभ्यो दूरं यातैस्तीर्थकरादिभिराचार्यैर्वा आख्यातं–कथितं, ये कीदृश इत्याह—'यैः' आर्यैराचार्यैर्वाऽयं 'साधुधम्मों' हिंसानिवृत्त्यादिः 'प्रज्ञप्तः' प्ररूपितः, अयमित्यनेन चात्मनि वर्तमानं तेषांप्रज्ञाप्यचौराणां प्रत्यक्षं साधुधर्मं निर्दिशतीति सूत्रार्थः ॥ यद्येवं ततः किं कृत्यम्? इत्याह—

पाणे य नाइवाइज्जा से समियत्ति वुच्चई ताई । तओ से पावयं कम्मं निज्जाइ उदगं व थलाओ ॥ ९ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥९॥

दीप अनुक्रम [२१७]

व्याख्या—'पाणे य णातिवाएज्ज'त्ति चशब्दो व्यवहितसम्बन्धः, ततश्च प्राणान्–इन्द्रियपञ्चकादीन् नातिपातयेत्, यस्त्विति गम्यते, चशब्दात् कारणानुमत्योरपि निषेधः, मृषावादादिनिवृत्त्युपलक्षणं चैतत्, किमिति प्राणान्नातिपातयेदित्याह—'से'त्ति यः प्राणान्नातिपातयिता स 'समितः' समितिमान् इति 'उच्यते' अभिधीयते, कीदृशः सन् ? इत्याह—'त्रायी' इत्यवश्यं प्राणित्राता, समितत्वेऽपि को गुणः ?, उच्यते—'ततः' इति तस्मात् समितात् 'से' इत्यथ 'पापकम्' अशुभं 'कर्म्म' ज्ञानावरणादि 'निर्याति' निर्गच्छति, पठन्ति च—'णिग्गाइं'त्ति अत्र देशीपदत्वादधोगच्छति, किमिव ?–उदकमिव, कुतः ?–'स्थलाद्' अत्युन्नतप्रदेशात्, अनेन च पूर्वबद्धस्य कर्म्मणोऽभाव उक्तः, न लिप्यते त्रायीति च वर्द्धमानस्येति न पौनरुक्त्यं, पापग्रहणं चास्यावश्यंतयाऽभावख्यापकं, पुण्यस्य हि संहननादिदोषान्मुक्त्यनवाप्तेर्देवायुत्पत्तौ सम्भवोऽपि स्यात्, अन्यथा हि पुण्यस्यापि स्वर्गनिगडप्रायतया विनिर्गम एव विनिर्मुक्तिरिति सूत्रार्थः ॥ यदुक्तं–'प्राणान्नातिपातयेदि'ति तदेव स्पष्टयितुमाह—

जगनिस्सिएहिं भूएहिं तसनामेहिं थावरेहिं च। नो तेसिमारभे दंडं मणसावयसाकायसा चेव ॥१०॥

व्याख्या—जगत्–लोकस्तस्मिन् निश्रितानि–आश्रितानि जगन्निश्रितानि तेषु 'भूतेषु' जन्तुषु 'तसनामेसु'त्ति त्रसनामकर्म्मोदयवत्सु द्वीन्द्रियादिषु 'स्थावरेषु' तन्नामकर्म्मोदयवर्त्तिषु पृथिव्यादिषु, चः समुच्चये, 'नो' नैव 'तेसिं'ति तेषु रक्षणीयत्वेन प्रतीतेषु 'आरभेत' कुर्यात् दण्डनं दण्डः स चेहातिपातात्मकस्तं, 'मणसावयसाकायसा चेव'

॥२९३॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१०॥

दीप अनुक्रम [२१८]

त्ति आर्षत्वात् मनसा वचसा कायेन, चशब्दः शेषभङ्गोपलक्षकः, ततश्च–यथा मनसा वचसा कायेन च दण्डं नारभते तथा नाऽऽरम्भयेत् न चारभमाणानप्यन्यानानुमन्येत, 'एवः' अवधारणे भिन्नक्रमश्च, अत एव नो इत्यस्यानन्तरं योजितः, पठ्यते च—'जगणिस्सियाण भूयाणं, तसाणं थावराण य। णो तेसिमारभे दंडं'ति गतार्थमेव, अपरे तु 'जगणिस्सिएही'त्यादि तृतीयान्ततयैवाधीयते, तत्र च जगन्निश्रितैर्भूतैस्त्रसैः स्थावरैश्च हन्यमानोऽपीति शेषः, नैव तेष्वारभेत दण्डम्, उज्जयनीश्रावकपुत्रवत्, अत्र च सम्प्रदायः–[1]उज्जेणीए सावगसुतो चोरेहिं हरिउं मालवके सूयगारस्स हत्थे विक्कीतो, लावगे मारयसु, ण मारयामीति हत्थीपादत्तासणसीसारक्खणं करणं चेति। स एवं प्राणत्यागेऽपि सत्त्वानपरोधी, एवमन्यैरपि यतितव्यमिति सूत्रार्थः ॥ उक्ता मूलगुणाः, सम्प्रत्युत्तरगुणा वाच्याः, तेष्वप्येषणासमितिः प्रधानेति तामाह—

सुद्धेसणा उ णच्चा णं तत्थ ठवेज्ज भिक्खू अप्पाणं। जायाए घासमेसिज्जा रसगिद्धे न सिया भिक्खाए ११

व्याख्या—शुद्धाः–शुद्धिमत्यो दोषरहिता इत्यर्थः, ताश्च ता एषणाश्च–उद्गमैषणाद्याः शुद्धैषणाः, एषणाः सप्त संसृष्टाद्याः, तद्यथा–'[2]संसट्ठमसंसट्ठा उद्धड तह अप्पलेवडा चेव। उग्गहिया पग्गहिया उज्झियधम्मा य सत्तमिया॥१॥'त्ति

१ उज्जयिन्यां श्रावकसुतश्चौरैर्हृत्वा मालवके सूपकाराणां हस्ते विक्रीतः, पारापतान् मारय, न मारयामीति हस्तिपादत्रासनं शीर्षारक्षणं करणं च। २ संसृष्टाऽसंसृष्टोद्धृता तथाऽल्पलेपा चैव। अवगृहीता प्रगृहीतोज्झितधर्मा च सप्तमिका ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥११॥

दीप अनुक्रम [२१९]

एतासु च शुद्धैषणाः पञ्च, जिनकल्पिकापेक्षमेतत्, उक्तं हि तदधिकारे–पंचसु गहो दोसु अभिग्गहो'त्ति, एताश्च 'ज्ञात्वा' अवबुध्य, किमित्याह–'ज्ञानस्य फलं विरति'रिति 'तत्रे'त्येषणासु 'स्थापयेत्' निवेशयेत्, भिक्षत इत्येवंधर्म्मा तत्साधुकारी चेति भिक्षुः सन् 'आत्मानं' स्वं, किमुक्तं भवति ?–अनेषणापरिहारेणैषणाशुद्धमेव गृह्णीयात्, तदपि किमर्थमित्याह–'जायाए'त्ति यात्रायै संयमनिर्वहणनिमित्तं 'घासं'ति ग्रासमेषयेद्–गवेषयेत्, उक्तं हि–"जह सगडक्खोवंगो कीरति भरवहणकारणा णवरं। तह गुणभरवहणत्थं आहारो बंभयारीणं॥ १॥"[1]ति, एषणाशुद्धमप्यादाय कथं भोक्तव्यमिति ग्रासैषणामाह–रसेषु–स्निग्धमधुरादिषु गृद्धो–गृद्धिमान् रसगृद्धो 'न स्यात्' न भवेत्, 'भिक्खाए'त्ति भिक्षादो भिक्षाको वा, अनेन रागपरिहार उक्तः, द्वेषपरिहारोपलक्षणं चैतत्, ततश्च रागद्वेषरहितो भुञ्जीतेत्युक्तं भवति, यदुक्तम्–"[2]रागद्दोसविमुत्तो भुंजेज्जा णिज्जरापेही"[3]ति, सूत्रगर्भार्थः॥ अगृद्धश्च रसेषु यत्कुर्यात्तदाह—

पंताणि चेव सेविज्जा सीयपिंडं पुराणकुम्मासं। अदु बुक्कसं पुलागं वा जवणट्ठा निसेवए मंथुं॥ १२॥

व्याख्या—'प्रान्तानि' नीरसानि, अन्नपानानीति गम्यते, चशब्दादन्तानि च, एवोऽवधारणे, स च भिन्नक्रमः

१ पञ्चसु महो द्वयोरभिग्रह इति। २ यथा शकटाक्षोपाङ्गः क्रियते भारवहनकारणात् नवरम्। तथा गुणभरवहनार्थमाहारो ब्रह्मचारिणाम्। ३ रागद्वेषविमुक्तो भुञ्जीत निर्जरापेक्षी।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१२॥

दीप अनुक्रम [२२०]

सेविज्जा इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः, ततश्च प्रान्तान्यन्तानि च सेवेतैव न त्वसाराणीति परिष्ठापयेद्, गच्छनिर्गतापेक्षया वा प्रान्तानि चैव सेवेत, तस्य तथाविधानामेव ग्रहणानुज्ञानात्, कानि पुनस्तानीत्याह—'सीयपिंडं'ति शीतलः पिण्डः—आहारः, शीतश्चासौ पिण्डश्च शीतपिण्डस्तं, शीतोऽपि शाल्यादिपिण्डः सरस एव स्यात् अत आह—'पुराणाः' प्रभूतवर्षधृताः 'कुल्माषाः' राजमाषाः, एते हि पुराणा अत्यन्तपूतयो नीरसाश्च भवन्तीत्येतद्ग्रहणम्, उपलक्षणं चैतत् पुराणमुद्गादीनां, 'अदु' इति अथवा 'बुक्कसं' मुद्गमाषादिनिष्पिकानिष्पन्नमन्नमतिनिपीडितरसं वा 'पुलाकम्' असारं वल्लचनकादि, वा समुच्चये, 'जवणट्ठ'त्ति यापनार्थं—शरीरनिर्वाहणार्थं, वा समुच्चये, उत्तरत्र योक्ष्यते, 'सेवए'त्ति सेवेतोपभुञ्जीत, यापनार्थमित्यनेनैतत् सूचितं—यदि शरीरयापना भवति तदैव निषेवेत, यदि त्वतिवातोद्रेकादिना तद्यापनैव न स्यात्ततो न निषेवेतापि, गच्छगतापेक्षमेतत्, तन्निर्गतश्चैतान्येव यापनार्थमपि निषेवेत, मन्थुं वा—बदरादिचूर्णम्, अतिरूक्षतया चास्य प्रान्तत्वं, सेवेतेति सम्बन्धः, पठ्यते च—' जवणट्ठाए णिसेवए मंथुं'ति, तथैव नवरं मन्थुमित्यत्र चशब्दो लुप्तनिर्दिष्टो द्रष्टव्यः, असारवस्तूपलक्षणं चोभयत्र मन्थुग्रहणं, पुनः क्रियाऽभिधानं च न सकृदेवावाप्तान्यमूनि सेवेत किन्त्वनेकधाऽपीतिख्यापनार्थमिति सूत्रार्थः ॥ यदुक्तं—'शुद्धैषणास्वात्मानं स्थापयेदि'ति, तद्विपर्यये बाधकमाह—

जे लक्खणं च सुविणं च अंगविज्जं च जे पउंजंति। न हु ते समणा वुच्चंति एवं आयरिएहिं अक्खायं ॥१३॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१३॥

दीप अनुक्रम [२२१]

व्याख्या—'ये' इति प्राग्वत्, 'लक्षणं च' शुभाशुभसूचकं पुरुषलक्षणादि, रूढितः तत्प्रतिपादकं शास्त्रमपि लक्षणं, तद्यथा—अस्थिष्वर्थाः सुखं मांसे, त्वचि भोगाः स्त्रियोऽक्षिषु। गतौ यानं स्वरे चाज्ञा, सर्वं सत्त्वे प्रतिष्ठितम् ॥ १ ॥ 'स्वप्नं चे'त्यत्रापि रूढितः स्वप्नस्य शुभाशुभफलसूचकं शास्त्रमेव, तद्यथा—'अलङ्कृतानां द्रव्याणां, वाजिवारणयोस्तथा। वृषभस्य च शुक्लस्य, दर्शने प्राप्नुयाद्यशः ॥ १ ॥ मूत्रं वा कुरुते स्वप्ने, पुरीषं चापि लोहितम्। प्रबुध्येत तदा कश्चिल्लभते सोऽर्थनाशनम् ॥ २ ॥' 'अंगविज्जं च'त्ति अङ्गविद्यां च शिरःप्रभृत्यङ्गस्फुरणतः शुभाशुभसूचिकां 'सिरफुरणे किर रज्जं' इत्यादिकां विद्यां, प्रणवमायाबीजादिवर्णविन्यासात्मिकां वा, यद्वा–अङ्गानि–अङ्गविद्याव्यावर्णितानि भौमान्तरिक्षादीनि विद्या 'हलि! २ मातङ्गिनी स्वाहा' इत्यादयो विद्यानुवादप्रसिद्धाः, ततश्चाङ्गानि च विद्याश्चाङ्गविद्याः, प्राग्वद् वचनव्यत्ययः, 'चः' सर्वत्र वाशब्दार्थः, ये प्रयुञ्जते–व्यापारयन्ति, पुनर्ये इत्युपादानं लक्षणादिभिः पृथक् सम्बन्धसूचनार्थं, ततश्च प्रत्येकमपि लक्षणादीनि ये प्रयुञ्जते, न तु समस्तान्येव, ते किमित्याह—'न हु' नैव 'ते' एवंविधाः 'श्रमणाः' साधवः 'उच्यन्ते' प्रतिपाद्यन्ते, इह च पुष्टालम्बनं विनैतद्व्यापारणत एवमुच्यते, अन्यथा करवीरलताग्रामकतपस्विनोऽप्येवंविधत्वापत्तेः, एवमार्यैः आचार्यैर्या 'आख्यातं' कथितम्, अनेन यथावस्थितवस्तुवादितयाऽऽत्मनि परापवाददोषं व्यपोहत इति सूत्रार्थः ॥ ते चैवंविधा यदवाप्नुवन्ति तदाह—

इह जीवियं अनियमित्ता पब्भट्ठा समाहिजोगेहिं। ते कामभोगरसगिद्धा उववज्जंति आसुरे काए ॥ १४ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१४॥

दीप अनुक्रम [२२२]

व्याख्या—'इह' अस्मिन् जन्मनि 'जीवितं' असंयमजीवितम् 'अनियम्य' द्वादशविधतपोविधानादिनाऽनियम्य 'प्रभ्रष्टाः' च्युताः, केभ्यः ?–'समाहियोगेर्हि'ति समाधिः–चित्तस्वास्थ्यं तत्प्रधाना योगाः–शुभमनोवाक्कायव्यापाराः समाधियोगाः, यद्वा समाधिश्च–शुभचित्तैकाग्रता योगाश्च–पृथगेव प्रत्युपेक्षणादयो व्यापाराः समाधियोगाः तेभ्यः, अनियन्त्रितात्मनां हि पदे पदे तद्भ्रंशसम्भव इति, 'ते' अनन्तरमुक्ताः कामभोगेषु अभिहितस्वरूपेषु रसः–अत्यन्तासक्तिरूपस्तेन गृद्धाः–तेष्वभिकाङ्क्षावन्तः कामभोगरसगृद्धाः, यद्वा रसाः–पृथगेव शृङ्गारादयो वा, भोगान्तर्गतत्वेऽपि चैषां पृथगुपादानमतिगृद्धिविषयताख्यापनार्थम् 'उपपद्यन्ते' जायन्ते 'आसुरे' असुरसम्बन्धिनि काये, असुरनिकाये इत्यर्थः, इदमुक्तं भवति–एवंविधाः किञ्चित् कादाचित्कमनुष्ठानमनुतिष्ठन्तोऽप्यसुरेष्वेवोत्पद्यन्ते इति सूत्रार्थः ॥ ततोऽपि च्युतास्ते किमाप्नुवन्तीत्याह—

तत्तोऽवि य उवट्टित्ता संसारं बहुं परियडंति । बहुकम्मलेवलित्ताणं बोही होइ सुदुल्लहा तेसिं ॥ १५ ॥

व्याख्या–'ततोऽपि च' असुरनिकायाद् 'उद्वृत्य' तत्परित्यागेनान्यत्र गत्वा 'संसारं' चतुर्गतिरूपं बहुशब्दस्य 'बहुपूपे घृतं श्रेय' इत्यादिषु विपुलवाचिनोऽपि दर्शनाद्बहुं–विपुलं विस्तीर्णमितियावत् , बहुप्रकारं वा चतुरशीतियोनिलक्षतया 'अणुपरियंति'त्ति अनुपरियन्ति, सातत्येन पर्यटन्तीत्यर्थः, पठन्ति च–'अणुचरंति'त्ति स्पष्टं, किंच–बहूनि

१ अणुपरियंति इति टीका

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१५॥

दीप अनुक्रम [२२३]

च तान्यनन्ततया कर्म्माणि च–क्रियमाणतया ज्ञानावरणादीनि बहुकर्म्माणि तानि लेप इव लेपो बहुकर्म्मणां वा लेप–उपचयो बहुकर्म्मलेपस्तेन लिप्ता–उपचिता बहुकर्म्मलेपलिप्तास्तेषा 'बोधिः' प्रेत्य जिनधर्म्मावाप्तिः 'भवति' जायते 'सुदुर्लभा' अतिशयदुरापा, 'तेषाम्' इति ये लक्षणादि प्रयुञ्जते, पठन्ति च–'बोही जत्थ सुदुल्लहा तेसिं'ति बोधिर्यत्र–संसारे सुदुर्लभा तेषाम्–अनुपरियतामिति योजनीयं, यतश्चैवमुत्तरगुणविराधनायां दोषस्ततस्तदाराधनायामेव यतितव्यमितिभावः इति सूत्रार्थः ॥ आह–किममी द्रव्यश्रमणा जानन्तोऽप्येवं लक्षणादि प्रयुञ्जते ?, उच्यते, लोभतः, अत एव तदाकुलितस्यात्मनो दुष्पूरतामाह–

कसिणंपि जो इमं लोयं पडिपुन्नं दलेज्ज एगस्स । तेणावि से ण संतुस्से इइ दुप्पूरए इमे आया ॥ १६ ॥

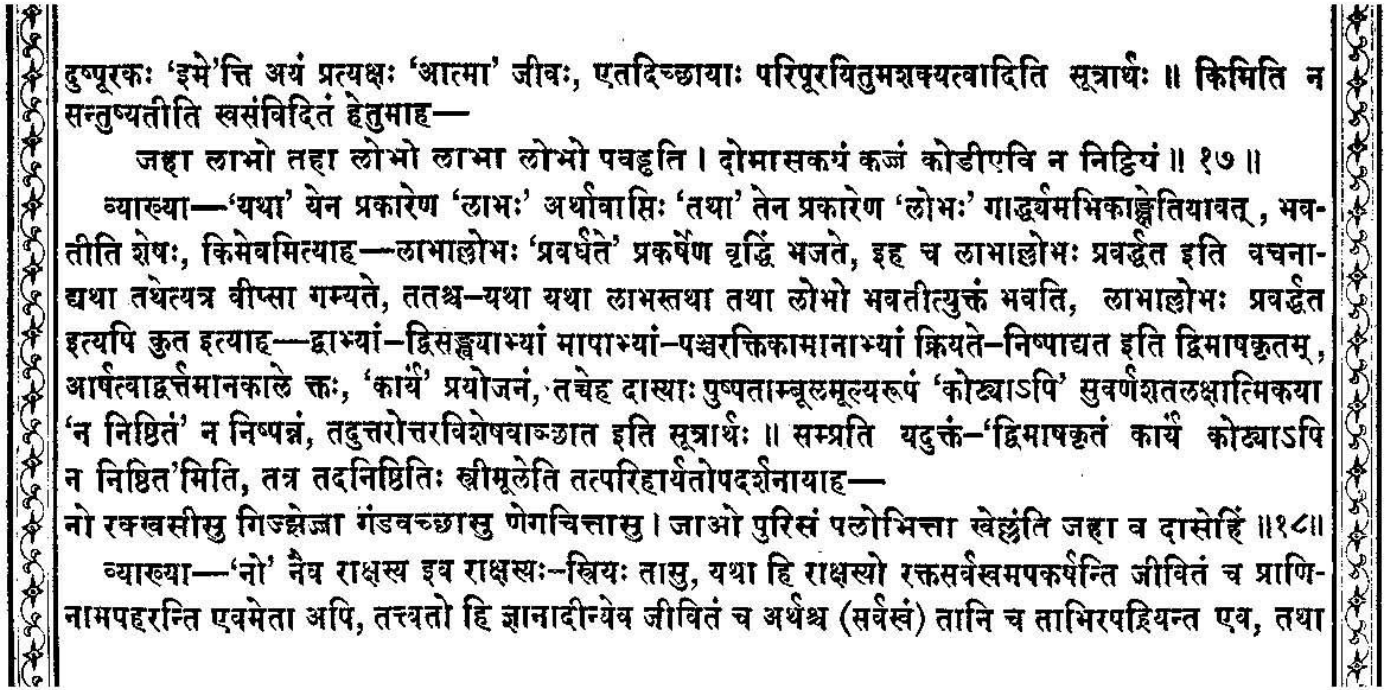
व्याख्या–'कृत्स्नमपि' परिपूर्णमपि 'यः' सुरेन्द्रादिः 'इमं' प्रत्यक्षं 'लोकं' जगत् 'परिपूर्णं' धनधान्यहिरण्यादिभृतं 'दलेज्ज'त्ति दद्यात्, किं बहुभ्यः ? इत्याह–'एकस्स'त्ति एकस्मै कस्मैचित् कथञ्चिदाराधितवते, 'तेनापि' धनधान्यादिभृतसमस्तलोकदायकेन, हेतौ तृतीया, 'से' इति स 'न सन्तुष्येत्' न हृष्येत्, किमुक्तं भवति ?–ममैतावद्दत्ताऽनेन परिपूर्णता कृतेति न तुष्टिमामुयात्, उक्तं हि—"न वह्निस्तृणकाष्ठेषु, नदीभिर्वा महोदधिः । न चैवात्माऽर्थसारेण, शक्यस्तर्पयितुं क्वचित् ॥ १ ॥ यदि स्याद्रत्नपूर्णोऽपि, जम्बूद्वीपः कथञ्चन । अपर्याप्तः प्रहर्षाय, लोभार्त्तस्य जिनैः स्मृतः ॥ २ ॥" 'इतिः' एवमर्थे, एवम्–अमुनोक्तन्यायेन दुःखेन–कृच्छ्रेण–पूरयितुं शक्यः दुष्पूरः दुष्पूर एव

॥२९६॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१७॥

दीप अनुक्रम [२२५]



दुष्पूरकः 'इमे'त्ति अयं प्रत्यक्षः 'आत्मा' जीवः, एतदिच्छायाः परिपूरयितुमशक्यत्वादिति सूत्रार्थः ॥ किमिति न सन्तुष्यतीति स्वसंविदितं हेतुमाह—

जहा लाभो तहा लोभो लाभा लोभो पवड्ढति । दोमासकयं कज्जं कोडीएवि न निट्ठियं ॥ १७ ॥

व्याख्या—'यथा' येन प्रकारेण 'लाभः' अर्थावाप्तिः 'तथा' तेन प्रकारेण 'लोभः' गार्द्धर्यमभिकाङ्क्षेतियावत्, भवतीति शेषः, किमेवमित्याह—लाभाल्लोभः 'प्रवर्धते' प्रकर्षेण वृद्धिं भजते, इह च लाभाल्लोभः प्रवर्द्धत इति वचनाद्यथा तथेत्यत्र वीप्सा गम्यते, ततश्च—यथा यथा लाभस्तथा तथा लोभो भवतीत्युक्तं भवति, लाभाल्लोभः प्रवर्द्धत इत्यपि कुत इत्याह—द्वाभ्यां—द्विसङ्ख्याभ्यां मापाभ्यां—पञ्चरक्तिकामानाभ्यां क्रियते—निष्पाद्यत इति द्विमाषकृतम्, आर्षत्वाद्वर्त्तमानकाले क्तः, 'कार्यं' प्रयोजनं, तच्चेह दास्याः पुष्पताम्बूलमूल्यरूपं 'कोट्याऽपि' सुवर्णशतलक्षात्मिकया 'न निष्ठितं' न निष्पन्नं, तदुत्तरोत्तरविशेषवाञ्छात इति सूत्रार्थः ॥ सम्प्रति यदुक्तं—'द्विमाषकृतं कार्यं कोट्याऽपि न निष्ठित'मिति, तत्र तदनिष्ठितिः स्त्रीमूलेति तत्परिहार्यतोपदर्शनायाह—

नो रक्खसीसु गिज्झेज्जा गंडवच्छासु णेगचित्तासु । जाओ पुरिसं पलोभित्ता खेल्लंति जहा व दासेहिं ॥१८॥

व्याख्या—'नो' नैव राक्षस्य इव राक्षस्यः—स्त्रियः तासु, यथा हि राक्षस्यो रक्तसर्वस्वमपकर्षन्ति जीवितं च प्राणिनामपहरन्ति एवमेता अपि, तत्त्वतो हि ज्ञानादीन्येव जीवितं च अर्थश्च (सर्वस्वं) तानि च ताभिरपहियन्त एव, तथा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१८॥

दीप अनुक्रम [२२६]

च हारिलः–"वातोद्धूतो दहति हुतभुग्देहमेकं नराणां, मत्तो नागः कुपितभुजगश्चैकदेहं तथैव । ज्ञानं शीलं विनयविभवौदार्यविज्ञानदेहान्, सर्वानर्थान् दहति वनिताऽऽमुष्मिकानैहिकांश्च ॥ १ ॥" 'गिज्झेज्ज'त्ति गृद्धयेद्–अभिकाङ्क्षावान् भवेत्, कीदृशीषु ?–'गंडवच्छासु'त्ति गण्डं–गडु, इह चोपचितपिशितपिण्डरूपतया गलत्पूतिरुधिरार्द्रतासम्भवाच्च तदुपमत्वाद्गण्डे कुचावुक्तौ ते वक्षसि यासां तास्तथाभूतास्तासु, वैराग्योत्पादनार्थं चेत्थमुक्तं, तथाऽनेकानि–अनेकसङ्ख्यानि चञ्चलतया चित्तानि–मनांसि यासां ता अनेकचित्तास्तासु, आह च—"अन्यस्याङ्के ललति विशदं चान्यमालिङ्ग्य शेते, अन्यं वाचा चपयति हसत्यन्यमन्यं च रौति । अन्यं द्वेष्टि स्पृशति कशति प्रोर्णुते वाऽन्यमिष्टं, नार्यो नृत्यत्तडित इव धिक् चञ्चलाश्चालिकाश्च ॥ १ ॥" तथा 'जाओ'त्ति याः 'पुरुषं' मनुष्यं, कुलीनमपीति गम्यते, 'प्रलोभ्य' त्वमेव मे शरणं त्वमेव च प्रीतिकृदित्यादिकाभिर्वाग्भिर्विप्रतार्य क्रीडन्ति, 'जहा व'त्ति वाशब्दस्यैवकारार्थत्वाद् यथैव दासैः, एह्यागच्छ मा यासीरित्यादिवितथोक्तिप्रभृतिभिः क्रीडाभिर्विलसन्तीति सूत्रार्थः ॥ पुनस्तासामेवातिहेयतां दर्शयन्नाह—

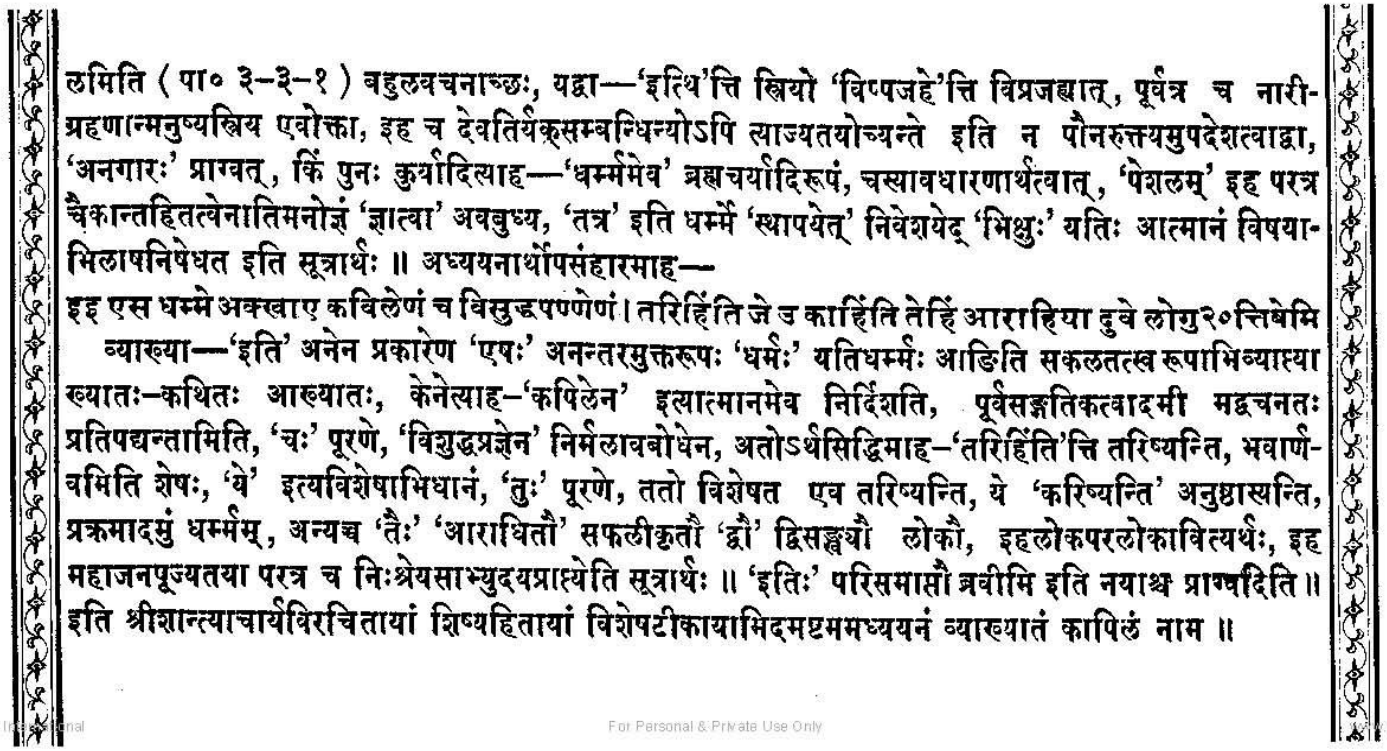
नारीसु नो पगिज्झिज्जा इत्थीविप्पजहे अणगारे । धम्मं च पेसलं णच्चा तत्थ ठवेज्ज भिक्खु अप्पाणं ॥१९॥

व्याख्या—'नारीषु' स्त्रीषु 'नो' नैव 'प्रगृध्येत्' प्रशब्द आदिकर्म्मणि ततो गृद्धिमारभेतापि न, किं पुनः कुर्यादिति भावः, 'इत्थी विप्पजहे'त्ति स्त्रियो विविधैः प्रकारैः प्रकर्षेण च जहाति–त्यजतीति स्त्रीविप्रजहः, उणादयो बहु-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२०॥

दीप अनुक्रम [२२८]



लमिति (पा० ३-३-१) बहुलवचनाच्छः, यद्वा—'इत्थि'त्ति स्त्रियो 'विप्पजहे'त्ति विप्रजह्यात्, पूर्वत्र च नारी-ग्रहणान्मनुष्यस्त्रिय एवोक्ता, इह च देवतिर्यक्सम्बन्धिन्योऽपि त्याज्यतयोच्यन्ते इति न पौनरुक्त्यमुपदेशत्वाद्वा, 'अनगारः' प्राग्वत्, किं पुनः कुर्यादित्याह—'धर्म्ममेव' ब्रह्मचर्यादिरूपं, चस्यावधारणार्थत्वात्, 'पेशलम्' इह परत्र चैकान्तहितत्वेनातिमनोज्ञं 'ज्ञात्वा' अवबुध्य, 'तत्र' इति धर्म्मे 'स्थापयेत्' निवेशयेद् 'भिक्षुः' यतिः आत्मानं विषया-भिलाषनिषेधत इति सूत्रार्थः ॥ अध्ययनार्थोपसंहारमाह—

इइ एस धम्मे अक्खाए कविलेणं च विसुद्धपण्णेणं। तरिहिंति जे उ काहिंति तेहिं आराहिया दुवे लोगु२०त्तिबेमि

व्याख्या—'इति' अनेन प्रकारेण 'एषः' अनन्तरमुक्तरूपः 'धर्मः' यतिधर्मः आङिति सकलतत्त्व रूपाभिव्याप्त्या ख्यातः–कथितः आख्यातः, केनेत्याह–'कपिलेन' इत्यात्मानमेव निर्दिशति, पूर्वसङ्गतिकत्वादमी मद्वचनतः प्रतिपद्यन्तामिति, 'चः' पूरणे, 'विशुद्धप्रज्ञेन' निर्मलावबोधेन, अतोऽर्थसिद्धिमाह–'तरिहिंति'त्ति तरिष्यन्ति, भवार्ण-वमिति शेषः, 'ये' इत्यविशेषाभिधानं, 'तुः' पूरणे, ततो विशेषत एव तरिष्यन्ति, ये 'करिष्यन्ति' अनुष्ठास्यन्ति, प्रक्रमादमुं धर्म्मम्, अन्यच्च 'तैः' 'आराधितौ' सफलीकृतौ 'द्वौ' द्विसङ्ख्यौ लोकौ, इहलोकपरलोकावित्यर्थः, इह महाजनपूज्यतया परत्र च निःश्रेयसाभ्युदयप्राप्त्येति सूत्रार्थः ॥ 'इतिः' परिसमाप्तौ ब्रवीमि इति नयाश्च प्राग्वदिति ॥

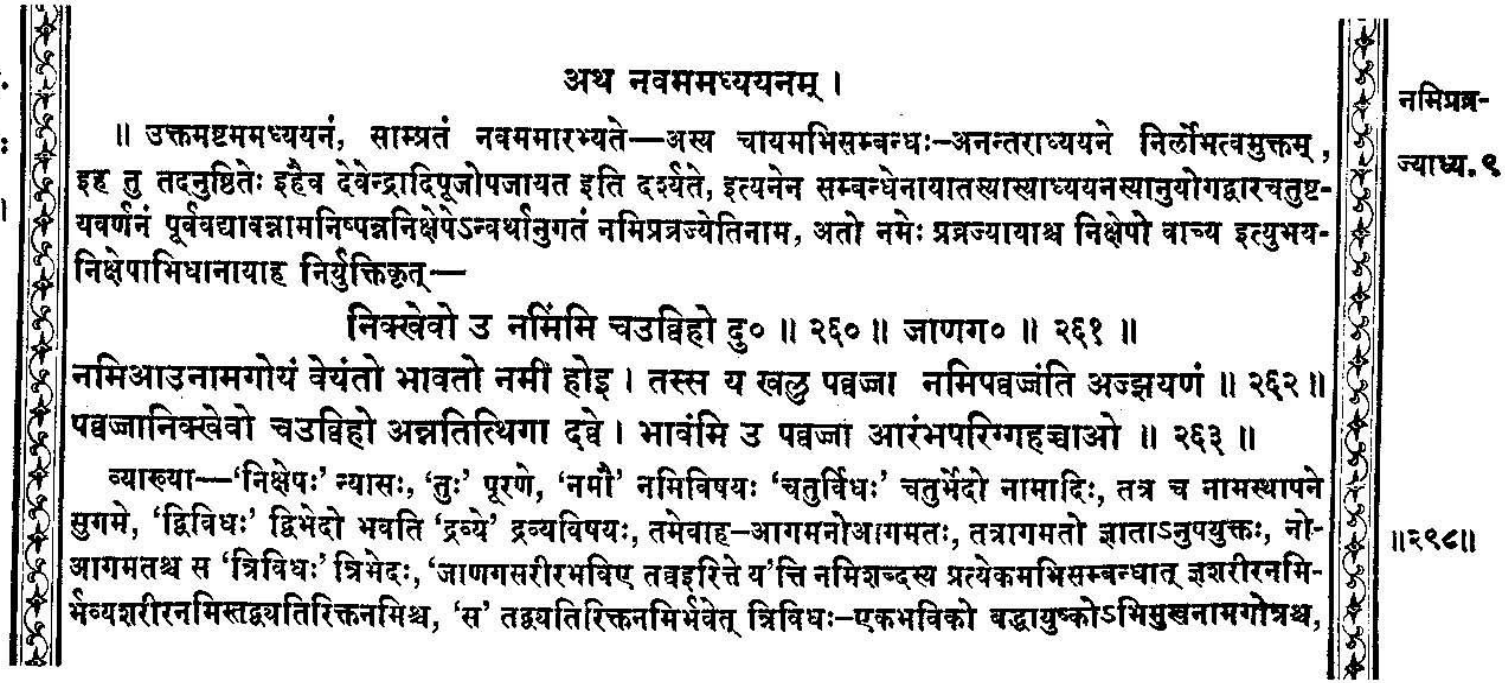
इति श्रीशान्त्याचार्यविरचितायां शिष्यहितायां विशेषटीकायामिदमष्टममध्ययनं व्याख्यातं कापिलं नाम ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्र अध्ययनं- ८ परिसमाप्तं

प्रत सूत्रांक ॥२०॥

दीप अनुक्रम [२२८]



उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥२९८॥

अथ नवममध्ययनम् ।

॥ उक्तमष्टममध्ययनं, साम्प्रतं नवममारभ्यते—अस्य चायमभिसम्बन्धः–अनन्तराध्ययने निर्लोभत्वमुक्तम्, इह तु तदनुष्ठितेः इहैव देवेन्द्रादिपूजोपजायत इति दर्श्यते, इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्याध्ययनस्यानुयोगद्वारचतुष्टयवर्णनं पूर्ववद्यावन्नामनिष्पन्ननिक्षेपेऽन्वर्थानुगतं नमिप्रव्रज्येतिनाम, अतो नमेः प्रव्रज्यायाश्च निक्षेपो वाच्य इत्युभयनिक्षेपाभिधानायाह निर्युक्तिकृत्—

निक्खेवो उ नमिंमि चउव्विहो दु० ॥ २६० ॥ जाणग० ॥ २६१ ॥

नमिआउनामगोयं वेयंतो भावतो नमी होइ । तस्स य खलु पव्वज्जा नमिपव्वज्जंति अज्झयणं ॥ २६२ ॥

पव्वज्जानिक्खेवो चउव्विहो अन्नतित्थिगा दव्वे । भावंमि उ पव्वज्जा आरंभपरिग्गहच्चाओ ॥ २६३ ॥

व्याख्या—'निक्षेपः' न्यासः, 'तुः' पूरणे, 'नमौ' नमिविषयः 'चतुर्विधः' चतुर्भेदो नामादिः, तत्र च नामस्थापने सुगमे, 'द्विविधः' द्विभेदो भवति 'द्रव्ये' द्रव्यविषयः, तमेवाह–आगमनोआगमतः, तत्रागमतो ज्ञाताऽनुपयुक्तः, नोआगमतश्च स 'त्रिविधः' त्रिभेदः, 'जाणगसरीरभविए तव्वइरित्ते य'त्ति नमिशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धात् ज्ञशरीरनमिर्भव्यशरीरनमिस्तद्व्यतिरिक्तनमिश्च, 'स' तद्व्यतिरिक्तनमिर्भवेत् त्रिविधः–एकभविको बद्धायुष्कोऽभिमुखनामगोत्रश्च,

नमिप्रव्रज्याध्य. ९

॥२९८॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ अध्ययनं – ९ "नमिप्रव्रज्या" आरभ्यते

प्रत सूत्रांक ||२०||

दीप अनुक्रम [२२८]

एतत्स्वरूपं च प्राग्वत् , तथा नम्यायुर्नामगोत्रं वेदयन् भावतो नमिर्भवति, 'तस्य' नमेः 'खलु' इति वाक्यालङ्कारे, 'प्रव्रज्या' वक्ष्यमाणस्वरूपा, इहाभिधीयत इत्युपस्कारः, अतश्च 'नमिप्रव्रज्ये'ति नमिप्रव्रज्याख्यमिदमध्ययनमेव प्रस्तुतमुच्यत इति शेषः, प्रव्रज्यानिक्षेपश्चतुर्विधो नामादिः, नामस्थापने प्राग्वत् , अन्यानि च तान्यनर्हत्प्रणीततीर्थादन्यत्वेन तीर्थानि च–निजनिजाभिप्रायेण भवजलधेः तरणं प्रति करणतया विकल्पितत्वेनान्यतीर्थानि तेषु भवा अन्यतीर्थिकाः, अध्यात्मादेराकृतिगणत्वाट्ठक् , ते च शाक्यसरजस्कादयः, 'द्रव्ये' विचार्ये, प्रव्रज्येति सम्बन्धः, प्रव्रज्यायोगाच्च त एव प्रव्रज्येत्युच्यते, यथा दण्डयोगात् पुरुषोऽपि दण्ड इति, इह चान्यतीर्थिकशब्देन विवक्षितभावविकलतैव सूचिता, ततोऽन्यतीर्थ्याः स्वतीर्थ्या वा प्रव्रज्यापर्यायशून्या द्रव्यप्रव्रज्येति भण्यन्ते, अत एवाह—भावे तु विचार्यमाणे प्रव्रज्या आरम्भश्च–पृथिव्याद्युपमर्दः परिग्रहश्च–मूर्च्छा आरम्भपरिग्रहौ तयोस्त्यागः–परिहारः आरम्भपरिग्रहत्यागः, न तु बहिर्वेषधारणाद्येवेति गाथाचतुष्टयार्थः ॥ इह च यद्यपि नमिप्रव्रज्यैव प्रक्रान्ता, तथापि यथाऽयं प्रत्येकबुद्धस्तथाऽन्येऽपि करकण्ड्वादयस्तत्समकालसुरलोकच्यवनप्रव्रज्याग्रहणकेवलज्ञानोत्पत्तिसिद्धिगतिभाजः इति प्रसङ्गतो विनेयवैराग्योत्पादनार्थं तद्वक्तव्यतामपि विवक्षुरिदमाह निर्युक्तिकृत्—

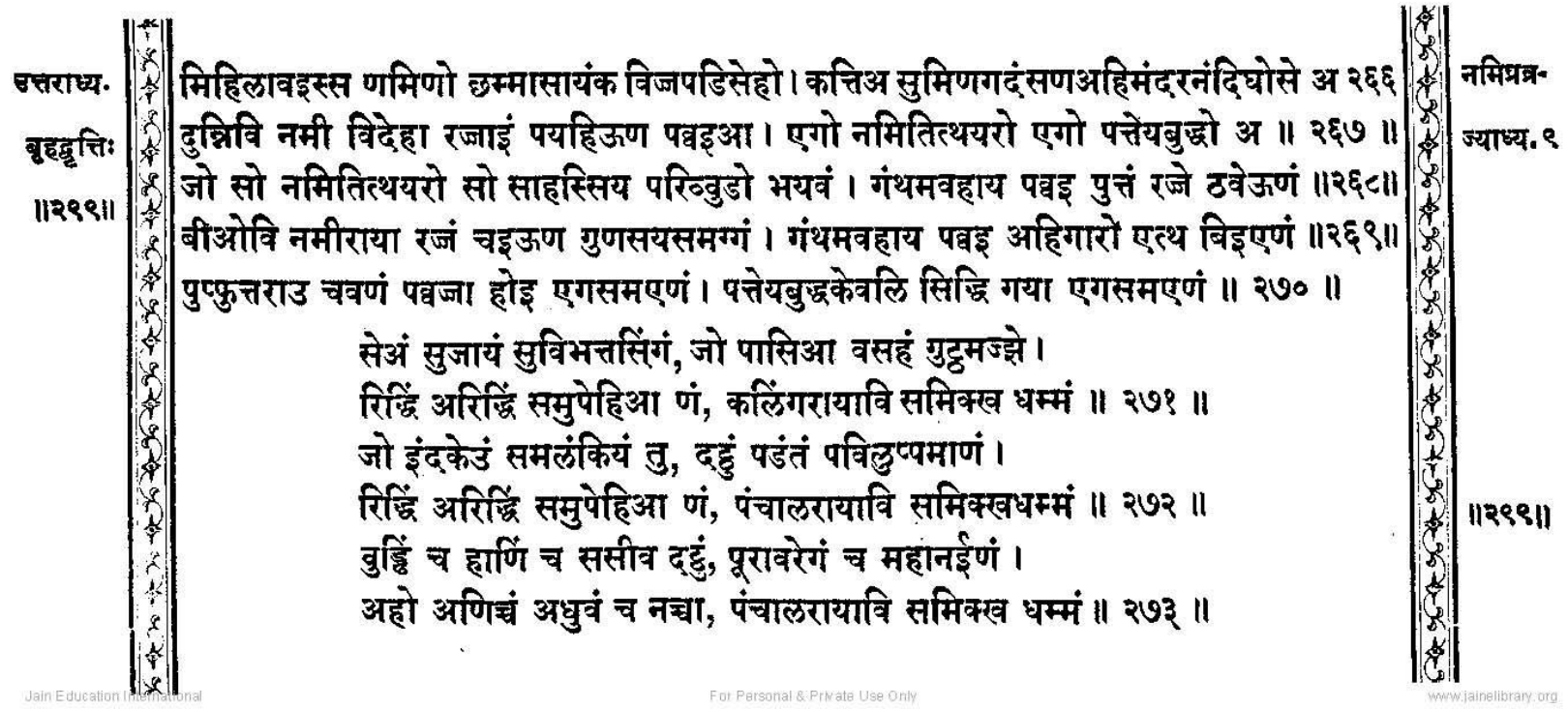
करकंडू कलिंगेसु, पंचालेसु य दुम्मुहो । नमीराया विदेहेसु, गंधारेसु य नग्गई ॥ २६४ ॥
वसभे अ इंदकेऊ वलए अंबे अ पुप्फिए बोही । करकंडु दुम्मुहस्सा नमिस्स गंधाररण्णो अ ॥२६५॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारक श्री संशोधित : मुनि दीपरत्न सागरेण

प्रत सूत्रांक ॥२०॥

दीप अनुक्रम [२२८]



उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥२९९॥

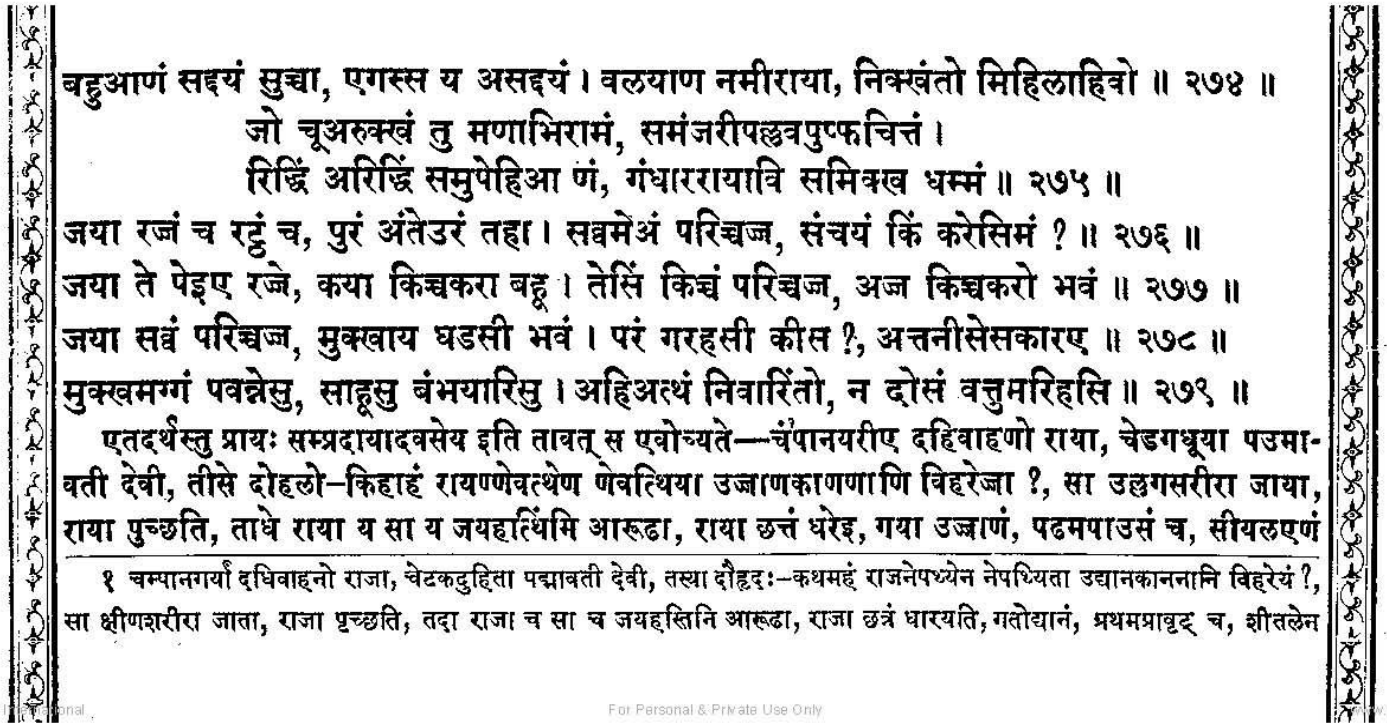
मिहिलावइस्स णमिणो छम्मासायंक विज्जपडिसेहो। कत्तिअ सुमिणगदंसणअहिमंदरनंदिघोसे अ २६६
दुन्निवि नमी विदेहा रज्जाइं पयहिऊण पव्वइआ। एगो नमितित्थयरो एगो पत्तेयबुद्धो अ ॥ २६७ ॥
जो सो नमितित्थयरो सो साहस्सिय परिव्वुडो भयवं। गंथमवहाय पव्वइ पुत्तं रज्जे ठवेऊणं ॥२६८॥
बीओवि नमीराया रज्जं चइऊण गुणसयसमग्गं। गंथमवहाय पव्वइ अहिगारो एत्थ विइएणं ॥२६९॥
पुप्फुत्तराउ चवणं पव्वजा होइ एगसमएणं। पत्तेयबुद्धकेवलि सिद्धि गया एगसमएणं ॥ २७० ॥
सेअं सुजायं सुविभत्तसिंगं, जो पासिआ वसहं गुट्ठमज्झे।
रिद्धिं अरिद्धिं समुपेहिआ णं, कलिंगरायावि समिक्ख धम्मं ॥ २७१ ॥
जो इंदकेउं समलंकियं तु, दट्ठुं पडंतं पविलुप्पमाणं।
रिद्धिं अरिद्धिं समुपेहिआ णं, पंचालरायावि समिक्खधम्मं ॥ २७२ ॥
वुड्ढिं च हाणिं च ससीव दट्ठुं, पूरावरेगं च महानईणं।
अहो अणिच्चं अधुवं च नच्चा, पंचालरायावि समिक्ख धम्मं ॥ २७३ ॥

नमिप्रव्रज्याध्य. ९ ॥२९९॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२०॥

दीप अनुक्रम [२२८]



बहुआणं सद्दयं सुच्चा, एगस्स य असद्दयं । वलयाण नमीराया, निक्खंतो मिहिलाहिवो ॥ २७४ ॥
जो चूअरुक्खं तु मणाभिरामं, समंजरीपल्लवपुप्फचित्तं ।
रिद्धिं अरिद्धिं समुपेहिआ णं, गंधाररायावि समिक्ख धम्मं ॥ २७५ ॥
जया रज्जं च रट्ठं च, पुरं अंतेउरं तहा । सव्वमेअं परिच्चज्ज, संचयं किं करेसिमं ? ॥ २७६ ॥
जया ते पेइए रज्जे, कया किच्चकरा बहू । तेसिं किच्चं परिच्चज्ज, अज्ज किच्चकरो भवं ॥ २७७ ॥
जया सव्वं परिच्चज्ज, मुक्खाय घडसी भवं । परं गरहसी कीस ?, अत्तनीसेसकारए ॥ २७८ ॥
मुक्खमग्गं पवन्नेसु, साहूसु बंभयारिसु । अहिअत्थं निवारिंतो, न दोसं वत्तुमरिहसि ॥ २७९ ॥

एतदर्थस्तु प्रायः सम्प्रदायादवसेय इति तावत् स एवोच्यते—चंपानयरीए दहिवाहणो राया, चेडगधूया पउमावती देवी, तीसे दोहलो–किहाहं रायण्णेवत्थेण णेवत्थिया उज्जाणकाणणाणि विहरेज्जा ?, सा उल्लगसरीरा जाया, राया पुच्छति, ताधे राया य सा य जयहत्थिमि आरूढा, राया छत्तं धरेइ, गया उज्जाणं, पढमपाउसं च, सीयलएणं

१ चम्पानगर्यां दधिवाहनो राजा, चेटकदुहिता पद्मावती देवी, तस्या दौहृदः–कथमहं राजनेपथ्येन नेपथ्यिता उद्यानकाननानि विहरेयं ?, सा क्षीणशरीरा जाता, राजा पृच्छति, तदा राजा च सा च जयहस्तिनि आरूढा, राजा छत्रं धारयति, गतोद्यानं, प्रथमप्रावृट् च, शीतलेन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२०॥

दीप अनुक्रम [२२८]

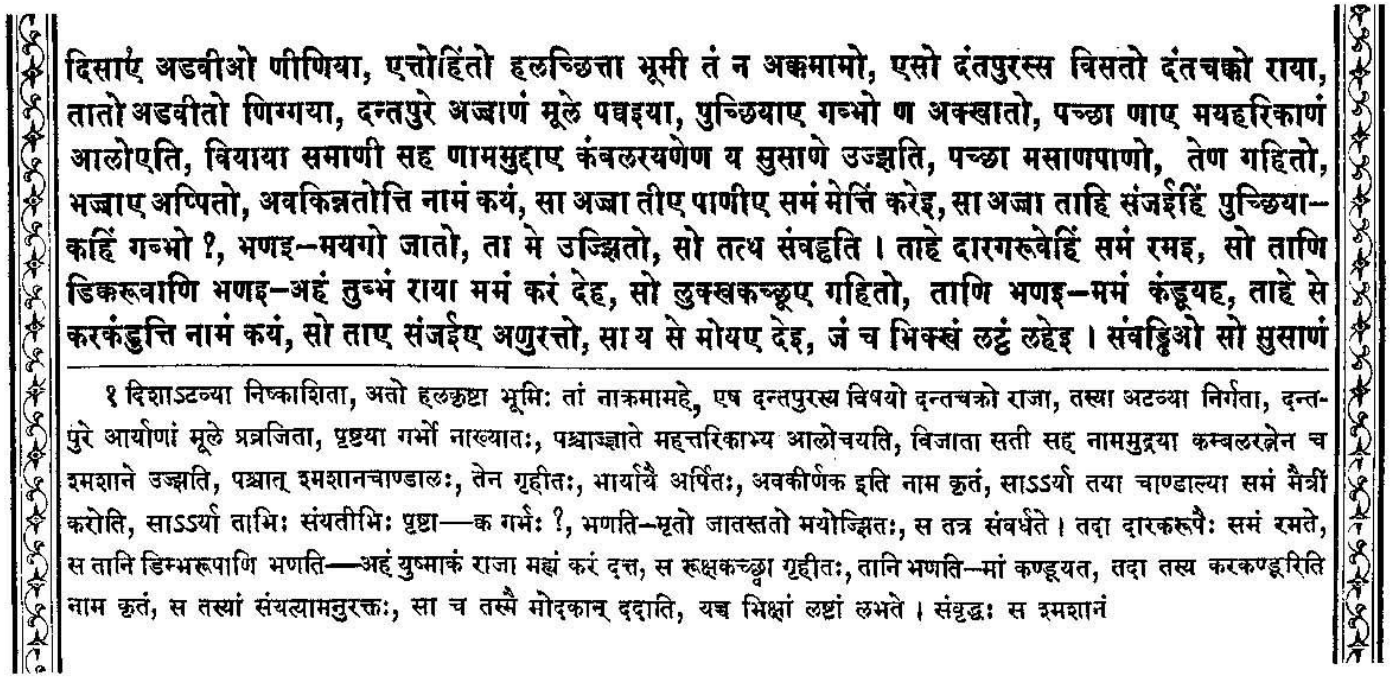
मृत्तियागंधेणं हत्थी अब्भाहतो वणं संभरति, नियट्टो वणाभिमुहो पयातो, जणो ण तरति ओलगिउं, दोवि अडविं पवेसियाइं, राया वडरुक्खं पेच्छइ, देविं भणइ–एयस्स वडस्स हेट्ठेण जाहित्तिति ता तुमं साखं गेण्हेज्जासि, ताए पडिसुयं, ण तरति, राया दक्खो तेण साहा गहिया, सो उत्तिण्णो, णिराणंदो गतो चंपं। साविय इत्थिया णीया णिम्माणुसं अडविं, जाव तिसायितो पेच्छति दहं महतिमहालयं, तत्थ ओइन्नो अभिरमति हत्थी, इमावि सणियं २ उइण्णा तलागातो, न दिसातो जाणइ एक्काए दिसाए सागारं भत्तं पच्चक्खाइत्ता पहाविया, जाव दूरं गया ताव तावसो दिट्ठो, तस्स मूलं गया, अभिवातितो, पुच्छति–कतोऽसि अम्मो इहं आगया ?, ताहे कहेइ–अहं चेडगस्स धूया, जाव इहं हत्थिणा आणीया, सो य तावसो चेडगनियल्लतो, तेण आसासिया–मा बीहेहित्ति, ताहे से वणफलाणि दाऊणं एक्काए

१ मृत्तिकागन्धेन हस्त्यभ्याहतो वनं स्मरति, निवृत्तो वनाभिमुखः प्रयातः, जनो न शक्नोत्यवलगितुं, द्वावप्यटवीं प्रवेशितौ, राजा वटवृक्षं प्रेक्षते, देवीं भणति—एतस्य वटस्याधस्तनेन यास्यतीति तत्त्वं शाखां गृह्णीयाः, तया प्रतिश्रुतं, न शक्नोति, राजा दक्षस्तेन शाखा गृहीता, स उत्तीर्णो, निरानन्दो गतश्चम्पाम्। साऽपि च स्त्री निर्मानुषां नीता अटवीं, यावत्तृषितः प्रेक्षते ह्रदं महातिमहालयं, तत्रावतीर्णोऽभिरमते हस्ती, इयमपि शनैः अवतीर्णा तडागात्, न दिशो जानाति एकया दिशा साकारं भक्तं प्रत्याख्याय प्रधाविता, यावद्दूरं गता तावत्तापसो दृष्टः, तस्य मूलं गता, अभिवादितः, पृच्छति—कुतोऽसि अम्ब ! इहागता ?, तदा कथयति—अहं चेटकस्य दुहिता, यावदत्र हस्तिनाऽऽनीता, स च तापसश्चेटकस्य निजकः, तेनाश्वासिता—मा भैषीरिति, तदा तस्यै वनफलानि दत्त्वैकया

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२०॥

दीप अनुक्रम [२२८]



दिसाए अडवीओ णीणिया, एत्तोहिंतो हलच्छित्ता भूमी तं न अक्कमामो, एसो दंतपुरस्स विसतो दंतचक्को राया, तातो अडवीतो णिग्गया, दन्तपुरे अज्जाणं मूले पव्वइया, पुच्छियाए गब्भो ण अक्खातो, पच्छा णाए मयहरिकाणं आलोएति, विजाया समाणी सह णाममुद्दाए कंबलरयणेण य सुसाणे उज्झति, पच्छा मसाणपाणो, तेण गहितो, भज्जाए अप्पितो, अवकिन्नतोत्ति नामं कयं, सा अज्जा तीए पाणीए समं मेत्तिं करेइ, सा अज्जा ताहि संजईहिं पुच्छिया–कहिं गब्भो ?, भणइ–मयगो जातो, ता मे उज्झितो, सो तत्थ संवड्ढति । ताहे दारगरूवेहिं समं रमइ, सो ताणि डिकरूवाणि भणइ–अहं तुब्भं राया ममं करं देह, सो लुक्खकच्छूए गहितो, ताणि भणइ–ममं कंडूयह, ताहे से करकंडुत्ति नामं कयं, सो ताए संजईए अणुरत्तो, सा य से मोयए देइ, जं च भिक्खं लट्ठं लहेइ । संवड्ढिओ सो सुसाणं

१ दिशाऽटव्या निष्काशिता, अतो हलकृष्टा भूमिः तां नाक्रमामहे, एष दन्तपुरस्य विषयो दन्तचक्रो राजा, तस्या अटव्या निर्गता, दन्तपुरे आर्याणां मूले प्रव्रजिता, पृष्टया गर्भो नाख्यातः, पश्चाज्ज्ञाते महत्तरिकाभ्य आलोचयति, विजाता सती सह नाममुद्रया कम्बलरत्नेन च श्मशाने उज्झति, पश्चात् श्मशानचाण्डालः, तेन गृहीतः, भार्यायै अर्पितः, अवकीर्णक इति नाम कृतं, साऽऽर्या तया चाण्डाल्या समं मैत्रीं करोति, साऽऽर्या ताभिः संयतीभिः पृष्टा—क गर्भः ?, भणति–मृतो जातस्ततो मयोज्झितः, स तत्र संवर्धते । तदा दारकरूपैः समं रमते, स तानि डिम्भरूपाणि भणति—अहं युष्माकं राजा मह्यं करं दत्त, स रूक्षकच्छ्वा गृहीतः, तानि भणति–मां कण्डूयत, तदा तस्य करकण्डूरिति नाम कृतं, स तस्यां संयत्यामनुरक्तः, सा च तस्मै मोदकान् ददाति, यच्च भिक्षां लष्टां लभते । संवृद्धः स श्मशानं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२०॥

दीप अनुक्रम [२२८]

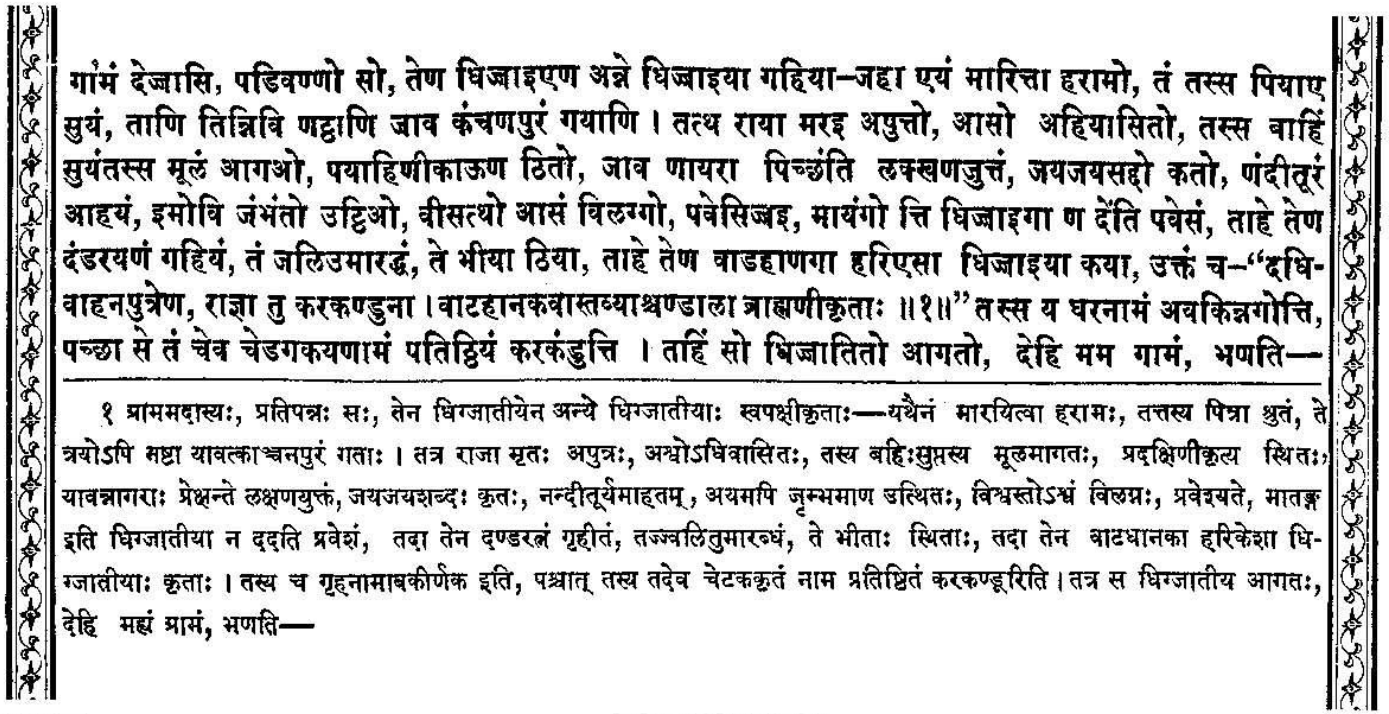
उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥३०१॥

रक्खंति, तत्थ दो संजया तं मसाणं केणति कारणेन अतिगता, जाव एगत्थ वंसकुडंगे दंडगं पेच्छंति, तत्थ एगो दंडलक्खणं जाणति, सो भणति–जो एयं दंडगं गिण्हति सो राया होतित्ति, किंतु पडिच्छियव्वोत्ति जाव अन्नाणि चत्तारि अंगुलाणि वड्ढति ताहे जोग्गोत्ति। तं तेणं मायंगचेडएणं सुयं, एक्केण धिज्जाइएण य, ताधे सो धिज्जाइयिगो अप्पसागारियं तस्स चउरंगुलं खणिऊण छिंदेइ, तेण य चेडएण दिट्ठो, सो उद्दालिओ, सो तेण धिज्जाइएण करणं णीतो भणइ–देहि दंडगं, सो भणइ—मम मसाणे, ण देमि, धिज्जाइओ भणिओ—अन्नं गिण्ह, सो णिच्छइ, भणति य–एएण मम कज्जंति, सो दारगो न देइ, ताहे सो दारगो पुच्छिओ–किं न देहि ?, भणई य–अहं एयस्स दंडगस्स पहावेण राया होहामित्ति, ताहे कारणिया हसिऊणं भणंति–जया तुमं राया होज्जासि तया एयस्स तुमं

१ रक्षन्ति, तत्र द्वौ संयतौ तं श्मशानं केनचित्कारणेनातिगतौ, यावदेकत्र वंशजाल्यां दण्डं प्रेक्षाते, तत्रैको दण्डलक्षणं जानाति, स भणति–य एनं दण्डं गृह्णीयात् स राजा भवतीति, किं तु प्रतीक्षितव्य इति यावदन्यांश्चतुरोऽङ्गुलान् वर्धते, तदा योग्य इति। तत्तेन मातङ्गचेटेन श्रुतम्, एकेन धिग्जातीयेन च, तदा स धिग्जातीयोऽल्पसागारिके तस्य चतुरोऽङ्गुलान् खात्वा छिनत्ति, तेन च चेटेन दृष्टः, सोऽपहृतः, स धिग्जातीयेन तेन करणं नीतो भणति–देहि दण्डं, स भणति–मम श्मशाने, न ददामि, धिग्जातीयो भणितः—अन्यं गृहाण, स नेच्छति, भणति च—एतेन मम कार्यमिति, स दारको न ददाति, तदा स दारकः पृष्टः–किं न ददासि ?, भणति च—अहमेतस्य दण्डस्य प्रभावेण राजा भविष्यामीति, तदा कारणिका हसित्वा भणन्ति—यदा त्वं राजाऽभविष्यस्तदैतस्मै त्वं

नमिप्रव्रज्याध्य. ९ ॥३०१॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



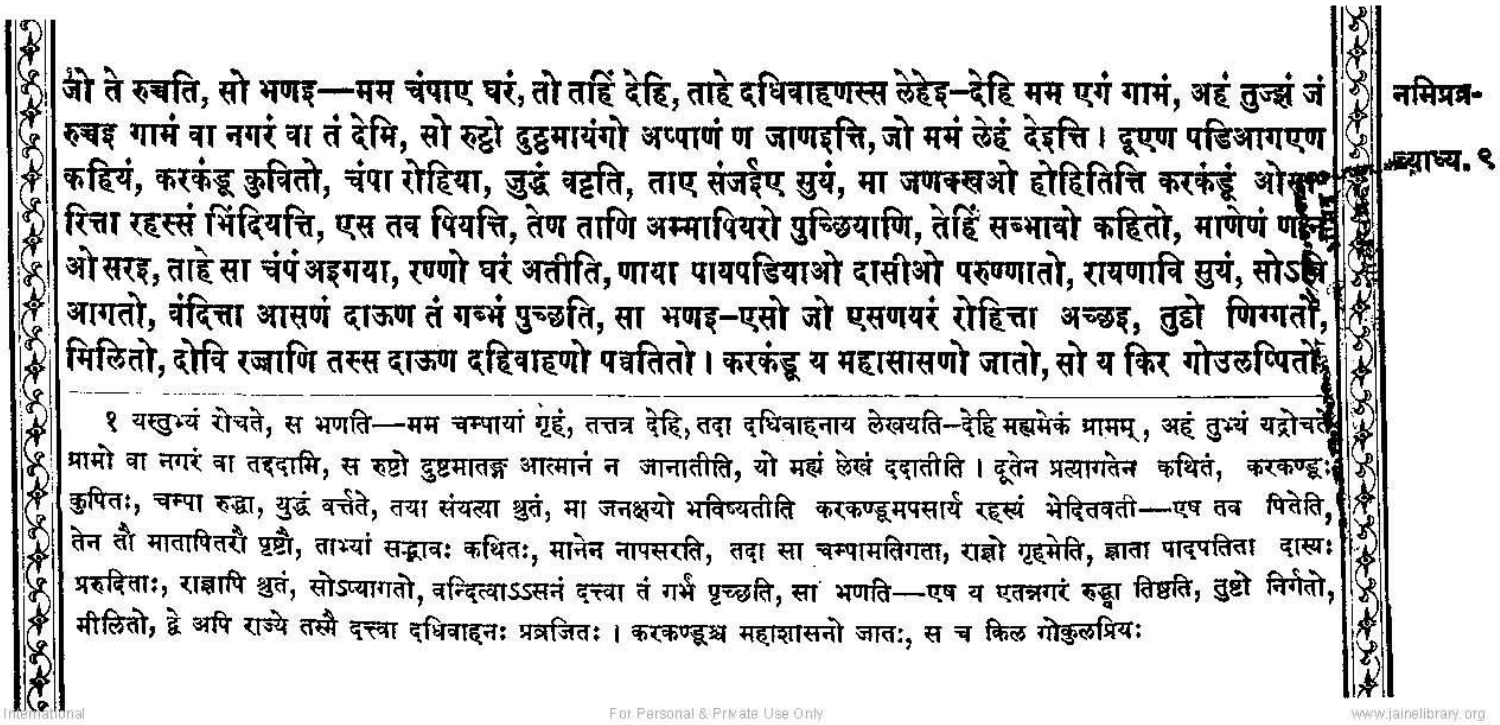
गामं देज्जासि, पडिवण्णो सो, तेण धिज्जाइएण अन्ने धिज्जाइया गहिया–जहा एयं मारित्ता हरामो, तं तस्स पियाए सुयं, ताणि तिन्निवि णट्ठाणि जाव कंचणपुरं गयाणि । तत्थ राया मरइ अपुत्तो, आसो अहियासितो, तस्स बाहिं सुयंतस्स मूलं आगओ, पयाहिणीकाऊण ठितो, जाव णायरा पिच्छंति लक्खणजुत्तं, जयजयसद्दो कतो, णंदीतूरं आहयं, इमोवि जंभंतो उट्ठिओ, वीसत्थो आसं विलग्गो, पवेसिज्जइ, मायंगो त्ति धिज्जाइगा ण देंति पवेसं, ताहे तेण दंडरयणं गहियं, तं जलिउमारद्धं, ते भीया ठिया, ताहे तेण वाडहाणगा हरिएसा धिज्जाइया कया, उक्तं च–"दधिवाहनपुत्रेण, राज्ञा तु करकण्डुना । वाटहानकवास्तव्याश्चण्डाला ब्राह्मणीकृताः ॥१॥" तस्स य घरनामं अवकिन्नगोत्ति, पच्छा से तं चेव चेडगकयणामं पतिट्ठियं करकंडुत्ति । तहिं सो धिज्जातितो आगतो, देहि मम गामं, भणति—

१ ग्राममदास्यः, प्रतिपन्नः सः, तेन धिग्जातीयेन अन्ये धिग्जातीयाः स्वपक्षीकृताः—यथैनं मारयित्वा हरामः, तत्तस्य पित्रा श्रुतं, ते त्रयोऽपि नष्टा यावत्काञ्चनपुरं गताः । तत्र राजा मृतः अपुत्रः, अश्वोऽधिवासितः, तस्य बहिःसुप्तस्य मूलमागतः, प्रदक्षिणीकृत्य स्थितः, यावन्नागराः प्रेक्षन्ते लक्षणयुक्तं, जयजयशब्दः कृतः, नन्दीतूर्यमाहतम्, अयमपि जृम्भमाण उत्थितः, विश्वस्तोऽश्वं विलग्नः, प्रवेश्यते, मातङ्ग इति धिग्जातीया न ददति प्रवेशं, तदा तेन दण्डरत्नं गृहीतं, तज्ज्वलितुमारब्धं, ते भीताः स्थिताः, तदा तेन वाटधानका हरिकेशा धिग्जातीयाः कृताः । तस्य च गृहनामावकीर्णक इति, पश्चात् तस्य तदेव चेटककृतं नाम प्रतिष्ठितं करकण्डूरिति । तत्र स धिग्जातीय आगतः, देहि मह्यं ग्रामं, भणति—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२०॥

दीप अनुक्रम [२२८]



उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥३०२॥

जो ते रुचति, सो भणइ—मम चंपाए घरं, तो तहिं देहि, ताहे दधिवाहणस्स लेहेइ–देहि मम एगं गामं, अहं तुज्झं जं रुचइ गामं वा नगरं वा तं देमि, सो रुट्ठो दुट्ठमायंगो अप्पाणं ण जाणइत्ति, जो ममं लेहं देइत्ति। दूएण पडिआगएण कहियं, करकंडू कुवितो, चंपा रोहिया, जुद्धं वट्टति, ताए संजईए सुयं, मा जणक्खओ होहितित्ति करकंडुं ओसरित्ता रहस्सं भिंदियत्ति, एस तव पियत्ति, तेण ताणि अम्मापियरो पुच्छियाणि, तेहिं सब्भावो कहितो, माणेणं णाहिंति ओसरइ, ताहे सा चंपं अइगया, रण्णो घरं अतीति, णाया पायपडियाओ दासीओ परुण्णातो, रायणावि सुयं, सोऽवि आगतो, वंदित्ता आसणं दाऊण तं गब्भं पुच्छति, सा भणइ–एसो जो एसणयरं रोहित्ता अच्छइ, तुट्ठो णिग्गतो, मिलितो, दोवि रज्जाणि तस्स दाऊण दहिवाहणो पव्वतितो। करकंडू य महासासणो जातो, सो य किर गोउलप्पितो

नमिप्रव्रज्याध्य. ९

१ यस्तुभ्यं रोचते, स भणति—मम चम्पायां गृहं, तत्तत्र देहि, तदा दधिवाहनाय लेखयति–देहि मह्यमेकं ग्रामम्, अहं तुभ्यं यद्रोचते ग्रामो वा नगरं वा तद्दामि, स रुष्टो दुष्टमातङ्ग आत्मानं न जानातीति, यो मह्यं लेखं ददातीति। दूतेन प्रत्यागतेन कथितं, करकण्डूः कुपितः, चम्पा रुद्धा, युद्धं वर्त्तते, तया संयत्या श्रुतं, मा जनक्षयो भविष्यतीति करकण्डूमपसार्य रहस्यं भेदितवती—एष तव पितेति, तेन तौ मातापितरौ पृष्टौ, ताभ्यां सद्भावः कथितः, मानेन नापसरति, तदा सा चम्पामतिगता, राज्ञो गृहमेति, ज्ञाता पादपतिता दास्यः प्ररुदिताः, राज्ञापि श्रुतं, सोऽप्यागतो, वन्दित्वाऽऽसनं दत्त्वा तं गर्भं पृच्छति, सा भणति—एष य एतन्नगरं रुद्ध्वा तिष्ठति, तुष्टो निर्गतो, मीलितो, द्वे अपि राज्ये तस्मै दत्त्वा दधिवाहनः प्रव्रजितः। करकण्डूश्च महाशासनो जातः, स च किल गोकुलप्रियः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२०॥

दीप अनुक्रम [२२८]

अणेगाणि तस्स गोउलगाणि जायाणि जाव सरयकालेण एगं गोवच्छयं घोरगत्तं सेयं तं पेच्छइ, भणति य–एयस्स मायरं मा दुहेज्जाहि, जया वड्ढितो हुज्जा तया अण्णाणं गावीणं दुद्धं पाएज्जाह, ते गोवा पडिसुणंति, सो उच्चत्तविसाणो खद्धवसभो जातो, राया पेच्छति, सो जुद्धिक्कओ जातो, पुणो कालेण राया आगतो पेच्छति–महाकायं जुण्णं वसभं, पइएहिं परिघट्टयंतं, गोवे पुच्छइ–कहिं सो वसहोत्ति ?, तेहिं सो दाइतो, पेच्छंतओ विसायं गतो, अणिच्चयं चिंतितो संबुद्धो 'सेयं सुजायं०' सुत्तं, 'गोट्ठंगणस्स०' गाहा, 'पोराण०' गाथा १॥ इत्तो पंचालेसु जणवएसु कंपिल्लपुरं नयरं, तत्थ दुम्मुहो राया, सो य इंदकेउं पासति लोगेण महिज्जंतं अणेगकुडभीसहस्सपडिमंडियाभिरामं, पुणो अ विलुत्तं पडियं च मुत्तपुरीसाण मज्झे, सोऽवि संबुद्धो पव्वतितो 'जो इंदकेउं सुयलंकियं तु' सोऽवि विहरति २ ॥

१ अनेकानि तस्य गोकुलानि जातानि यावच्छरत्काल एकं गोवत्सं घोरगात्रं श्वेतं तं प्रेक्षते, भणति च—एतस्य मातरं मा धौक्षिष्ट, यदा वृद्धो भवेत् तदाऽन्यासां गवां दुग्धं पाययेत, ते गोपाः प्रतिशृण्वन्ति, स उच्चविषाणः समर्थवृषभो जातः, राजा पश्यति, स युद्ध एककको जातः, पुनः कालेन राजाऽऽगतः पश्यति—महाकायं जीर्णं वृषभं, ह्रस्वमहिषीभिः परिघट्यमानं, गोपान् पृच्छति—क्व स वृषभ इति ?, तैः स दर्शितः, पश्यन् विषादं गतः, अनित्यतां चिन्तयन् संबुद्धः 'श्वेतं सुजातं०' सूत्रं 'गोष्ठाङ्गणस्य०' गाथा 'पुराण०' गाथा १ ॥ इतः पाञ्चालेषु जनपदेषु काम्पील्यपुरं नगरं, तत्र दुर्मुखो राजा, स चेन्द्रकेतुं पश्यति लोकेन मह्यमानमनेकपताकासहस्रपरिमण्डिताभिरामं, पुनश्च विलुप्तं पतितं च मूत्रपुरीषयोर्मध्ये, सोऽपि संबुद्धः प्रव्रजितः 'य इन्द्रकेतुं स्वलङ्कृतं तु०' सोऽपि विहरति २ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२०॥

दीप अनुक्रम [२२८]

इओ य विदेहे जणवए महिलाए य णयरीए णमी राया, तस्स दाहो जातो, देवी चंदणं घसति, वलियाणि खलखलिंति, सो भणति–कण्णाघातो होइ, देवीए एक्केकं अवणेंतीए सव्वाणि अवणीयाणि, एक्किक्कं ठियं, तं राया पुच्छइ –ताणि वलयाणि न खलखलिंति ?, सा भणति–अवणीयाणि, सो तेण दुक्खेण अब्भाहतो परलोगाभिमुहो चिंतेति–बहुयाणं दोसो ण एगस्स, जइ य एयातो रोगाओ मुच्चामि तो पव्वयामि, तया य कत्तियपुण्णिमा वट्टति, एवं सो चिंतिंतो पासुत्तो, पभायाए रयणीए सुमिणए पासति–सेयं नागरायं मंदरोवरि च अत्ताणमारूढं, णंदिघोसतूरेण य विबोहितो हट्ठतुट्ठो चिंतेइ—अहो पहाणो सुविणो दिट्ठोत्ति, पुणो चिंतइ–कहिं मया एवंगुणजातितो पव्वतो दिट्ठपुव्वोत्ति चिंतयंतेण जाती संभरिया, पुव्वं माणुसभवे सामण्णं काऊण पुप्फुत्तरे विमाणे उववण्णो आसि, तत्थ देवत्ते

१ इतश्च विदेहे जनपदे मिथिलायां च नगर्यां नमी राजा, तस्य च दाहो जातः, देवी चन्दनं घर्षति, वलयानि शब्दं कुर्वन्ति, स भणति—कर्णाघातो भवति, देव्यैकैकमपनयन्त्या सर्वाण्यपनीतानि, एकैकं स्थितं, तां राजा पृच्छति—तानि वलयानि न खटत्कुर्वन्ति ?, सा भणति—अपनीतानि, स तेन दुःखेनाभ्याहतः परलोकाभिमुखश्चिन्तयति—बहूनां दोषो नैकस्य, यदि चैतस्माद्रोगान्मुच्ये तदा प्रव्रजामि, तदा च कार्त्तिकपूर्णिमा वर्त्तते, एवं स चिन्तयन् प्रसुप्तः, प्रभातायां रजन्यां स्वप्ने पश्यति—श्वेतं नागराजं मन्दरस्योपरि चात्मानमारूढं, नन्दीघोषतूर्येण च विबोधितो हृष्टतुष्टश्चिन्तयति–अहो प्रधानः स्वप्नो दृष्ट इति, पुनश्चिन्तयति—क मयैवंगुणजातीयः पर्वतो दृष्टपूर्व इति चिन्तयता जातिः स्मृता, पूर्वं मनुष्यभवे श्रामण्यं कृत्वा पुष्पोत्तरे विमान उत्पन्न आसं, तत्र देवत्वे

॥३०३॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२०॥

दीप अनुक्रम [२२८]

मंदरो जिणमहिमाइसु आगएण दिट्ठपुव्वोत्ति संबुद्धो पव्वतितो 'बहुयाण०–' सिलोगो ३ ॥ इओ य गंधारजणविस-एसु पुरिसपुरं णाम नयरं, तत्थ णग्गती राया, सो य अन्नया अणुजत्तं णिग्गतो पेच्छइ—चूयं कुसुमियं, तेणेगा मंजरी गहिया, एवं खंधावारेणं लयंतेणं कट्ठावसेसो कतो, पडिनियत्तो पुच्छति—कहिं सो चूयरुक्खो?, अमच्चेण अक्खातो एसोत्ति, तो किह कट्ठाणि कतो?, भणति–तुब्भेहिं एक्का मंजरी गहिया, पच्छा सव्वेणवि जणेण गहिया, सो चिंतेइ–एवं रज्जसिरि त्ति, जाव रिद्धी ताव सोहति, अलाहि 'जो चूय०' गाहा, सोऽवि विहरति ४॥ चत्तारिवि विहरमाणा खिइपतिट्ठिए णयरे चाउद्दारं देउलं, पुव्वेण करकंडू पविट्ठो, दुम्मुहो दक्खिणेण, किह साहुस्स अन्नामुहो अच्छामित्ति तेण वाणमंतरेण दक्खिणपासेवि मुहं कयं, नमी अवरेण, तओऽवि मुहं कयं, गंधारो उत्तरेण, तओऽवि

१ मन्दरो जिनमहिमादिष्वागतेन दृष्टपूर्व इति संबुद्धः प्रव्रजितः 'बहूनां० श्लोकः ३ ॥ इतश्च गान्धारजनविषयेषु पुरुषपुरं नाम नगरं, तत्र नग्गती राजा, स चान्यदाऽनुयात्रं निर्गतः पश्यति—चूतं कुसुमितं, तेनैका मञ्जरी गृहीता, एवं स्कन्धावारेणाददानेन काष्ठावशेषः कृतः, प्रतिनिवृत्तः पृच्छति–क्व स चूतवृक्षः?, अमात्येनाख्यात एष इति, तदा कथं काष्ठीकृतः?, भणति–युष्माभिरेका मञ्जरी गृहीता, पश्चात्स-र्वेणापि जनेन गृहीता, स चिन्तयति—एवं राज्यश्रीरिति, यावदद्धिस्तावच्छोभते, अलम् 'यश्चूत०' गाथा, सोऽपि विहरति ४ ॥ चत्वारोऽपि विहरन्तः क्षितिप्रतिष्ठिते नगरे चतुर्द्वारं देवकुलं, पूर्वेण करकण्डूः प्रविष्टः, दुर्मुखो दक्षिणेन, कथं साधोः पराङ्मुखस्तिष्ठामीति तेन व्यन्तरेण दक्षिणपार्श्वेऽपि मुखं कृतं, नमिरपरेण, ततोऽपि मुखं कृतं, गान्धार उत्तरेण, ततोऽपि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२०॥

दीप अनुक्रम [२२८]

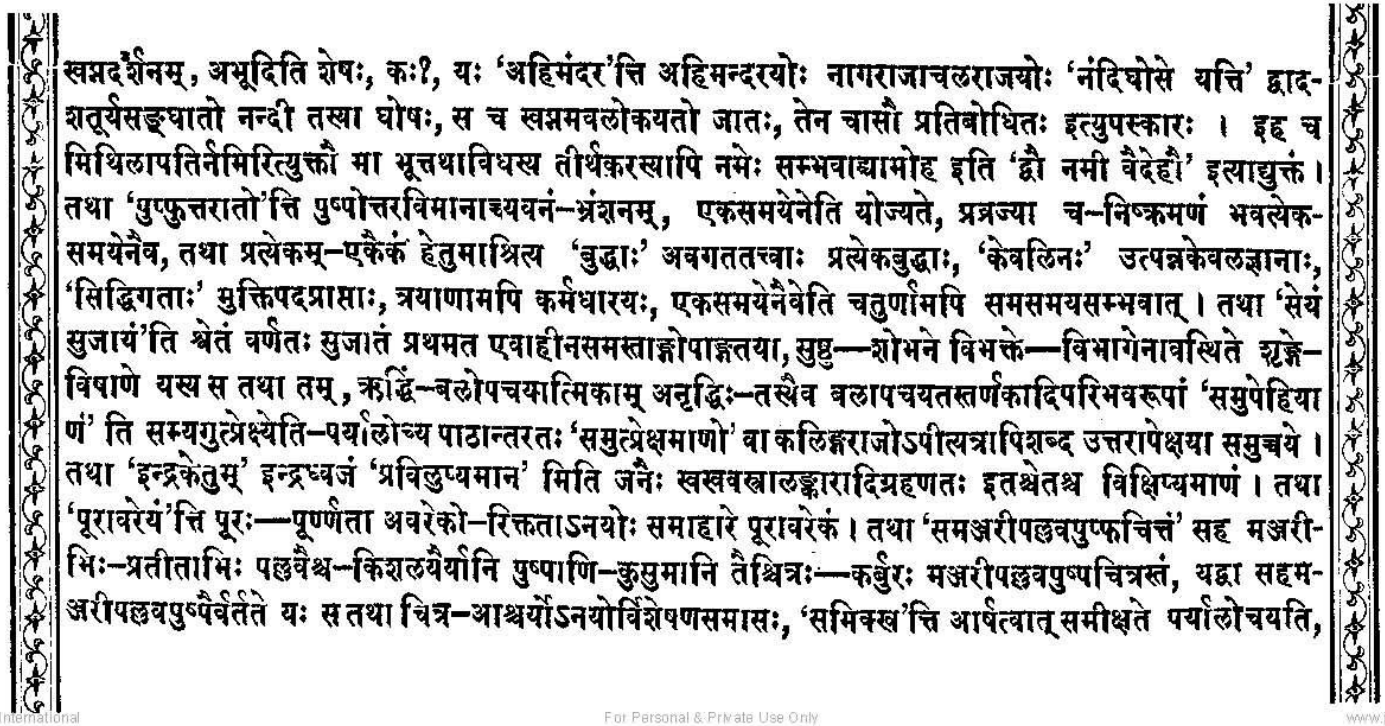
मुहं कयं। तस्स किर करकंडुस्स आबालत्तणा सा कंडू अत्थि चेव, तेण कंडूयगं गहाय मसिणं कण्णो कंडूइतो, तं तेण एगत्थ संगोवियं, तं दुम्मुहो पेच्छइ, सो भणइ—'जया रज्जं०' सिलोगो, जाव करकंडू पडिवयणं न देति ताव णमी वयणसमकं इमं भणइ—'जया ते पेतिते रज्जे०' सिलोगो, किं तुमं एयस्स आउत्तगोत्ति भणति, ताहे गंधारो भणति–'जया सव्वं परिच्चज्ज०' सिलोगो, ताहे करकंडू भणति—'मोक्खमग्गपवण्णाणं०' सिलोगो "रूसऊ वा परो मा वा विसं वा परियत्तउ। भासियव्वा हिया भासा, सपक्खगुणकारिया ॥१॥" इत्येष सम्प्रदायः। एष एव च गाथाकदम्बकभावार्थः, अक्षरार्थस्तु स्पष्ट एव, नवरं मिथिला नाम नगरी, तस्याः पतिः–स्वामी मिथिलापतिस्तस्य, अनेनान्येषामपि तत्पतीनां सम्भवात् तद्व्यवच्छेदमाह, 'नमेः' नमिनाम्नः, 'छम्मासायंकविज्जपडिसेहो'त्ति षण्मासानातङ्को—दाहज्वरात्मको रोगः षण्मासातङ्कः तत्र वैद्यैः–भिषग्भिः प्रतिषेधो–निराकरणम्, अचिकित्स्योऽयमित्यभिधानरूपः षण्मासातङ्कवैद्यप्रतिषेधः, 'कत्तिय'त्ति कार्तिकमासे 'सुविणगदंसणंति' स्वप्न एव स्वप्नकस्तस्मिन् दर्शनं

१ मुखं कृतं। तस्य किल करकण्डोः आबाल्यात् सा कण्डूरस्ति चैव, तेन कण्डूयनं गृहीत्वा मसृणं कर्णौ कण्डूयितौ, तत्तेनैकत्र संगोपितं, तद्दुर्मुखः पश्यति, स भणति—यदा राज्यं० श्लोकः, यावत्करकण्डूः प्रतिवचनं न ददाति तावत् नमिर्वचनसममिदं भणति–यदा ते पैतृके राज्ये० श्लोकः, किं त्वमेतस्यावर्त्तक इति भणति, तदा गान्धारो भणति–यदा सर्वं परित्यज्य० श्लोकः, तदा करकण्डूर्भणति—'मोक्षमार्गप्रपन्नानां' श्लोकः। रुष्यतु वा परो मा वा विषं वा पर्यत्तु। भाषितव्या हिता भाषा स्वपक्षगुणकारिणी (का) ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२०॥

दीप अनुक्रम [२२८]



स्वप्नदर्शनम्, अभूदिति शेषः, कः?, यः 'अहिमंदर'त्ति अहिमन्दरयोः नागराजाचलराजयोः 'नंदिघोसे यत्ति' द्वादशतूर्यसङ्घातो नन्दी तस्या घोषः, स च स्वप्नमवलोकयतो जातः, तेन चासौ प्रतिबोधितः इत्युपस्कारः । इह च मिथिलापतिर्नेमिरित्युक्तौ मा भूत्तथाविधस्य तीर्थकरस्यापि नमेः सम्भवाद्यामोह इति 'द्वौ नमी वैदेहौ' इत्याद्युक्तं । तथा 'पुप्फुत्तरातो'त्ति पुष्पोत्तरविमानाच्च्यवनं–भ्रंशनम्, एकसमयेनेति योज्यते, प्रव्रज्या च–निष्क्रमणं भवत्येकसमयेनैव, तथा प्रत्येकम्–एकैकं हेतुमाश्रित्य 'बुद्धाः' अवगततत्त्वाः प्रत्येकबुद्धाः, 'केवलिनः' उत्पन्नकेवलज्ञानाः, 'सिद्धिगताः' मुक्तिपदप्राप्ताः, त्रयाणामपि कर्मधारयः, एकसमयेनैवेति चतुर्णामपि समसमयसम्भवात् । तथा 'सेयं सुजायं'ति श्वेतं वर्णतः सुजातं प्रथमत एवाहीनसमस्ताङ्गोपाङ्गतया, सुष्ठु—शोभने विभक्ते—विभागेनावस्थिते शृङ्ग–विषाणे यस्य स तथा तम्, ऋद्धिं–बलोपचयात्मिकाम् अनृद्धिः–तस्यैव बलापचयतस्तर्णकादिपरिभवरूपां 'समुपेहियाणं' ति सम्यगुत्प्रेक्ष्येति–पर्यालोच्य पाठान्तरतः 'समुत्प्रेक्षमाणो' वा कलिङ्गराजोऽपीत्यत्रापिशब्द उत्तरापेक्षया समुच्चये । तथा 'इन्द्रकेतुम्' इन्द्रध्वजं 'प्रविलुप्यमान' मिति जनैः स्वस्ववस्त्रालङ्कारादिग्रहणतः इतश्चेतश्च विक्षिप्यमाणं । तथा 'पूरावरेयं'त्ति पूरः—पूर्णता अवरेको–रिक्तताऽनयोः समाहारे पूरावरेकं । तथा 'समञ्जरीपल्लवपुप्फचित्तं' सह मञ्जरीभिः–प्रतीताभिः पल्लवैश्च–किशलयैर्यानि पुष्पाणि–कुसुमानि तैश्चित्रः—कर्बुरः मञ्जरीपल्लवपुष्पचित्रस्तं, यद्वा सहमञ्जरीपल्लवपुष्पैर्वर्तते यः स तथा चित्र–आश्चर्योऽनयोर्विशेषणसमासः, 'समिक्ख'त्ति आर्षत्वात् समीक्षते पर्यालोचयति,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२०॥

दीप अनुक्रम [२२८]

अनेकार्थत्वादङ्गीकुरुते वा, वर्तमाननिर्देशः प्राग्वत्, यद्वा 'समिक्ख'त्ति समैक्षिष्ट समीक्षितवान् 'धर्मं' यतिधर्मं । यदा 'ते' त्वया 'पैतृके' पितुरागते राज्ये कृता–विहिताः कृत्यानि कुर्वन्ति–अनुतिष्ठन्ति कृत्यकरा—नियोगिनो बहवः–प्रभूताः, तदैव कृत्यकरत्वं स्वयं तव कर्तुमुचितमासीदित्युपस्कारः, 'तेषामि'ति कृत्यकराणां कृत्यं–परापराधपरिभावनादि कर्तव्यं 'परित्यज्य' व्रताङ्गीकारादपहाय अद्य 'कृत्यकरो' नियुक्तकः–अन्यदोषचिन्तको 'भवान्' त्वं, किमिति जात इति शेषः । तथा 'मोक्खाय घडसी'ति प्राकृतत्वान्मोक्षाय–मोक्षार्थं 'घटते' चेष्टते, तथा 'अत्तणिस्सेसकारए'त्ति आत्मनो निःशेषमिति–शेषाभावं प्रक्रमात् कर्मणः करोति–विधत्त इत्यात्मनिःशेषकारकः, यद्वा 'णिस्सेस'त्ति निःश्रेयसो मोक्षस्तत्कारको । 'मोक्षमार्गं' मुक्त्यध्वानं 'प्रतिपन्नेषु' अङ्गीकृतवत्सु साधुषु ब्रह्मचारिषु 'अहियत्थं'ति अहितार्थं 'निवारयन्' निषेधयन् 'न दोषं' परापवादलक्षणमस्येति शेषः, 'वक्तुम्' अभिधातुमर्हसि, यथा हि भवान् अहितान्निवारयन्, कथं गर्हसीत्यादि, एवं नमिरपि अद्य कृत्यकरो भवानिति कृत्यकरत्वलक्षणादहितान्निवारयति, तथा दुर्मुखोऽपि सञ्जयं किं करोषि ? इति सञ्जयत एवाहितान्निषेधयतीति नायं परापवाद इति वक्तुमुचितं, यद्वा—'अहियत्थं णिवारिंतो'त्ति सुब्व्यत्ययादहितार्थान्निवारयन्तं न 'दोष'मिति मतुब्लोपान्न दोषवन्तं वक्तुमर्हसि, तथा चार्षम्—"रूसऊ वा परो मा वा, विसं वा परियत्तउ । भासियव्वा हिया भासा, सपक्खगुणकारिया ॥१॥"

॥३०५॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [२२९]

इत्यवसितो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, सम्प्रति सूत्रालापकनिष्पन्नस्यावसरः, स च सूत्रे सति भवतीति सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

चइऊण देवलोगाओ उववन्नो माणुसंमि लोगंमि । उवसंतमोहणिज्जो सरती पोराणियं जाइं ॥ १ ॥

व्याख्या—च्युत्वा 'देवलोकात्' प्रतीतात्, 'उत्पन्नः' जातः 'मानुषे' मानुषसम्बन्धिनि 'लोके' प्राणिगणे उपशान्तम्—अनुदयं प्राप्तं मोहनीयं—दर्शनमोहनीयं यस्यासावुपशान्तमोहनीयः 'स्मरति' चिन्तयति, स्मेति शेषः, वर्तमाननिर्देशो वा प्राग्वत्, कामित्याह—'पोराणियं'ति पुराणामेव पौराणिकीं, विनयादित्वात् ठक्, चिरन्तनीमित्यर्थः, 'जातिम्' उत्पत्तिं, देवलोकादाविति प्रक्रमः, तद्गतसकलचेष्टोपलक्षणं चेह जातिरिति सूत्रार्थः ॥ ततः किमित्याह—

जाइं सरित्तु भयवं सहसंबुद्धो अणुत्तरे धम्मे । पुत्तं ठवित्तु रज्जे अभिनिक्खमति नमी राया ॥ २ ॥

व्याख्या—'जातिम्' उक्तरूपां स्मृत्वा, भगशब्दो यद्यपि धैर्यादिष्वनेकेषु अर्थेषु वर्तते, यदुक्तं—"धैर्यसौभाग्यमाहात्म्ययशोऽर्कश्रुतधीश्रियः । तपोऽर्थोपस्थपुण्येशप्रयत्नतनवो भगाः ॥ १ ॥" इति, तथापीह प्रस्तावाद्बुद्धिवचन एव गृह्यते, ततो भगो–बुद्धिर्यस्यास्तीति भगवान्, सहत्ति–स्वयमात्मनैव सम्बुद्धः–सम्यगवगततत्त्वः सहसम्बुद्धो, नान्येन प्रतिबोधित इत्यर्थः, अथवा 'सहस'त्ति आर्षत्वात् सहसा–जातिस्मृत्यनन्तरं झगित्येव बुद्धः, केत्याह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२॥

दीप अनुक्रम [२३०]

'अनुत्तरे' प्रधाने 'धर्म्मे' चारित्रधर्मे 'पुत्रं' सुतं 'स्थापयित्वा' निवेश्य, क्व ?–राज्ये 'अभिनिष्क्रामति' धर्माभिमुख्येन गृहस्थपर्यायान्निर्गच्छति, स्वेतीहापि शेषः, ततश्च प्रव्रजितवानित्यर्थः, प्राग्वत् तिङव्ययत्ययेन वा व्याख्येयं, 'नमिः' नमिनामा राजा पृथिवीपतिरिति सूत्रार्थः ॥ स्यादेतत्, कुत्रावस्थितः ? कीदृशान् वा भोगान् भुक्त्वा सम्बुद्धः ? किं वाऽभिनिष्क्रामन् करोतीत्याह—

सो देवलोगसरिसे अंतेउरवरगतो वरे भोए । भुंजित्तु णमी राया बुद्धो भोगे परिच्चयइ ॥ ३ ॥

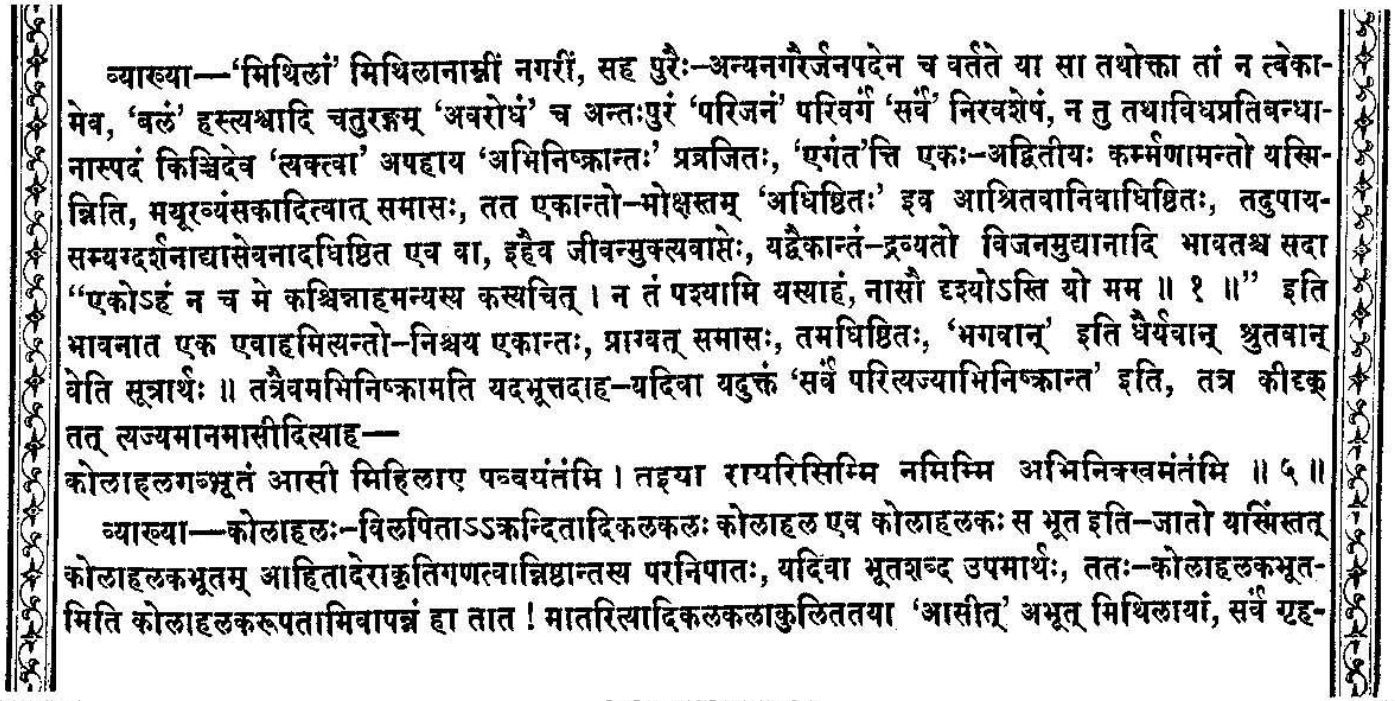
व्याख्या—'सः' इत्यनन्तरमुद्दिष्टः 'देवलोगसरिसे'त्ति देवलोकभोगैः सदृशा देवलोकसदृशाः, मयूरव्यंसकादित्वान्मध्यपदलोपी समासः, 'अंतेउरवरगतो'त्ति वरं–प्रधानं तच्च तदन्तःपुरं च वरान्तःपुरं तत्र गतः—स्थितो वरान्तःपुरगतः, प्राकृतत्वाच्च वरशब्दस्य परनिपातः, वरान्तःपुरं हि रागहेतुरिति तद्गतस्य तस्य भोगपरित्यागाभिधानेन जीववीर्योल्लासातिरेक उक्तः, तत्रापि कदाचिद्वराः शब्दादयो न स्युः तत्सम्भवे वा सुबन्धुरिव कुतश्चिन्निमित्तान्न भुञ्जीतापीत्याह–'वरान्' प्रधानान् 'भोगान्' मनोज्ञशब्दादीन् 'भुक्त्वा' आसेव्य 'नमिः' नमिनामराजा 'बुद्धः' विज्ञाततत्त्वः 'भोगान्' उक्तरूपान् परित्यजति, स्वेति शेषः । इह पुनर्भोगग्रहणमतिविस्मरणशीला अप्यनुग्राह्या एवेति ज्ञापनार्थमिति सूत्रार्थः ॥ किं भोगानेव त्यक्त्वाऽभिनिष्क्रान्तवान् ? उतान्यदपीत्याह—

मिहिलं सपुरजणवयं बलमोरोहं च परियणं सव्वं । चेच्चा अभिनिक्खंतो एगंतमहिट्ठिओ भयवं ॥ ४ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४॥

दीप अनुक्रम [२३२]



व्याख्या—'मिथिलां' मिथिलानाम्नीं नगरीं, सह पुरैः–अन्यनगरैर्जनपदेन च वर्तते या सा तथोक्ता तां न त्वेकामेव, 'वलं' हस्त्यश्वादि चतुरङ्गम् 'अवरोधं' च अन्तःपुरं 'परिजनं' परिवर्गं 'सर्वं' निरवशेषं, न तु तथाविधप्रतिबन्धानास्पदं किञ्चिदेव 'त्यक्त्वा' अपहाय 'अभिनिष्क्रान्तः' प्रव्रजितः, 'एगंत'त्ति एकः–अद्वितीयः कर्म्मणामन्तो यस्मिन्निति, मयूरव्यंसकादित्वात् समासः, तत एकान्तो–मोक्षस्तम् 'अधिष्ठितः' इव आश्रितवानिवाधिष्ठितः, तदुपायसम्यग्दर्शनाद्यासेवनादधिष्ठित एव वा, इहैव जीवन्मुक्त्यवाप्तेः, यद्वैकान्तं–द्रव्यतो विजनमुद्यानादि भावतश्च सदा "एकोऽहं न च मे कश्चिन्नाहमन्यस्य कस्यचित् । न तं पश्यामि यस्याहं, नासौ दृश्योऽस्ति यो मम ॥ १ ॥" इति भावनात एक एवाहमित्यन्तो–निश्चय एकान्तः, प्राग्वत् समासः, तमधिष्ठितः, 'भगवान्' इति धैर्यवान् श्रुतवान् वेति सूत्रार्थः ॥ तत्रैवमभिनिष्क्रामति यदभूत्तदाह–यदिवा यदुक्तं 'सर्वं परित्यज्याभिनिष्क्रान्त' इति, तत्र कीदृक् तत् त्यज्यमानमासीदित्याह—

कोलाहलगब्भूतं आसी मिहिलाए पव्वयंतंमि । तइया रायरिसिम्मि नमिम्मि अभिनिक्खमंतंमि ॥ ५ ॥

व्याख्या—कोलाहलः–विलपिताऽऽक्रन्दितादिकलकलः कोलाहल एव कोलाहलकः स भूत इति–जातो यस्मिंस्तत् कोलाहलकभूतम् आहितादेराकृतिगणत्वान्निष्ठान्तस्य परनिपातः, यदिवा भूतशब्द उपमार्थः, ततः–कोलाहलकभूतमिति कोलाहलकरूपतामिवापन्नं हा तात ! मातरित्यादिकलकलाकुलिततया 'आसीत्' अभूत् मिथिलायां, सर्वं गृह-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥५॥

दीप अनुक्रम [२३३]

विहाराराभादीति प्रक्रमः, क्व सति?–'प्रव्रजति' प्रव्रज्यामाददाने 'तदा' तस्मिन् काले, राजा चासौ राज्यावस्थामाश्रित्य ऋषिश्च तत्कालापेक्षया राजर्षिः, यदिवा राज्यावस्थायामपि ऋषिरिव ऋषिः–क्रोधादिषड्वर्गजयात्, तथा च राजनीतिः–"कामः क्रोधस्तथा लोभो, हर्षो मानो मदस्तथा। षड्वर्गमुत्सृजेदेनं, तस्मिंस्त्यक्ते सुखी नृपः ॥ १ ॥" तस्मिन् 'नमौ' नमिनाम्नि, 'अभिनिष्क्रामति' गृहात् कषायादिभ्यो वा निर्गच्छतीति सूत्रार्थः ॥ पुनरत्रान्तरे यदभूत्तदाह—

अब्भुट्ठियं रायरिसिं, पव्वज्जाठाणमुत्तमं। सक्को माहणरूवेणं, इमं वयणमब्बवी ॥ ६ ॥

व्याख्या—'अभ्युत्थितम्' अभ्युद्यतं 'राजर्षिं' प्राग्वत् प्रव्रज्यैव स्थानं तिष्ठन्ति सम्यग्दर्शनादयो गुणा अस्मिन्निति कृत्वा प्रव्रज्यास्थानं, प्रतीति शेषः, 'उत्तमं' प्रधानं, सुब्व्यत्ययेन सप्तम्यर्थे वा द्वितीया, ततः प्रव्रज्यास्थान उत्तमे 'अभ्युपगतं' तद्विषयोद्यमवन्तं 'शक्रः' इन्द्रो 'माहनरूपेण' ब्राह्मणवेषेण, आगत्येति शेषः, तदा हि तस्मिन् महात्मनि प्रव्रज्यां ग्रहीतुमनसि तदाशयं परीक्षितुकामः स्वयमिन्द्र आजगाम, ततः स 'इदं' वक्ष्यमाणम्, उच्यत इति वचनं–वाक्यम् 'अब्रवीत्' उक्तवानिति सूत्रार्थः ॥ यदुक्तवांस्तदाह—

किं नु भो अज्ज मिहिलाए, कोलाहलगसंकुला। सुचंति दारुणा सद्दा, पासाएसु गिहेसु अ? ॥ ७ ॥

व्याख्या—'किम्' इति परिप्रश्ने 'नु' इति वितर्के 'भो' इत्यामन्त्रणे 'अद्य' एतस्मिन् दिने 'मिथिलायां' नगर्यां कोला-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥७॥

दीप अनुक्रम [२३५]

हलकेन–बहलकलकलात्मकेन सङ्कुलाः–व्याकुलाः कोलाहलकसंकुलाः 'श्रूयन्ते' इत्याकर्ण्यन्ते 'शब्दा' ध्वनय इति सम्बन्धः, ते च कदाचिद्वन्दिवृन्दोदीरिता अपि स्युः तन्निराकरणायाह—दारयन्ति जनमनांसीति दारुणाः–विलपिताऽऽक्रन्दितादयः, क्व पुनस्ते ?–'प्रासादेषु' सप्तभूमादिषु 'गृहेषु' सामान्यवेश्मसु, यद्वा 'प्रासादो देवतानरेन्द्राणा'-मितिवचनात् प्रासादेषु देवतानरेन्द्रसम्बन्धिष्वास्पदेषु 'गृहेषु' तदितरेषु चशब्दात्त्रिकचतुष्कचत्वरादिषु चेति सूत्रार्थः ॥ ततश्च—

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ । ततो णमी रायरिसी, देविंदं इणमब्बवी ॥ ९ ॥

व्याख्या—'एनम्' अनन्तरोक्तम् 'अर्थं' इत्युपचारादर्थाभिधायिनं ध्वनिं 'निशम्य' आकर्ण्य हिनोति–गमयति विवक्षितमर्थमिति हेतुः, स च पञ्चावयववाक्यरूपः, कारणं च–अन्यथाऽनुपपत्तिमात्रं ताभ्यां चोदितः–प्रेरितः हेतुकारणचोदितः, कोलाहलकसङ्कुला दारुणाः शब्दाः श्रूयन्त इत्यनेन हि उभयमेतत् सूचितं, तथाहि–अनुचितमिदं भवतोऽभिनिष्क्रमणमिति प्रतिज्ञा, आक्रन्दादिदारुणशब्दहेतुत्वादिति हेतुः, प्राणव्यपरोपणादिवदिति दृष्टान्तः, यद्यदाक्रन्दादिदारुणशब्दहेतुस्तत्तद्धर्मार्थिनोऽनुचितं, यथा प्राणव्यपरोपणादि, तथा चेदं भवतोऽभिनिष्क्रमणमित्युपनयः, तस्मादाक्रन्दादिदारुणशब्दादिहेतुत्वादनुचितं भवतोऽभिनिष्क्रमणमिति निगमनमिति पञ्चावयवं वाक्यमिह हेतुः, शेषावयवविवक्षाविरहितं त्वाक्रन्दादिदारुणशब्दहेतुत्वं भवदभिनिष्क्रमणानुचितत्वं विनाऽनुपपन्न-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्र सूत्रक्रम ८ वर्तते, मूल संपादने स्खलनत्वात् तस्य क्रम "९" मुद्रितं

प्रत सूत्रांक ॥९॥

दीप अनुक्रम [२३६]

मिति एतावन्मात्रं कारणम्, अनयोस्तु पृथगुपादानं प्रतिपाद्यभेदतः साधनवाक्यवैचित्र्यसूचनार्थं, तथा चाह श्रुतकेवली–'कत्थवि पंचावयवं दसहा वा सव्वहा ण पडिसिद्धं । ण य पुण सव्वं भण्णइ हंदी सवियारमक्खायं ॥ १ ॥" तथा–"जिणवयणं सिद्धं चेव भण्णती कत्थती उदाहरणं । आसज्ज उ सोयारं हेऊवि कहिंचि वोत्तव्वो ॥ २ ॥" अथवाऽन्वयव्यतिरेकलक्षणो हेतुः, उपपत्तिमात्रं तु दृष्टान्तादिरहितं कारणं, यथा निरुपमसुखः सिद्धो ज्ञानानाबाधप्रकर्षात्, अन्यत्र हि निरुपमसुखासम्भवात् नोदाहरणमस्ति, दृष्टान्तश्च प्रकृष्टमत्यादिज्ञानानाबाधाः परमसुखिनो मुनय इति ज्ञानानाबाधप्रकर्षः निरुपमसुखत्वे हेतुरुच्यते, तथा च पूज्याः—"हेतू अणुगमवइरेगलक्खणो सज्झवत्थुपज्जातो । आहरणं दिट्ठंतो कारणमुवपत्तिमेत्तं तु ॥१॥" इह हि आक्रन्दादिदारुणशब्दहेतुत्वमेव हेतुः, तस्योक्तन्यायेनान्वयान्वितत्वात्, सति चान्वये व्यतिरेकस्यापि सम्भवात्, इदमेव चान्वयव्यतिरेकविकलतया विवक्षितमुपपत्तिमात्रं कारणम्, एवं सर्वत्र कारणभावना कार्येत्यलं प्रसङ्गेन, प्रकृतमेव सूत्रमनुलियते, 'ततः' प्रेरणाऽनन्तरं 'नमिः' नमिनामा राजर्षिः 'देवेन्द्रं' शक्रम् 'इदं' वक्ष्यमाणम् 'अब्रवीत्' उक्तवानिति सूत्रार्थः ॥ किं तदुक्तवानित्याह—

१ कुत्रापि पञ्चावयवं दशधा वा सर्वथा न प्रतिषिद्धम् । न च पुनः सर्वं भण्यते हन्दि सविचारमाख्यातम् ॥ १ ॥ जिनवचनं सिद्धमेव भण्यते कुत्रचिदुदाहरणम् । आसाद्य तु श्रोतारं हेतुरपि कुत्रचिदुक्तव्यः ॥ २ ॥ २ हेतुरनुगमव्यतिरेकलक्षणः साध्यवस्तुपर्यायः । आहरणं दृष्टान्तः कारणमुपपत्तिमात्रं तु ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१०॥

दीप अनुक्रम [२३७]

मिहिलाए चेइए वच्छे, सीतच्छाए मणोरमे । पत्तपुप्फफलोवेते, बहूणं बहुगुणे सता ॥ १० ॥

व्याख्या—'मिथिलायां' पुरि चयनं चितिः–इह प्रस्तावात् पत्रपुष्पाद्युपचयः, तत्र साधुरित्यन्ततः प्रज्ञादेराकृतिगणत्वात्[1] स्वार्थिकेऽणि चैत्यम्–उद्यानं तस्मिन्, 'वच्छे'त्ति सूत्रत्वाद्धिशब्दलोपे वृक्षैः शीता–शीतला छाया यस्य तच्छीतच्छायं तस्मिन्, मनः–चित्तं रमते–धृतिमाप्नोति यस्मिन् तन्मनोरमं–मनोरमाभिधानं तस्मिन्, पत्रपुष्पफलानि प्रतीतानि तैरुपेतं–युक्तं पत्रपुष्पफलोपेतं तस्मिन्, 'बहूनां' प्रक्रमात् खगादीनां, बहवो गुणा यस्माच्चत् तथा तस्मिन्, कोऽर्थः ?–फलादिभिः प्रचुरोपकारकारिणि 'सदा' सर्वकालमिति सूत्रार्थः ॥ तत्र किमित्याह—

वाएण हीरमाणंमि, चेइयंमि मणोरमे । दुहिया असरणा अत्ता, एए कंदंति भो ! खगा ॥ १० ॥

व्याख्या—'वातेन' वायुना 'ह्रियमाणे' इतस्ततः क्षिप्यमाणे, वातश्च तदा शक्रेणैव कृत इति सम्प्रदायः, चितिरिहेष्टकादिचयः, तत्र साधुः–योग्यश्चित्यः प्राग्वत्, स एव चैत्यस्तस्मिन्, किमुक्तं भवति ?–अधोबद्धपीठिके उपरि चोच्छ्रितपताके 'मनोरमे' मनोऽभिरतिहेतौ, वृक्ष इति शेषः, दुःखं सञ्जातं येषां ते दुःखिताः 'अशरणाः' त्राणरहिता अत एव 'आर्ताः' पीडिताः 'एते' प्रत्यक्षाः 'क्रन्दन्ति' आक्रन्दशब्दं कुर्वन्ति 'भो' इत्यामन्त्रणे 'खगाः' पक्षिणः । इह च किमद्य मिथिलायां दारुणाः शब्दाः श्रूयन्ते ? इति यत्स्वजनजनाक्रन्दनमुक्तं तत् खगक्रन्दन-

१ साक्षादाकृतिगणत्वेनानुक्तेः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४३], मूलसूत्र[४] उत्तराध्ययनानि मूलं एवं शान्तिसूरिविरचिता वृत्तिः

मूल संपादने अत्र स्खलनत्वात "१०" इति सूत्रक्रम द्वीवारान् मुद्रितं

प्रत सूत्रांक ॥१०R॥

दीप अनुक्रम [२३८]

प्रायम्, आत्मा च वृक्षकल्पः, तत्त्वतो हि नियतकालमेव सहावस्थितत्वेन उत्तरकालं च स्वस्वगतिगामितया द्रुमाश्रितखगोपमा एवामी स्वजनादयः, उक्तं हि—"यद्वद् द्रुमे महति पक्षिगणा विचित्राः, कृत्वाऽऽश्रयं हि निशि यान्ति पुनः प्रभाते । तद्वज्जगत्यसकृदेव कुटुम्बजीवाः, सर्वे समेत्य पुनरेव दिशो भजन्ते ॥ १ ॥" इति, ततश्चाऽऽक्रन्दादिदारुणशब्दहेतुत्वं हेतुत्वेनाभिधीयमानमसिद्धम्, एते हि स्वजनादयो वातेर्यमाणद्रुमविश्लिष्यत्खगा इव स्वस्वप्रयोजनहानिमेवाऽऽशङ्कमानाः क्रन्दन्ति, आह च—"आत्मार्थं सीदमानं स्वजनपरिजनो रौति हाहारवार्तो,– भार्या चात्मोपभोगं गृहविभवसुखं स्वं च यस्याश्च कार्यम् । क्रन्दत्यन्योऽन्यमन्यस्त्विह हि बहुजनो लोकयात्रानिमित्तं, यो वाऽन्यस्तत्र किञ्चिन्मृगयति हि गुणं रोदितीष्टः स तस्मै ॥ १ ॥" एवं चाऽऽक्रन्दादिदारुणशब्दानामभिनिष्क्रमणहेतुकत्वमसिद्धं, स्वप्रयोजनहेतुकत्वात् तेषां, तथा च भवदुक्ते हेतुकारणे असिद्धे एवेत्युक्तं भवतीति सूत्रार्थः ॥ ततश्च—

एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ । ततो णमिं रायरिसिं, देविंदो इणमब्बवी ॥ ११ ॥

व्याख्या—एनमर्थं निशम्य हेतुकारणयोः—अनन्तरसूत्रसूचितयोश्चोदितः—असिद्धोऽयं भवदभिहितो हेतुः कारणं चेत्यनुपपत्त्या प्रेरितः हेतुकारणचोदितः, ततो नमिं राजर्षिं देवेन्द्रः 'इदं' वक्ष्यमाणम् अब्रवीत् इति सूत्रार्थः ॥ किं तदित्याह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१२॥

दीप अनुक्रम [२४०]

एस अग्गी अ वाओ अ, एयं डज्झति मंदिरं। भगवं! अंतेउरंतेणं, कीस णं नावपिक्खह ॥ १२ ॥

व्याख्या—'एष' इति प्रत्यक्षोपलभ्यमानः 'अग्निश्च' वैश्वानरः 'वातश्च' पवनस्तथा 'एतदि'ति प्रत्यक्षं 'दह्यते' भस्मसात् क्रियते, प्रक्रमाद्वातेरितेनाग्निनैव, 'मन्दिरं' वेश्म, भवत्सम्बन्धीति शेषः, भगवन्निति पूर्ववद्, 'अन्तेउरंतेणं'ति अन्तःपुराभिमुखं 'कीस'त्ति कस्मात्? 'णम्' इति वाक्यालङ्कारे 'नावप्रेक्षसे' नावलोकसे। इह च यद्यदात्मनः स्वं तत्तद्रक्षणीयं, यथा ज्ञानादि, स्वं चेदं भवतोऽन्तःपुरमित्यादिहेतुकारणभावना प्राग्वदिति सूत्रार्थः॥ ततश्च 'एयं' सूत्रं (१३) प्राग्वत्॥ किमब्रवीत्? इत्याह—

सुहं वसामो जीवामो, जेसि मो नत्थि किंचणं। मिहिलाए डज्झमाणीए, न मे डज्झइ किंचणं ॥ १४ ॥

व्याख्या—'सुखं' यथा भवत्येवं 'वसामः' तिष्ठामः 'जीवामः' प्राणान् धारयामः, येषां 'मो' इत्यस्माकं 'नास्ति' न विद्यते 'किञ्चन' वस्तुजातं, यतः—'एकोऽहं न च मे कश्चित्, स्वपरो वाऽपि विद्यते। यदेको जायते जन्तुर्म्रियतेऽप्येक एव हि ॥ १ ॥" इति न किञ्चिदन्तःपुरादि मत्सत्कं, यतश्चैवमतो 'मिथिलायाम्' अस्यां पुरि दह्यमानायां न मे दह्यते 'किञ्चन' स्वल्पमपि, मिथिलाग्रहणं तु न केवलमन्तःपुराद्येव न मत्सम्बन्धि किन्त्वन्यदपि स्वजनजनादि स्वस्वकर्मफलभुजो हि जन्तवः तथा तथाऽस्मिन् भ्राम्यन्तीति किमत्र कस्य स्वं परं चेति ख्यापनार्थं। ततश्चानेन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१५--१६॥

दीप अनुक्रम [२४३--२४४]

प्रागुक्तहेतोरसिद्धत्वमुक्तम्, तत्त्वतो ज्ञानादिव्यतिरिक्तस्य सर्वस्यास्वकीयत्वादित्यादिचर्चः प्राग्वदिति सूत्रार्थः ॥ एतदेव च भावयितुमाह—

चत्तपुत्तकलत्तस्स, निव्वावारस्स भिक्खुणो । पियं न विज्जई किंचि, अप्पियंपि न विज्जइ ॥ १५ ॥
बहुं खु मुणिणो भद्दं, अणगारस्स भिक्खुणो । सव्वतो विप्पमुक्कस्स, एगंतमणुपस्सओ ॥ १६ ॥

व्याख्या—त्यक्ताः–परिहृताः पुत्राश्च–सुताः कलत्राणि च–दारा येन स तथा तस्य, अत एव 'निर्व्यापारस्य' परिहृतकृषिपाशुपाल्यादिक्रियस्य 'भिक्षोः' उक्तरूपस्य 'प्रियम्' इष्टं 'न विद्यते' नास्ति 'किञ्चिद्' अल्पमपि, 'अप्रियमपि' अनिष्टमपि 'न विद्यते' नास्ति, प्रियाप्रियविभागास्तित्वे हि सति पुत्रकलत्रत्यागं न कुर्यादेव, तयोरेवातिप्रतिबन्धविषयत्वादिति भावः, एतेन यदुक्तं–नास्ति किञ्चनेति तत्समर्थितं, तत् स्वकीयत्वं हि पुत्राद्यत्यागतोऽभिष्वङ्गतः स्यात् स च निषिद्ध इति, एवमपि कथं सुखेन वसनं जीवनं वेत्याह–'बहु' विपुलं 'खुः' अवधारणे, बह्वेव 'मुनेः' तपस्विनः 'भद्रं' कल्याणं सुखं वा 'अनगारस्य' 'भिक्षोः' इति च प्राग्वत्, 'सर्वतः' बाह्यादभ्यन्तराच्च, यद्वा-स्वजनात् परिजनाच्च 'विप्रमुक्तस्य' इति पूर्ववत्, 'एकान्तम्' 'एकोऽहं'मित्याद्युक्तरूपैकत्वभावनात्मकम् 'अनुपश्यतः' पर्यालोचयत इति सूत्रद्वयार्थः ॥ पुनरपि 'एय' सूत्रं प्राग्वत् (१७)—

पागारं कारइत्ता णं, गोपुरट्टालगाणि य । उस्सूलए सयग्घी य, ततो गच्छसि खत्तिया ! ॥ १८ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१७--१८॥

दीप अनुक्रम [२४५--२४६]

व्याख्या—प्रकर्षेण मर्यादया च कुर्वन्ति तमिति प्राकारस्तं–धूलीष्टकादिविरचितं 'कारयित्वा' विधाप्य 'गोपुराट्टालकानि च' तत्र गोभिः पूर्यन्त इति गोपुराणि–प्रतोलीद्वाराणि, गोपुरग्रहणमर्गलाकपाटोपलक्षणम्, अट्टालकानि-प्राकारकोष्ठकोपरिवर्तीनि आयोधनस्थानानि 'उस्सूलय'त्ति खातिका परबलपातार्थमुपरिच्छादितगर्ता वा 'सयग्घी य'त्ति शतं घ्नन्तीति शतघ्नयः, ताश्च यन्त्रविशेषरूपाः, 'ततः' एवं सकलं निराकुलीकृत्य 'गच्छसी'ति तिङ्व्यत्ययाद्गच्छ, क्षताद्त्रायत इति क्षत्रियस्तत्सम्बोधनं हे क्षत्रिय !, हेतूपलक्षणं चेदं, स चायं–यः क्षत्रियः स पुररक्षां प्रत्यवहितः, यथोदितोदयादिः, क्षत्रियश्च भवान्, शेषं प्राग्वदिति सूत्रार्थः ॥ ततः 'एयं' (१९) सूत्रं प्राग्वत् ।—

सद्धं णगरिं किच्चा, तवसंवरमग्गलं । खंतिं निउणपागारं, तिगुत्तं दुप्पधंसयं ॥ २० ॥
धणुं परक्कमं किच्चा, जीवं च ईरियं सदा । धिइं च केयणं किच्चा, सच्चेणं परिमंथए ॥ २१ ॥
तवनारायजुत्तेणं, भेत्तूणं कम्मकंचुअं । मुणी विगयसंगामो, भवाओ परिमुच्चति ॥ २२ ॥

व्याख्या—'श्रद्धां' तत्त्वरुचिरूपामशेषगुणाधारतया 'नगरीं'पुरीं 'कृत्वा' हृदि विधाय, अनेन च प्रशमसंवेगादीनि गोपुराणि कृत्वेत्युपलक्ष्यते, अर्गलाकपाटं तर्हि किमित्याह–तपः–अनशनादि बाह्यं ततप्रधानः संवरः–आश्रवनिरोधलक्षणस्तपःसंवरस्तं, मिथ्यात्वादिदुष्टनिवारकत्वेन अर्गला–परिघस्तत्प्रधानं कपाटमप्यर्गलेत्युक्तं, ततोऽर्गलाम्–अर्गलाकपाटं कृत्वेति सम्बन्धः, प्राकारः क इत्याह–'क्षांतिं' क्षमां निपुणमिव निपुणं–शत्रुरक्षणं प्रति श्रद्धाविरोध्यनन्तानु-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१९--२२॥

दीप अनुक्रम [२४७--२५०]

बन्धिकोपोपरोधितया 'प्राकारं' शालं, कृत्वेति सम्बन्धः, उपलक्षणं चैषां मानादिनिरोधिनां मार्दवादीनां, तिसृभिः– अट्टालकोच्चूलकशतघ्नीसंस्थानीयाभिर्मनोगुप्त्यादिभिर्गुप्तिभिः गुप्तं त्रिगुप्तं, मयूरव्यंसकादित्वात् समासः, प्राकारस्य विशेषणं, अत एव दुःखेन प्रधृष्यते—परैरभिभूयत इति दुष्प्रधर्षः स एव दुष्प्रधर्षकस्तं, पठन्ति च–'खंतिं निउणं पागारं तिगुत्तिदुप्पधंसयं'ति, स्पष्टं । इत्थं यदुक्तं 'प्राकारादीन् कारयित्वे'ति तत्प्रतिवचनमुक्तं, सम्प्रति तु प्राकाराट्टालकेष्ववश्यं योद्धव्यं, तच्च सत्सु प्रहरणादिषु प्रतिविधेये च वैरिणि सम्भवत्यत आह—'धनुः' कोदण्डं 'पराक्रमं' जीववीर्योल्लासरूपमुत्साहं कृत्वा 'जीवां च' प्रत्यञ्चां च 'ईर्याम्' ईर्यासमितिमुपलक्षणत्वाच्छेषसमितीश्च 'सदा' सर्वकालं, तद्विरहितस्य जीववीर्यस्याप्यकिञ्चित्करत्वात्, 'धृतिं च' धर्माभिरतिरूपां 'केतनं' शृङ्गमयधनुर्मध्ये काष्ठमयमुष्टिकात्मकं, ननु तदुपरि स्नायुना निबध्यते इदं तु केन बन्धनीयमित्याह–'सत्येन' मनःसत्यादिना 'पलिमंथए'त्ति बध्नीयात्, ततः किमित्याह–'तपः' षड्विधमाभ्यन्तरं परिगृह्यते, तदेव कर्म प्रत्यभिभेदितया 'नाराचः' अयोमयो बाणस्तद्युक्तेन प्रक्रमात् धनुषा, 'भित्त्वा' विदार्य कर्म–ज्ञानावरणादि कञ्चुक इव कर्मकञ्चुकस्तं, इह कर्मकञ्चुकग्रहणेनैवात्मैवोद्धतो वैरीत्युक्तं भवति, वक्ष्यति च–"अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठियसुपट्ठिय"न्ति, कर्मणस्तु कञ्चुकत्वं तद्वृतमिथ्यात्वादिप्रकृत्युदयवर्तिनः श्रद्धानगरमुपरुन्धत आत्मनो दुर्निवारत्वात्, 'मुनिः' प्राग्वत्, कर्मभेदे जेयस्य जितत्वात् विगतः सङ्ग्रामो यस्य यस्माद्वेति विगतसङ्ग्रामः–उपरतायोधनः सन्, भवन्त्यस्मिन् शारीरमानसानि दुःखानीति भवः–संसारस्तस्मात् परिमु-

॥३११॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२३--२४॥

दीप अनुक्रम [२५१--२५२]

च्यते, एतेन च यदुक्तं–'प्राकारं कारयित्वे'त्यादि, तत्सिद्धसाधनम्, इत्थं श्रद्धानगररक्षणाभिधानात् भवतश्च तत्त्वतस्तदविज्ञतेति चोक्तं भवति, न च भवदभिमतप्राकारादिकरणे सकलशारीरमानसक्लेशवियुक्तिलक्षणा मुक्तिरवाप्यते, इतस्तु तदवाप्तिरपीति सूत्रत्रयार्थः ॥ एवं च तेनोक्ते 'एय' २३ सूत्रं प्राग्वत् ।—

पासाए कारइत्ता णं, वद्धमाणगिहाणि य । वालग्गपोइयाओ य, तओ गच्छसि खत्तिया ! ॥ २४ ॥

व्याख्या—प्रसीदन्ति नृणां नयनमनांसि येषु ते प्रासादास्तान् उक्तरूपान् 'वर्द्धमानगृहाणि च' अनेकधा वास्तुविद्याऽभिहितानि 'वालग्गपोइयातो य'त्ति देशीपदं वलभीवाचकं, ततो वलभीश्च कारयित्वा, अन्ये त्वाकाशतडागमध्यस्थितं क्षुल्लकप्रासादमेव 'वालग्गपोइया य'त्ति देशीपदाभिधेयमाहुः, ततस्ताश्च क्रीडास्थानभूताः कारयित्वा, ततोऽनन्तरं गच्छ क्षत्रिय !। एतेन च यः प्रेक्षावान् स सति सामर्थ्ये प्रासादादि कारयिता यथा ब्रह्मदत्तादिः, प्रेक्षावांश्च सति सामर्थ्ये भवान्, इत्यादिहेतुकारणयोः सूचनमकारीति सूत्रार्थः ॥ एवं च शक्रेणोक्ते 'एय' २५ सूत्रं प्राग्वत् ।—

संसयं खलु सो कुणइ, जो मग्गे कुणई घरं । जत्थेव गंतुमिच्छेज्जा, तत्थ कुव्विज्ज सासयं ॥ २६ ॥

व्याख्या—संशीतिः संशयः–इदमित्थं भविष्यति नवेत्युभयांशावलम्बनः प्रत्ययस्तं, 'खलुः' एवकारार्थः, ततः संशयमेव स कुरुते–यथा मम कदाचिद्गमनं भविष्यतीति, यो मार्गे कुरुते गृहं, गमननिश्चये तत्करणायोगाद्, अहं तु न संशयित इत्याशयः, सम्यग्दर्शनादीनां मुक्तिं प्रत्यवन्ध्यहेतुत्वेन मया निश्चितत्वादवाप्तत्वाच्च, यदि नाम

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२६॥

दीप अनुक्रम [२५४]

न संशयितस्तथापि किमिहैव गृहं न कुरुषे ? अत आह–'यत्रैव' विवक्षितप्रदेशे 'गन्तुं' यातुम् 'इच्छेत्' अभिलषेत् 'तत्थ'त्ति व्यवच्छेदफलत्वाद्वाक्यस्य तत्रैव–जिगमिषितप्रदेशे 'कुर्वीत' विदधीत स्वस्य–आत्मन आश्रयो–वेश्म स्वाश्रयस्तं, यद्वा शाश्वतं–नित्यं, प्रक्रमाद्गृहमेव, ततोऽयमर्थः–इदं तावदिहावस्थानं मार्गावस्थानप्रायमेव, यत्र तु जिगमिषितमस्माभिस्तत् मुक्तिपदं, तदाश्रयविधाने च प्रवृत्ता एव वयं, ततस्तत्करणे प्रवृत्तत्वात्कथं प्रेक्षावत्त्वक्षतिः ?, तथा च यः प्रेक्षावानित्याद्यपि तत्त्वतः सिद्धसाधनतयैवावस्थितमिति सूत्रार्थः ॥ ततः पुनरपि 'पय' (२७) सूत्रं प्राग्वत् ।—

आमोसे लोमहारे य, गंठिभेए य तक्करे । णगरस्स खेमं काऊणं, ततो गच्छसि खत्तिया ! ॥ २८ ॥

व्याख्या—आ–समन्तात् मुष्णन्ति–स्तैन्यं कुर्वन्तीत्यामोषास्तान्, लोमानि–रोमाणि हरन्ति–अपनयन्ति प्राणिनां ये ते लोमहाराः, किमुक्तं भवति ?–अतिनिस्त्रिंशतया आत्मविघाताशङ्कया च प्राणान् विहत्यैव ततः सर्वस्वमपहरन्ति, तथा च वृद्धाः–लोमहाराः प्राणहारा इति, तांश्च, ग्रन्थि–द्रव्यसम्बन्धिनं भिन्दन्ति—घुर्घुरकद्विकर्तिकादिना विदारयन्तीति ग्रन्थिभेदास्तान्, चशब्दो भिन्नक्रमः, ततस्तदेव कुर्वन्तीति तस्कराः—सर्वकालं चौर्यकारिणस्तांश्च, यत आहुर्वैयाकरणाः—'तद्बृहतोः करपत्योश्चौरदेवतयोः सुट् तलोपश्च' (६-१-१५७ वार्त्तिके) इह चोत्साद्येति गम्यते 'प्रविश्य पिण्डी' मित्युक्तौ भक्षयेतिवत्, यद्वा सप्तम्येवेयं बह्वर्थे चैकवचनं, ततश्चामोषादिषूपताप-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२९--३०॥

दीप अनुक्रम [२५७--२५८]

कारिषु सत्सु 'नगरस्य' पुरस्य 'क्षेमं' सुस्थं 'कृत्वा' विधाय 'ततः' तदनन्तरं गच्छ क्षत्रिय !, एतेनापि यः सधर्मा नृपतिः स इहाधर्म्मकारिनिग्रहकृत्, यथा भरतादिः, सधर्म्मनृपतिश्च भवानित्यादिहेतुकारणसूचना कृतैवेति सूत्रार्थः ॥ इत्थं शक्रोक्तौ 'एय' २९ सूत्रं प्राग्वत् ।—

असइं तु मणुस्सेहिं, मिच्छादंडो पउंजइ । अकारिणोऽत्थ बज्झंति, मुच्चई कारओ जणो ॥ ३० ॥

व्याख्या—'असकृद्' अनेकधा, 'तुः' एवकारार्थः, ततश्चासकृदेव 'मनुष्यैः' मनुजैः 'मिथ्या' व्यलीकः, किमुक्तं भवति ?–अनपराधिष्वज्ञानाहङ्कारादिहेतुभिरपराधिष्विव दण्डनं दण्डः—देशत्यागशरीरनिग्रहादिः 'प्रयुज्यते' व्यापार्यते, कथमिदमित्याह–'अकारिणः' आमोषाद्यविधायिनः 'अत्र' इत्यस्मिन् प्रत्यक्षत उपलभ्यमाने मनुष्यलोके 'बध्यन्ते' निगडादिभिर्नियन्त्र्यन्ते 'मुच्यते' त्यज्यते 'कारकः' विधायकः, प्रकृतत्वादामोषणादीनां, 'जनः' लोकः, तदनेन यदुक्तं प्राग्–'आमोषकाद्युत्सादनेन नगरस्य क्षेमं कृत्वा गच्छेति, तत्र तेषां ज्ञातुमशक्यतया क्षेमकरणस्याप्यशक्यत्वमुक्तं, यत्तु 'यः सधर्मेत्यादि' सूचितं, तत्रापरिज्ञानतोऽनपराधिनामपि दण्डमादधतां सधर्मनृपतित्वमपि तावच्चिन्त्यमित्यसिद्धता हेतोरिति सूत्रार्थः ॥ 'एय' ३१ सूत्रं प्राग्वत्, नवरमियता स्वजनान्तःपुरपुरादिप्रासादनृपतिधर्मविषयः किमस्याभिष्वङ्गोऽस्ति ? नेति वेति विमृश्य सम्प्रति द्वेषाभावं विवेकुमिच्छुर्विजिगीषुतामूलत्वात् द्वेषस्य तामेव परीक्षितुकामः शक्र इदमुक्तवान्—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३१--३२॥

दीप अनुक्रम [२५९--२६०]

जे केइ पत्थिवा तुब्भं, नानमंति नराहिवा ! । वसे ते ठावइत्ता णं, तओ गच्छसि खत्तिया ! ॥ ३२ ॥

व्याख्या—ये केचित् इति सामस्त्योपदर्शकं 'पार्थिवाः' भूपालाः, 'तुब्भं'ति तुभ्यं 'नानमन्ति' न मर्यादया ग्रहीभवन्ति, तुभ्यमिति च नमतियोगेऽपि चतुर्थीदर्शनात्, 'मात्रे पित्रे च सवित्रे च नमामी'त्यादिवददुष्टमेव, पठ्यते च—'तुब्भं'ति, तत्र च तवेति शेषविवक्षया षष्ठी, 'नराहिवा' इत्यत्र अकारो 'ह्रस्वदीर्घौ मिथ' इतिलक्षणात्, ततश्च हे 'नराधिप !' नृपते ! 'वशे' इत्यात्मायत्तौ 'तानि'ति अनानमत्पार्थिवान् 'स्थापयित्वा' निवेश्य कृत्वेतियावत्, ततो गच्छ क्षत्रिय ! । इहापि यो नृपतिः सोऽनमत्पार्थिवनमयिता, यथा भरतादिः, इत्यादिहेतुकारणे अर्थतः आक्षिप्त इति सूत्रार्थः ॥ एवं तु सुरपतिनोक्ते 'एय' ३३ सूत्रं प्राग्वत् ।—

जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे । एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ ॥ ३४ ॥

अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ ? । अप्पाणमेव अप्पाणं, जिणित्ता सुहमेहति ॥ ३५ ॥

पंचिंदियाणि कोहं, माणं मायं तहेव लोहं च । दुज्जयं चेव अप्पाणं, सव्वमप्पे जिए जितं ॥ ३६ ॥

व्याख्या—'य' इत्यनुद्दिष्टनिर्देशे 'सहस्रं' दशशतात्मकं सहस्राणां प्रक्रमात् सुभटसम्बन्धिनां 'सङ्ग्रामे' युद्धे 'दुर्जये' दुरापपरपरिभवे 'जयेद्' 'अभिभवेत्, सम्भावने लिङ्, 'एकम्' अद्वितीयं 'जयेत्' यदि कथञ्चिज्जीववीर्योल्लासतोऽभिभवेत्, कम् ?–'आत्मानं' स्वं, दुराचारप्रवृत्तमिति गम्यते, 'एषः' अनन्तरोक्तः 'से' इति तस्य जेतुः सुभटदश-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३३--३६॥

दीप अनुक्रम [२६१--२६२]

शतसहस्रजयात् 'परमः' प्रकृष्टः 'जयः' परेषामभिभवः, तदनेनाऽऽत्मन एवातिदुर्जयत्वमुक्तं, तथा च–'अप्पाणमेव'त्ति तृतीयार्थे द्वितीया, ततश्चाऽऽत्मनैव सह 'युध्यस्व' सङ्ग्रामं कुरु, यद्वा युद्धेरन्तर्भावितण्यर्थत्वात् युध्यस्वेति योधयस्व, कम् ?–आत्मानं, इहाप्यात्मनैव सहेति शेषः, किं ?, न किञ्चिदित्यर्थः, 'ते' तव 'युद्धेन' सङ्ग्रामेण, 'बाह्यत' इति बाह्यं पार्थिवादिकमाश्रित्य, यदिवा बाह्यत इति तृतीयार्थे तसिः, ततो बाह्येन युद्धेनेति सम्बध्यते, एवं च 'अप्पाणमेव'त्ति आत्मनैवान्यव्यतिरिक्तेनाऽऽत्मानं स्वं 'जइत्त'ति जित्वा 'सुखम्' ऐकान्तिकात्यन्तिकमुक्तिसुखात्मकम् 'एधते' इत्यनेकार्थत्वाद्धातूनां प्राप्नोति, अथवा 'सुहमेहए'त्ति शुभं–पुण्यमेधते–अन्तर्भावितण्यर्थत्वात् वृद्धिं नयति। कथमात्मन्येव जिते सुखावाप्तिरित्याह—'पञ्चेन्द्रियाणि' श्रोत्रादीनि 'क्रोधः' कोपः 'मानः' अहङ्कारः 'माया' निकृतिः तथैव 'लोभश्च' गार्द्धलक्षणः 'दुर्जयः' दुरभिभवः, 'चः' समुच्चये, 'एव' इति पूरणे, अतति–सततं गच्छति तानि तान्यध्यवसायस्थानान्तराणीति व्युत्पत्तेः आत्मा–मनः, सर्वत्र च सूत्रत्वात् नपा निर्देशः, 'सर्वम्' अशेषमिन्द्रियादि, उपलक्षणत्वान्मिथ्यात्वादि च, 'आत्मनि' जीवे 'जिते' अभिभूते 'जित'मिति अभिभूतमेव। ननु मनसि जिते जितान्येवेन्द्रियादीनीति किं पृथक् तज्जयाभिधानेन ?, सत्यं, तथापि प्रत्येकं दुर्जयत्वख्यापनाय पृथगुपन्यास इत्यदोषः, यद्वा–'दुज्जयं चेव अप्पाणं'ति चकारो हेत्वर्थः, 'एवः' अवधारणे भिन्नक्रमश्च आत्मशब्दादनन्तरं द्रष्टव्यः,

१ नपुंसकत्वेनेत्यर्थः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३७--३८॥

दीप अनुक्रम [२६५--२६६]

ततश्च–यस्माद् 'आत्मैव' जीव एव दुर्जयः ततः सर्वमिन्द्रियाद्यात्मनि जिते जितम्, अनेन चेन्द्रियादीनामेव दुःखहेतुत्वात्तज्जयतः सुखप्राप्तिः समर्थिता भवति। एवं च फलोपदर्शनद्वारेणैवंविधैव विजिगीषुता श्रेयसीत्याचष्टे, ततश्च यो नृपतिरित्याद्यपि तत्त्वतो विजिगीषुत्वदर्शनात् सिद्धसाधनतया प्रत्युक्तमिति सूत्रार्थः ॥ भूयोऽपि–'एय' ३७ सूत्रं प्राग्वत्। नवरमनन्तरपरीक्षातो द्वेषोऽप्यनेन परिहृत इति निश्चित्य जिनप्रणीतधर्मे प्रति स्थैर्यं परीक्षितुकामः शक्र इदमवोचत्—

जइत्ता विउले जन्ने, भोइत्ता समणमाहणे। दच्चा भोच्चा य जट्ठा य, ततो गच्छसि खत्तिया ! ॥ ३९ ॥

व्याख्या—'जइत्त'त्ति याजयित्वा 'विपुलान्' विस्तीर्णान् 'यज्ञान्' यागान् 'भोजयित्वा' अभ्यवहार्य श्रमणाश्च–निर्ग्रन्थादयो ब्राह्मणाश्च–द्विजाः श्रमणब्राह्मणास्तान्, 'दत्त्वा' द्विजादिभ्यो गोभूमिसुवर्णादीन्, भुक्त्वा च मनोज्ञशब्दादीन् इष्ट्वा च राजर्षित्वावासौ स्वयं यागान् ततो गच्छ क्षत्रिय !, अनेन यद्यत्प्राणिप्रीतिकरं तत्तद्धर्माय, यथा हिंसोपरमादि, प्राणिप्रीतिकराणि चामूनि यागादीनीत्यादिहेतुकारणे सूचिते एवेति सूत्रार्थः ॥ शक्रवचनानन्तरम् 'एय' ३९ सूत्रं प्राग्वत्।—

जो सहस्सं सहस्साणं मासे मासे गवं दए। तस्सावि संजमो सेओ, अदितस्सवि किंचणं ॥ ४० ॥

व्याख्या—यः 'सहस्रं सहस्राणां' दशलक्षात्मकं मासे मासे 'गवां' प्रतीतानां 'दए'त्ति दद्यात्, 'तस्यापि' एवं-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३९--४०॥

दीप अनुक्रम [२६७--२६८]

विधस्य दातुर्यदि कथञ्चिच्चारित्रमोहनीयक्षयोपशमेन 'संयमः' आश्रवादिविरमणात्मकः स्यात् तदा स एव 'श्रेयान्' अतिशयप्रशस्यः, कथंभूतस्यापि ?–'अददतोऽपि' अयच्छतोऽपि 'किञ्चन' स्वल्पमपि वस्तु, यद्वा 'तस्साविं'त्ति तस्मादप्युक्तरूपाद्दातुरवधित्वेन विवक्षितात्, संयच्छति–प्राणिहिंसादिभ्यः सम्यगुपरमतीति सर्वधातूनां पचादिषु दर्शनादिति संयमः–संयमवान्, साधुरित्यर्थः, 'श्रेयान्' प्रशस्यतरः, अथवा तस्यापि दातुः प्रक्रमात् गोदानधर्मात् 'संयमः' उक्तरूपः श्रेयान्, शेषं पूर्ववत्, गोदानं चेह यागाद्युपलक्षणम्, अतिप्रभूतजनाचरितमित्युपात्तम्, एवं च संयमस्य प्रशस्यतरत्वमभिदधता यागादीनां सावद्यत्वमर्थादापादितं, तथा च यज्ञप्रणेतृभिरुक्तम्–"षट् शतानि नियुज्यन्ते, पशूनां मध्यमेऽहनि । अश्वमेधस्य वचनान्न्यूनानि पशुभिस्त्रिभिः ॥ १ ॥" इत्यपशुवधे च कथमसावद्यता नाम ?, तथा दानान्यप्यशनादिविषयाणि धर्म्मोपकरणगोचराणि च धर्माय वर्ण्यन्ते, यत आह–"अशनादीनि दानानि, धर्म्मोपकरणानि च । साधुभ्यः साधुयोग्यानि, देयानि विधिना बुधैः ॥ १ ॥" शेषाणि तु सुवर्णगोभूम्यादीनि प्राण्युपमर्दहेतुतया सावद्यान्येव, भोगानां तु सावद्यत्वं सुप्रसिद्धं । तथा च प्राणिप्रीतिकरत्वादित्यसिद्धो हेतुः, प्रयोगश्च–यत्सावद्यं न तत् प्राणिप्रीतिकरं, यथा हिंसादि, सावद्यानि च यागादीनि इति सूत्रार्थः ॥ 'एयमट्ठं' ४१ सूत्रं प्राग्वत् । नवरमित्थं जिनधर्मस्थैर्यमवधार्य प्रव्रज्यां प्रति दृढोऽयमुत नेति परीक्षणार्थं शक्र इदमवादीत्—

घोरासमं चइत्ता णं, अन्नं पत्थेसि आसमं । इहेव पोसहरओ, भवाहि मणुयाहिवा ! ॥ ४२ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४१--४२॥

दीप अनुक्रम [२६९--२७०]

व्याख्या—'घोरः' अत्यन्तदुरनुचरः, स चासावाश्रमश्च आङिति–स्वपरप्रयोजनाभिव्याप्त्या श्राम्यन्ति–खेदमनुभवन्त्यस्मिन्निति कृत्वा घोराश्रमो–गार्हस्थ्यं, तस्यैवाल्पसत्त्वैर्दुष्करत्वात्, यत आहुः–"गृहाश्रमसमो धर्मो, न भूतो न भविष्यति । पालयन्ति नराः शूराः, क्लीबाः पाखण्डमाश्रिताः ॥ १ ॥" तं 'त्यक्त्वा' अपहाय 'जहित्ता णं'ति क्वचित् पाठः, तत्र च हित्वा–'अन्यत्' एतद्व्यतिरिक्तं कृषिपाशुपाल्यादि अशक्तकातरजनातिनिन्दितं 'प्रार्थयसे' अभिलषसि, 'आश्रमं' प्रव्रज्यालक्षणं, नेदं क्लीबसत्त्वानुचरितं भवादृशानामुचितमित्यभिप्रायः । तर्हि किमुचितमित्याह—'इह' अस्मिन्नेव गृहाश्रमे, स्थित इति गम्यते, पोषं–धर्मपुष्टिं धत्त इति पोषधः–अष्टम्यादितिथिषु व्रतविशेषः, तत्र रतः–आसक्तः पोषधरतः 'भवाहि'त्ति भव, अणुव्रताद्युपलक्षणमेतद्, अस्यैव चोपादानं पोषधदिनेष्ववश्यंभावतत्तपोऽनुष्ठानख्यापकं, यत आह आससेनः–"सर्वेष्वपि तपोयोगः, प्रशस्तः कालपर्वसु । अष्टम्यां पञ्चदश्यां च, नियतं पोषधं वसेद् ॥ १ ॥" इति 'मनुजाधिप !' नृपते ! । अत्र च घोरपदेन हेतुराक्षिप्तः, तथाहि–यद्यद् घोरं तत्तद् धर्मार्थिनाऽनुष्ठेयं, यथाऽनशनादि, तथा चायं गृहाश्रमः, शेषमेतदनुसारतोऽभ्यूह्यमिति सूत्रार्थः ॥ ततश्च—'एय' सूत्रं ॥ ४३ ॥ प्राग्वत् ।—

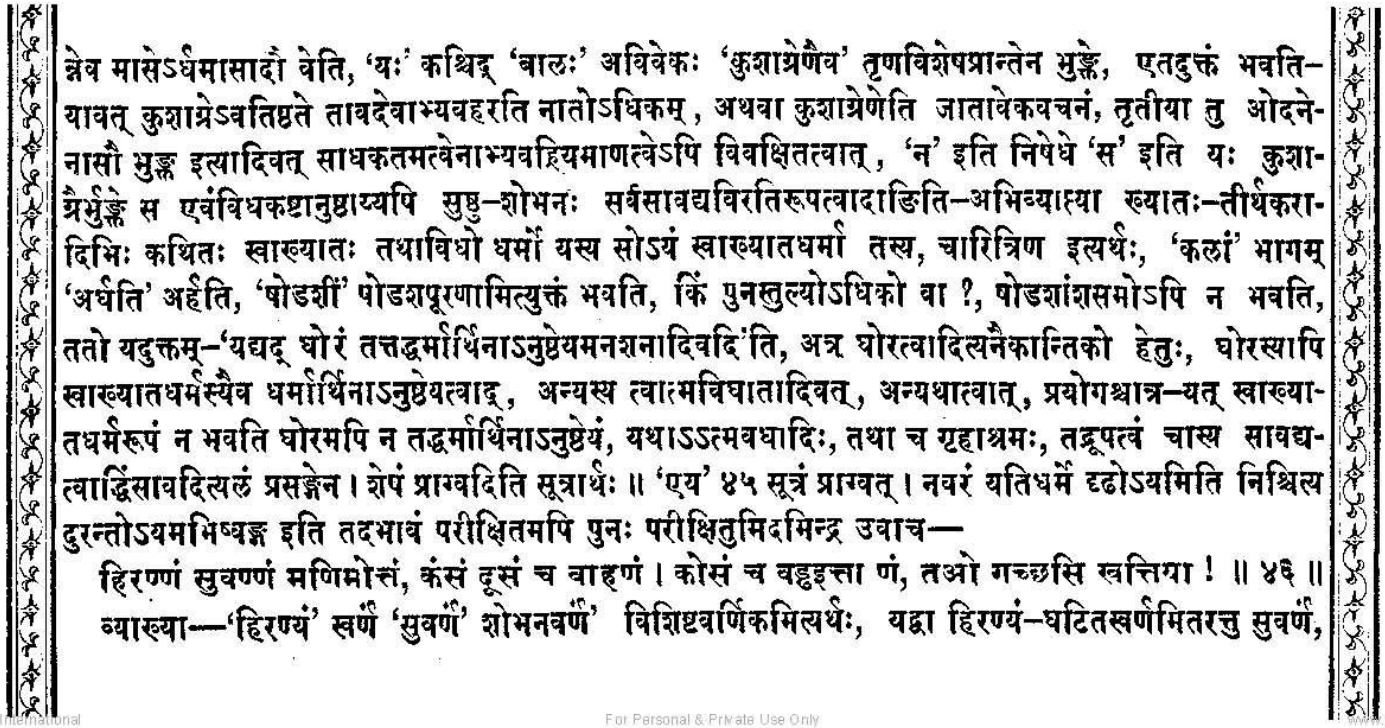
मासे मासे उ जो बालो, कुसग्गेणं तु भुंजइ । न सो सुक्खायधम्मस्स, कलं अग्घइ सोलसिं ॥ ४४ ॥

व्याख्या—'मासे मासे' इति वीप्सायां द्विर्वचनं, 'तुः' इहोत्तरत्र चैवकारार्थः, ततश्च मासे मास एव, न त्वेकस्मि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४३--४४॥

दीप अनुक्रम [२७१--२७२]



ज्ञेव मासेऽर्धमासादौ वेति, 'यः' कश्चिद् 'बालः' अविवेकः 'कुशाग्रेणैव' तृणविशेषप्रान्तेन भुङ्क्ते, एतदुक्तं भवति–यावत् कुशाग्रेऽवतिष्ठते तावदेवाभ्यवहरति नातोऽधिकम्, अथवा कुशाग्रेणेति जातावेकवचनं, तृतीया तु ओदनेनासौ भुङ्क्त इत्यादिवत् साधकतमत्वेनाभ्यवहियमाणत्वेऽपि विवक्षितत्वात्, 'न' इति निषेधे 'स' इति यः कुशाग्रैर्भुङ्क्ते स एवंविधकष्टानुष्ठाय्यपि सुष्ठु–शोभनः सर्वसावद्यविरतिरूपत्वादाङिति–अभिव्याप्त्या ख्यातः–तीर्थकरादिभिः कथितः स्वाख्यातः तथाविधो धर्मो यस्य सोऽयं स्वाख्यातधर्मा तस्य, चारित्रिण इत्यर्थः, 'कलां' भागम् 'अर्घति' अर्हति, 'षोडशीं' षोडशपूरणामित्युक्तं भवति, किं पुनस्तुल्योऽधिको वा ?, षोडशांशसमोऽपि न भवति, ततो यदुक्तम्–'यद्यद् घोरं तत्तद्धर्मार्थिनाऽनुष्ठेयमनशनादिवदिति, अत्र घोरत्वादित्यनैकान्तिको हेतुः, घोरस्यापि स्वाख्यातधर्मस्यैव धर्मार्थिनाऽनुष्ठेयत्वाद्, अन्यस्य त्वात्मविघातादिवत्, अन्यथात्वात्, प्रयोगश्चात्र–यत् स्वाख्यातधर्मरूपं न भवति घोरमपि न तद्धर्मार्थिनाऽनुष्ठेयं, यथाऽऽत्मवधादिः, तथा च गृहाश्रमः, तद्रूपत्वं चास्य सावद्यत्वाद्धिंसावदित्यलं प्रसङ्गेन। शेषं प्राग्वदिति सूत्रार्थः ॥ 'एय' ४५ सूत्रं प्राग्वत्। नवरं यतिधर्मे दृढोऽयमिति निश्चित्य दुरन्तोऽयमभिष्वङ्ग इति तदभावं परीक्षितमपि पुनः परीक्षितुमिदमिन्द्र उवाच—

हिरण्णं सुवण्णं मणिमोत्तं, कंसं दूसं च वाहणं। कोसं च वड्ढइत्ता णं, तओ गच्छसि खत्तिया ! ॥ ४६ ॥

व्याख्या—'हिरण्यं' रूप्यं 'सुवर्णं' शोभनवर्णं विशिष्टवर्णिकमित्यर्थः, यद्वा हिरण्यं–घटितरूपर्णमितरत्तु सुवर्णं,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४५--४६॥

दीप अनुक्रम [२७३--२७४]

मणयश्च–इन्द्रनीलादयो मुक्ताश्च–मौक्तिकानि मणिमुक्तं, तथा 'कांस्यं' कांस्यभाजनादि 'दूष्यं' वस्त्राणि, 'चः' स्वगतानेकभेदसंसूचकः, 'वाहनं' रथाश्वादि, पठन्ति च–'सवाहणं'ति सह वाहनैर्वर्तत इति सवाहनं हिरण्यादीति सम्बन्धः, 'कोषं' भाण्डागारं चर्मलताद्यनेकवस्तुरूपं 'वड्ढावइत्ता णं'ति वृद्धिं प्रापय्य ततः समस्तवस्तुविषयेच्छापरिपूर्त्तौ गच्छ क्षत्रिय !, अयमाशयः–यः साकाङ्क्षो नासौ धर्मानुष्ठानयोग्यो भवति, यथा मम्मणवणिक्, साकाङ्क्षश्च भवान्, आकाङ्क्षणीयहिरण्यादिवस्त्वपरिपूर्त्तेः, तथाविधद्रमकवदिति । शेषं प्राग्वदिति सूत्रार्थः ॥ ततः 'एयं' ४७ सूत्रं प्राग्वत् ।—

सुवण्ण रूप्पस्स य पव्वया भवे, सिया हु केलाससमा असंखया ।
नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि, इच्छा हु आगाससमा अणंतया ॥ ४८ ॥
पुढवी साली जवा चेव, हिरण्णं पसुभिस्सह । पडिपुन्नं नालमेगस्स, इइ विज्जा तवं चरे ॥ ४९ ॥

व्याख्या—सुवर्णं च रूप्यं च सुवर्णरूप्यमिति समाहारस्तस्य, 'तुः' पूरणे, यद्वाऽऽर्षत्वाद्विभक्तिलोपः, तुशब्दः समुच्चये, ततः स्वर्णस्य रूप्यस्य च पर्वता इव पर्वताः–पर्वतप्रमाणाः राशयो 'भवन्ति' भवेयुः, पर्वतप्रमाणत्वेऽपि च लघुपर्वतप्रमाणा एव स्युरत आह–'सिया हु'त्ति स्यात्–कदाचित्, हुरवधारणे भिन्नक्रमश्च, ततः 'कैलाससमा' एव कैलासपर्वततुल्या एव, न त्वन्यलघुपर्वतप्रमाणाः, तेऽपि 'असङ्ख्यकाः' सङ्ख्याविरहिताः, न तु द्वित्रा एव, नरस्य लुब्धस्य, उपलक्षणत्वात् स्त्रियाः पण्डकस्य वा, न तैः कैलाशसमैरपि सुवर्णरूप्यपर्वतैः 'किञ्चिदपि' अल्पमपि परितोषोत्पादनं प्रति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४७--४९॥

दीप अनुक्रम [२७५--२७७]

क्रियत इति शेषः, पठ्यते च–'न तेणं'ति अत्र च सूत्रत्वाद्वचनव्यत्ययः, कुतः पुनरिदमित्याह–'इच्छा' अभिलाषः 'हु'-रिति यस्मादाकाशेन समा–तुल्या आकाशसमा 'अनन्तिका' अन्तरहिता, तथा चैतदनुवादी वाचकः–"न तुष्टिरिह शताज्जन्तोर्न सहस्रान्न कोटितः । न राज्यान्नैव देवत्वान्नेन्द्रत्वादपि विद्यते ॥१॥" किं सुवर्णरूप्ये केवले एव नेच्छा-परिपूर्तये इत्याशङ्क्याह–'पृथ्वी' मही 'शालयः' लोहितशाल्यादयः 'यवाः' प्रतीताः, 'चः' शेषधान्यसमुच्चयार्थः, 'एवः' अवधारणे स च भिन्नक्रमो नेत्यस्यानन्तरं योक्ष्यते, 'हिरण्यं' सुवर्णं, ताम्राद्युपलक्षणमेतत्, 'पशुभिः' गवा-श्वादिभिः 'सह' सार्धं 'प्रतिपूर्णं' समस्तं, पठन्ति च–'सव्वं तं'ति सर्वम्–अशेषं, न तु कियदेव तत्—पृथिव्यादि 'न' इति नैव 'अलं' समर्थं, प्रक्रमादिच्छापरिपूर्तये 'एकस्य' अद्वितीयस्य, जन्तोरिति गम्यते, 'इति' एतत् श्लोक-द्वयोक्तं 'विज्ज'त्ति सूत्रत्वाद् विदित्वा, यद्वा 'इती'त्यस्माद्धेतोः 'विद्वान्' पण्डितः 'तपः' द्वादशविधं 'चरेत्' आसेवेत, तत एव निःस्पृहतयेच्छापरिपूर्तिसम्भवादितिभावः । अनेन च सन्तोष एव निराकाङ्क्षतायां हेतुः, न तु हिरण्या-दिवर्धनमित्युक्तं, तथा च हिरण्यादि वर्धयित्वेत्यत्र यदनुमानमुक्तं, तत्र साकाङ्क्षत्वलक्षणो हेतुरसिद्धः, न चाकाङ्क्षणी-यवस्त्वपरिपूर्तेस्तस्य सिद्धत्वं, सन्तुष्टतया ममाऽऽकाङ्क्षणीयवस्तुन एवाभावादिति सूत्रार्थः ॥ भूयोऽपि 'एयं' ५० सूत्रं प्राग्वत् । नवरमविद्यमानविषयेषु विषयवाञ्छाविनिवृत्तोऽयमिति निश्चित्य सत्सु तेष्वभिष्वङ्गोऽस्ति उत न वेति विवेचयितुमिन्द्र उवाच—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४७--४९॥

दीप अनुक्रम [२७५--२७७]

अच्छेरगमब्भुदए, भोए जहित्तु पत्थिवा !। असंते कामे पत्थेसि, संकप्पेण विहम्मसि ॥ ५१ ॥

व्याख्या—'अच्छेरगं'ति आश्चर्यं वर्तते, यत् त्वमेवंविधोऽपि 'अब्भुदए'त्ति अद्भुतकान् आश्चर्यरूपान् 'भोगान्' कामान् 'जहासि' त्यजसि, पठ्यते च–'चयसि'त्ति, 'पार्थिव !' पृथिवीपते !, पाठान्तरतश्च क्षत्रिय !, अथवा 'अब्भुयए'त्ति अभ्युदये, ततश्च यदभ्युदयेऽपि भोगांस्त्वं जहासि तदाश्चर्यं वर्तते, तथा तत्त्यागतश्च 'असतः' अविद्यमानान् कामान् 'प्रार्थयसे' अभिलषसि यत्तदप्याश्चर्यमिति सम्बन्धः, अथवाऽधिकस्तवात्र दोषः, 'सङ्कल्पेन' उत्तरोत्तराप्राप्तभोगाभिलाषरूपेण विकल्पेन 'विहन्यसे' विविधं बाध्यसे, एवंविधसङ्कल्पस्यापर्यवसितत्वाद्, उक्तं हि—"अमीषां स्थूलसूक्ष्माणामिन्द्रियार्थविधायिनाम्। शक्रादयोऽपि नो तृप्तिं, विशेषाणामुपागताः ॥ १ ॥" यद्वा 'अच्छेरगमब्भुदए'त्ति मकारोऽलाक्षणिकः; ततश्च–आश्चर्याद्भुतयोरेकार्थत्वेऽप्युपादानमतिशयख्यापनार्थम्–अतिशयाद्भुतान् भोगान् जहासि पार्थिव ! असतश्च कामान् प्रार्थयसि यत्तत्सङ्कल्पेनैव उक्तरूपेण विहन्यसे–बाध्यसे, कथं ह्यन्यथा विवेकिनस्तवैतत् सम्भवेत्?। अनेन च यः सद्विवेको नासौ प्राप्तान् विषयानप्राप्ताकाङ्क्षया परिहरति, यथा ब्रह्मदत्तचक्रवर्त्यादिः, सद्विवेकश्च भवानित्यादिनीत्या हेतुकारणे सूचिते इति सूत्रार्थः॥ तदनु 'एयं' ५२ सूत्रं प्राग्वत्।–

सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोपमा। कामे पत्थेमाणा, अकामा जंति दुग्गइं ॥ ५३ ॥

व्याख्या—शलति–देहान्तश्चलतीति शल्यं–शरीरान्तःप्रविष्टं तोमरादि शल्यमिव शल्यं, के ते?–काम्यमानत्वात्

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥५२--५३॥

दीप अनुक्रम [२८०--२८१]

कामाः–मनोज्ञशब्दादयः, यथा हि शल्यमन्तश्चलद्विविधबाधाविधायि तथैतेऽपि, तत्त्वत एषामपि सदा बाधाविधायित्वात्, तथा वेवेष्टि–व्याप्नोतीति विषं–तालपुटादि, विषमिव विषं कामाः, यथैव हि तदुपभुज्यमानं मधुरमित्यापातसुन्दरमिवाऽऽभाति, अथ च परिणतावतिदारुणमेवमेतेऽपि कामाः, तथा कामाः आस्यो–दंष्ट्रास्तासु विषमस्येत्याशीविषस्तदुपमाः, यथा ह्ययमज्ञैरवलोक्यमानः स्फुरन्मणिफणाभूषित इति शोभन इव विभाव्यते, स्पर्शनादिभिरनुभूयमानश्च विनाशायैव भवति तथैतेऽपि कामाः, किं च–कामान् 'प्रार्थयमाना' अभिलषन्तोऽपिशब्दस्य लुप्तनिर्दिष्टत्वात् प्रार्थयमाना अपि 'अकामा' इष्यमाणकामाभावात् 'यान्ति' गच्छन्ति 'दुर्गतिं' दुष्टां नरकादिगतिं, तदनेन न केवलं शल्यादिवदनुभूयमाना एवामी दोषकारिणः, किन्तु प्रार्थ्यमाना अपीत्युक्तं भवति । तथा च–'यः सद्विवेको नासौ प्राप्तमप्राप्तकाङ्क्षया' इत्यादौ सद्विवेकत्वमनैकान्तिको हेतुः, न ह्ययमेकान्तः यथा प्राप्तमप्राप्तार्थे न परिह्रियते, प्राप्तस्याप्यपायहेतोः तदुच्छेदकाप्राप्त्यर्थं विवेकिभिः परिह्रियमाणत्वाद्, अनभ्युपगतोपालम्भश्चायं, मुमुक्षूणां क्वचिदाकाङ्क्षाया एवासम्भवात्, उक्तं हि–'मोक्षे भवे च सर्वत्र, निःस्पृहो मुनिसत्तमः' इति सूत्रार्थः ॥ कथं पुनः कामान् प्रार्थयमाना दुर्गतिं यान्ति ?, अत आह—

अहे वयइ कोहेणं, माणेणं अहमा गई । माया गइपडिग्घाओ, लोहाओ दुहओ भयं ॥ ५४ ॥

व्याख्या—'अधो' नरकगतौ 'व्रजति' गच्छति 'क्रोधेन' कोपेन, 'मानेन' अहङ्कारेण 'अधमा' नीचा गतिः, भव-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥५४॥

दीप अनुक्रम [२८२]

तीति गम्यते, 'माय'त्ति सुब्व्यत्ययात् 'मायया' परवञ्चनात्मिकया गतेः–प्रस्तावात् सुगतेः प्रतिघातो–विनाशो गतिप्रतिघातो भवति, 'लोभाद्' गार्द्धर्यलक्षणात् 'दुहतो'त्ति द्विधा द्विप्रकारम्–ऐहिकं पारत्रिकं च भविष्यति अस्मादिति भयं—दुःखं, तदाशङ्कातः साध्वसं वा, कामेषु हि प्रार्थ्यमानेष्ववश्यंभावी क्रोधादिसम्भवः, स चेदृग् इति कथं न तत्प्रार्थनातो दुर्गतिगमनमित्यभिप्रायः । यद्वा–सर्वमपि यदिन्द्रेणोक्तं तत् कषायानुपातीति तद्विपाकानुवर्णनमिदमिति सूत्रार्थः ॥ एवं बहुभिरप्युपायैस्तमिन्द्रः क्षोभयितुमशक्तः किमकरोदित्याह—

अवउज्झिअरूवं माहणरूवं विउरुव्विऊण इंदत्तं । वंदति अभित्थुणंतो इमाहि महुराहि वग्गूहिं ॥ ५५ ॥
अहो ते णिज्जिओ कोहो, अहो माणो पराइओ । अहो ते णिरक्किया माया, अहो लोभो वसीकओ ॥ ५६ ॥
अहो ते अज्जवं साहू, अहो ते साहु ! मद्दवं । अहो ते उत्तमा खंती, अहो ते मुत्ति उत्तमा ॥ ५७ ॥

'अवउज्झिय'त्ति अपोह्य त्यक्त्वा 'ब्राह्मणरूपं' द्विजवर्णवेषं 'विउरुविऊणं'ति विकृत्य 'इन्द्रत्वम्' उत्तरवैक्रियरूपमिन्द्रस्वभावं 'वन्दते' अनेकार्थत्वात् प्रणमति 'अभिष्टुवन्' आभिमुख्येन स्तुतिं कुर्वन् , 'आभिः' अनन्तरं वक्ष्यमाणाभिः 'मधुराभिः' श्रुतिसुखाभिः' 'वग्गूहिं'ति आर्षत्वाद्वाग्भिः–वाणीभिः, तद्यथा–'अहो' इति विस्मये 'ते' इति त्वया नितराम्—अतिशयेन जितः अभिभूतः निर्जितः 'क्रोधः' कोपः, यतस्त्वमनमत्पार्थिववशीकरणप्रेरणायामपि न क्षुभित इत्यभिप्रायः, तथा 'अहो' 'ते' त्वया 'मानः' अहमितिप्रत्ययहेतुः 'पराजितः' अभिभूतः, यस्त्वं मन्दिरं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥५५--५७॥

दीप अनुक्रम [२८३--२८५]

दह्यते इत्याद्युक्तेऽपि कथं मयि जीवतीदमिति नाहङ्कृतिं कृतवानिति, तथा 'अहो ते णरक्किय'त्ति प्राकृतत्वान्निराकृता–अपास्ता माया, यस्त्वं पुररक्षाहेतुषु प्राकाराट्टालकोच्चूलकादिषु निकृतिहेतुकेष्वामोषकोच्छेदनादिषु च न मनो निहितवान्, तथा च अहो ते लोभो 'वशीकृत' इति नियन्त्रितः, यस्त्वं हिरण्यादि वर्द्धयित्वा गच्छेति सहेतुकमभिहितोऽपीच्छाया आकाशसमत्वमेवोदाहृतवान्, अत एव अहो 'ते' तव 'आर्जवम्' ऋजुत्वं 'साधु' शोभनम्, अहो ते साधु 'मार्दवं' मृदुत्वम्, अहो ते 'उत्तमा' प्रधाना 'क्षान्तिः' कोपोपशमलक्षणा, अहो ते 'मुक्तिः' निर्लोभता उत्तमा, व्यत्ययनिर्देशस्त्वनानुपूर्व्यपि प्ररूपणाऽङ्गमितिकृत्वेति सूत्रत्रयार्थः ॥ इत्थं गुणोपवर्णनद्वारेणाभिष्टुत्य सम्प्रति फलोपदर्शनद्वारेण स्तुवन्नाह—

इहंऽसि उत्तमो भंते !, पेच्चा होहिसि उत्तमो। लोगुत्तमुत्तमं ठाणं, सिद्धिं गच्छसि नीरओ ॥ ५८ ॥

व्याख्या—'इह' अस्मिन् जन्मनि 'असि' भवसि 'उत्तमः' प्रधानः, उत्तमगुणान्वितत्वात्, 'भंते'त्ति पूज्याभिधानं 'प्रेत्य' परलोके भविष्यसि उत्तमः, कथमित्याह–लोकस्य–चतुर्दशरज्वात्मकस्य 'उत्तमम्' उपरिवर्ति लोकोत्तमम् 'उत्तमं' देवलोकाद्यपेक्षया प्रधानम्, अथवा 'लोगोत्तमुत्तमं'ति मकारोऽलाक्षणिकः, ततो लोकस्य लोके वा उत्तमोत्तमम्–अतिशयप्रधानं लोकोत्तमोत्तमं, तिष्ठत्यस्मिन् नातः परं गच्छतीति स्थानं, किं तदित्याह–'सिद्धिं' मुक्तिं 'गच्छसि'त्ति सूत्रत्वाद्गमिष्यसि, निर्गतो रजसः–कर्मण इति नीरजा इति सूत्रार्थः ॥ उपसंहारमाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥५९॥

दीप अनुक्रम [२८७]

एवं अभित्थुणंतो रायरिसिं उत्तमाए सद्धाए । पायाहिणं करेंतो पुणो पुणो वंदती सक्को ॥ ५९ ॥

व्याख्या—'एवम्' अमुनोक्तन्यायेन अभिष्टुवन् 'राजर्षिम्' उक्तरूपं, प्रक्रमान्नमिम्, 'उत्तमया' प्रधानया 'श्रद्धया' भक्त्या 'पायाहिण'न्ति प्रदक्षिणां 'कुर्वन्' विदधत् पुनः पुनः 'वन्दते' प्रणमति 'शक्रः' पुरन्दर इति सूत्रार्थः ॥ अनन्तरं च यत् कृतवांस्तदाह—

तो वंदिऊण पाए चक्कंकुसलक्खिए मुणिवरस्स । आगासेणुप्पतिओ ललियचवलकुंडलतिरीडी ॥ ६० ॥

व्याख्या—'ततः' तदनन्तरं, पाठान्तरतश्च 'स' इति शक्रो वन्दित्वा 'पादौ' चरणौ, चक्रं चाङ्कुशश्च प्रतीतावेव, तत्प्रधानानि लक्षणानि ययोस्तौ तथा, मुनिवरस्य नमिनाम्न इति प्रक्रमः, तत 'आकाशेन' नभसा उदिति—ऊर्ध्वं देवलोकाभिमुखं पतितो गत उत्पतितः, ललिते च ते सविलासतया चपले च चञ्चलतया ललितचपले तथाविधे कुण्डले कर्णाभरणे यस्यासौ ललितचपलकुण्डलः, स चासौ किरीटी च–मुकुटवान् ललितचपलकुण्डलकिरीटी इति सूत्रार्थः ॥ स एवंविधः स्वयमिन्द्रेणाभिष्टूयमानः किमुत्कर्षं मनस्यासवान् उत नेत्याह—

णमी णमेइ अप्पाणं, सक्खं सक्केण चोइओ । चइऊण गेहं वइदेही, सामण्णे पज्जुवट्ठिओ ॥ ६१ ॥

व्याख्या—नमिर्नमयति–भावतः प्रह्वीभवन्तमात्मानं स्वतत्त्वभावनया विशेषतः प्रगुणयति, न तृप्तिसक्तां नयति, तत्कालापेक्षया लट्, कथंभूतः सन् ?–'साक्षात्' प्रत्यक्षतामुपगम्य 'शक्रेण' इन्द्रेण 'चोइतो'त्ति प्रेरितः 'त्यक्त्वा'

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥६१॥

दीप अनुक्रम [२८९]

अपहाय 'गेहं' गृहं 'वइदेही'त्ति सूत्रत्वाद्विदेहा नाम जनपदः सोऽस्यास्तीति विदेही विदेहजनपदाधिपो, न त्वन्य एव कश्चिदिति भावः, यद्वा–विदेहेषु भवा वैदेही–मिथिला पुरी, सुब्व्यत्ययात्तां च त्यक्त्वेति सम्बन्धनीयं, 'श्रामण्ये' श्रमणभावे 'पर्युपस्थितः' उद्यतः, अभूदिति शेषः, यद्वा–नमिर्नमयति संयमं प्रति प्रवणीकरोत्यात्मानं, कीदृशः ?–शक्रेण प्रेरितः, कथं ?–साक्षात् स्वयं, न त्वन्यपार्श्वप्रहितसन्देशकादिना, श्रामण्ये पर्युपस्थितः, न तु तत्प्रेरणातोऽपि धर्मं प्रति विप्लुतोऽभूदितिभाव इति सूत्रार्थः ॥ किमेष एवैवंविधः ? उतान्येऽपीत्याह—

एवं करिंति संबुद्धा, पंडिया पवियक्खणा। विणियट्टंति भोगेसु, जहा से णमिरायरिसि ॥ ६२ ॥ त्तिबेमि

व्याख्या—'एवम्' इति यथैतेन नमिना निश्चलत्वं कृतं तथाऽन्येऽपि कुर्वन्ति, उपलक्षणत्वादकार्षुः करिष्यन्ति च, न त्वयमेव, निदर्शनतयैवास्योपात्तत्वात्, कीदृशाः पुनरन्येऽप्येवं कुर्वन्ति ?–'सम्बुद्धाः' मिथ्यात्वापगमतोऽवगत-जीवाजीवादितत्त्वाः 'पण्डिताः' सुनिश्चितशास्त्रार्थाः 'प्रविचक्षणाः' अभ्यासातिशयतः क्रियां प्रति प्रावीण्यवन्तः, तथाविधाश्च सन्तः किं विदधति ?–'विनिवर्तन्ते' विशेषेण तदासेवनादुपरमन्ति, केभ्यः ?–'भोगेसु'त्ति भोगेभ्यः, किं-वत् ?–यथा स 'नमिः' नमिराजर्षिः निश्चलो भूत्वा तेभ्यो निवृत्त इति, यद्वोपदेशपरमेतत्, यत एवं कुर्वन्ति सम्बुद्धाः पण्डिताः प्रविचक्षणाः, एवमिति कथमित्याह–भोगेभ्यो विनिवर्तन्ते, विशेषेण–अत्यन्तनिश्चलतालक्षणेन निवर्तन्ते भोगेभ्यो, यथा स 'नमिः' नमिनामा राजर्षिः, ततो भवद्भिरप्येवंविधैरित्थमेव विधेयमिति सूत्रार्थः॥'इतिः' परिसमाप्तौ 'ब्रवीमि' इति पूर्ववत्। नयाश्च प्राग्वदिति ॥ इति श्रीशान्त्याचा० मुत्तरा० शिष्य० नवममध्ययनं समाप्तमिति ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्र अध्ययनं- ९ परिसमाप्तं

प्रत सूत्रांक ॥६२॥

दीप अनुक्रम [२९०]

अथ द्रुमपत्रकं दशममध्ययनम् ।

॥ व्याख्यातं नमिप्रव्रज्याख्यं नवममध्ययनम्, अधुना दशममध्ययनमारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः–इहानन्तराध्ययने धर्मचरणं प्रति निष्कम्पत्वमुक्तं, तच्चानुशासनादेव प्रायो भवति, न च तदुपमां विना स्पष्टमिति प्रथमतः उपमाद्वारेणानुशासनाभिधायकमिदमध्ययनम्, अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्याध्ययनस्यानुयोगद्वारचतुष्टयमुपदर्श्यते, यावन्नामनिष्पन्ननिक्षेपे द्रुमपत्रकमिति द्विपदं नाम, अतो द्रुमस्य पत्रस्य च निक्षेपमाह—

निक्खेवो उ दुमंमि चउव्विहो० ॥ २८० ॥ जाणग० ॥ २८१ ॥

दुमयाउनामगोयं वेयंतो भावओ दुमो होइ । एमेव य पत्तस्सवि निक्खेवो चउव्विहो होइ ॥ २८२ ॥

व्याख्या—'निक्षेपः' न्यासः 'तुः' पूरणे 'द्रुमे' द्रुमविषयः 'चतुर्विधः' नामादिः, द्विविधो भवति द्रव्ये आगमतो नोआगमतश्च, स त्रिविधः–ज्ञशरीरभव्यशरीरद्रुमस्तद्व्यतिरिक्तश्च, स पुनस्त्रिविधः–एकभविको बद्धायुष्कोऽभिमुखनामगोत्रश्च, द्रुमायुर्नामगोत्रं वेदयन् भावतो द्रुमो भवति, एवमेव च पत्रस्यापि चतुर्विधो भवति निक्षेप इति गाथात्रयाक्षरार्थः ॥ भावार्थस्तु पूर्ववत्, अन्वर्थनामतामस्यादर्शयन्नाह—

दुमपत्तेणोवम्मं अहाठिईए उवक्कमेणं च । इत्थ कयं आइमी तो तं दुमपत्तमज्झयणं ॥ २८३ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ अध्ययनं – १० "द्रुमपत्रक" आरभ्यते

प्रत सूत्रांक ||६२||

दीप अनुक्रम [२९०]

व्याख्या—द्रुमो–वृक्षः तस्य पर्णं–पत्रं तेनौपम्यम्–उपमा, प्रक्रमादायुषः, केन पुनर्गुणेनौपम्यमित्याह–'यथा-स्थित्या' स्वकालपरिपाकतः पातरूपया, तथा उपक्रमणं–दीर्घकालभाविन्याः स्थितेः स्वल्पकालताऽऽपादनमुपक्रमः, कोऽर्थः ?–पाकादारत एव वातादिनाऽवस्थितिविनाशनं, तेन चात्राध्ययने 'कृतं' विहितम् 'आदौ' प्रथमं यस्मात् ततः द्रुमपत्रमित्यध्ययनमिदम्, उच्यते इति शेषः इति गाथार्थः ॥ यथा चास्य समुत्थानं तथा दर्शयंस्त्रयोविंशति-सङ्ख्यं गाथाकदम्बकमाह—

मगहापुरनयराओ वीरेण विसज्जणं तु सीसाणं । सालमहासालाणं पिट्ठीचंपं च आगमणं ॥ २८४ ॥
पवज्जा गागिलिस्स य नाणस्स य उप्पया उ तिण्हंपि। आगमणं चंपपुरिं वीरस्स अवंदणं तेसिं ॥२८५॥
चंपाइ पुण्णभद्दंमि चेइए नायओ पहिअकित्ती । आमंतेउं समणे कहेइ भयवं महावीरो ॥ २८६ ॥
अट्ठविहकम्ममहणस्स तस्स पगईविसुद्धलेसस्स । अट्ठावए नगवरे निसीहिए निट्ठिअट्ठस्स ॥ २८७ ॥
उसभस्स भरहपिउणो तेलुक्कपयासनिग्गयजसस्स । जो आरोढुं वंदइ चरिमसरीरो अ सो साहू २८८
साहुं संवासेइ अ असाहुं न किर संवसावेई । अह सिद्धपवओ सो पासे वेअड्ढसिहरस्स ॥ २८९ ॥
चरिमसरीरो साहू आरुहइ नगवरं न अन्नोत्ति । एयं तु उदाहरणं कासीअ तहिं जिणवरिंदो ॥२९०॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥६२॥

दीप अनुक्रम [२९०]

सोऊण तं भगवओ गच्छइ तहि गोअमो पहिअकित्ती। आरुहइ तं नगवरं पडिमाओ वंदइ जिणाणं २९१
अह आगओ सपरिसो सविड्ढीए तहिं तु वेसमणो। वंदित्तु चेइयाइं अह वंदइ गोअमं भयवं ॥२९२॥
अह पुंडरीअनायं कहेइ तहि गोयमो पहियकित्ती। दसमस्स य पारणए पवावेसीअ कोडिन्नं ॥२९३॥
तस्स य वेसमणस्सा परिसाए सुरवरो पयणुकम्मो। तं पुंडरीयनायं गोयमकहिअं निसामेइ ॥ २९४॥
घित्तूण पुंडरीअं वग्गुविमाणाओ सो चुओ संतो। तुंबवणे धणगिरिस्सा अजसुनंदासुओ जाओ २९५
दिन्ने कोडिन्ने या सेवाले चेव होइ तइए य। इक्किक्कस्स य तेसिं परिवारो पंच पंच सया ॥ २९६ ॥
हेट्ठिल्लाण चउत्थं मज्झिल्लाणं तु होइ छट्ठं तु। अट्ठममुवरिल्लाणं आहारो तेसिमो होइ ॥ २९७ ॥
कंदाई सचित्तो हिट्ठिल्लाणं तु होइ आहारो। बीआणं अचित्तो तइआणं सुक्कसेवालो ॥ २९८ ॥
तं पासिऊण इड्ढिं गोयमरिसिणो तओ तिवग्गावि। अणगारा पवइआ सप्परिवारा विगयमोहा २९९
एगस्स खीरभोअणहेऊ नाणुप्पया मुणेयवा। एगस्स परिसादंसणेण एगस्सय य जिणंमि ॥ ३०० ॥
केवलिपरिसं तत्तो वच्चंता गोयमेण भणिआ य। इउ एह वंदह जिणं कयकिच्च जिणेण सो भणिओ ३०१

॥३२१॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४३], मूलसूत्र[४] उत्तराध्ययनानि मूलं एवं शान्तिसूरिविरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक ॥६२॥

दीप अनुक्रम [२९०]

सोऊण तं अरहओ हियएणं गोयमोऽवि चिंतेइ। नाणं मे न उपज्जइ भणिओ य जिणेण सो ताहे ३०२
चिरसंसट्ठं चिरपरिचिअं चिरमणुगयं च मे जाण। देहस्स य भेयंमि य दुण्णिवि तुल्ला भविस्सामो ३०३
जह मन्ने एअमट्ठं अम्हे जाणामु खीणसंसारा। तह मन्ने एअमट्ठं विमाणवासीवि जाणंति ॥ ३०४ ॥
जाणगपुच्छं पुच्छइ अरहा किर गोयमं पहिअकित्ती। किं देवाणं वयणं गिज्झं आतो जिणवराणं? ३०५
सोऊण तं भगवओ मिच्छायारस्स सो उवट्ठाइ। तन्नीसाए भयवं सीसाणं देइ अणुसिट्ठिं ॥ ३०६ ॥

व्याख्या—एतच्चाक्षरार्थं प्रति स्पष्टमेव, नवरं मगधापुरनगरं–राजगृहं, तस्यैव तत्कालापेक्षया मगधासु प्रधानपुरत्वादविद्यमानकरत्वाच्च, तथा 'णायओ पहियकित्ति'त्ति नायकः–सकलजगत्स्वामी ज्ञात एव वा ज्ञातक–उदारक्षत्रियः,न्यायतो वा प्रथिता–सकलजगत्प्रत्याख्याता कीर्तिर्यस्य स तथा, प्रकृत्या—स्वभावेन विशुद्धा–अत्यन्तनिर्मला लेश्या शुक्ललेश्या यस्य स तथा, 'णिसीहिय'त्ति निषिध्यन्ते–निराक्रियन्ते अस्यां कर्म्माणीति नैषेधिकी–निर्वाणभूमिः, 'कृत्यल्युटोऽन्यत्रापि' (पा-३-३-११३) इत्यपिग्रहणबलात् ल्युट्, निष्ठितार्थस्य–समाप्तसकलकृत्यस्य यद्वा निषेध–सकलकर्मनिराकरणलक्षणे भवा नैषेधिकी–मुक्तिगतिस्तया निष्ठितार्थो यस्तस्य ऋषभस्य–ऋषभनाम्नः, स चान्योऽपि सम्भवति अत आह—भरतपितुरिति, 'वन्दते' स्तौति प्रक्रमान्नैषेधिकीं प्रतिमां वा,तथा साधुं 'स'मिति भृशं वासयति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥६२॥

दीप अनुक्रम [२९०]

संवासयति, कोऽर्थः ?–रात्रिं दिवं चावस्थापयति, नोऽसाधुं संहरणादिनाऽऽनीतमपि 'किल' इति परोक्षाप्तवादसूचकः, 'अथ' इत्युपन्यासे सिद्धोपलक्षितः पर्वतः सिद्धपर्वतः 'तास्थ्यात्तद्व्यपदेश' इति तदधिष्ठायकदेवताविशेष एवोक्तः, यद्वा तत्तीर्थानुभाव एवायं यदसाधोस्तत्रावस्थानमेव न सम्पद्यते, तथा च 'चरमशरीरः साधुः आरोहती'त्यत्र पदप्रचारेणेति गम्यते, 'उदाहरणं' कथनं 'कासीअ'त्ति अकार्षीद्, अनेन चैवंविधदेवप्रवादोत्थानकारणमुक्तं 'घेत्तूण पुंडरीयम्' इत्यादिना च प्रसङ्गागतं वैरस्वामिजन्मोक्तं, तथा 'तं पासिऊण इड्ढि'न्ति तामिति–प्रतीतामेव भगवति जङ्घाचारणरूपलब्धिरूपां, तथा 'तिवग्गावि'त्ति त्रयो वर्गा येषां ते त्रिवर्गाः, तेऽपि प्रक्रमाद्विन्नकोण्डिन्यशैवलिनस्त्रयोऽपि, नैको द्वौ वेत्यपिशब्दार्थः,'अणगार'त्ति अविद्यमानगृहाः,ते च तापसादयोऽपि स्युरत आह–प्रकर्षेण व्रजिता—मिथ्यात्वादिभ्यो विनिर्गताः प्रव्रजिताः, तथा 'एगस्स खीरभोयणहेउ'त्ति क्षीरान्नभोजनमेव विशुद्धाध्यवसायविशेषोत्पत्तिनिबन्धनतया हेतुः—कारणं क्षीरभोजनहेतुः, मयूरव्यंसकादित्वात् समासः, तमाश्रित्येति शेषः, 'णाणुप्पय'त्ति ज्ञानस्योत्पादनमुत्पत् 'सम्पदादित्वात् क्विप्' (पा० ३–३–९४)ज्ञानोत्पत्, तथा 'चिरसंसट्ठ'न्ति चिरं–प्रभूतकालं संसृष्टः–स्वस्वाम्यादिसम्बन्धेन सम्बद्धो यस्तं, 'चिरपरिचितः' सहवासनादिना स पूर्वो यस्तम्, उभयत्र विस्पष्टं पटुर्विस्पष्टपटुरितिवत् सह सुपेत्यत्र सुपेति योगविभागात् समासः, चिरमनुगतमभिप्रायानुवर्तिनमात्मानमिति शेषः, 'मम'त्यात्मनिर्देशः, ततः प्रभूतमोहनीयाच्छादिततया न ते ज्ञानोत्पत्तिरित्यभिप्रायः 'देहस्य तु' शरीरस्य

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥६२॥

दीप अनुक्रम [२९०]

'भेदे' विनाशे द्वावप्यावां 'तुल्यौ' मुक्तिपदप्राप्त्या समौ 'भविष्यावः' इति मा त्वमधृतिं कृथा इति भावः, 'यथा' येन प्रकारेण यथा 'मन्ने'त्ति आर्षत्वात् पुरुषव्यत्ययः, ततो मन्यसे त्वम् एनं ज्ञानावासिलक्षणम् 'अर्थं' वस्तु 'वयं' जानीमः अवबुध्यामहे, किंविशिष्टाः सन्तः ? इत्याह—क्षीणः—पुनर्भवाभावतः संसारो येषां ते क्षीणसंसाराः, तेन प्रकारेण तथा, व्यवच्छेदफलत्वात् तथैव, किमित्याह–'मन्ने'त्ति प्राग्वत्, मन्यसे 'एनमर्थम्' अनन्तरोक्तं 'विमानवासिनोऽपि' देवा 'जानन्ति' अवबुध्यन्ते, एवं च यथा क्षीणसंसारा जानन्ति तथा विमानवासिनोऽपि जानन्तीत्याशयवतः क्षीणसंसारिणां च परिज्ञानं प्रति साम्यमभिमतमित्यहो तव विवेकितेत्युपालब्धः । तथा 'जाणगपुच्छं'ति ज्ञायकपृच्छया पृच्छति, न हि तस्य भगवतः समस्तज्ञेयविषयविज्ञानचक्षुषः क्वचिदविज्ञानमस्ति, किन्तु गौतमं प्रतिबोधयन्नित्थमुपालभते, तथा यथा किम् ?–दीव्यन्ति–क्रीडन्ति देवाः तेषां वचनं वचो 'गिज्झं'ति ग्राह्यमुपादेयम्, 'आतो' (ग्रन्थाग्रं ८०००) त्ति आर्षत्वादाहोस्वित्, जिनानां वराः–प्रधानाः जिनवराः य उत्पन्नकेवलास्तीर्थकृतस्तेषां ?, तदनेनैकमस्मत्परिज्ञानस्य देवपरिज्ञानस्य च साम्यापादनम्, अपरं तु साम्ये सत्यपि 'देहस्स य भेयंमी दोण्णिवि तुल्ला भविस्सामो'त्ति अस्मद्वचनतः शतशोऽपि श्रुतान्न विनिश्चयमपि विहितवान्, देववचनात्तु सकृदप्याकर्णितात् तथेति प्रतिपद्याष्टापदं प्रति प्रयात इत्यहो ते मोहविजृम्भितमित्युक्तं भवति । श्रुत्वा तदुपालम्भवचो भगवतः सम्बन्धि 'मिच्छाचारस्स'त्ति आर्षत्वान्मिथ्याचाराद्–उक्तरूपाद्गम्यमानत्वात् प्रतिक्रमितुम् 'उपतिष्ठति' उद्यच्छति । 'तन्निश्रये'ति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥६२॥

दीप अनुक्रम [२९०]

गौतमनिश्रया 'अनुशिष्टिं' शिक्षाम्। एतद्भावार्थस्तु सम्प्रदायादवसेयः, स चायम्–[1]तेणं कालेणं तेणं समएणं पिट्ठीचंपा णाम णयरी, तत्थ सालो राया, महासालो जुवराया, तेसिं सालमहासालाणं भगिणी जसवती, तीसे पिढरो भत्तारो, जसवतीए अत्तितो पिढरपुत्तो गागलीणाम कुमारो। तत्थ वद्धमाणसामी समोसढो सुभूमिभागे उज्जाणे,सालो णिग्गतो, धम्मं सुच्चा भणति–जं णवरं महासालं रज्जे ठावेमि, सो अतिगतो, तेण आपुच्छितो महासालो भणति–अहंपि संसार-भउविग्गो जहा तुब्भे इहं मेढीपमाणं तहा पव्वइयस्सवि, ताहे गागलिं कंपिल्लातो सद्दावेऊण पट्टो वद्धो अभिसित्तो य राया जातो। तस्स माया कंपिल्लपुरे णयरे दिण्णिल्लिया पिढरस्स, तेण ततो सद्दाविती, सो पुण तेसिं दो सिबियातो कारेति, जाव ते पव्वतिया, सा भगिणी समणोवासिया जाता,तए णं ते समणा होंतगा, एक्कारस अंगाइं अहिज्जिया।

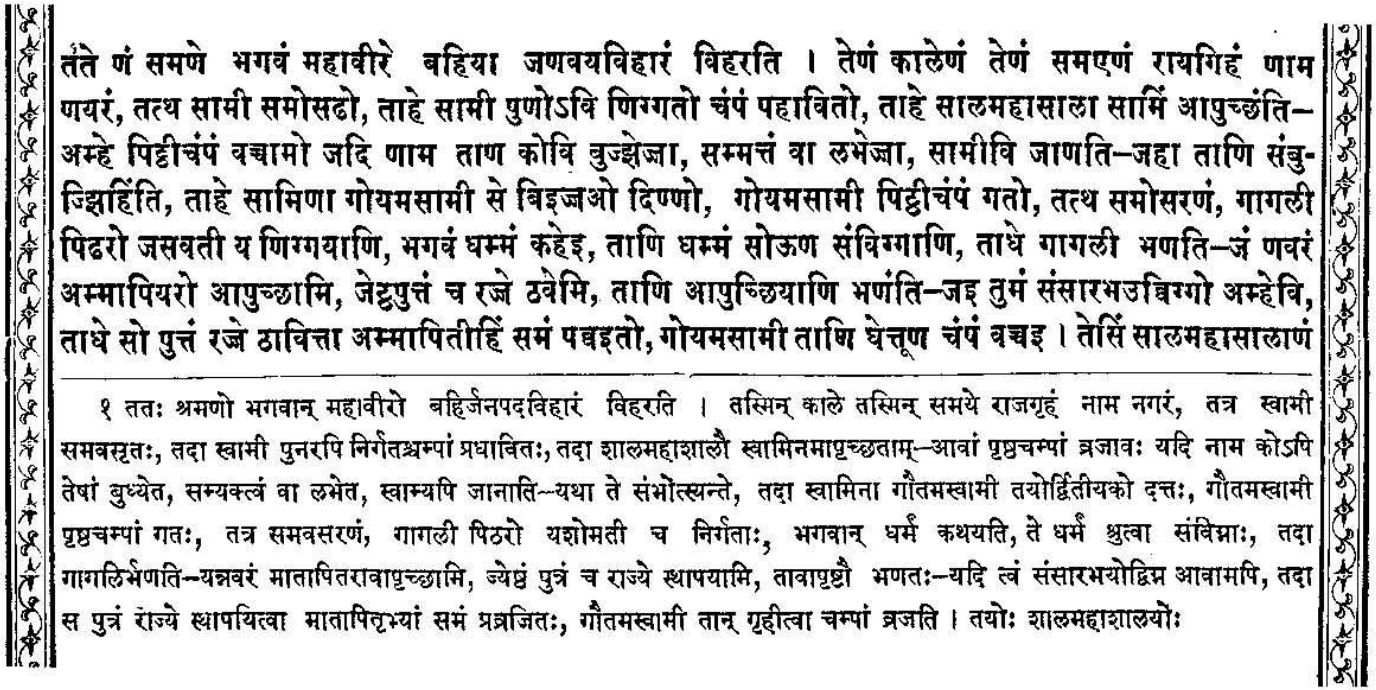
१ तस्मिन् काले तस्मिन् समये पृष्ठचम्पा नाम नगरी, तत्र शालो राजा, महाशालो युवराजः, तयोः शालमहाशालयोर्भगिनी यश-स्वती, तस्याः पिठरो भर्त्ता, यशोमत्या आत्मजः पिठरपुत्रः गागलिनामा कुमारः। तत्र वर्धमानस्वामी समवसृतः सुभूमिभागे उद्याने, शालो निर्गतः, धर्मं श्रुत्वा भणति–यन्नवरं महाशालं राज्ये स्थापयामि, सोऽतिगतः,तेनापृष्टो महाशालो भणति–अहमपि संसारभयोद्विग्नो यथा यूयमत्र मेढीप्रमाणाः तथा प्रव्रजितस्यापि, तदा गागलिं काम्पील्यात् शब्दयित्वा पट्टो बद्धोऽभिषिक्तश्च राजा जातः। तस्य माता काम्पील्यपुरे नगरे दत्ता पिठराय, तेन सकः शब्दितः, स पुनस्तयोर्द्वे शिबिके कारयति, यावत्तौ प्रव्रजितौ, सा भगिनी श्रमणोपासिका जाता, ततस्तौ श्रमणौ जातौ, एकादशाङ्गानि अधीतवन्तौ।

॥३२३॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥६२॥

दीप अनुक्रम [२९०]



तंते णं समणे भगवं महावीरे बहिया जणवयविहारं विहरति । तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहं णाम णयरं, तत्थ सामी समोसढो, ताहे सामी पुणोऽवि णिग्गतो चंपं पहाविंतो, ताहे सालमहासाला सामिं आपुच्छंति–अम्हे पिट्ठीचंपं वच्चामो जदि णाम ताण कोवि बुज्झेज्जा, सम्मत्तं वा लभेज्जा, सामीवि जाणति–जहा ताणि संबुज्झिहिंति, ताहे सामिणा गोयमसामी से विइज्जओ दिण्णो, गोयमसामी पिट्ठीचंपं गतो, तत्थ समोसरणं, गागली पिढरो जसवती य णिग्गयाणि, भगवं धम्मं कहेइ, ताणि धम्मं सोऊण संविग्गाणि, ताधे गागली भणति–जं णवरं अम्मापियरो आपुच्छामि, जेट्ठपुत्तं च रज्जे ठवेमि, ताणि आपुच्छियाणि भणंति–जइ तुमं संसारभउव्विग्गो अम्हेवि, ताधे सो पुत्तं रज्जे ठावित्ता अम्मापितीहिं समं पवइतो, गोयमसामी ताणि घेत्तूण चंपं वच्चइ । तेसिं सालमहासालाणं

१ ततः श्रमणो भगवान् महावीरो बहिर्जनपदविहारं विहरति । तस्मिन् काले तस्मिन् समये राजगृहं नाम नगरं, तत्र स्वामी समवसृतः, तदा स्वामी पुनरपि निर्गतश्चम्पां प्रधावितः, तदा शालमहाशालौ स्वामिनमापृच्छताम्–आवां पृष्ठचम्पां व्रजावः यदि नाम कोऽपि तेषां बुध्येत, सम्यक्त्वं वा लभेत, स्वाम्यपि जानाति–यथा ते संभोत्स्यन्ते, तदा स्वामिना गौतमस्वामी तयोर्द्वितीयको दत्तः, गौतमस्वामी पृष्ठचम्पां गतः, तत्र समवसरणं, गागली पिठरो यशोमती च निर्गताः, भगवान् धर्मं कथयति, ते धर्मं श्रुत्वा संविग्नाः, तदा गागलिर्भणति–यन्नवरं मातापितरावापृच्छामि, ज्येष्ठं पुत्रं च राज्ये स्थापयामि, तावापृष्टौ भणतः–यदि त्वं संसारभयोद्विग्न आवामपि, तदा स पुत्रं राज्ये स्थापयित्वा मातापितृभ्यां समं प्रव्रजितः, गौतमस्वामी तान् गृहीत्वा चम्पां व्रजति । तयोः शालमहाशालयोः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥६२॥

दीप अनुक्रम [२९०]

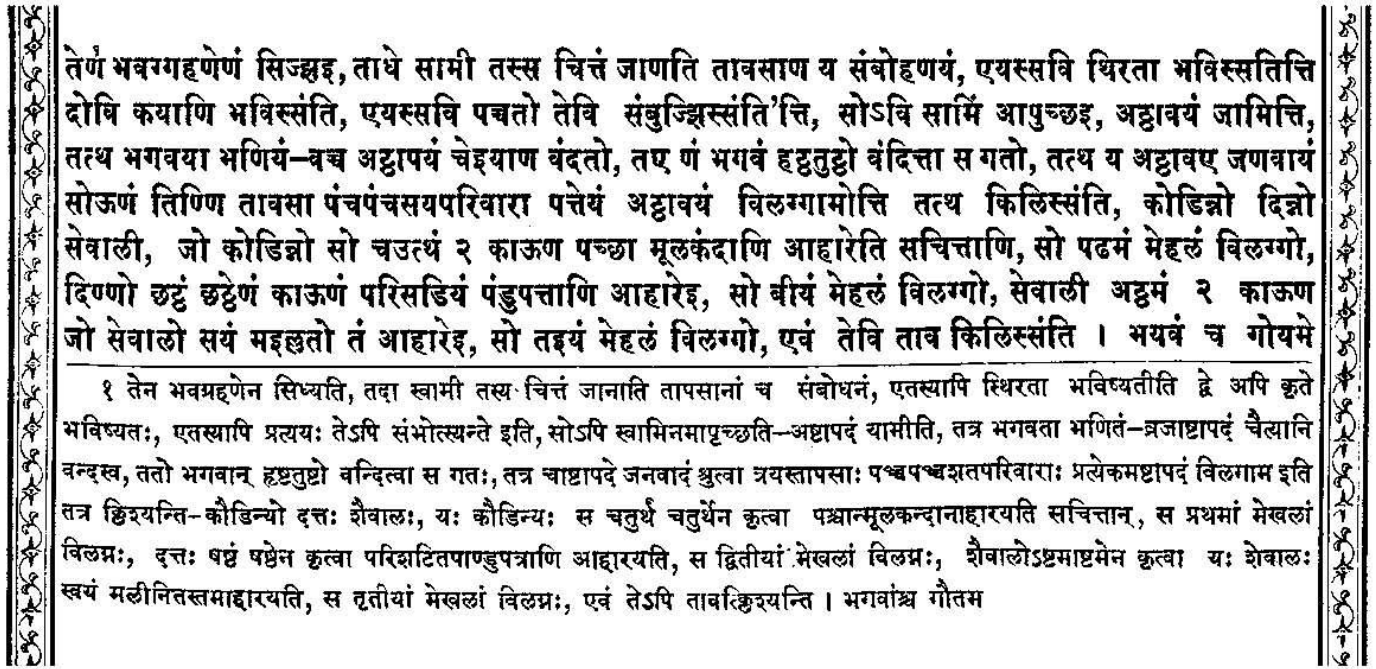
[1]पंथं वच्चंताणं हरिसो जाओ–जधा संसारं उत्तारियाणि, एवं च तेसिं सुहेणं अज्झवसाणेणं केवलणाणं उप्पण्णं, इयरेसिंपि चिंता जाया-जहा एएहिं अम्हे रज्जे ठावियाणि संसारातो य मोइयाणि, एवं चिंतंताणं सुभेणं अज्झवसाणेणं तिण्हंपि केवलणाणं उप्पण्णं । एवं ताणि उप्पण्णणाणाणि चंपं गयाणि, सामिं पायाहिणं करेमाणाणि तित्थं पणमिऊण केवलिपरिसं पहावियाणि, गोयमसामीवि भगवं वंदिऊण तिक्खुत्तो पयाहिणीकाऊण पाएसु पडितो, उट्ठिओ भणति—कहिं वच्चह ?, एह तित्थयरं वंदह, ताधे सामी भणइ—मा गोयमा ! केवली आसाएहि, ताहे आउट्टो खामेति, संवेगं च गतो । तत्थ गोयमसामिस्स संका जाया–णाहं ण सिज्झिस्सामित्ति, एवं गोयमसामीवि चिंतेति । इओ य देवाण संलावो वट्टइ–जो अट्ठावयं विलग्गति चेइयाणि य वंदति धरणिगोयरो सो

१ पन्थानं व्रजतोर्हर्षो जातः, यथा–संसारादुत्तारितानि, एवं च तयोः शुभेनाध्यवसायेन केवलज्ञानमुत्पन्नम् ,अन्येषामपि चिन्ता जाता –यथा एतैर्वयं राज्ये स्थापिताः संसाराच्च मोचिताः, एवं चिन्तयतां शुभेनाध्यवसायेन त्रयाणामपि केवलज्ञानमुत्पन्नम् । एवं ते उत्पन्नज्ञानाश्चम्पां गताः, स्वामिनं प्रदक्षिणां कुर्वन्तः तीर्थं प्रणम्य केवलिपर्षदं प्रधाविताः, गौतमस्वाम्यपि भगवन्तं वन्दित्वा त्रिकृत्वः प्रदक्षिणीकृत्य पादयोः पतितः, उत्थितो भणति–कुत्र व्रजथ ?, एत तीर्थकरं वन्दध्वम् , तदा स्वामी भणति–मा गौतम ! केवलिन आशातय, तदाऽऽवृत्तः क्षमयति, संवेगं च गतः । तत्र गौतमस्वामिनः शङ्का जाता–नाहं न सेत्स्यामि इति, एवं गौतमस्वाम्यपि चिन्तयति । इतश्च देवानां संलापो वर्त्तते-योऽष्टापदं विलगति चैत्यानि च वन्दते धरणिगोचरः स

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||६२||

दीप अनुक्रम [२९०]



तेणं भवग्गहणेणं सिज्झइ, ताधे सामी तस्स चित्तं जाणति तावसाण य संबोहणयं, एयस्सवि थिरता भविस्सतित्ति दोवि कयाणि भविस्संति, एयस्सवि पच्चतो तेवि संबुज्झिस्संति'त्ति, सोऽवि सामिं आपुच्छइ, अट्ठावयं जामित्ति, तत्थ भगवया भणियं–वच्च अट्ठापयं चेइयाण वंदतो, तए णं भगवं हट्ठतुट्ठो वंदित्ता स गतो, तत्थ य अट्ठावए जणवायं सोऊणं तिण्णि तावसा पंचपंचसयपरिवारा पत्तेयं अट्ठावयं विलग्गामोत्ति तत्थ किलिस्संति, कोडिन्नो दिन्नो सेवाली, जो कोडिन्नो सो चउत्थं २ काऊण पच्छा मूलकंदाणि आहारेति सचित्ताणि, सो पढमं मेहलं विलग्गो, दिण्णो छट्ठं छट्ठेणं काऊणं परिसडियं पंडुपत्ताणि आहारेइ, सो बीयं मेहलं विलग्गो, सेवाली अट्ठमं २ काऊण जो सेवालो सयं मइल्लतो तं आहारेइ, सो तइयं मेहलं विलग्गो, एवं तेवि ताव किलिस्संति । भयवं च गोयमे

१ तेन भवग्रहणेन सिध्यति, तदा स्वामी तस्य चित्तं जानाति तापसानां च संबोधनं, एतस्यापि स्थिरता भविष्यतीति द्वे अपि कृते भविष्यतः, एतस्यापि प्रत्ययः तेऽपि संभोत्स्यन्ते इति, सोऽपि स्वामिनमापृच्छति–अष्टापदं यामीति, तत्र भगवता भणितं–व्रजाष्टापदं चैत्यानि वन्दस्व, ततो भगवान् हृष्टतुष्टो वन्दित्वा स गतः, तत्र चाष्टापदे जनवादं श्रुत्वा त्रयस्तापसाः पञ्चपञ्चशतपरिवाराः प्रत्येकमष्टापदं विलगाम इति तत्र क्लिश्यन्ति–कौडिन्यो दत्तः शैवालः, यः कौडिन्यः स चतुर्थं चतुर्थेन कृत्वा पञ्चान्मूलकन्दानाहारयति सचित्तान्, स प्रथमां मेखलां विलग्नः, दत्तः षष्ठं षष्ठेन कृत्वा परिशटितपाण्डुपत्राणि आहारयति, स द्वितीयां मेखलां विलग्नः, शैवालोऽष्टमाष्टमेन कृत्वा यः शेवालः स्वयं मलीनितस्तमाहारयति, स तृतीयां मेखलां विलग्नः, एवं तेऽपि तावत्क्लिश्यन्ति । भगवांश्च गौतम

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥६२॥

दीप अनुक्रम [२९०]

ओरालसरीरे हुयवहतडियतरुणरविकिरणसरिसए तेएणं,ते तं इंतं पेच्छेत्ता ते एवं भणंति–एस किर एत्थ थुल्लतो समणो विलग्गिहिति ?, जं अम्हे महातवस्सी सुक्का भुक्खा न तरामोत्ति विलग्गिउं, भगवं च गोयमे जंघाचारणलद्धीए लूयातंतुपुडगंपि णीसाए उप्पयति, जाव ते पलोयंति–एस आगओत्ति, एसो अदंसणं गतोत्ति, ताहे ते विम्हिया जाया पसंसंति, अच्छंति य पलोयंता, जति ओयरति तो एयस्स वयं सीसा, एवं ते पडिच्छंता अच्छंति। सामीवि चेइयाणि वंदित्ता उत्तरपुरच्छिमे दिसिभागे पुढविसिलापट्टए तुयट्टो असोगवरपायवस्स अहे तं रयणिं वासाए उवागतो। इओ य सक्कस्स लोगपालो वेसमणो, सोवि अट्ठावयचेइयवंदतो एति, सो चेइयाणि वंदित्ता गोयमसामिं वंदति, ताहे सो धम्मं कहेति, भगवं अणगारगुणे परिकहिउं पवत्तो, अंताहारा पंताहारा एवं वण्णेति,

१ उदारशरीरः हुतवहतडित्तरुणरविकिरणसदृशेन तेजसा, ते तमायान्तं प्रेक्ष्य ते एवं भणन्ति—एष किलात्र स्थूरः श्रमणो विलगिष्यति ?, यं वयं महातपस्विनः शुष्का बुभुक्षिता न शक्नुमो विलगितुं, भगवांश्च गौतमो जङ्घाचारणलब्ध्या लूतातन्तुपुटकस्यापि निश्रयोत्पतति, यावत्ते प्रलोकयन्ति–एष आगत एषोऽदर्शनं गत इति, तदा ते विस्मिता जाताः प्रशंसन्ति, तिष्ठन्ति च प्रलोकयन्तः, यदि अवतरति तदा एतस्य वयं शिष्याः, एवं ते प्रतीच्छन्तः तिष्ठन्ति। स्वाम्यपि चैत्यानि वन्दित्वोत्तरपौरस्त्ये दिग्भागे पृथ्वीशिलापट्टके त्वग्वर्त्तितः अशोकवरपादपस्याधस्तां रजनीं वासार्थमुपागतः। इतश्च शक्रस्य लोकपालो वैश्रमणः, सोऽपि अष्टापद चैत्यवन्दक एति, स चैत्यानि वन्दित्वा गौतमस्वामिनं वन्दते, तदा स धर्मं कथयति, भगवान् अनगारगुणान् परिकथयितुं प्रवृत्तः, अन्ताहाराः प्रान्ताहारा एवं वर्णयति,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥६२॥

दीप अनुक्रम [२९०]

वेसमणो चिंतेति–एस भगवं एरिसे साहुगुणे वण्णेइ, अप्पणो य से इमा सरीरसुकुमारया जारिसा देवाणवि णत्थि, भगवं तस्स आकूतं नाउं पुंडरीयं नाम अज्झयणं पण्णवेइ, जहा–पुक्खलावतीविजए पुंडरिगिणीए णगरीए णलिणिगुम्मे उज्जाणं, तत्थ णं महापउमे नाम राया होत्था, पउमावती देवी, ताणं दो पुत्ता–पुंडरीए कंडरीए य, सुकुमारा जाव पडिरूवा, पुंडरीए जुवराया होत्था। तेणं कालेणं तेणं समएणं थेरा भगवंतो जाव णलिणिगुम्मे उज्जाणे समोसढा, महापउमे णिग्गए, धम्मं सोच्चा भणति–जं नवरं देवाणुप्पिया ! पुंडरीयं कुमारं रज्जे ठवेमि, अहासुहं मा पडिबंधं करेहि, एवं जाव पुंडरीए राया जाए जाव विहरइ। तते णं से कंडरीए कुमारे जुवराया जाए। तए णं से महापउमे राया पुंडरीयं रायं आपुच्छति–तए णं से पुंडरीए सिबियं णीणेइ, जाव पव्वतिते, णवरं चोद्दसपुव्वाइं अहिज्जति,

१ वैश्रमणश्चिन्तयति—एष भगवान् ईदृशान् साधुगुणान् वर्णयति, आत्मनश्चास्यैषा शरीरसुकुमारता यादृशी देवानामपि नास्ति, भगवान् तस्याकूतं ज्ञात्वा पुण्डरीकनामाध्ययनं प्रज्ञापयति, यथा—पुष्कलावतीविजये पुण्डरीकिण्यां नगर्यां नलिनीगुल्ममुद्यानं, तत्र महापद्मो नाम राजाऽभवत्, पद्मावती देवी, तयोर्द्वौ पुत्रौ—पुण्डरीकः कण्डरीकश्च, सुकुमालौ यावत्प्रतिरूपौ, पुण्डरीको युवराजोऽभवत्। तस्मिन् काले तस्मिन् समये स्थविरा भगवन्तो यावन्नलिनीगुल्म उद्याने समवसृताः, महापद्मो निर्गतः, धर्मं श्रुत्वा भणति—यन्नवरं देवानुप्रियाः! पुण्डरीकं कुमारं राज्ये स्थापयामि, यथासुखं मा प्रतिबन्धं कार्षीः, एवं यावत्पुण्डरीको राजा जातः यावद्विहरति। ततः स कण्डरीकः कुमारो युवराजो जातः। ततः स महापद्मो राजा पुण्डरीकं राजानमापृच्छति—ततः स पुण्डरीकः शिबिकामानयति, यावत्प्रव्रजितः, नवरं चतुर्दश पूर्वाण्यध्येति,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥६२॥

दीप अनुक्रम [२९०]

बहूहिं छट्ठट्ठममहातवोवहाणेहिं बहूणि वासाणि सामण्णं पालिऊणं मासियाए संलेहणाए सट्ठिं भत्ताइं झोसित्ता जाव सिद्धे। अन्नया य ते थेरा पुव्वाणुपुव्विं जाव पुंडरिगिणीए समोसढा, परिसा णिग्गया, तए णं से पुंडरीए राया कण्डरीएणं जुवरण्णा सद्धिं इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे हट्ठे जाव गए, धम्मकहा, जाव से पुंडरीए सावगधम्मं पडिवण्णे, जाव पडिगए सावए जाए। तए णं से कंडरीए जुवराया थेराणं धम्मं सोचा हट्ठे जाव जहेदं तुज्झे वदह,जं नवरं देवाणुप्पिया! पुंडरीयं रायं आपुच्छामि,तए णं जाव पव्वयामि,अहासुहं पव्वयह। तते णं से कंडरीए जाव थेरे णमंसति २थेराणं अंतितातो पडिनिक्खमति २ त्ता तमेव चाउघंटं आसरहं दुरूहति, जाव पचोरुहति, जेणेव पुंडरीए राया तेणेव उवागच्छति, करयल जाव पुंडरीयं रायं एवं वयासी–एवं खलु मए देवाणुप्पिया !

१ बहुभिः षष्ठाष्टममहातपउपधानैर्बहूनि वर्षाणि श्रामण्यं पालयित्वा मासिक्या संलेखनया षष्टिं भक्तान् जोषयित्वा यावत्सिद्धः। अन्यदा च ते स्थविराः पूर्वानुपूर्व्या यावत्पुण्डरीकिण्यां समवसृताः,पर्षन्निर्गता, ततः स पुण्डरीको राजा कण्डरीकेन युवराजेन सार्धं अस्याः कथाया लब्धार्थः सन् हृष्टो यावद्गतः, धर्मकथा, यावत्स पुण्डरीकः श्रावकधर्मं प्रतिपन्नः, यावत् प्रतिगतः श्रावको जातः। ततः स कण्डरीको युवराजः स्थविरेभ्यो धर्मं श्रुत्वा हृष्टः यावत् यथैतत् यूयं वदथ, यन्नवरं देवानुप्रियाः ! पुण्डरीकं राजानमापृच्छामि, ततो यावत्प्रव्रजामि,यथासुखं प्रव्रज। ततः स कण्डरीको यावत्स्थविरान् प्रणमति २ स्थविराणामन्तिकात् प्रतिनिष्क्रामति २ तमेव चातुर्घण्टमश्वरथमारोहति यावत्प्रत्यवतरति, यत्रैव पुण्डरीको राजा तत्रैवोपागच्छति, करतल यावत् पुण्डरीकं राजानमेवमवादीत्–एवं खलु मया देवानुप्रियाः !

॥३२६॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥६२॥

दीप अनुक्रम [२९०]

थेराणं अंतिए जाव धम्मे णिसंते, से य धम्मे इच्छिए पडिच्छिए अभिरुइए, तए णं अहं देवाणुप्पिया ! संसारभउव्विग्गे भीए जम्मणमरणाणं इच्छामि णं तुज्झेहिं अणुण्णाए समाणे थेराण अंतिए जाव पव्वतित्तएत्ति । तए णं से पुंडरीए राया एवं वयासी–मा णं तुमं देवाणुप्पिया ! इयाणिं थेराणं अंतिए जाव पव्वयाहि, अहण्णं तुमं महया २ रायाभिसेएणं अभिसिंचिस्सामि, तए णं से कंडरीए पुंडरियस्स रण्णो एयमट्ठं णो आढाति णो परिजाणाति तुसिणीए संचिट्ठइ, तए णं से कंडरीए पुंडरीयं दोच्चंपि तच्चंपि एवं वयासी–इच्छामि णं देवाणुप्पिया ! जाव पव्वइत्तएत्ति । तए णं से पुंडरिए राया कंडरीयं कुमारं जाहे णो संचाएइ विसयाणुलोमाहिं बहूहिं आघवणाहि य पण्णवणाहि य सण्णवणाहि य विण्णवणाहि य आघवित्तए वा ४ ताहे विसयपडिकूलाहिं संजमभउव्वेगकरीहिं

१ स्थविराणामन्तिके यावत् धर्मो निशमितः, स च धर्म ईप्सितः प्रतीप्सितोऽभिरुचितः, ततोऽहं देवानुप्रियाः ! संसारभयोद्विग्नः भीतो जन्म(जरा)मरणेभ्यः इच्छामि युष्माभिरनुज्ञातः सन् स्थविराणामन्तिके यावत्प्रव्रजितुमिति । ततः स पुण्डरीको राजैवमवादीत्–मा त्वं देवानुप्रिय ! इदानीं स्थविराणामन्तिके यावत्प्रव्रज, अहं पुनस्त्वां महता २ राज्याभिषेकेणाभिषिञ्चामि, ततः स कण्डरीकः पुण्डरीकस्य राज्ञ एनमर्थं नाद्रियते न परिजानाति, तूष्णीकः संतिष्ठते, ततः स कण्डरीकः पुण्डरीकं राजानं द्विस्त्रिरपि एवमवादीत्–इच्छामि देवानुप्रियाः ! यावत्प्रव्रजितुमिति । ततः स पुण्डरीको राजा कण्डरीकं कुमारं यदा न शक्नोति विषयानुलोमाभिश्च बहुभिराख्यापनाभिश्च प्रज्ञापनाभिश्च संज्ञपनाभिश्च विज्ञपनाभिश्चाख्यातुं वा ४ तदा विषयप्रतिकूलाभिः संयमभयोद्वेगकरीभिः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥६२॥

दीप अनुक्रम [२९०]

पण्णवणांहि य पण्णवेमाणे २ एवं वयासी–एवं खलु जाया ! णिग्गंथे पावयणे सच्चे अणुत्तरे केवलिए एवं जहा पडिक्कमणे जाव सव्वदुक्खाण अंतं करेति, किंतु अहीव एगंतदिट्ठीए खुरो इव एगंतधाराए लोहमया वा जवा चावेयव्वा वालुयाकवले इव निस्साए गंगा वा महानई पडिसोयगमणाए महासमुद्दे इव भुयाहिं दुरुत्तरेहिं तिक्खं चंकमियव्वं गरुयं लंघियव्वं असिधारं च तवं चरियव्वं, णो य खलु कप्पई जाता ! समणाणं णिग्गंथाणं पाणाइवाए वा जाव मिच्छादंसणसल्लेति वा १८ आहाकम्मेति वा उद्देसेति वा मिस्सजाए वा अज्झोयरए पूइए कीए पामिच्चे अच्छेज्जे अणिसिट्ठे अभिहडे वा ठइयए वा कंतारभत्तए इ वा दुब्भिक्खभत्ते इ वा गिलाणभत्ते इ वा पाहुणगभत्तेत्ति वा सिज्जातरपिंडे इ वा रायपिंडे इ वा मूलभोयणे इ वा कन्दभोयणे इ वा फलभोयणे इ वा बीयभोयणे इ वा हरियभोयणे इ वा भोत्तए वा

१ प्रज्ञापनाभिश्च प्रज्ञापयन् २ एवमवादीत्–एवं खलु जात! निर्ग्रन्थे प्रवचने सत्येऽनुत्तरे कैवलिके एवं यथा प्रतिक्रमणे यावत्सर्वदुःखानामन्तं करोति, किन्त्वहिरिवैकान्तदृष्ट्या क्षुरप्र इवैकान्तधारया लोहमया वा यवाश्चर्वितव्या वालुकाकवला इव निरास्वादः गङ्गामहानदीव प्रतिश्रोतोगमनाय महासमुद्र इव भुजाभ्यां दुरुत्तरः तीक्ष्णं चङ्क्रमितव्यं गुरुकं लङ्घयितव्यमसिधारं च तपः चरितव्यं, नो च खलु कल्पते जात ! श्रमणानां निर्ग्रन्थानां प्राणातिपातो वा यावन्मिथ्यादर्शनशल्यमिति वा आधाकर्मिकमिति वा औद्देशिकमिति वा मिश्रजातमिति वा अध्यवपूरकमिति वा पूति क्रीतं प्रामित्यमाच्छेद्यमनिःसृष्टमभ्याहृतं वा स्थापितं वा कान्तारभक्तं वा दुर्भिक्षभक्तं वा ग्लानभक्तं वा प्राघूर्णकभक्तं वा शय्यातरपिण्डो वा राजपिण्डो वा मूलभोजनं वा कन्दभोजनं वा फलभोजनं वा बीजभोजनं वा हरितभोजनं वा भोक्तुं वा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥६२॥

दीप अनुक्रम [२९०]

पायए वा, तुमं च णं जाया ! सुहसमुचिते णालं सीतं णालं उण्हं णालं खुहा णालं पिवासा णालं चोरा णालं वाला णालं दंसा णालं मसगा णालं वातियपित्तियसिंभियसन्निवाइयविविहे रोगायंके उच्चावए वा गामकंटते वा बावीसं परीसहोवसग्गे उदिण्णे सम्मं अहियासित्तएत्ति, तं नो खलु जाता ! अम्हे इच्छामो तुज्झं खणमवि विप्पओगं, तं अच्छाहीं ताव जाया ! अणुभवाहि रज्जसिरिं, पच्छा पवहिसि । तए णं से कंडरीए एवं वयासी–तहेव णं देवाणुप्पिया ! जण्णं तुज्झे वयह, किं पुण देवाणुप्पिया ! निग्गंथे पावयणे कीवाणं कायराणं कापुरिसाणं इहलोयपडिबद्धाणं परलोगपरंमुहाणं विसयतिसियाणं दुरणुचरे पागयजणस्स, धीरस्स निच्छियस्स ववसियस्स णो खलु इत्थं किंचि दुक्करकरणाए, तं इच्छामि णं देवाणुप्पिया ! जाव पवतित्तएत्ति । तए णं तं कंडरीयं पुंडरीए राया जाहे णो संचाएति

१ पातुं वा, त्वं च जात ! सुखसमुचितः नालं शीतं नालमुष्णं नालं क्षुत् नालं पिपासा नालं चौरा नालं व्याला नालं दंशा नालं मशका नालं वातिकपैत्तिकश्लैष्मिकसान्निपातिकान् विविधान् रोगातङ्कान् उच्चावचान् वा ग्रामकण्टकान् वा द्वाविंशतिं परीषहोपसर्गान् उदीर्णान् सम्यग्ध्यासितुमिति, तन्न खलु जात ! वयमिच्छामस्तव क्षणमपि विप्रयोगं, तत्तिष्ठ तावज्जात ! अनुभव राज्यश्रियं पश्चात् प्रव्रजेः । ततः स कण्डरीक एवमवादीत्—तथैव देवानुप्रियाः ! यद्यूयं वदथ, किं पुनर्देवानुप्रियाः ! निर्ग्रन्थं प्रावचनं क्लीवानां कातराणां कापुरुषाणामिहलोकप्रतिबद्धानां परलोकपराङ्मुखानां विषयतृषितानां दुरनुचरं प्राकृतजनस्य, धीरस्य निश्चितस्य व्यवसितस्य न खलु अत्र किञ्चित् दुष्करं कर्तुं, तदिच्छामि देवानुप्रियाः ! यावत् प्रव्रजितुमिति । ततस्तं कण्डरीकं पुण्डरीको राजा यदा न शक्नोति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥६२॥

दीप अनुक्रम [२९०]

बहूहिं आघवणाहि य ४ आघवित्तए वा ४ ताधे अकामए चेव णिक्खमणं अणुमण्णित्था। तए णं से पुंडरीए कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ २ एवं वयासी–जहा महामइग्घं महारिहं णिक्खमणमहिमं करेह, जाव पवतितो। तओ सामाइयमाइयाइं एक्कारस अंगाइं अहिज्जियाइं, बहूहिं चउत्थच्छट्ठट्ठमाईहिं तवोवहाणेहिं जाव विहरइ। अन्नया तस्स कंडरीयस्स अंतेहि य पंतेहि य जाव रोगायंके पाउब्भूए जाव दाहवक्कंतीए यावि विहरति। तते णं ते थेरा भगवंतो अन्नया कयाइं पुव्वाणुपुव्विं चरमाणा गामाणुगामं विहरमाणा पुंडरिगिणीए नलिणिवणे समोसढा, तए णं से पुंडरीए राया इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे जाव पज्जुवासइ, पत्थुया धम्मकहा भगवया, तते णं से पुंडरीए राया धम्मं सोच्चा जेणेव कंडरीए अणगारे तेणेव उवागच्छइ २ त्ता कंडरीयं वंदइ नमंसइ २ कंडरीयस्स सरीरं सव्वाबाहं सरुयं पासति २

१ बहुभिराख्यापनाभि ४ श्राख्यातुं वा ४ तदा अकाम एव निष्क्रमणमन्वमंस्त। ततः स पुण्डरीकः कौटुम्बिकपुरुषान् शब्दयति २ एवमवादीत्–यथा महामहाार्घ्यं महार्हं निष्क्रमणमहिमानं कुरुत, यावत्प्रव्रजितः। ततः सामायिकादीन्येकादशाङ्गान्यधीतानि, बहुभिश्चतुर्थषष्ठाष्टमादिभिः तपउपधानैर्यावद्विचरति। अन्यदा तस्य कण्डरीकस्य अन्तैश्च प्रान्तैश्च यावत् रोगातङ्काः प्रादुर्भूता यावद् दाहव्युत्क्रान्तिश्चापि विहरति। ततस्ते स्थविरा भगवन्तोऽन्यदा कदाचित् पूर्वानुपूर्वं चरन्तो ग्रामानुग्रामं विहरन्तः पुण्डरीकिण्यां नलिनीवने समवसृताः, ततः सः पुण्डरीको राजा अस्याः कथाया लब्धार्थः सन् यावत् पर्युपास्ते, प्रस्तुता धर्मकथा भगवता, ततः स पुण्डरीको राजा धर्मं श्रुत्वा यत्रैव कण्डरीकोऽनगारस्तत्रैवोपागच्छति २ कण्डरीकं वन्दते प्रणमति २ कण्डरीकस्य शरीरं सव्याबाधं सरुजं पश्यति २

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥६२॥

दीप अनुक्रम [२९०]

जेणेव थेरा तेणेव उवागच्छइ, थेरे वंदति २ एवं वयासी–अहं णं भंते ! कंडरीयस्स अणगारस्स अहापवत्तेहिं तेगिच्छिएहिं फासुयएसणिज्जेहिं अहापवत्तेहिं ओसहभेसज्जभत्तपाणेहिं तिगिच्छं आउंटामि,तुज्झे णं भंते! मम जाणसालासु समोसरह, तते णं थेरा पुंडरीयस्स रण्णो एयमट्ठं पडिसुणेंति २ जाव जाणसालासु विहरंति। तए णं से पुंडरीए कंडरीयस्स तिगिच्छं आउंटेइ, तए णं तं मणुन्नं असणं ४ आहारेंतस्स समाणस्स से रोगायंके खिप्पामेव उवसंते हट्ठे जाए आरोगे बलियसरीरे, तओ रोगायंकाओ मुक्केऽवि समाणे तंसि मणुण्णंसि असणे ४ मुच्छिए जाव अज्झोववण्णे विविहे य पाणगंसि, णो संचाएति बहिया अब्भुज्जएणं विहारेणं विहरित्तएत्ति। तते णं से पुंडरीए इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे जेणेव कंडरीए तेणेव उवागच्छति २ कंडरीयं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं

१ यत्रैव स्थविरास्तत्रैवोपागच्छति, स्थविरान् वन्दते २ एवमवादीत्---अहं भदन्ताः ! कण्डरीकस्यानगारस्य यथाप्रवृत्तैश्चिकित्सितैः प्रासुकैषणीयैर्यथाप्रवृत्तैरौषधभैषज्यभक्तपानैश्चिकित्सां कारयामि, यूयं भदन्ताः ! मम यानशालासु समवसरत, ततः स्थविराः पुण्डरीकस्य राज्ञ एनमर्थं प्रतिश्रृण्वन्ति २ यावद्यानशालासु विचरन्ति। ततः स पुण्डरीकः कण्डरीकस्य चिकित्सां कारयति,ततस्तत् मनोज्ञमशन ४ माहारयतः सतः तस्य रोगातङ्काः क्षिप्रमेवोपशान्ता हृष्टो जातः अरोगो बलिकशरीरः, ततो रोगातङ्कात् मुक्तोऽपि सन् तस्मिन् मनोज्ञेऽशने ४ मूर्छितो यावदध्युपपन्नः विविधे च पानके, न शक्नोति बहिरभ्युद्यतेन विहारेण विहर्त्तुमिति। ततः स पुण्डरीकोऽस्याः कथाया लब्धार्थः सन् यत्रैव कण्डरीकस्तत्रैवोपागच्छति २ कण्डरीकं त्रिकृत्व आदक्षिणप्रदक्षिणं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥६२॥

दीप अनुक्रम [२९०]

करेति २ वंदति २ एवं वयासी–धण्णेऽसि णं तुमं देवाणुप्पिया ! एवं सपुण्णोऽसि णं कयत्थे कयलक्खणे सुलद्धे णं तव देवाणुप्पिया ! माणुस्सए जम्मे जीवियफले, जण्णं तुमं रज्जं च जाव अंतेउरं च विच्छड्डइत्ता जाव पव्वइए, अहण्णं अहण्णे अकयपुण्णे जाव माणुस्सए भवे अणेगजाइजरामरणरोगसोगसारीरमाणसपकामदुक्खवेयणावसणसयउवद्दवाभिभूए अधुवे अणीइए असासए संज्झब्भरागसरिसे जलबुब्बुयसमाणे कुसग्गजलबिंदुसन्निहे सुमिणगदंसणोवमे विज्जुलयाचंचले अणिचे सडणपडणविद्धंसणधम्मके पुर्विं वा पच्छा वा अवस्सं विप्पजहियव्वइत्ति, तहा माणुस्सयं सरीरगंपि दुक्खाययणं विविहवाहिसयसन्निकेयं अट्ठियकट्ठट्ठियं सिराण्हारुजालओणद्धसंविणद्धं मट्टियभंडं व दुब्बलं असुइसंकिलिट्ठं अणिट्ठंपि य सव्वकालं संठप्पयं जराघुणियं जज्जरघरं व सडणपडणविद्धंसणधम्मयं पुर्विं वा

१ करोति २ वन्दते २ एवमवादीत्–धन्योऽसि त्वं देवानुप्रिय ! एवं सपुण्योऽसि कृतार्थः कृतलक्षणः सुलब्धं तव देवानुप्रिय ! मानुष्यं जन्म जीवितफलं, यत्त्वं राज्यं च यावदन्तःपुरं च विच्छर्द्य यावत्प्रव्रजितः, अहमधन्योऽकृतपुण्यो यावन्मानुष्यो भवः अनेकजातिजरामरणरोगशोकशारीरमानसिकप्रकामदुःखवेदनाव्यसनशतोपद्रवाभिभूतोऽध्रुवोऽनैत्यिकोऽशाश्वतः सन्ध्याभ्ररागसदृशः जलबुद्बुदसमानः कुशाग्रजलबिन्दुसन्निभः स्वप्नदर्शनोपमो विद्युल्लताचञ्चलोऽनित्यः शटनपतनविध्वंसनधर्मकः पूर्वं वा पश्चाद्वाऽवश्यं विप्रहातव्य इति, तथा मानुष्यकं शरीरमपि दुःखायतनं विविधव्याधिशतसन्निकेतमस्थिकाष्ठोत्थितं सिरास्नायुजालावनद्धसंविनद्धं मृत्तिकाभाण्डवद्दुर्बलमशुचिसंक्लिष्टमनिष्टमपि च सर्वकालं संस्थाप्यं जराधूर्णितं अर्जरगृहवत् शटनपतनविध्वंसनधर्मकं पूर्वं वा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥६२॥

दीप अनुक्रम [२९०]

पच्छा वा अवस्सविप्पजहियव्वं, कामभोगावि य णं माणुस्सगा असुई असासया वंतासवा एवं पित्ता० खेला० सुक्का० सोणियासवा उच्चारपासवणखेलसिंघाणवंतपित्तसुक्कसोणियसमुब्भवा अमणुण्णपु [दु] रूयमुत्तपूतिपुरीसपुण्णा मयगंधुस्सासअसुभणिस्सासउव्वीयणगा बीभच्छा अप्पकालिया लघुस्सगा कलमलाहिया सुदुक्खा बहुजणसाहरणा परिकिलेसकिच्छदुक्खसज्झा अबुहजणणिसेविया सदा साधुगरहिणिज्जा अणंतसंसारवद्धणा कडुगफलविवागा चुडुलिव असुंचमाणा दुक्खाणुबंधिणो सिद्धिगमणविग्घा पुविंवा पच्छा वा अवस्स विप्पजहियवा भवंति, जेऽवि य णं रज्जे हिरण्णे सुवण्णे य जाव सावइज्जे सेऽवि य णं अग्गिसाहिए चोरसाहिए रायसाहिए दाइयसाहिए अधुवे अणितीए असासए पुविं वा पच्छा वा अवस्सविप्पजहियव्वे भविस्सतित्ति, एवंविहम्मि रज्जे जाव अंतेउरे य माणुस्सएसु य कामभोगेसु मुच्छिए४

१ पश्चाद्वाऽवश्यं विप्रहातव्यम्, कामभोगा अपि च मानुष्यका अशुचयोऽशाश्वता वान्तास्रवाः एवं पित्ता० श्लेष्मा० शुक्रा० शोणिता श्रवा उच्चारप्रस्रवणश्लेष्मसिङ्घानवान्तपित्तशुक्रशोणितसमुद्भवा अमनोज्ञपूयमूत्रपूतिपुरीषपूर्णा मृतगन्धोच्छ्वासाशुभनिःश्वासोद्वेजका बीभत्सा अल्पकालीना लघुस्वकाः कश्मलाधिकाः सुदुःखा बहुजनसाधारणाः परिक्लेशकृच्छ्रदुःखसाध्या अबुधजननिषेविताः सदा साधुगर्हणीया अनन्तसंसारवर्धनाःकटुकफलविपाकाः चुडलीव अमुच्यमानाः दुःखानुबन्धिनः सिद्धिगमनविघ्नाः पूर्वं वा पश्चाद्वाऽवश्यं विप्रहातव्या भवन्ति, यदपि च राज्यं हिरण्यं सुवर्णं च यावत्स्वापतेयं तदपि चाग्निस्वाधीनं चौरस्वाधीनं राजस्वाधीनं दायादस्वाधीनमध्रुवमनित्यमशाश्वतं पूर्वं वा पश्चाद्वाऽवश्यं विप्रहातव्यं भविष्यतीति, एवंविधे राज्ये यावदन्तःपुरे च मानुष्यकेषु च कामभोगेषु मूर्च्छितो ४

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥६२॥

दीप अनुक्रम [२९०]

णो संचाएमि जाव पवयित्तए, तं धण्णेऽसि णं तुमं जाव सुलद्धे णं मणुयजम्मे, जं णं पव्वइए । तते णं से कंडरीए पुंडरीएणं एवं वुत्ते तुसिणीए संचिट्ठति, ततेणं से पुंडरीए दोच्चंपि तच्चंपि एवं वयासी—धण्णेऽसि तुमं अहं अहण्णे। तएणं से दोच्चंपि तच्चंपि एवं वुत्ते समाणे अकामए अवसंवसे लज्जाए य गारवेण य पुंडरीयरायं आपुच्छइ, थेरेहिं सद्धिं बहिया जणवयविहारं विहरई । तए णं से कंडरीए थेरेहिं सद्धिं किंचि कालं उग्गं उग्गेणं विहरित्ता तओ पच्छा समणत्तणनिविण्णे समणत्तणणिब्भत्थिए समणगुणमुक्कजोगे थेराणं अंतियातो सणियं २ पच्चोसक्कई, जेणेव पुंडरगिणी णयरी जेणेव पुंडरीयस्स रण्णो भवणे जेणेव असोगवणिया जेणेव असोगवरपायवे जेणेव पुढविसिलावट्टए तेणेव उवागच्छति २ जाव सिलापट्टयं दुरुहइ २ ओहयमणसंकप्पे जाव झियायति । तए णं

१ न शक्नोमि यावत्प्रव्रजितुम्, तद्धन्योऽसि त्वं यावत् सुलब्धं मानुषं जन्म यत्प्रव्रजितः। ततः स कण्डरीकः पुण्डरीकेणैवमुक्तः तूष्णीकः संतिष्ठते, ततः स पुण्डरीकः द्विरपि एवमवादीत्—धन्योऽसि त्वमहमधन्यः । ततः स द्विरप्येवमुक्तः सन्नकामोऽवशवशो लज्जया च गौरवेण च पुण्डरीकं राजानमापृच्छति, स्थविरैः सार्धं बहिर्जनपदविहारं विहरति । ततः स कण्डरीकः स्थविरैः सार्धं कञ्चित्कालमुग्रमुग्रेण विहृत्य ततः पश्चात् श्रामण्यनिर्विण्णः श्रामण्यनिर्भर्त्सितः मुक्तश्रमणगुणयोगः स्थविराणामन्तिकात् शनैः २ प्रत्यवष्वष्कति, यत्रैव पुण्डरीकिणी नगरी यत्रैव पुण्डरीकस्य राज्ञो भवनं यत्रैवाशोकवनिका यत्रैवाशोकवरपादपो यत्रैव पृथ्वीशिलापट्टकस्तत्रैवोपागच्छति २ यावच्छिलापट्टकमारोहति २ अपहृतमनःसंकल्पो यावद्ध्यायति । ततः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥६२॥

दीप अनुक्रम [२९०]

पुंडरीयस्स अम्मधाई तत्थागच्छति, जाव तं तहा पासति २पुंडरीयस्स साहति, सेऽवि य णं अंतेउरपरिवालसंपरिवुडे तत्थागच्छति २ तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं जाव धण्णेऽसि णं सवं जाव तुसिणीए, तए णं पुंडरीए एवं वयासी–अट्ठो भंते ! भोगेहिं?, हंत अट्ठो, तए णं कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ २ कलिकलुसेणेवाभिसित्तो रायाभिसेएणं जाव रज्जं पसासेमाणे विहरति। तए णं से पुंडरीए सयमेव पंचमुट्ठियं लोयं करेइ २ चाउज्जामं धम्मं पडिवज्जइ २ कंडरीयस्स आयारभंडगं सवसुहसमुदयंपिव गिण्हति २ इमं अभिग्गहं गिण्हति–कप्पति मे थेराणं अंतिते धम्मं पडिवज्जेत्ता पच्छा आहारं आहारित्तएत्तिकट्टु थेराभिमुहे णिग्गए। कंडरीयस्स उ तं पणीयं पाणभोयणं आहारियस्स णो सम्मं परिणयं, वेयणा पाउब्भूया उज्जला विउला जाव दुरहियासा, तए णं से रज्जे य जाव अंतेउरे य मुच्छिए जाव

१ पुण्डरीकस्य धात्री तत्रागच्छति, यावत्तं तथा पश्यति २ पुण्डरीकाय कथयति, सोऽपि च अन्तःपुरपरिवारसंपरिवृतस्तत्रागच्छति २ त्रिकृत्व आदक्षिणप्रदक्षिणं यावद्धन्योऽसि सर्वं यावत्तूष्णीकः, ततः पुण्डरीक एवमवादीत्—अर्थो भदन्त ! भोगैः ?, हन्तार्थः, ततः कौटुम्बिकपुरुषान् शब्दयति २ कलिकलुषेणाभिषिक्तो राजाभिषेकेण यावद्राज्यं प्रशासयन् विहरति। ततः स पुण्डरीकः स्वयमेव पञ्चमौष्टिकं लोचं करोति २ चातुर्यामं धर्मं प्रतिपद्यते २ कण्डरीकस्याचारभाण्डं सर्वसुखसमुदायमिव गृह्णाति २ इममभिग्रहं गृह्णाति—कल्पते मम स्थविराणामन्तिके धर्मं प्रतिपद्य पश्चादाहारमाहारयितुमितिकृत्वा स्थविराभिमुखो निर्गतः। कण्डरीकस्य तु तत्प्रणीतं पानभोजनमाहारितस्य न सम्यक् परिणतं, वेदना प्रादुर्भूता उज्ज्वला विपुला यावदुरध्यास्या, ततः स राज्ये च यावदन्तःपुरे च मूर्च्छितो याव-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥६२॥

दीप अनुक्रम [२९०]

अज्झोववण्णे अट्टदुहट्टवसट्टे अकामए कालं किच्चा सत्तमीपुढवीए तेत्तीससागरोवमट्ठिईए जाए। पुंडरीएऽवि य णं थेरे पप्प तेसिं अंतिते दोच्चंपि चाउज्जामे धम्मे पडिवज्जति, अट्ठमखमणपारणगंसि अदीणे जाव आहारेई, तेण य कालाईकंतसीयलुक्खअरसविरसेणं अपरिणतेण वेयणा दुरहियासा जाया, तए णं से अधारणिज्जमितिकट्टु करयलपरिग्गहियं जाव अंजलिं कट्टु णमोऽत्थु णं अरहंताणं भगवंताणं जाव संपत्ताणं नमोऽत्थु णं थेराणं भगवंताणं मम धम्मायरियाणं धम्मोवएसयाणं पुव्विंपि य णं मए थेराणं अंतिते सव्वे पाणाइवाए पच्चक्खाए जावज्जीवाए जाव सव्वे अकरणिज्जे जोगे पच्चक्खाए, इयाणिंपि तेसिं चेव णं भगवंताणं अंतिते जाव सव्वं पाणातिवायं जाव सव्वं अकरणिज्जं जोगं पच्चक्खामि, जंपि य मे इमं सरीरगं जाव एयंपि चरिमेहिं ऊसासनीसासेहिं वोसिरामित्ति, एवं आलोइयपडिक्कंते

१० दध्युपपन्नः आर्त्तदुःखार्त्तवशार्त्तः अकामः कालं कृत्वा सप्तमीं पृथ्वीं त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिकां गतः। पुण्डरीकोऽपि च स्थविरान् प्राप्य तेषामन्तिके द्विरपि चातुर्यामं धर्मं प्रतिपद्यते, अष्टमक्षपणपारणे अदीनो यावदाहारयति, तेन च कालातिक्रान्तशीतलरुक्षारसविरसेन अपरिणतेन वेदना दुरध्यासा जाता, ततः सोऽधारणीयमितिकृत्वा करतलपरिगृहीतं यावदञ्जलिं कृत्वा नमोऽस्तु अर्हद्भ्यः भगवद्भ्यो यावत्संप्राप्तेभ्यो नमोऽस्तु स्थविरेभ्यो भगवद्भ्यो मम धर्मोचार्येभ्यो धर्मोपदेशकेभ्यः, पूर्वमपि मया स्थविराणामन्तिके सर्वः प्राणातिपातः प्रत्याख्यातो यावज्जीवतया यावत्सर्वोऽकरणीयो योगः प्रत्याख्यातः, इदानीमपि तेषामेव भगवतामन्तिके यावत्सर्वं प्राणातिपातं यावत्सर्वमकरणीयं योगं प्रत्याख्यामि, यदपि च मे इदं शरीरमेतदपि यावत् चरमैरुच्छ्वासनिःश्वासैर्व्युत्सृजामीति; एवमालोचितप्रतिक्रान्तः

॥३३१॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४३], मूलसूत्र[४] उत्तराध्ययनानि मूलं एवं शान्तिसूरिविरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक ॥६२॥

दीप अनुक्रम [२९०]

समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा सव्वट्ठसिद्धे तेत्तीससागरोवमाऊ देवे जाए, तओ चइत्ता महाविदेहे सिज्झिहित्ति। ता मा तुमं दुब्बलत्तं बलियत्तं वा गिण्हाहि, जधा सो कंडरीओ तेणं दोब्बलेणं अट्टदुहट्टवसट्टो सत्तमीए उववण्णो, पुंडरीतो पडिपुण्णगलकवोलो सव्वट्ठसिद्धे उववण्णो, एवं देवाणुप्पिया ! बलितो दुब्बलो वा अकारणं, इत्थ झाणणिग्गहो कायव्वो, झाणणिग्गहो परमं पमाणं। तत्थ वेसमणो अहो भगवया आकूयं नायंति एत्थ अतीव संवेगमावण्णोत्ति वंदित्ता पडिगतो। तत्थ वेसमणस्स एगो सामाणितो देवो, तेण तं पुंडरीयज्झयणं ओगाहियं पंचसयाणि संमत्तं च पडिवण्णोत्ति, केई भणंति–जंभगो सो। ताहे भगवं कल्लं चेइयाणि वंदित्ता पच्चोरुहति,ते तावसा भणंति–तुज्झे अम्हाणं आयरिया अम्हे तुब्भं सीसा, सामी भणति–तुज्झं अम्हं च तिलोयगुरू आयरिया,

१ प्राप्तसमाधिः कालमासे कालं कृत्वा सर्वार्थसिद्धे त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमायुर्देवो जातः, ततश्च्युत्वा महाविदेहेषु सेत्स्यतीति। तन्मा त्वं दुर्बलत्वं बलित्वं वा गृहाण, यथा स कण्डरीकस्तेन दौर्बल्येन आर्त्तदुःखार्त्तवशार्त्तः सप्तम्यामुत्पन्नः, पुण्डरीकः परिपूर्णगलकपोलः सर्वार्थसिद्धे उत्पन्नः, एवं देवानुप्रिय ! बली दुर्बलो वाऽकारणमत्र ध्याननिग्रहः कर्त्तव्यः, ध्याननिग्रहः परमं प्रमाणं। तत्र वैश्रवणोऽहो भगवताऽऽकूतं ज्ञातमिति अत्रातीव संवेगमापन्न इति वन्दित्वा प्रतिगतः। तत्र वैश्रमणस्यैकः सामानिको देवस्तेन तत्पुण्डरीकमध्ययनमवगाहितं पञ्चशतानि (शतवारा) सम्यक्त्वं च प्रतिपन्न इति, केचिद्भणन्ति—जृम्भकः सः। तदा भगवान् प्रभाते चैत्यानि वन्दित्वा प्रत्यवतरति, ते तापसा भणन्ति—यूयमस्माकमाचार्या वयं युष्माकं शिष्याः, स्वामी भणति—युष्माकमस्माकं च त्रिलोकगुरव आचार्याः,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥६२॥

दीप अनुक्रम [२९०]

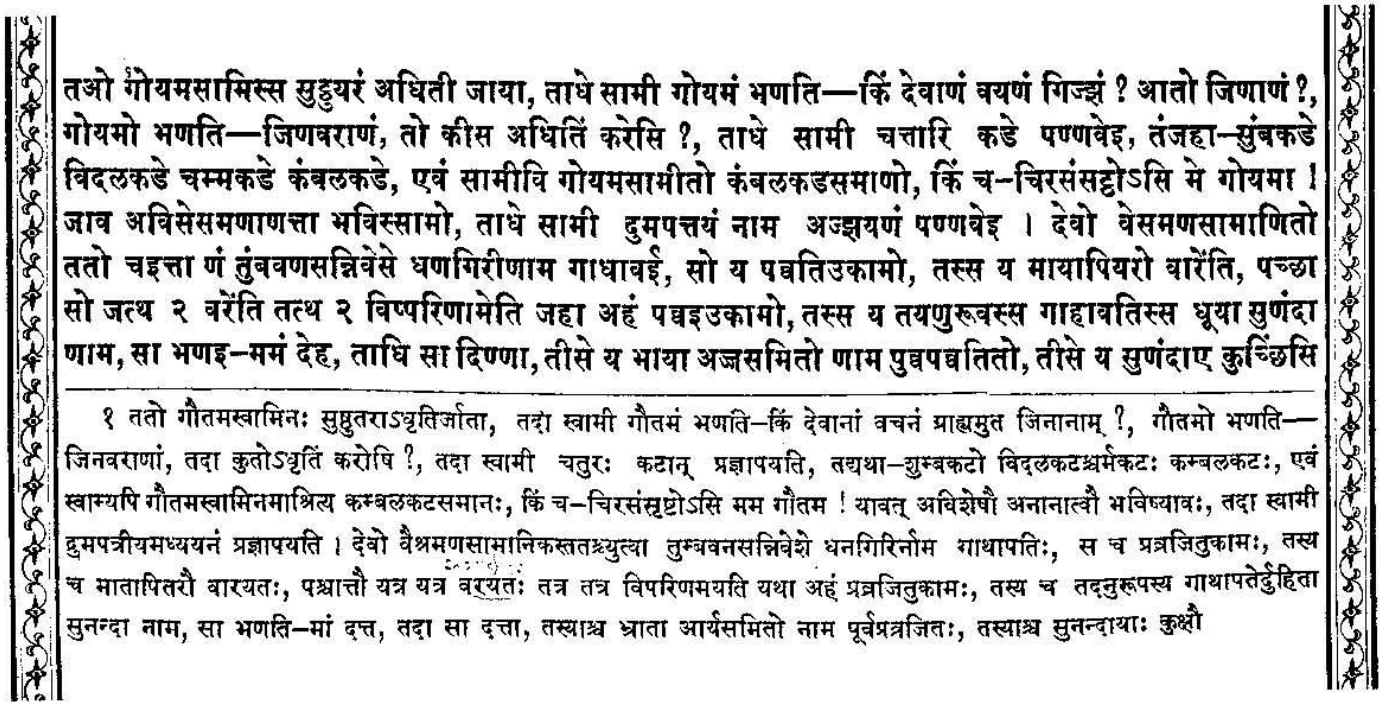
ते भणंति–तुब्भवि अन्नो आयरिओ ?, ताहे सामी भगवओ गुणथवणं करेइ, ते पवइया, देवयाए लिंगाणि उवणीयाणि, ताहे ते भगवया सद्धिं वचंति, भिक्खावेला य जाया, भगवं भणति–किं आणिज्जउ ?, ते भणंति—पायसो,भगवं च सव्वलद्धिसंपुण्णो पडिग्गहगं महुसंजुत्तस्स पायसस्स भरित्ता आगतो, ताहे भणति—परिवाडीए ठाह, ते ठिया, भगवं च अक्खीणमहाणसितो, ते धाया,ते सुट्ठुयरं आउट्टा,ताहे सयमाहारेति,ताधे पुणरवि पट्ठविया। तेसिं च सेवालभक्खगाणं जेमंताणं चेव केवलणाणं उप्पण्णं, दिण्णस्स वग्गे छत्ताइच्छत्तं पेच्छंताणं, कोडिन्नस्स वग्गे सामिं दट्ठूण उववण्णं। गोयमसामी पुरओ पकड्ढमाणो सामिं पयाहिणीकरेति, तेवि केवलिपरिसं पहाविया, गोयमसामी भणइ–एध सामिं वंदह, सामी भणइ–गोयमा! मा केवली आसाएहि, गोयमसामी आउट्टो मिच्छादुक्कडं करेति।

१ ते भणन्ति—युष्माकमप्यन्य आचार्यः ?, तदा स्वामी भगवतो गुणस्तवनं करोति, ते प्रव्रजिताः, देवतया लिङ्गान्युपनीतानि, तदा ते भगवता सार्धं व्रजन्ति, भिक्षावेला च जाता, भगवान् भणति–किमानीयताम् ?, ते भणन्ति–पायसः, भगवांश्च सर्वलब्धिसंपूर्णः प्रतिग्रहं मधुसंयुक्तस्य पायसस्य भृत्वाऽऽगतः, तदा भणति–परिपाट्या तिष्ठत, ते स्थिताः, भगवांश्चाक्षीणमहानसिकः, ते धाताः, ते सुष्ठु आवर्जिताः, तदा स्वयमाहारयति, तदा पुनरपि प्रस्थापिताः तेषामथ शैवालभक्षकाणां जिमतामेव केवलज्ञानमुत्पन्नं, दत्तस्य वर्गे छत्रातिच्छत्रं पश्यतां, कौडिन्यस्य वर्गे स्वामिनं दृष्ट्वोत्पन्नम्। गौतमस्वामी पुरतः प्रकर्षन् स्वामिनं प्रदक्षिणीकरोति, तेऽपि केवलिपर्षदं प्रधाविताः, गौतमस्वामी भणति–एत स्वामिनं वन्दध्वं, स्वामी भणति—गौतम! मा केवलिन आशातय, गौतमस्वामी आवृत्तो मिथ्यादुष्कृतं करोति।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥६२॥

दीप अनुक्रम [२९०]



तओ गोयमसामिस्स सुट्ठुयरं अधिती जाया, ताधे सामी गोयमं भणति—किं देवाणं वयणं गिज्झं ? आतो जिणाणं ?, गोयमो भणति—जिणवराणं, तो कीस अधितिं करेसि ?, ताधे सामी चत्तारि कडे पण्णवेइ, तंजहा–सुंबकडे विदलकडे चम्मकडे कंबलकडे, एवं सामीवि गोयमसामीतो कंबलकडसमाणो, किं च–चिरसंसट्ठोऽसि मे गोयमा ! जाव अविसेसमणाणत्ता भविस्सामो, ताधे सामी दुमपत्तयं नाम अज्झयणं पण्णवेइ । देवो वेसमणसामाणितो ततो चइत्ता णं तुंबवणसन्निवेसे धणगिरीणाम गाधावई, सो य पव्वतिउकामो, तस्स य मायापियरो वारेंति, पच्छा सो जत्थ २ वरेंति तत्थ २ विप्परिणामेति जहा अहं पव्वइउकामो, तस्स य तयणुरूवस्स गाहावतिस्स धूया सुणंदा णाम, सा भणइ–ममं देह, ताधि सा दिण्णा, तीसे य भाया अज्जसमितो णाम पुव्वपव्वतितो, तीसे य सुणंदाए कुच्छिंसि

---

१ ततो गौतमस्वामिनः सुष्ठुतराऽधृतिर्जाता, तदा स्वामी गौतमं भणति–किं देवानां वचनं ग्राह्यमुत जिनानाम् ?, गौतमो भणति—जिनवराणां, तदा कुतोऽधृतिं करोषि ?, तदा स्वामी चतुरः कटान् प्रज्ञापयति, तद्यथा–शुम्बकटो विदलकटश्चर्मकटः कम्बलकटः, एवं स्वाम्यपि गौतमस्वामिनमाश्रित्य कम्बलकटसमानः, किं च–चिरसंसृष्टोऽसि मम गौतम ! यावत् अविशेषौ अनानात्वौ भविष्यावः, तदा स्वामी द्रुमपत्रीयमध्ययनं प्रज्ञापयति । देवो वैश्रमणसामानिकस्ततश्च्युत्वा तुम्बवनसन्निवेशे धनगिरिर्नाम गाथापतिः, स च प्रव्रजितुकामः, तस्य च मातापितरौ वारयतः, पश्चात्तौ यत्र यत्र वरयतः तत्र तत्र विपरिणमयति यथा अहं प्रव्रजितुकामः, तस्य च तदनुरूपस्य गाथापतेर्दुहिता सुनन्दा नाम, सा भणति–मां दत्त, तदा सा दत्ता, तस्याश्च भ्राता आर्यसमितो नाम पूर्वप्रव्रजितः, तस्याश्च सुनन्दायाः कुक्षौ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [२९१]

सो देवो उववण्णो, ताधे भणति धणगिरी–एस ते गब्भो विइज्जिओ होहिइ, सो सीहगिरिस्स पासे पव्वतितो, इमोवि णवण्हं मासाणं दारतो जातो ॥ इत्यादि भगवद्वैरिस्वामिकथा आवश्यकचूर्णितोऽवसेया इत्युक्तो नामनिष्पन्ननिक्षेपः, सम्प्रति सूत्रालापकनिष्पन्ननिक्षेपावसरः, स च सूत्रे सतीत्यतः सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

दुमपत्तए पंडुयए जहा, निवडइ राइगणाण अच्चए । एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१॥

व्याख्या—द्रुमो–वृक्षस्तस्य पत्रं–पलाशं तदेव तथाविधावस्थां प्राप्यानुकम्पितं द्रुमपत्रकं 'पंडुयए'त्ति आर्षत्वात् पाण्डुरकं कालपरिणामतस्तथाविधरोगादेर्वा प्राप्तविवेलक्षभावं, येन प्रकारेण यथा, 'निपतति' शिथिलवृन्तबन्धनत्वाद् भ्रश्यति, प्रक्रमात् द्रुमत एव, रात्रिगणानां दिनगणाविनाभावित्वादुपलक्षणत्वाद्वा रात्रिन्दिवससमूहानाम् 'अत्यये' अतिक्रमे, 'एवम्' इत्येवंप्रकारं 'मनुष्याणां' मनुजानां, शेषजीवोपलक्षणं चैतत्, 'जीवितं' आयुः, तदपि हि रात्रिन्दिवगणानामतिक्रमे यथास्थित्या स्थितिखण्डकापहारात्मकेनाध्यवसायादिना जनितेनोपक्रमणेन वा जीवप्रदेशेभ्यो भ्रश्यतीत्येवमुच्यते, यतश्चैवमतोऽत्यन्तनिरुद्धः कालः समयस्तम्, अपिशब्दस्य गम्यमानत्वात्समयमप्यास्तामावलिकादि, 'गौतम' इति गौतमसगोत्रस्येन्द्रभूतेरामन्त्रणं 'मा प्रमादीः' मा प्रमादं कृथाः, शेषशिष्योपलक्ष-

१ स देव उत्पन्नः, तदा भणति धनगिरिः—एष तव गर्भो द्वितीयको भविष्यति, स सिंहगिरेः पार्श्वे प्रव्रजितः । अयमपि नवसु मासेषु दारको जातः,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [२९१]

णं च गौतमग्रहणम्, उक्तं हि निर्युक्तिकृता—'तण्णिस्साए भगवं सीसाणं देइ अणुसट्ठिं,' अत्र च पाण्डुरकपदाक्षिप्तं यौवनस्याप्यनित्यत्वमाविश्चिकीर्षुराह निर्युक्तिकृत्—

परियट्टियलावण्णं चलंतसंधिं मुयंतबिंटागं। पत्तं च वसणपत्तं कालप्पत्तं भणइ गाहं ॥ ३०७ ॥
जह तुब्भे तह अम्हे तुब्भेवि अ होहिहा जहा अम्हे। अप्पाहेइ पडंतं पंडुरवत्तं किसलयाणं ॥३०८॥
नवि अत्थि नवि अ होही उल्लावो किसलपंडुपत्ताणं। उवमा खलु एस कया भवियजणविबोहणट्ठाए

व्याख्या—परिवर्तितं–कालपरिणत्याऽन्यथाकृतं लावण्यम्–अभिरामगुणात्मकमस्येति परिवर्तितलावण्यं, यतो न तस्य प्रागिव सौकुमार्यादि विद्यते, तथा चलन्तः–शिथिलीभवन्तः सन्धयो—यस्मिंस्तत्तथा, अत एव 'मुयंत–बेंटागं'ति मुञ्चत्–त्यजत् सामर्थ्याद् वृक्षं वृन्तकं–पत्रबन्धनं यस्य तत् मुञ्चद्वृन्तकं, वृन्तस्य वृक्षमोचने पत्रस्य पतनमेव भवतीति पतदित्युक्तं भवति, 'पत्रं' (च) पर्णं, व्यसनम्–आपदं प्राप्तं व्यसनप्राप्तं तथा कालः–प्रक्रमात् पतनप्रस्तावस्तं प्राप्तं–गतं कालप्राप्तं 'भणति' अभिधत्ते, गीयत इति गाथा तां–छन्दोविशेषरूपां ॥ तामेवाह— 'यथा' इति सादृश्ये, ततो यथा यूयं सम्प्रति किशलयभावमनुभवथ स्निग्धादिगुणैर्गर्वमुद्वहथ अस्मानुपहसथ, तथा वयमप्यतीतदशायां, तथा यूयमपि च भविष्यथ यथा वयमिति, जीर्णभावे हि यथा वयमिदानीं विव-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२॥

दीप अनुक्रम [२९२]

र्णविच्छायतयोपहास्यानि, एवं यूयमपि भावीनीति, 'अप्पाहेइ'त्ति उक्तन्यायेनोपदिशति पितेव पुत्रस्य 'पतत्' भ्रश्यत् 'पाण्डुरपत्रं' जीर्णपत्रं 'किसलयानाम्' अभिनवपत्राणां। ननु किमेवं पत्रकिसलयानामुल्लापः सम्भवति ? येनेदमुच्यते, अत आह–'नैवास्ति' नैव विद्यते, नैव भविष्यति उपलक्षणत्वात् नैव भूतः, कोऽसौ ?–'उल्लापः' वचनं, केषां ?–'किशलयपाण्डुपत्राणाम्' उक्तरूपाणां, आर्षत्वाच्च यलोपः, तदिह किमेवमुक्तमित्याह—'उपमा' उपमितिः, खलु एवकारार्थत्वात्, ततः उपमैव, 'एषा' अनन्तरोक्ता 'कृता' विहिता 'भवियजणविबोहणट्ठाए'त्ति प्रतीतमेव। यथेह किशलयानि पाण्डुपत्रेणानुशिष्यन्ते तथाऽन्योऽपि यौवनगर्वितोऽनुशासनीयः, तथा चैतदनुवादिना वाचकेनावाचि–'परिभवसि किमिति लोकं जरसा परिजर्जरीकृतशरीरम्। अचिरात् त्वमपि भविष्यसि यौवनगर्वं किमुद्वहसि ? ॥ १ ॥" तदेवं जीवितयौवनयोरनित्यत्वमवगम्य न प्रमादो विधेय इति गाथात्रयार्थयुक्तसूत्रगर्भार्थः ॥ पुनरायुषोऽनित्यत्वं ख्यापयितुमाह—

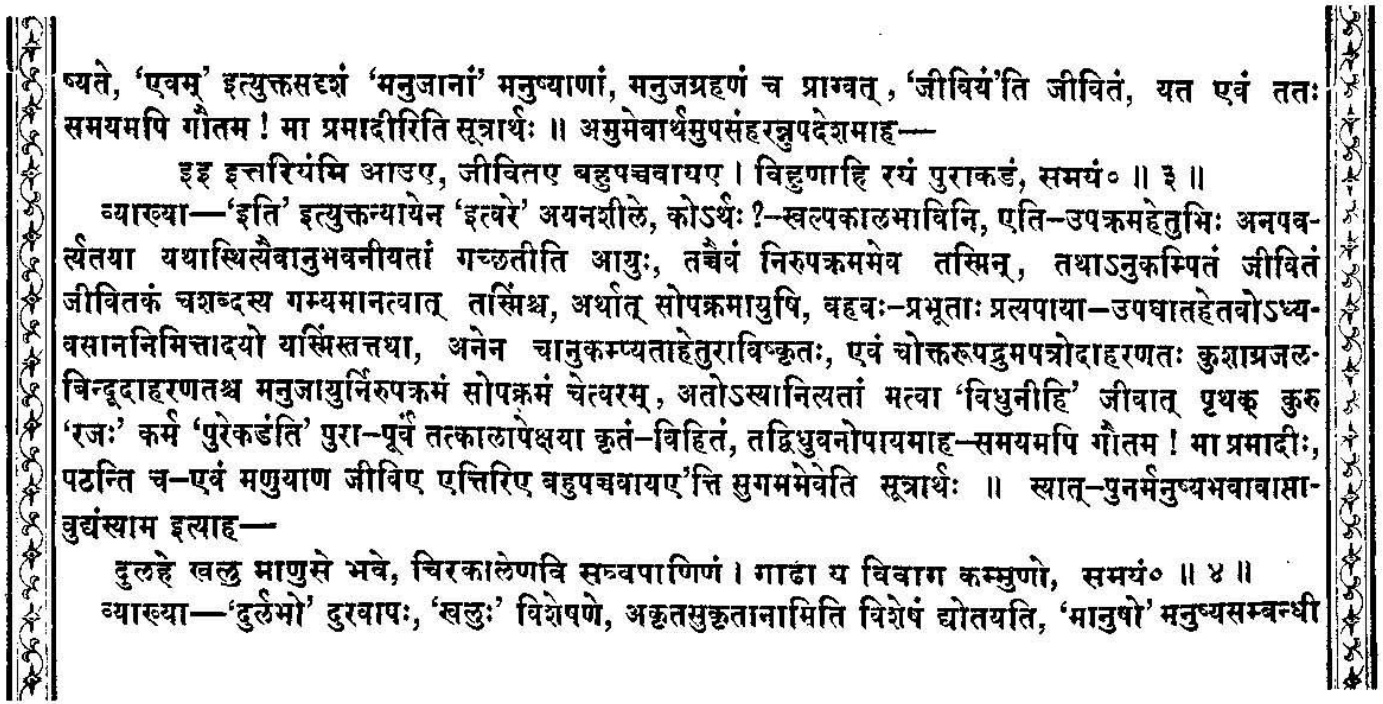
कुसग्गे जह ओसबिंदुए, थोवं चिट्ठति लंबमाणए। एवं मणुयाण जीवियं, समयं० ॥ २ ॥

व्याख्या—कुशो–दर्भसदृशस्तृणविशेषः, तनुतरत्वाच्च तस्योपादानं, तस्याग्रं–प्रान्तस्तस्मिन्, 'यथा' इत्युपमाप्रदर्शकः, अवश्यायः–शरत्कालभावी श्लक्ष्णवर्षस्तस्य बिन्दुरेव बिन्दुकः अवश्यायबिन्दुकः, 'स्तोकम्' अल्पकालमिति गम्यते, 'तिष्ठति' आस्ते, 'लम्बमानकः' मनाग् निपतद्, बद्धास्पदो हि कदाचित् कालान्तरमपि क्षमेतेत्येवं विशे-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३॥

दीप अनुक्रम [२९३]



ष्यते, 'एवम्' इत्युक्तसदृशं 'मनुजानां' मनुष्याणां, मनुजग्रहणं च प्राग्वत्, 'जीवियं'ति जीवितं, यत एवं ततः समयमपि गौतम ! मा प्रमादीरिति सूत्रार्थः ॥ अमुमेवार्थमुपसंहरन्नुपदेशमाह—

इइ इत्तरियंमि आउए, जीवितए बहुपच्चवायए । विहुणाहि रयं पुराकडं, समयं० ॥ ३ ॥

व्याख्या—'इति' इत्युक्तन्यायेन 'इत्वरे' अयनशीले, कोऽर्थः ?–स्वल्पकालभाविनि, एति–उपक्रमहेतुभिः अनपवर्त्यतया यथास्थित्यैवानुभवनीयतां गच्छतीति आयुः, तच्चैवं निरुपक्रममेव तस्मिन्, तथाऽनुकम्पितं जीवितं जीवितकं चशब्दस्य गम्यमानत्वात् तस्मिंश्च, अर्थात् सोपक्रमायुषि, बहवः–प्रभूताः प्रत्यपाया–उपघातहेतवोऽध्यवसाननिमित्तादयो यस्मिंस्तत्तथा, अनेन चानुकम्प्यताहेतुराविष्कृतः, एवं चोक्तरूपद्रुमपत्रोदाहरणतः कुशाग्रजलबिन्दूदाहरणतश्च मनुजायुर्निरुपक्रमं सोपक्रमं चेत्यरम्, अतोऽस्थानित्यतां मत्वा 'विधुनीहि' जीवात् पृथक् कुरु 'रजः' कर्म 'पुरेकडंति' पुरा–पूर्वं तत्कालापेक्षया कृतं–विहितं, तद्विधुवनोपायमाह–समयमपि गौतम ! मा प्रमादीः, पठन्ति च–एवं मणुयाण जीविए एत्तिरिए बहुपच्चवायए'त्ति सुगममेवेति सूत्रार्थः ॥ स्यात्–पुनर्मनुष्यभवावाप्तावुद्यंस्याम इत्याह—

दुलहे खलु माणुसे भवे, चिरकालेणवि सव्वपाणिणं । गाढा य विवाग कम्मुणो, समयं० ॥ ४ ॥

व्याख्या—'दुर्लभो' दुरवापः, 'खलुः' विशेषणे, अकृतसुकृतानामिति विशेषं द्योतयति, 'मानुषो' मनुष्यसम्बन्धी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४॥

दीप अनुक्रम [२९४]

'भवो' जन्म 'चिरकालेनापि' प्रभूतकालेनापि, आस्तामल्पकालेनेत्यपिशब्दार्थः, 'सर्वप्राणिनां' सर्वेषामपि जीवानां, न तु मुक्तिगमनं प्रति भव्यानामिव केषाञ्चित् मनुजभवावाप्तिं प्रति सुलभत्वविशेषोऽस्ति, किमेवमत आह— 'गाढा' विनाशयितुमशक्यतया दृढाः 'च' इति यस्मात्, 'विपाककर्मणो'त्ति विपाकाः–उदयाः कर्मणां–मनुष्यगतिविघातिप्रकृतिरूपाणां, यत एवमतः समयमपि गौतम ! मा प्रमादीरिति सूत्रार्थः॥ कथं पुनर्मनुजत्वं दुर्लभं, यद्वा यदुक्तं 'सर्वप्राणिनां दुर्लभं मनुजत्व'मिति, तत्र एकेन्द्रियादिप्राणिनां तद्दुर्लभत्वं दर्शयितुकामः कायस्थितिमाह—

पुढवीकायमइगओ उक्कोसं जीवो य संवसे । कालं संखातीयं समयं गोयम ! मा पमायए ॥ ५ ॥

आउक्कायम० ॥ ६ ॥ तेउक्काय० ॥ ७ ॥ वाउक्काय० ॥८॥ वणस्सइकाय० उक्कोसं० । कालमणंतदुरंतं समयं०९ बेइंदियकाय० उक्को० । कालं संखिज्जसण्णियं समयं० ॥१०॥ तेइंदिय०॥ ११ ॥ चउरिंदिय० ॥ १२ ॥ पंचिंदियकायमइगओ उक्कोसं० । सत्तट्ठभवग्गहणे समयं० ॥ १३॥ देवे णरए य गओ, उक्कोसं० । एक्केकभवग्गहणे, समयं० ॥ १४ ॥

व्याख्या—पृथ्वी–कठिनरूपा सैव कायः–शरीरं पृथ्वीकायस्तमतिशयेन मृत्वा २ तदुत्पत्तिलक्षणेन गतः–प्राप्तः अतिगतः, 'उक्कोसं'ति उत्कर्षतो 'जीवः' प्राणी 'तुः' पूरणे 'संवसेत्' तद्भूतयैवावतिष्ठेत 'कालं' सङ्ख्यातीतं, असङ्ख्यमित्यर्थः, यत एवमतः समयमपि गौतम! मा प्रमादीरिति । एवमप्कायतेजस्कायवायुकायसूत्रत्रयमपि व्याख्येयं,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||५-१४||

दीप अनुक्रम [२९५--३०४]

तथा वनस्पतिसूत्रं च, नवरं कालमनन्तमिति, अनन्तकायिकापेक्षमेतत्, प्रत्येकवनस्पतीनां कायस्थितेरसङ्ख्यातत्वात्, तथा दुष्टोऽन्तोऽस्येति दुरन्तस्तम्, इदमपि साधारणापेक्षयैव, ते ह्यत्यन्ताल्पबोधतया तत उद्धृता अपि न प्रायो विशिष्टं मानुषादिभवमाप्नुवन्ति। इह च 'कालं सङ्ख्यातीत'मिति विशेषानभिधानेऽप्यसङ्ख्योत्सर्पिण्यवसर्पिणीमानम्, 'अनन्त-' मिति चानन्तोत्सर्पिण्यवसर्पिणीप्रमाणमित्यवगन्तव्यं, यत आगमः–"अस्संखोसप्पिणिउस्सप्पिणीउ एगेंदियाण उ चउ-ण्हं। ता चेव ऊ अणंता वणस्सतीए उ बोद्धव्वा ॥ १ ॥" तथा द्वे—द्विसङ्ख्ये इन्द्रिये—स्पर्शनरसनाख्ये येषां ते द्वीन्द्रियाः—कृम्यादयः,तत्कायमतिगत उत्कर्षतो जीवस्तु संवसेत् कालं सङ्ख्येयसञ्ज्ञितं–सङ्ख्यातवर्षसहस्रात्मकम्, अतः समयमपि गौतम! मा प्रमादीः॥ एवं त्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियसूत्रे अपि भावनीये ॥ तथा पञ्च इन्द्रियाणि—स्पर्श-नादीनि येषां ते तथा, ते चोत्तरत्र देवनारकयोरभिधानात् मनुष्यत्वस्य दुर्लभत्वेन प्रक्रान्तत्वात्तिर्यञ्च एव गृह्यन्ते, तत्कायमतिगतः, तत्कायोत्पन्न इत्यर्थः, उत्कर्षतो जीवस्तु संवसेत् सप्त वा अष्ट वा सप्ताष्टानि तानि च तानि भव-ग्रहणानि च—जन्मोपादानानि सप्ताष्टभवग्रहणानि यतः अतः समयमपि गौतम! मा प्रमादीः। तथा देवान्नैरयिकांश्च अतिगत उत्कर्षतो जीवस्तु संवसेत् एकैकभवग्रहणं, ततः परमवश्यं नरेषु तिर्यक्षु वोत्पादात्। यद्वा 'उक्कोसंति' उत्कृष्यते तदन्येभ्य इत्युत्कर्षस्तमुत्कृष्टं कालं–त्रयस्त्रिंशत्सागरोपममानम्, 'एगेगभवग्गहणं'ति अपेर्गम्यमानत्वादेकै-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥५-१४॥

दीप अनुक्रम [२९५--३०४]

कभवग्रहणमपि संवसति, अतो जीवः संवसेत् अतः समयमपि गौतम ! मा प्रमादीरिति सूत्रदशकार्थः ॥ उक्तमेवार्थमुपसंहर्तुमाह—

एवं भवसंसारे संसरति सुभासुभेहिं कम्मेहिं । जीवो पमायबहुलो, समयं० ॥ १५ ॥

व्याख्या–'एवम्' उक्तप्रकारेण पृथिव्यादिकायस्थितिलक्षणेन भवा एव–तिर्यगादिजन्मात्मकाः संस्त्रियमाणत्वात् संसारो भवसंसारस्तस्मिन्, 'संसरन्ति'-पर्यटन्ति शुभानि च-शुभप्रकृत्यात्मकानि अशुभानि च-अशुभप्रकृतिरूपाणि शुभाशुभानि तैः 'कर्मभिः' पृथ्वीकायादिभवनिबन्धनैः 'जीवः' प्राणी प्रमादैर्बहुलो–व्याप्तः प्रमादबहुलः, यद्वा बहून्–भेदान् लातीति बहुलो मद्याद्यनेकभेदतः प्रमादो–धर्मं प्रत्यनुद्यमात्मको यस्य स बहुलप्रमादः, सूत्रे च व्यत्ययनिर्देशः प्राग्वत्, इह चायमाशयः–यतोऽयं जीवः प्रमादबहुलः सन् शुभाशुभानि कर्माण्युपचिनोति, उपचित्य च तदनुरूपासु गतिष्वाजवंजवीभावमुपगम्य भ्राम्यति, ततो दुर्लभत्वात् पुनर्मानुषत्वस्य प्रमादमूलत्वाच्च सकलानर्थपरम्परायाः समयमपि गौतम ! मा प्रमादीरिति सूत्रार्थः ॥ एवं मनुजभवदुर्लभत्वमुक्तम्, इदानीं तदवाप्तावप्युत्तरोत्तरगुणावाप्तिरतिदुरापैवेत्याह—

लद्धूणऽवि माणुसत्तणं, आयरित्तणं पुणरावि दुल्लभं । बहवे दसुया मिलेक्खुया, समयं० ॥ १६ ॥
लद्धूणऽवि आरियत्तणं, अहीणपंचिंदियया हु दुल्लहा । विगलिंदियता हु दीसइ, समयं० ॥ १७ ॥
अहीणपंचिदियत्तंपि से लहे, उत्तमधम्मसुती हु दुल्लहा । मिच्छत्तनिसेवए जणे, समयं० ॥ १८ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१६--२०॥

दीप अनुक्रम [३०६--३१०]

लद्धूणवि उत्तमं सुइं, सद्दहणा पुणरावि दुल्लहा । मिच्छत्त० समयं० ॥ १९ ॥
धम्मंपि हु सद्दहंतया, दुल्लभया काएण फासया । इह कामगुणेहिं मुच्छिया, समयं० ॥ २० ॥

व्याख्या—'लब्ध्वाऽपि' प्राप्यापि 'मानुषत्वं' इदं तावदतिदुर्लभमेव कथञ्चित्तु लब्ध्वाऽपीत्यपिशब्दार्थः, 'आर्यत्वं' मगधाद्यार्यदेशोत्पत्तिलक्षणं 'पुनरपि' भूयोऽपि, आकारस्त्वलाक्षणिकः, 'दुर्लभं' दुरवापं, किमिति ?, अत आह–बहवः–प्रभूता दस्यवो–देशप्रत्यन्तवासिनश्चौराः 'मिलेक्खु य'त्ति म्लेच्छा–अव्यक्तवाचो, न यदुक्तमार्यैरवधार्यते, ते च शकयवनशबरादिदेशोद्भवाः, येष्ववाप्यापि मनुजत्वं जन्तुरुत्पद्यते, एते च सर्वेऽपि धर्माधर्मगम्यागम्यभक्ष्याभक्ष्यादिसकलार्यव्यवहारबहिष्कृतास्तिर्यक्प्राया एवेति समयमपि गौतम ! मा प्रमादीः । इत्थमार्यदेशोत्पत्तिरूपमार्यत्वमतिदुर्लभं, तथाविधमपि लब्ध्वाऽपि 'आर्यत्वम्' उक्तरूपम्, अहीनानि–अविकलानि पञ्चेन्द्रियाणि–स्पर्शनादीनि यस्य स तथा तद्भावोऽहीनपञ्चेन्द्रियता 'दुः' अवधारणे भिन्नक्रमश्च, दुर्लभा एव, यद्वा दुः पुनरर्थे, अहीनपञ्चेन्द्रियता पुनर्दुर्लभा, इहैव हेतुमाह–विकलानि–रोगादिभिरुपहतानीन्द्रियाणि येषां तद्भावो विकलेन्द्रियता, हुरिति निपातोऽनेकार्थतया च बाहुल्यसूचकः, ततश्च यतो बाहुल्येन विकलेन्द्रियता दृश्यते ततो दुर्लभैवाहीनपञ्चेन्द्रियता, तथा च समयमपि गौतम ! मा प्रमादीः । तथा कथञ्चिदहीनपञ्चेन्द्रियतामप्युक्तन्यायतोऽतिदुर्लभामपि 'स' इति जन्तुः 'लभेत' प्राप्नुयात्, तथाऽप्युत्तमः–प्रधानो यो धर्मस्तस्य 'श्रुतिः' आकर्णनात्मिका या सा तथा, 'दुः' अवधारणे भिन्नक्रमश्च, ततो दुर्लभैव,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१६--२०॥

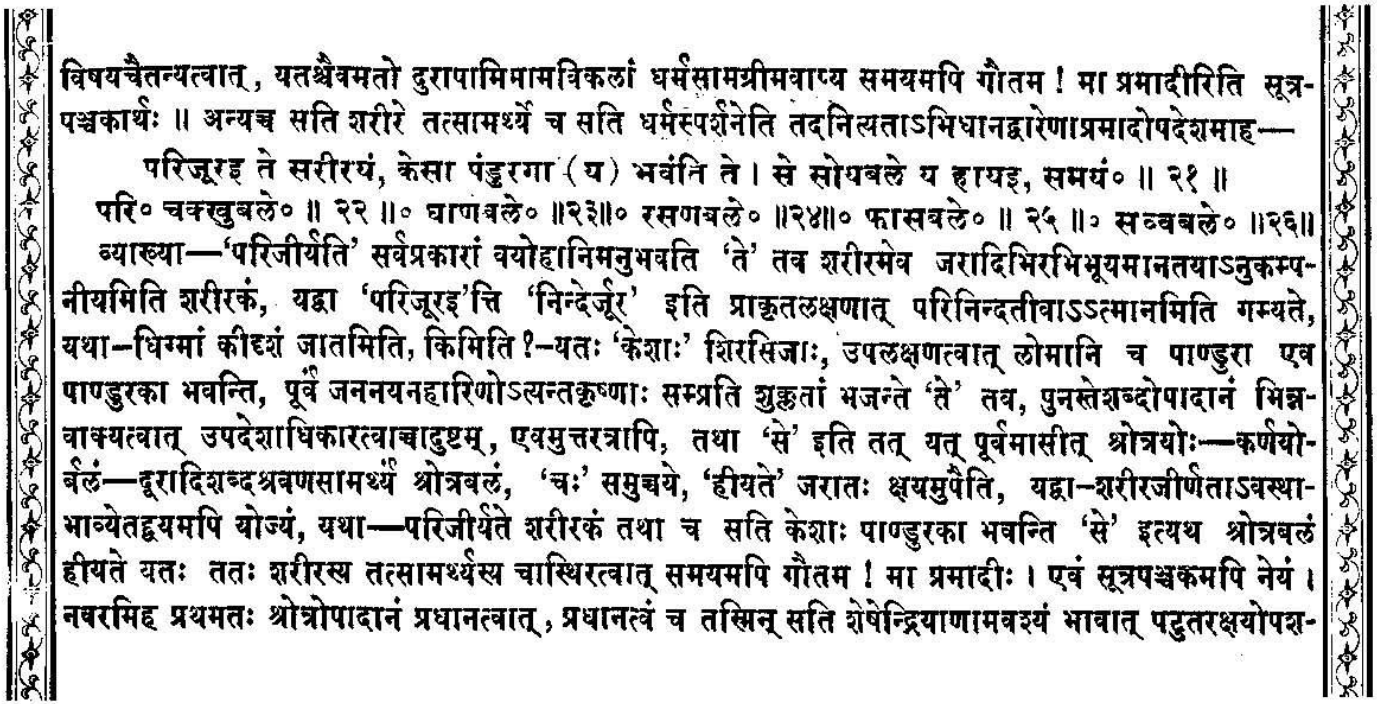
दीप अनुक्रम [३०६--३१०]

किमिति?–यतः-कुत्सितानि च तानि तीर्थानि कुतीर्थानि च-शाक्यौलूक्यादिप्ररूपितानि तानि विद्यन्ते येषामनुष्ठेयतया स्वीकृतत्वात्ते कुतीर्थिनस्तान्नितरां सेवते यः स कुतीर्थिनिषेवको जनो–लोकः, कुतीर्थिनो हि यशःसत्काराद्येषिणो यदेव प्राणिप्रियं विषयादि तदेवोपदिशन्ति, तत्तीर्थकृतामप्येवंविधत्वात्, उक्तं हि–"सत्कारयशोलाभार्थिभिश्च मूढैरिहान्य-तीर्थकरैः। अवसादितं जगदिदं प्रियाण्यपथ्यान्युपदिशद्भिः ॥१॥" इति सुकरैव तेषां सेवा, तत्सेविनां च कुत उत्तम-धर्मश्रुतिः ?, पठ्यते च–'कुतित्थिणिसेवए जणे'त्ति स्पष्टः, एवं च तद्दुर्लभत्वमवधार्य समयमपि गौतम ! मा प्रमादीः। किंच–लब्ध्वाऽपि उत्तमधर्मविषयत्वादुत्तमा तां 'श्रुतिम्' उक्तिरूपां 'श्रद्धानं' तत्त्वरुचिरूपं 'पुणरावि'त्ति पुनरपि 'दुर्लभं' दुरापम्, इहैव हेतुमाह—मिथ्याभावो मिथ्यात्वम्–अतत्त्वेऽपि तत्त्वप्रत्ययरूपं तं निषेवते यः स मिथ्यात्वनिषेवको जनो—लोकः, अनादिभवाभ्यस्ततया गुरुकर्मतया च तत्रैव प्रायः प्रवृत्तेः, यत एवमतः सम-यमपि गौतम !मा प्रमादीः। अन्यच्च–'धर्मं' प्रक्रमात् सर्वज्ञप्रणीतम् 'अपिः' भिन्नक्रमः 'हुः' वाक्यालङ्कारे, ततः 'श्रद्दधतोऽपि' कर्तुमभिलषन्तोऽपि दुर्लभकाः कायेन–शरीरेण, उपलक्षणत्वान्मनसा वाचा च, 'स्पर्शका' अनुष्ठा-तारः, कारणमाह—'इह' अस्मिन् जगति 'कामगुणेषु' शब्दादिषु 'मूर्च्छिता' मूढाः, गृद्धिमन्त इत्यर्थः, जन्तव इति शेषः, प्रायेण ह्यपथ्येष्वेव विषयेष्वभिष्वङ्गः प्राणिनां, यत उक्तम्—"प्रायेण हि यदपथ्यं तदेव चातुरजनप्रियं भवति। विषयातुरस्य जगतस्तथाऽनुकूलाः प्रिया विषयाः ॥ १ ॥" पाठान्तरतः कामगुणैर्मूर्च्छिता इव मूर्च्छिताः, विलुप्तधर्म-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||२१--२६||

दीप अनुक्रम [३११--३१६]



विषयचैतन्यत्वात्, यतश्चैवमतो दुरापामिमामविकलां धर्मसामग्रीमवाप्य समयमपि गौतम ! मा प्रमादीरिति सूत्रपञ्चकार्थः ॥ अन्यच्च सति शरीरे तत्सामर्थ्ये च सति धर्मस्पर्शनेति तदनित्यताऽभिधानद्वारेणाप्रमादोपदेशमाह—

परिजूरइ ते सरीरयं, केसा पंडुरगा (य) भवंति ते। से सोयबले य हायइ, समयं० ॥ २१ ॥
परि० चक्खुबले० ॥ २२ ॥० घाणबले० ॥२३॥० रसणबले० ॥२४॥० फासबले० ॥ २५ ॥० सव्वबले० ॥२६॥

व्याख्या—'परिजीर्यति' सर्वप्रकारं वयोहानिमनुभवति 'ते' तव शरीरमेव जरादिभिरभिभूयमानतयाऽनुकम्पनीयमिति शरीरकं, यद्वा 'परिजूरइ'त्ति 'निन्देर्जूर' इति प्राकृतलक्षणात् परिनिन्दतीवाऽऽत्मानमिति गम्यते, यथा—धिग्मां कीदृशं जातमिति, किमिति?—यतः 'केशाः' शिरसिजाः, उपलक्षणत्वात् लोमानि च पाण्डुरा एव पाण्डुरका भवन्ति, पूर्वं जननयनहारिणोऽत्यन्तकृष्णाः सम्प्रति शुक्लतां भजन्ते 'ते' तव, पुनस्तेशब्दोपादानं भिन्नवाक्यत्वात् उपदेशाधिकारत्वाच्चादुष्टम्, एवमुत्तरत्रापि, तथा 'से' इति तत् यत् पूर्वमासीत् श्रोत्रयोः—कर्णयोर्बलं—दूरादिशब्दश्रवणसामर्थ्यं श्रोत्रबलं, 'चः' समुच्चये, 'हीयते' जरातः क्षयमुपैति, यद्वा—शरीरजीर्णताऽवस्थाभाव्येतद्वयमपि योज्यं, यथा—परिजीर्यते शरीरकं तथा च सति केशाः पाण्डुरका भवन्ति 'से' इत्यथ श्रोत्रबलं हीयते यतः ततः शरीरस्य तत्सामर्थ्यस्य चास्थिरत्वात् समयमपि गौतम ! मा प्रमादीः। एवं सूत्रपञ्चकमपि नेयं। नवरमिह प्रथमतः श्रोत्रोपादानं प्रधानत्वात्, प्रधानत्वं च तस्मिन् सति शेषेन्द्रियाणामवश्यं भावात् पटुतरक्षयोपश-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२१--२६॥

दीप अनुक्रम [३११--३१६]

मजत्वाच्च, तथोपदेशाधिकारादुपदेशस्य च श्रोत्रग्राह्यत्वात्। तथा च 'सर्वबल'मिति सर्वेषा—करचरणाद्यवयवानां स्वस्वव्यापारसामर्थ्यं, यद्वा सर्वेषां–मनोवाक्कायानां ध्यानाध्ययनचङ्क्रमणादिचेष्टाविषया शक्तिरिति सूत्रषट्कार्थः ॥ जरातः शरीराशक्तिरुक्ता, सम्प्रति रोगतस्तामाह—

अरई गंडं विसूईया, आयंका विविहा फुसंति ते। विहडइ विद्धंसइ ते सरीरयं, समयं० ॥ २७ ॥

व्याख्या—'अरतिः' वातादिजनितश्चित्तोद्वेगः 'गण्डं' गडु, विध्यतीव शरीरं सूचिभिरिति विसूचिका–अजीर्णविशेषः, आङिति सर्वात्मप्रदेशाभिव्याप्त्या तङ्कयन्ति–कृच्छ्रजीवितमात्मानं कुर्वन्तीत्यातङ्काः–सद्योघातिनो रोगविशेषाः 'विविधाः' अनेकप्रकाराः 'स्पृशन्ति' परामृशन्ति 'ते' तव, शरीरकमिति गम्यते, ततश्च 'विपतति' विशेषेण बलापचयादपैति 'विध्वस्यते' जीवविप्रमुक्तं च विशेषेणाधःपतति ते शरीरकम्, अतः समयमपि गौतम! मा प्रमादीः, सर्वत्र च वर्तमाननिर्देशः प्राग्वत्। केशपाण्डुरत्वादिकं यद्यपि गौतमे न सम्भवति तथापि तन्निश्रया शेषशिष्यप्रतिबोधनार्थत्वाददुष्टमिति सूत्रार्थः ॥ यथा चाप्रमादो विधेयस्तथा चाह—

वुच्छिंद सिणेहमप्पणो, कुमुयं सारइयं व पाणियं। से सव्वसिणेहवज्जिए, समयं० ॥ २८ ॥

व्याख्या—'वोच्छिंद'त्ति विविधैः प्रकारैरुत्–प्राबल्येन छिन्धि–अपनय व्युच्छिन्धि, कम् ?–'स्नेहम्' अभिष्वङ्गं, कस्य सम्बन्धिनम् ?–आत्मनः, किमिव ?–'कुमुदमिव' चन्द्रोद्योतविकाश्युत्पलमिव 'सारइयं व'त्ति सूत्रत्वाच्छरदि भवं

॥३३८॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२८॥

दीप अनुक्रम [३१८]

शारदं, वेत्युपमार्थो भिन्नक्रमश्च प्राग् योजितः 'पानीयं' जलं, यथा तत् प्रथमं जलमग्नमपि जलमपहाय वर्तते तथा त्वमपि चिरसंसृष्टचिरपरिचितत्वादिभिर्मद्विषयस्नेहवशगोऽपि तमपनय, अपनीय च 'से' इत्यथानन्तरं सर्वस्नेहवर्जितः सन् समयमपि गौतम! मा प्रमादीः। इह च जलमपहायैतावति सिद्धे यच्छारदशब्दोपादानं तच्छारदजलस्येव स्नेहस्याप्यतिमनोरमत्वख्यापनार्थमिति सूत्रार्थः ॥ किञ्च—

चिच्चा ण धणं च भारियं, पव्वइओ हि सि अणगारियं। मा वंतं पुणोवि आविए, समयं० ॥ २९ ॥

व्याख्या—'त्यक्त्वा' परिहृत्य 'ण' इति वाक्यालङ्कारे 'धनं' चतुष्पदादि चशब्दो भिन्नक्रमः, ततो 'भार्यां च' कलत्रं च 'प्रव्रजितः' गृहान्निष्क्रान्तः 'हिः' इति यस्मात् 'सी'ति सूत्रत्वेनाकारलोपात् 'असि' भवसि 'अणगारियं'ति अनगारेषु–भावभिक्षुषु भवमानगारिकमनुष्ठानं, चस्य गम्यमानत्वात् तच्च प्रतिपन्नवानसीति शेषः, यद्वा प्रव्रजितः–प्रतिपन्नः 'अणगारियं'ति अनगारिताम्, अतो 'मा' इति निषेधे, 'वान्तम्' उद्गीर्णं 'पुणोवि'त्ति पुनरपि 'आविए'त्ति आपिब, किन्तु समयमपि गौतम! मा प्रमादीरिति सूत्रार्थः ॥ कथं च वान्ताऽऽपानं न भवतीत्याह—

अवउज्झिय मित्तबंधवं, विउलं चेव धणोहसंचयं। मा तं बिइयं गवेसए, समयं० ॥ ३० ॥

व्याख्या—'अपोह्य' त्यक्त्वा, मित्राणि च–सुहृदो बान्धवाश्च—स्वजना इति समाहारे मित्रबान्धवं, 'विपुलं' विस्तीर्णं 'चः' समुच्चये भिन्नक्रमश्च 'एव' इति पूरणे, ततो धनं–कनकादिद्रव्यं, तस्यौघः–समूहस्तस्य सञ्चयो–राशी-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३०॥

दीप अनुक्रम [३२०]

करणं धनौघसञ्चयस्तं च, मा 'तदिति' मित्रादिकं, द्वितीयं, पुनर्ग्रहणार्थमिति गम्यते, 'गवेषय' अन्वेषय, तत्परित्यागात् श्रामण्यमङ्गीकृत्य पुनस्तदभिष्वङ्गवान् मा भूः, त्यक्तं हि तद्वान्तोपमं तदभिष्वङ्गश्च वान्ताऽऽपानप्राय इत्यभिप्रायः, किन्तु समयमपि गौतम! मा प्रमादीरिति सूत्रार्थः॥ इत्थं प्रतिबन्धनिराकरणार्थमभिधाय दर्शनविशुद्धयर्थमिदमाह—

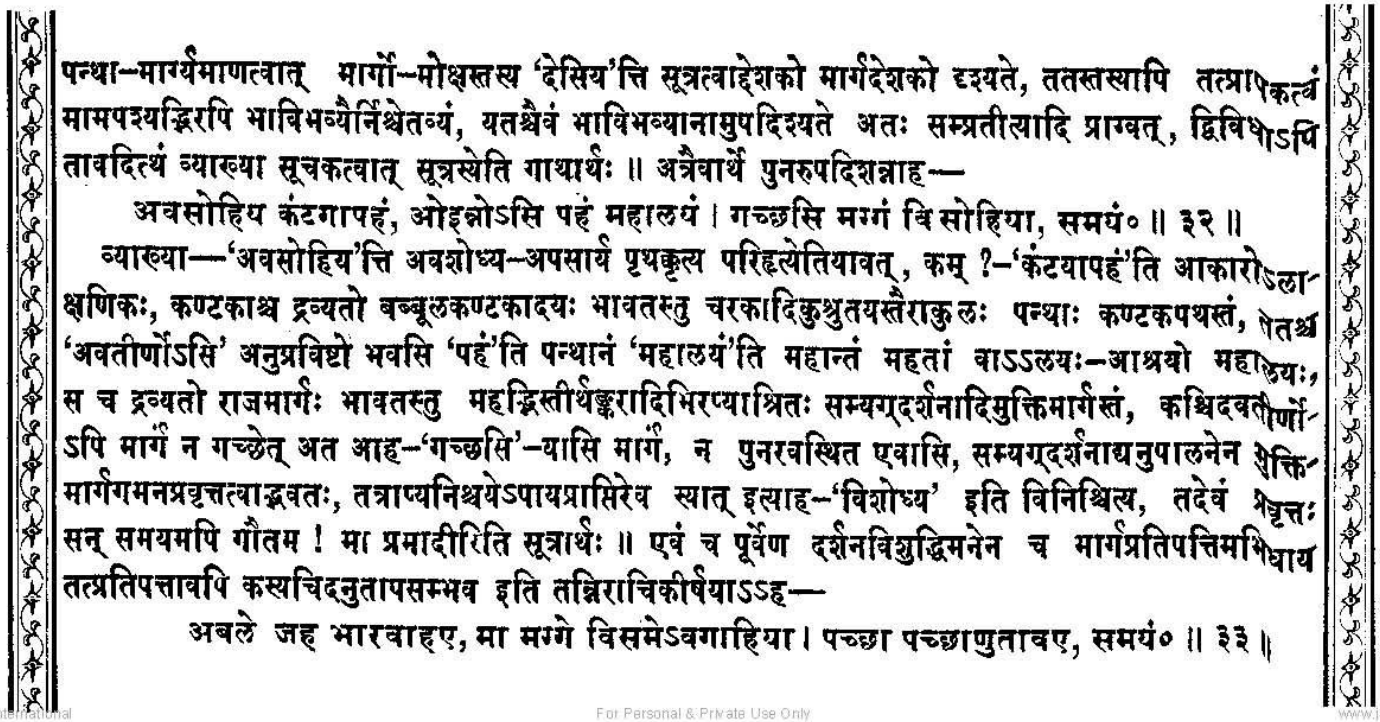
ण हु जिणे अज्ज दीसइ, बहुमए दीसइ मग्गदेसिए । संपइ नेआउए पहे, समयं० ॥ ३१ ॥

व्याख्या—'न हु' नैव 'जिनः' तीर्थकृद् 'अद्य' अस्मिन् काले 'दृश्यते' अवलोक्यते, यद्यपीति गम्यते, तथापि 'बहुमए'त्ति पन्थाः, स च द्रव्यतो नगरादिमार्गः, भावतस्तु सातिशयश्रुतज्ञानदर्शनचारित्रात्मको मुक्तिमार्गः, तत्रेह भावमार्गः परिगृह्यते, 'दृश्यते' उपलभ्यते 'मग्गदेसिय'त्ति भावप्रधानत्वान्निर्देशस्य मार्गत्वेन अर्थान्मुक्तेर्देशितो–जिनैः कथितो मार्गदेशितः, अयमाशयः–यद्यपि सम्प्रति जिनो न दृश्यते तदुपदिष्टस्तु मार्गो दृश्यते, न चैवंविधोऽयमतीन्द्रियार्थदर्शिनं जिनं विना सम्भवति इत्यसन्दिग्धचेतसो भाविनोऽपि भव्या न प्रमादं विधास्यन्तीति, अतः 'सम्प्रति' इदानीं सत्यपि मयीति भावः, 'नैयायिके' निश्चितमुक्त्याख्यलाभप्रयोजने 'पथि' मार्गे समयमपि गौतम ! केवलानुत्पत्तितः संशयविधानेन मा प्रमादीः, यद्वा–त्रिकालविषयत्वात् सूत्रस्य भाविभव्योपदेशकमप्येतत्, ततोऽयमर्थः–यथाऽऽद्यमार्गोपदेशकं नगरं चापश्यन्तोऽपि पन्थानमवलोकयन्तस्तस्याविच्छिन्नोपदेशतस्तत्प्रापकत्वं निश्चिन्वन्ति तथा यद्यप्यद्य जिन उपलक्षणत्वान्मोक्षश्च नैव दृश्यते तथाऽपि तद्देशितः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३१॥

दीप अनुक्रम [३२१]



पन्था–मार्ग्यमाणत्वात् मार्गो–मोक्षस्तस्य 'देसिय'त्ति सूत्रत्वादेशको मार्गदेशको दृश्यते, ततस्तस्यापि तत्प्राप्तकत्वं मामपश्यद्भिरपि भाविभव्यैर्निश्चेतव्यं, यतश्चैवं भाविभव्यानामुपदिश्यते अतः सम्प्रतीत्यादि प्राग्वत्, द्विविधोऽपि तावदित्थं व्याख्या सूचकत्वात् सूत्रस्येति गाथार्थः ॥ अत्रैवार्थे पुनरुपदिशन्नाह—

अवसोहिय कंटगापहं, ओइण्णोऽसि पहं महालयं। गच्छसि मग्गं विसोहिया, समयं० ॥ ३२ ॥

व्याख्या—'अवसोहिय'त्ति अवशोध्य–अपसार्य पृथक्कृत्य परिहृत्येतियावत्, कम् ?–'कंटयापहं'ति आकारोऽलाक्षणिकः, कण्टकाश्च द्रव्यतो बब्बूलकण्टकादयः भावतस्तु चरकादिकुश्रुतयस्तैराकुलः पन्थाः कण्टकपथस्तं, एतश्च 'अवतीर्णोऽसि' अनुप्रविष्टो भवसि 'पहं'ति पन्थानं 'महालयं'ति महान्तं महतां वाऽऽलयः–आश्रयो महालयः, स च द्रव्यतो राजमार्गः भावतस्तु महद्भिस्तीर्थङ्करादिभिरप्याश्रितः सम्यग्दर्शनादिमुक्तिमार्गस्तं, कश्चिदवतीर्णोऽपि मार्गं न गच्छेत् अत आह–'गच्छसि'–यासि मार्गं, न पुनरवस्थित एवासि, सम्यग्दर्शनाद्यनुपालनेन मुक्तिमार्गगमनप्रवृत्तत्वाद्भवतः, तत्राप्यनिश्चयेऽपायप्राप्तिरेव स्यात् इत्याह–'विशोध्य' इति विनिश्चित्य, तदेवं प्रवृत्तः सन् समयमपि गौतम ! मा प्रमादीरिति सूत्रार्थः ॥ एवं च पूर्वेण दर्शनविशुद्धिमनेन च मार्गप्रतिपत्तिमभिधाय तत्प्रतिपत्तावपि कस्यचिदनुतापसम्भव इति तन्निराचिकीर्षयाऽऽह—

अबले जह भारवाहए, मा मग्गे विसमेऽवगाहिया। पच्छा पच्छाणुतावए, समयं० ॥ ३३ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३३॥

दीप अनुक्रम [३२३]

व्याख्या—'अबलः' अविद्यमानशरीरसामर्थ्यः 'यथा' इत्यौपम्ये भारं वहतीति भारवाहकः 'मा' निषेधे 'मग्गे' त्ति मार्गे 'विसमे'त्ति विषमं मन्दसत्त्वैरतिदुस्तरम् 'अवगाहिय'त्ति अवगाह्य प्रविश्य, त्यक्ताङ्गीकृतभारः सन्निति गम्यते, 'पश्चात्' तत्कालानन्तरं 'पश्चादनुतापकः' पश्चात्तापकृत्, भूरिति शेषः, इदमुक्तं भवति–यथा कश्चिद्देशान्तरगतो बहुभिरुपायैः स्वर्णादिकमुपार्ज्य स्वगृहाभिमुखमागच्छन्नतिभीरुतयाऽन्यवस्त्वन्तर्हितं स्वर्णादिकं स्वशिरस्यारोप्य कतिचिद्दिनानि सम्यगुद्वहति, अनन्तरं च क्वचिदुपलादिसङ्कुले पथि अहो ! अहमनेन भारेणाऽऽक्रान्त इति तमुत्सृज्य स्वगृहमागतः अत्यन्तनिर्धनतयाऽनुतप्यते–किं मया मन्दभाग्येन तत्परित्यक्तमिति ?, एवं त्वमपि प्रमादपरतया त्यक्तसंयमभारः सन्नेवंविधो मा भूः, किन्तु समयमपि गौतम ! मा प्रमादीरिति सूत्रार्थः ॥ यद्विदमद्यापि निस्तरणीयमल्पं च निस्तीर्णमित्यभिसन्धिनोत्साहभङ्गोऽपि स्यादिति तदपनोदायाह—

तिण्णो हु सि अण्णवं महं, किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ ?। अभितुर पारं गमित्तए, समयं० ॥ ३४ ॥

व्याख्या—'तिण्णो हु सि'त्ति तीर्ण एवासि, अर्णवमिवार्णवं 'महं'ति महान्तं गुरुं, किमिति प्रश्ने पुनरिति वाक्योपन्यासे, ततः किं पुनस्तिष्ठसि ?, 'तीरं'पारम्'आगतः' प्राप्तः, किमुक्तं भवति ?–भव उत्कृष्टस्थितीनि वा कर्माणि भावतोऽर्णव इत्युच्यते, स च द्विविधोऽपि त्वयोत्तीर्णप्राय एव इति केन हेतुना तीरप्राप्तोऽप्यौदासीन्यं भजसे ?, नैवेदं तवोचितमित्याशयः। किन्तु 'अभितुर'त्ति अभि–आभिमुख्येन त्वरस्व-शीघ्रो भव, 'पारं' परतीरं भावतो मुक्तिपदं 'गमि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३५॥

दीप अनुक्रम [३२५]

त्तए'त्ति गन्तुम्, अतश्च समयमपि गौतम ! मा प्रमादीरिति सूत्रार्थः ॥ अथापि स्यात्–मम पारप्राप्तियोग्यतैव न समस्ति, अत आह–अथवा शेषशिष्यापेक्षया किमस्याप्रमादस्य फलम्? यत्पुनः पुनरयमुपदिश्यते इत्याह—

अकलेवरसेणिमूसिया, सिद्धिं गोयम ! लोयं (य) गच्छसि। खेमं च सिवं अणुत्तरं, समयं० ॥ ३५ ॥

व्याख्या—कलेवरं–शरीरम् अविद्यमानं कडेवरमेषामकडेवराः–सिद्धास्तेषां श्रेणिरिव श्रेणिर्यथोत्तरोत्तरशुभपरिणामप्राप्तिरूपया ते सिद्धिपदमारोहन्ति(तां), क्षपकश्रेणिमित्यर्थः। यद्वा कडेवराणि–एकेन्द्रियशरीराणि तन्मयत्वेन तेषां श्रेणिः कडेवरश्रेणिः–वंशादिविरचिता प्रासादादिष्वारोहणहेतुः, तथा च या न सा अकडेवरश्रेणिः–अनन्तरोक्तरूपैव ताम् 'उस्सिय'त्ति उत्सृतां, गमिष्यसीति सम्बन्धः, यद्वा 'उस्सिय'त्ति उच्छ्रित्येवोच्छ्रित्य–उत्तरोत्तरसंयमस्थानावाप्त्या तामुच्छ्रितामिव कृत्वा 'सिद्धिम्' इति सिद्धिनामानं 'गोयम ! लोयं गच्छसि' त्ति प्राग्वल्लोकं गमिष्यसि, संशयव्यवच्छेदफलत्वाच्चास्य गमिष्यस्येव, 'क्षेमं' परचक्राद्युपद्रवरहितं 'चः' समुच्चये भिन्नक्रमश्च, 'शिवमनुत्तरं' च तत्र शिवमशेषदुरितोपशमेन अनुत्तरं नास्योत्तरमन्यत् प्रधानमस्तीत्यनुत्तरं, सर्वोत्कृष्टमित्यर्थः, यतश्चैवं ततः समयमपि गौतम ! मा प्रमादीरिति सूत्रार्थः ॥ ३६ ॥ सम्प्रति निगमयन्नुपदेशसर्वस्वमाह—

बुद्धे परिणिव्वुए चरे, गाम गए नगरे व संजए। संतिमग्गं च बूहए, समयं० ॥ ३६ ॥

व्याख्या—'बुद्धः' अवगतहेयादिविभागः 'परिनिर्वृतः' कषायाग्न्युपशमतः समन्तात् शीतीभूतः 'चरेः' आसे-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३७॥

दीप अनुक्रम [३२७]

वस्व, संयममिति शेषः, 'गाम'त्ति सुपो लोपात् ग्रामे 'गतः' स्थितो नगरे वा, उपलक्षणत्वादरण्यादिषु वा, किमुक्तं भवति ?–सर्वस्मिन्ननभिष्वङ्गवान्, सम्यग् यतः–पापस्थानेभ्य उपरतः संयतः, शाम्यन्त्यस्यां सर्वदुरितानीति शान्तिः–निर्वाणं तस्या मार्गः–पन्थाः, यद्वा शान्तिः–उपशमः सैव मुक्तिहेतुतया मार्गः शान्तिमार्गो, दशविधधर्मोपलक्षणं शान्तिग्रहणं, चशब्दो भिन्नक्रमः, ततो बृंहयेश्च–भव्यजनप्ररूपणया वृद्धिं नयेः, ततः समयमपि गौतम ! मा प्रमादीरिति सूत्रार्थः ॥ इत्थं भगवदभिहितमिदमाकर्ण्य गौतमो यत् कृतवांस्तदाह—

बुद्धस्स निसम्म भासियं, सुकहियमट्ठपदोवसोहियं ।
रागं दोसं च छिंदिया, सिद्धिगइं गए गोयमे ॥ ३७ ॥ त्तिबेमि ॥

व्याख्या—'बुद्धस्य' केवलालोकावलोकितसमस्तवस्तुतत्त्वस्य प्रक्रमाच्छ्रीमन्महावीरस्य 'निशम्य' आकर्ण्य 'भाषितम्' उक्तं, सुष्ठु–शोभनेन नयानुगतत्वादिना प्रकारेण कथितं—प्रबन्धेन प्रतिपादितं सुकथितम्, अत एवार्थप्रधानानि पदानि अर्थपदानि तैरुपशोभितं–जातशोभमर्थपदोपशोभितं 'रागं' विषयाद्यभिष्वङ्गं 'द्वेषम्' अपकारिण्यप्रीतिलक्षणं 'चः' समुच्चये 'छित्त्वा' अपनीय 'सिद्धिगतिं' मुक्तिगतिं 'गतः' प्राप्तः 'गौतमः' इन्द्रभूतिनामा भगवत्प्रथमगणधर इति सूत्रार्थः ॥ 'इतिः' परिसमाप्तौ 'ब्रवीमि' इति पूर्ववत्, इत्युक्तोऽनुगमः, सम्प्रति नयाः, ते च पूर्ववदिति श्रीशान्त्याचार्यविरचितायां शिष्यहितायामुत्तराध्ययनटीकायां दशममध्ययनं समाप्तं ॥

॥३४१॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्र अध्ययनं- १० परिसमाप्तं

प्रत सूत्रांक ॥३७॥

दीप अनुक्रम [३२७]

अथ बहुश्रुतपूजाख्यमेकादशमध्ययनम् ।

उक्तं दशममध्ययनं, साम्प्रतमेकादशमारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः–इहानन्तराध्ययनेऽप्रमादार्थमनुशासनमुक्तं, तच्च विवेकिनैव भावयितुं शक्यं, विवेकश्च बहुश्रुतपूजात उपजायत इति बहुश्रुतपूजोच्यते इत्यनेन सम्बन्धेनाऽऽयातस्यास्याध्ययनस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि प्ररूपयितव्यानि, यावन्नामनिष्पन्ने निक्षेपे 'बहुसूत्रपूजा बहुश्रुतपूजे'ति वा नाम, अतस्तन्निक्षेपप्रतिपिपादयिषयेदमाह निर्युक्तिकृत्—

बहु सुए पूजाए य तिण्हंपि चउक्कओ य निक्खेवो । दव्वबहुगेण बहुगा जीवा तह पुग्गला चेव ॥३१०॥

व्याख्या—'बहु'त्ति बहोः 'सुए'त्ति शतमुखत्वात् प्राकृतस्य सूत्रस्य श्रुतस्य वा 'पुयाए य'त्ति पूजायाश्च 'त्रयाणामपि' अमीषां पदानां 'चतुष्कस्तु' चतुष्परिमाण एव 'निक्षेपः' न्यासः, स च नामादिः, तत्र नामस्थापने क्षुण्णे, द्रव्यतस्तु बहुभिधातुमाह–'दव्वबहुएण'त्ति आर्षत्वात् द्रव्यतो बहुत्वं द्रव्यबहुत्वं तेन 'बहुकाः' प्रभूताः 'जीवाः' उपयोगलक्षणाः, तथा 'पुद्गलाः' स्पर्शादिलक्षणाः, चशब्दः पुद्गलानां जीवापेक्षया बहुतरत्वं ख्यापयति, ते ह्येकैकस्मिन् संसारिजीवप्रदेशेऽनन्तानन्ता एव सन्ति, 'एवः' अवधारणे, जीवपुद्गला एव द्रव्यबहवः, तत्र धर्माधर्माऽऽकाशानामेकद्रव्यत्वात् कालस्यापि तत्त्वतः समयरूपत्वेन बहुत्वाभावादिति गाथार्थः ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ अध्ययनं – ११ "बहुश्रुतपूजा" आरभ्यते

प्रत सूत्रांक ॥३७॥

दीप अनुक्रम [३२७]

भावबहुएण बहुगा चउदस पुव्वा अणंतगमजुत्ता। भावे खओवसमिए खइयंमि य केवलं नाणं॥ ३११॥

व्याख्या—'भावबहुगेणं'ति प्राग्वत् भावबहुत्वेन 'बहुग'त्ति बहुकानि 'चतुर्दश' चतुर्दशसङ्ख्यानि 'पुव्व'त्ति पूर्वाण्युत्पादपूर्वादीनि 'अणंतगमजुत्त'त्ति अनन्ता–अपर्यवसिता गम्यते वस्तुस्वरूपमेभिरिति गमा–वस्तुपरिच्छेदप्रकाराः नामादयस्तैर्युक्तानि–अन्वितान्यनन्तगमयुक्तानि, पर्यायाद्युपलक्षणं च गमग्रहणम्, उक्तं हि—"अणंता गमा अणंता पज्जवा अणंता हेतू' इत्यादि, अनेनैतदात्मकत्वात् पूर्वाणां तेषामप्यानन्त्यमुक्तं, क्व पुनरमूनि भावे वर्तन्ते येन भावबहून्युच्यन्ते इत्याह–'भाव' इत्यात्मपर्याये क्षायोपशमिके चतुर्दश पूर्वाणि वर्तन्ते इति प्रक्रमः, आह–किं न क्षायिके भावे किञ्चिद्भावबहु ?, अस्तीत्याह–'क्षायिके च' कर्मक्षयादुत्पन्ने पुनः केवलज्ञानम्, अनन्तपर्यायत्वात्, तदपि भावबहुकमिति गाथार्थः॥ उक्तं बहु, सम्प्रति सूत्रं श्रुतं वाऽऽह—

दव्वसुय पोंडयाइ अहवा लिहियं तु पुत्थयाईसुं। भावसुयं पुण दुविहं सम्मसुयं चेव मिच्छसुयं ३१२

व्याख्या—'दव्वसुय'त्ति अनुस्वारलोपात् द्रव्यसूत्रं द्रव्यश्रुतं च, तत्राऽऽद्यं पुण्ड्रजादि, द्वितीयमाह–'अथवा' इति पक्षान्तरसूचकः, ततो द्रव्यश्रुतं 'लिखितम्' अक्षररूपतया न्यस्तं पुस्तकादिषु, तुशब्दाद् भाष्यमाणं वा द्रव्यश्रुतमुच्यते,

१ अनन्ता गमा अनन्ताः पर्यवा अनन्ता हेतवः।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३७॥

दीप अनुक्रम [३२७]

भावश्रुतं पुनः 'द्विविधं' द्विभेदं 'सम्यक्श्रुतं चैव' इति प्राग्वत् ततो मिथ्याश्रुतं चेति गाथार्थः ॥ एतत्स्वरूपमाह–

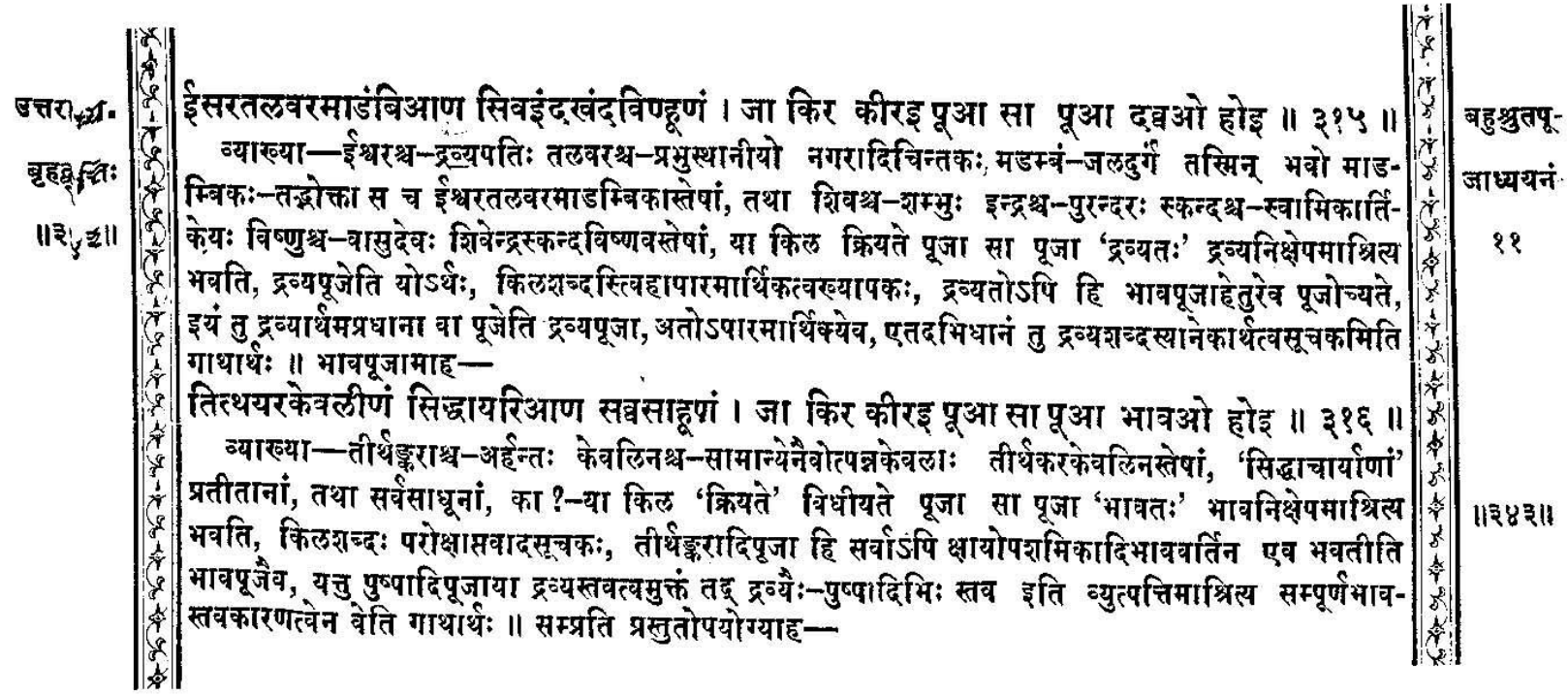
भवसिद्धिया उ जीवा सम्मद्दिट्ठी उ जं अहिज्जंति । तं सम्मसुएण सुयं कम्मट्ठविहस्स सोहिकरं ३१३
मिच्छद्दिट्ठी जीवा अभवसिद्धी य जं अहिज्जंति । तं मिच्छसुएण सुयं कम्मादाणं च तं भणियं ॥ ३१४ ॥

व्याख्या—भवे भव्या वा सिद्धिरेषामिति भवसिद्धिका भव्यसिद्धिका वा, 'तुः' अवधारणे, एत एव 'जीवाः' प्राणिनः, तेऽपि 'सम्मद्दिट्ठी उ'त्ति सम्यग्दृष्टय एव 'यत्' इति श्रुतम् 'अधीयते' पठन्ति 'तं सम्मसुएण'त्ति सम्यक्श्रुतशब्देन 'श्रुतम्' इति प्रक्रमाद् भावश्रुतम्, उच्यते इति शेषः । आह–भाष्यमाणत्वेनास्य कथं न द्रव्यश्रुतत्वम्?, उच्यते, अनेनैतज्जनित उपयोग एवोपलक्षित इति न दोषः, एवमन्यत्रापि भावनीयं । तन्माहात्म्यमाह–'कम्मट्ठविहस्स'त्ति अष्टविधकर्मणः 'शुद्धिकरम्' अपनयनकर्तृ ॥ मिथ्याश्रुतमाह—मिथ्यादृष्टयो जीवाः, भव्या इति गम्यते, 'अभव्यसिद्धयश्च' अभव्याः यदधीयते तत् 'मिथ्याश्रुतेन' मिथ्याश्रुतशब्देन 'श्रुतम्' इतीहापि भावश्रुतं भणितमिति सम्बन्धः, कर्म्म–ज्ञानावरणादि आदीयते–स्वीक्रियतेऽनेन जन्तुभिरिति कर्मादानं–कर्मोपादानहेतुः, 'चः' समुच्चये, 'तत्' श्रुतं 'भणितम्' उक्तमिति गाथाद्वयार्थः ॥ इदानीं पूजा, साऽपि नामादिभेदतश्चतुर्धैव, तत्राऽऽद्ये सुगमे, द्रव्यपूजामाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३७॥

दीप अनुक्रम [३२७]



उत्तरा. बृहद्वृत्तिः ॥२५६॥

ईसरतलवरमाडंबिआण सिवइंदखंदविण्हूणं । जा किर कीरइ पूआ सा पूआ दव्वओ होइ ॥ ३१५ ॥

व्याख्या—ईश्वरश्च–द्रव्यपतिः तलवरश्च–प्रभुस्थानीयो नगरादिचिन्तकः, मडम्बं–जलदुर्गं तस्मिन् भवो माडम्बिकः–तद्भोक्ता स च ईश्वरतलवरमाडम्बिकास्तेषां, तथा शिवश्च–शम्भुः इन्द्रश्च–पुरन्दरः स्कन्दश्च–स्वामिकार्तिकेयः विष्णुश्च–वासुदेवः शिवेन्द्रस्कन्दविष्णवस्तेषां, या किल क्रियते पूजा सा पूजा 'द्रव्यतः' द्रव्यनिक्षेपमाश्रित्य भवति, द्रव्यपूजेति योऽर्थः, किलशब्दस्त्विहापारमार्थिकत्वख्यापकः, द्रव्यतोऽपि हि भावपूजाहेतुरेव पूजोच्यते, इयं तु द्रव्यार्थमप्रधाना वा पूजेति द्रव्यपूजा, अतोऽपारमार्थिक्येव, एतदभिधानं तु द्रव्यशब्दस्यानेकार्थत्वसूचकमिति गाथार्थः ॥ भावपूजामाह—

तित्थयरकेवलीणं सिद्धायरिआण सव्वसाहूणं । जा किर कीरइ पूआ सा पूआ भावओ होइ ॥ ३१६ ॥

व्याख्या—तीर्थङ्कराश्च–अर्हन्तः केवलिनश्च–सामान्येनैवोत्पन्नकेवलाः तीर्थकरकेवलिनस्तेषां, 'सिद्धाचार्याणां' प्रतीतानां, तथा सर्वसाधूनां, का ?–या किल 'क्रियते' विधीयते पूजा सा पूजा 'भावतः' भावनिक्षेपमाश्रित्य भवति, किलशब्दः परोक्षासंवादसूचकः, तीर्थङ्करादिपूजा हि सर्वाऽपि क्षायोपशमिकादिभाववर्तिन एव भवतीति भावपूजैव, यत्तु पुष्पादिपूजाया द्रव्यस्तवत्वमुक्तं तद् द्रव्यैः–पुष्पादिभिः स्तव इति व्युत्पत्तिमाश्रित्य सम्पूर्णभावस्तवकारणत्वेन वेति गाथार्थः ॥ सम्प्रति प्रस्तुतोपयोग्याह—

बहुश्रुतपूजाध्ययनं ११

॥३४३॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [३२८]

जे किर चउदसपुव्वी सव्वक्खरसन्निवाइणो निउणा। जा तेसिं पूया खलु सा भावे ताइ अहिगारो ३१७

व्याख्या—'थे' प्राग्वत् 'किल' इति वाक्यालङ्कारे 'चतुर्दशपूर्विणः' चतुर्दशपूर्वधराः सर्वाणि–समस्तानि यान्यक्षराणि–अकारादीनि तेषां सन्निपातनं–तत्तदर्थाभिधायकतया साङ्गत्येन घटनाकरणं सर्वाक्षरसन्निपातः स विद्यते अधिगमविषयतया येषां तेऽमी सर्वाक्षरसन्निपातिनः 'निपुणाः' कुशलाः, या 'तेषां' चतुर्दशपूर्विणां 'पूजा' उचितप्रतिपत्तिरूपा, उपलक्षणं चेयं शेषबहुश्रुतपूजायाः, प्राधान्याच्चास्या एवोपादानं, 'खलु' निश्चितं, सा 'भावे' भावविषया, 'तया' बहुश्रुतपूजालक्षणया भावपूजया इह 'अधिकारः' प्रकृतमिति गाथार्थः ॥ इत्युक्तो नामनिष्पन्ननिक्षेपः, सम्प्रति सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

संजोगा विप्पमुक्कस्स, अणगारस्स भिक्खुणो। आयारं पाउकरिस्सामि, आणुपुव्विं सुणेह मे ॥ १ ॥

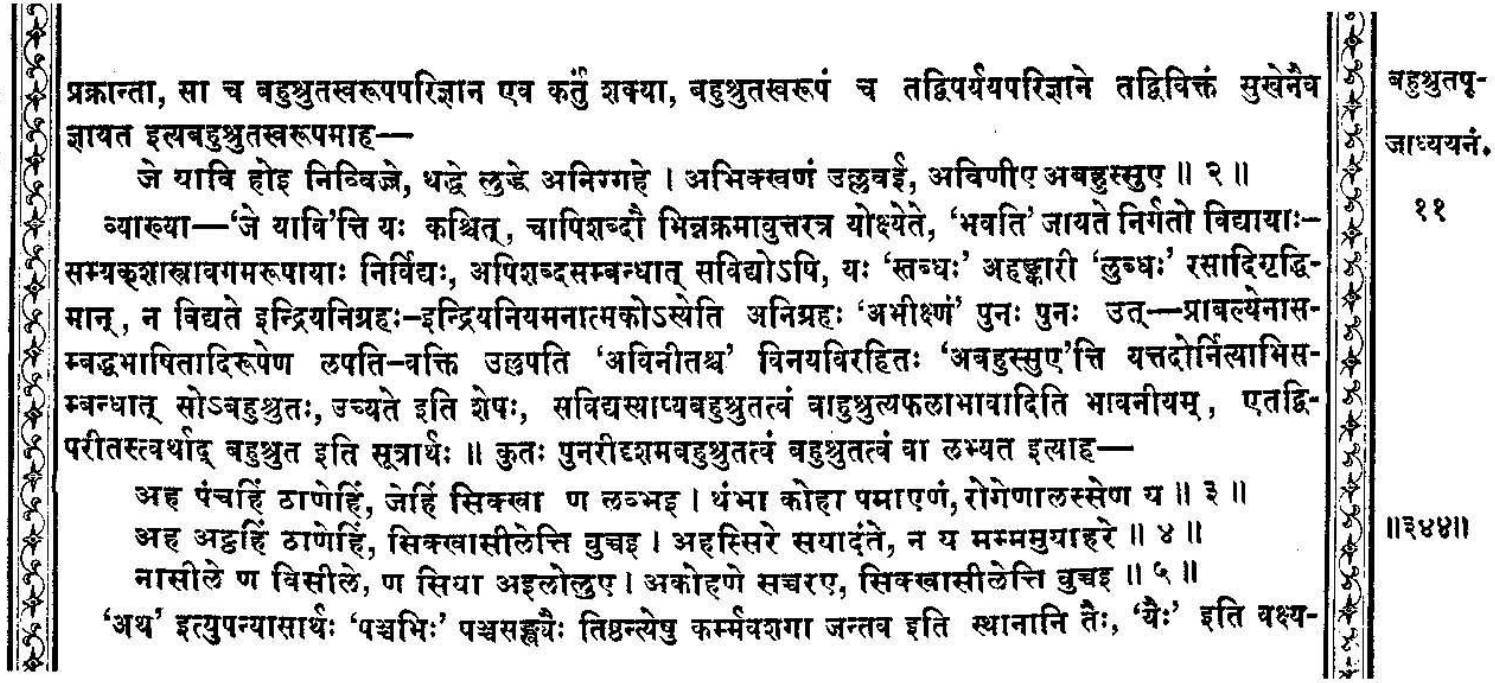
व्याख्या—संयोगाद्विप्रमुक्तस्यानगारस्य भिक्षोः आचरणमाचारः–उचितक्रिया विनय इतियावत्, तथा च वृद्धाः–'आयारोत्ति वा विणओत्ति वा एगट्ठ'त्ति स चेह बहुश्रुतपूजात्मक एव गृह्यते, तस्या एवात्राधिकृतत्वात्, तं 'प्रादुष्करिष्यामि' प्रकटयिष्यामि आनुपूर्व्या, शृणुत 'मे' मम कथयत इति शेषः इति सूत्रार्थः ॥ इह च बहुश्रुतपूजा

१ आचार इति वा विनय इति वा एकार्थौ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२॥

दीप अनुक्रम [३२९]



उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥३४४॥

प्रक्रान्ता, सा च बहुश्रुतस्वरूपपरिज्ञान एव कर्तुं शक्या, बहुश्रुतस्वरूपं च तद्विपर्ययपरिज्ञाने तद्विविक्तं सुखेनैव ज्ञायत इत्यबहुश्रुतस्वरूपमाह—

जे यावि होइ निव्विज्जे, थद्धे लुद्धे अनिग्गहे । अभिक्खणं उल्लवई, अविणीए अबहुस्सुए ॥ २ ॥

व्याख्या—'जे यावि'त्ति यः कश्चित्, चापिशब्दौ भिन्नक्रमावुत्तरत्र योक्ष्येते, 'भवति' जायते निर्गतो विद्यायाः—सम्यक्शास्त्रावगमरूपायाः निर्विद्यः, अपिशब्दसम्बन्धात् सविद्योऽपि, यः 'स्तब्धः' अहङ्कारी 'लुब्धः' रसादिगृद्धिमान्, न विद्यते इन्द्रियनिग्रहः—इन्द्रियनियमनात्मकोऽस्येति अनिग्रहः 'अभीक्ष्णं' पुनः पुनः उत्—प्राबल्येनासम्बद्धभाषितादिरूपेण लपति—वक्ति उल्लपति 'अविनीतश्च' विनयविरहितः 'अबहुस्सुए'त्ति यत्तदोर्नित्याभिसम्बन्धात् सोऽबहुश्रुतः, उच्यते इति शेषः, सविद्यस्याप्यबहुश्रुतत्वं बाहुश्रुत्यफलाभावादिति भावनीयम्, एतद्विपरीतस्त्वर्थाद् बहुश्रुत इति सूत्रार्थः ॥ कुतः पुनरीदृशमबहुश्रुतत्वं बहुश्रुतत्वं वा लभ्यत इत्याह—

अह पंचहिं ठाणेहिं, जेहिं सिक्खा ण लब्भइ । थंभा कोहा पमाएणं, रोगेणालस्सेण य ॥ ३ ॥
अह अट्ठहिं ठाणेहिं, सिक्खासीलेत्ति वुच्चइ । अहस्सिरे सयादंते, न य मम्ममुयाहरे ॥ ४ ॥
नासीले ण विसीले, ण सिया अइलोलुए । अकोहणे सच्चरए, सिक्खासीलेत्ति वुच्चइ ॥ ५ ॥

'अथ' इत्युपन्यासार्थः 'पञ्चभिः' पञ्चसङ्ख्यैः तिष्ठन्त्येषु कर्म्मवशगा जन्तव इति स्थानानि तैः, 'यैः' इति वक्ष्य-

बहुश्रुतपूजाध्ययनं. ११

॥३४४॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३-५॥

दीप अनुक्रम [३३०--३३२]

माणैर्हेतुभिः–शिक्षणं शिक्षा–ग्रहणासेवनात्मिका 'न लभ्यते' नावाप्यते, तैरीदृशमबहुश्रुतत्वमवाप्यत इति शेषः, कैः पुनः सा न लभ्यते ? इत्याह–'स्तम्भात्' मानात् 'क्रोधात्' कोपात् 'प्रमादेन' मद्यविषयादिना 'रोगेण' गलत्-कुष्ठादिना 'आलस्येन' अनुत्साहात्मना, शिक्षा न लभ्यत इति प्रक्रमः, चः समस्तानां व्यस्तानां च हेतुत्वमेषां द्योतयति ॥ इत्थमबहुश्रुतत्वहेतूनभिधाय बहुश्रुतत्वहेतूनाह–अथाष्टभिः स्थानैः शिक्षायां शीलः–स्वभावो यस्य शिक्षां वा शीलयति–अभ्यस्यतीति शिक्षाशीलः–द्विविधशिक्षाभ्यासकृद्, इतिशब्दः स्वरूपपरामर्शकः, उच्यते तीर्थ-कृद्गणधरादिभिरिति गम्यते, तान्येवाह–'अहस्सिरे'त्ति "तृन इर" इति प्राकृतलक्षणादहसनशीलः अहसिता–न सहे-तुकमहेतुकं वा हसन्नेवास्ते,'सदा' सर्वकालं 'दान्तः'इन्द्रियनोइन्द्रियदमवान्,'न च' नैव 'मर्म'परापभ्राजनाकारि कुत्सितं जात्यादि 'उदाहरेत्' उद्घट्टयेत्। 'न' नैव 'अशीलः' अविद्यमानशीलः, सर्वथा विनष्टचारित्रधर्म इत्यर्थः, न 'विशीलः' विरूपशीलः, अतीचारकलुषितव्रत इतियावत्, 'न स्यात्' न भवेद्, इह पूर्वत्र च सम्भावने लिङ्, 'अतिलोलुपः' अतीव रसलम्पटः, 'अक्रोधनः' अपराधिन्यनपराधिनि वा न कथञ्चित् क्रुध्यति, सत्यम्–अवितथभाषणं तस्मिन् रतः—आसक्तः सत्यरतः इति, निगमयितुमाह—शिक्षाशील 'इति' इत्यनन्तरोक्तगुणभाग् उच्यते, स च बहुश्रुत एव भवतीति भावः। इह च स्थानप्रक्रमेऽप्येवमभिधानं धर्मधर्मिणोः कथञ्चिदनन्यत्वख्यापनार्थं, विशेषाभिधायि-त्वाच्च क्वचित् केषाञ्चिदन्तर्भावसम्भवेऽपि पृथगुपादानं, परिहारद्वयमपीदमुत्तरत्रापि भावनीयमिति सूत्रत्रयार्थः ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥६-१३॥

दीप अनुक्रम [३३३--३४०]

किञ्च–अबहुश्रुतत्वे बहुश्रुतत्वे वाऽविनयो विनयश्च मूलकारणं, तत्त्वत उक्तहेतूनामप्यनयोरेवान्तर्भावात्, न च अविनीतविनीतयोः स्वरूपमविज्ञाय तौ ज्ञातुं शक्याविति यैः स्थानैरविनीत उच्यते यैश्च विनीतस्तान्यभिधातुमाह–

अह चोद्दसहिं ठाणेहिं, वट्टमाणो उ संजए। अविणीए वुच्चती सो उ, णिव्वाणं च ण गच्छइ ॥ ६ ॥
अभिक्खणं कोही भवइ, पबंधं च पकुव्वइ। मित्तिज्जमाणो वमति, सुयं लद्धूण मज्जइ ॥ ७ ॥
अवि पावपरिक्खेवी, अवि मित्तेसु कुप्पति। सुप्पियस्सावि मित्तस्स, रहे भासइ पावगं ॥ ८ ॥
पइण्णवाई दुहिले, थद्धे लुद्धे अनिग्गहे। असंविभागी अचियत्ते, अविणीएत्ति वुच्चइ ॥ ९ ॥
अह पन्नरसहिं ठाणेहिं, सुविणीएत्ति वुच्चइ। नीयावित्ती अचवले, अमाई अकुऊहले ॥ १० ॥
अप्पं च अहिक्खिवति, पबंधं च ण कुव्वइ। मित्तिज्जमाणो भजति, सुयं लद्धुं न मज्जति ॥ ११ ॥
न य पावपरिक्खेवी, न य मित्तेसु कुप्पति। अप्पियस्सावि मित्तस्स, रहे कल्लाण भासइ ॥ १२ ॥
कलहडमरवज्जए, बुद्धे (अ) अभिआइए। हिरिमं पडिसंलीणो, सुविणीएत्ति वुच्चइ ॥ १३ ॥

व्याख्या—'अथ' इति प्राग्वत्, चतुर्भिरधिका दश चतुर्दश तेषु चतुर्दशसङ्ख्येषु स्थानेषु, सूत्रे तु सुव्व्यत्ययेन सप्तम्यर्थे तृतीया, 'वर्तमानः' तिष्ठन् 'तुः' पूरणे 'संयतः' तपस्वी, अविनीत उच्यते, 'स तु' इत्यविनीतः पुनः, किमित्याह–'निर्वाणं च' मोक्षं, चशब्दादिहैव ज्ञानादींश्च 'न गच्छति' न प्राप्नोति ॥ कानि पुनश्चतुर्दश स्थानानी-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥६-१३॥

दीप अनुक्रम [३३३--३४०]

त्याह–'अभीक्ष्णं' पुनः पुनः, यद्वा–क्षणं क्षणमभि अभिक्षणम्–अनवरतं 'क्रोधी' क्रोधनः भवति, सनिमित्तमनिमित्तं वा कुप्यन्नेवास्ते, 'प्रबन्धं च' प्रकृतत्वात् कोपस्यैवाविच्छेदात्मकं 'पकुव्वइ'त्ति प्रकर्षेण कुरुते, कुपितः सन् सान्त्वनैरनेकैरपि नोपशाम्यति, विकथादिषु वाऽविच्छेदेन प्रवर्तनं प्रबन्धस्तं च प्रकुरुते, तथा 'मेत्तिज्जमाणो'त्ति मित्रीय्यमाणोऽपि मित्रं ममायमस्त्विति[1]ष्यमाणोऽपि अपिशब्दस्य लुप्तनिर्दिष्टत्वात् 'वमति' त्यजति, प्रस्तावान्मित्रयितारं मैत्रीं वा, किमुक्तं भवति ?–यदि कश्चिद्धार्मिकतया वक्ति–यथा त्वं न वेत्सीत्यहं तव पात्रं लेपयामि, ततोऽसौ प्रत्युपकारभीरुतया प्रतिवक्ति—ममालमेतेन, कृतमपि वा कृतज्ञतया न मन्यत इति वमतीत्युच्यते, तथा 'सुयं'ति अपेर्गम्यमानत्वात् श्रुतमपि–आगममपि 'लब्ध्वा' प्राप्य 'माद्यति' दर्पं याति, किमुक्तं भवति ?—श्रुतं हि मदापहारहेतुः, स तु तेनापि दृप्यति । तथा 'अपिः' सम्भावनायां, सम्भाव्यत एतत्, यथाऽसौ पापैः–कथञ्चित् समित्यादिषु स्खलितलक्षणैः परिक्षिपति–तिरस्कुरुत इत्येवंशीलः पापपरिक्षेपी, आचार्यादीनामिति गम्यते, तथा 'अपिः' भिन्नक्रमः, ततः 'मित्रेभ्योऽपि' सुहृद्भ्योऽप्यास्तामन्येभ्यः 'कुप्यति' कुध्यति, सूत्रे तु चतुर्थ्यर्थे सप्तमी, "क्रुधिद्रुहेर्ष्याऽसूयार्थानां यं प्रति कोप" (पा० १–४–३७) इत्यनेनेह चतुर्थीविधानात्, तथा 'सुप्रियस्यापि' अतिवल्लभस्यापि मित्रस्य 'रहसि' एकान्ते 'भाषते' वक्ति पापमेव पापकं, किमुक्तं भवति ?–अग्रतः प्रियं वक्ति पृष्ठतस्तु प्रति-

१ प्राकृतानुकरणमेतत्, मित्रस्येयं मित्रीया तां क्रियमाण इति वा ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥६-१३॥

दीप अनुक्रम [३३३--३४०]

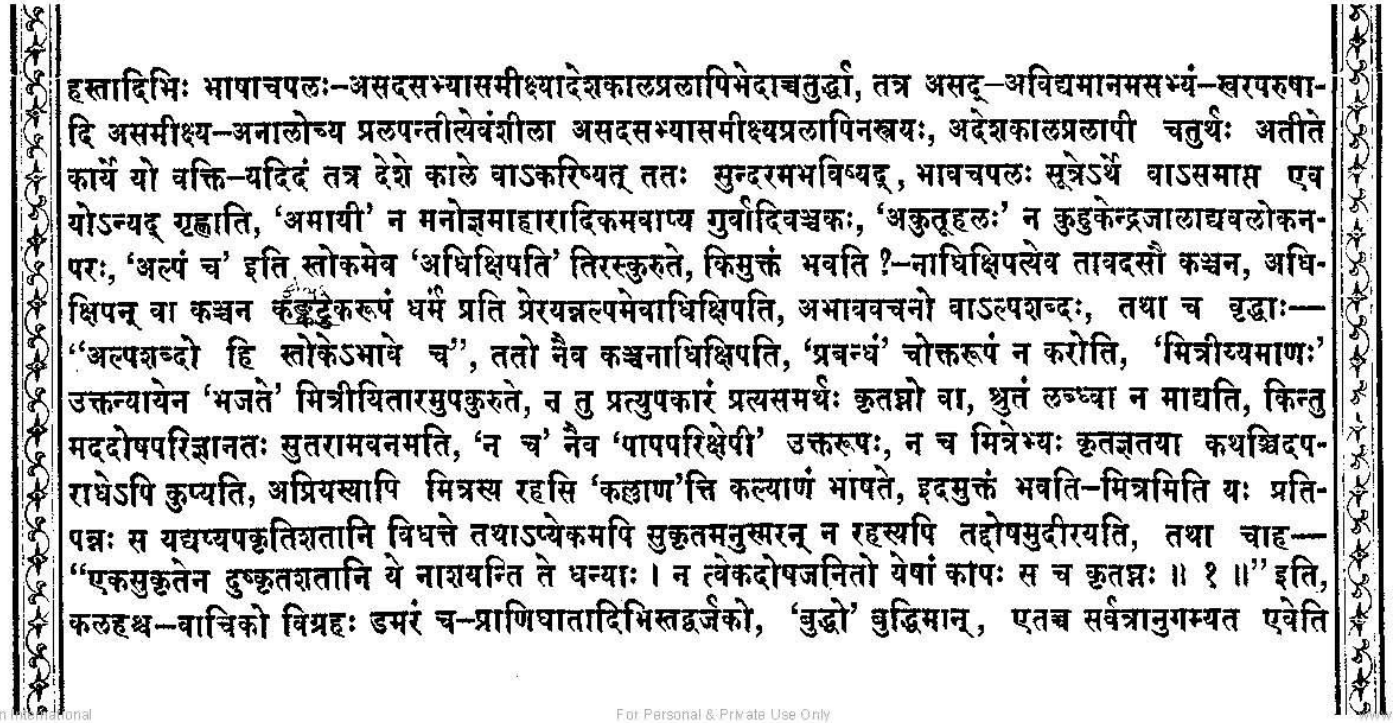
सेवकोऽयमित्यादिकमनाचारमेवाविष्करोति । तथा प्रकीर्णम्–इतस्ततो विक्षिप्तम्, असम्बद्धमित्यर्थः, वदति–जल्पतीत्येवंशीलः प्रकीर्णवादी, वस्तुतत्त्वविचारेऽपि यत्किञ्चनवादीत्यर्थः, अथवा–यः पात्रमिदमपात्रमिदमिति वाऽपरीक्ष्यैव कथञ्चिदधिगतं श्रुतरहस्यं वदतीत्येवंशीलः प्रकीर्णवादी इति, प्रतिज्ञया वा–इदमित्थमेव इत्येकान्ताभ्युपगमरूपया वदनशीलः प्रतिज्ञावादी, तथा 'दुहिल'त्ति द्रोहणशीलो–द्रोग्धा, न मित्रमप्यनभिद्रुह्यास्ते, तथा 'स्तब्धः' तपस्व्यहमित्याद्यहङ्कृतिमान्, तथा 'लुब्धः' अन्नादिष्वभिकाङ्क्षावान्, तथा 'अनिग्रहः' प्राग्वत्, तथाऽसंविभजनशीलः असंविभागी, नाऽऽहारादिकमवाप्यातिगर्द्धनोऽन्यस्मै स्वल्पमपि यच्छति, किन्त्वात्मानमेव पोषयति, तथा 'अचियत्ते'त्ति अप्रीतिकरः—दृश्यमानः सम्भाष्यमाणो वा सर्वस्याप्रीतिमेवोत्पादयति, एवंविधदोषान्वितः अविनीत उच्यते इति निगमनम् । इत्थमविनीतस्थानान्यभिधाय विनीतस्थानान्याह—अथ पञ्चदशभिः स्थानैः सुष्ठु—शोभनो विनीतो–विनयान्वितः सुविनीत इत्युच्यते, तान्येवाह–'नीयावित्ति'त्ति नीचम्–अनुद्धतं यथा भवत्येवं नीचेषु वा शय्यादिषु वर्तत इत्येवंशीलो नीचवर्ती–गुरुषु न्यग्वृत्तिमान्, यथाऽऽह–"नीयं सेज्जं गइं ठाणं, णियं च आसणाणि य । णियं च पाय वंदेज्जा, णीयं कुज्जा य अंजलिं ॥१॥" 'अचपलः' नाऽऽरब्धकार्ये प्रत्यस्थिरः, अथवाऽचपलो–गतिस्थानभाषाभावभेदतश्चतुर्धा, तत्र–गतिचपलः–द्रुतचारी, स्थानचपलः–तिष्ठन्नपि चलन्नेवास्ते

१ नीचां शय्यां गतिं स्थानं नीचानि चासनानि च । नीचं पादौ वन्देत नीचं च कुर्याच्चाञ्जलिम् ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||६-१३||

दीप अनुक्रम [३३३--३४०]



हस्तादिभिः भाषाचपलः–असदसभ्यासमीक्ष्यादेशकालप्रलापिभेदाच्चतुर्धा, तत्र असद्–अविद्यमानमसभ्यं–खरपरुषादि असमीक्ष्य–अनालोच्य प्रलपन्तीत्येवंशीला असदसभ्यासमीक्ष्यप्रलापिनस्त्रयः, अदेशकालप्रलापी चतुर्थः अतीते कार्ये यो वक्ति–यदिदं तत्र देशे काले वाऽकरिष्यत् ततः सुन्दरमभविष्यद्, भावचपलः सूत्रेऽर्थे वाऽसमाप्त एव योऽन्यद् गृह्णाति, 'अमायी' न मनोज्ञमाहारादिकमवाप्य गुर्वादिवञ्चकः, 'अकुतूहलः' न कुहुकेन्द्रजालाद्यवलोकनपरः, 'अल्पं च' इति स्तोकमेव 'अधिक्षिपति' तिरस्करुते, किमुक्तं भवति ?–नाधिक्षिपत्येव तावदसौ कञ्चन, अधिक्षिपन् वा कञ्चन कुङ्कुटुकरूपं धर्मं प्रति प्रेरयन्नल्पमेवाधिक्षिपति, अभाववचनो वाऽल्पशब्दः, तथा च वृद्धाः— "अल्पशब्दो हि स्तोकेऽभावे च", ततो नैव कञ्चनाधिक्षिपति, 'प्रबन्धं' चोक्तरूपं न करोति, 'मित्रीय्यमाणः' उक्तन्यायेन 'भजते' मित्रीयितारमुपकुरुते, न तु प्रत्युपकारं प्रत्यसमर्थः कृतघ्नो वा, श्रुतं लब्ध्वा न माद्यति, किन्तु मददोषपरिज्ञानतः सुतरामवनमति, 'न च' नैव 'पापपरिक्षेपी' उक्तरूपः, न च मित्रेभ्यः कृतज्ञतया कथञ्चिदपराधेऽपि कुप्यति, अप्रियस्यापि मित्रस्य रहसि 'कल्लाण'त्ति कल्याणं भाषते, इदमुक्तं भवति–मित्रमिति यः प्रतिपन्नः स यद्यप्यपकृतिशतानि विधत्ते तथाऽप्येकमपि सुकृतमनुस्मरन् न रहस्यपि तद्दोषमुदीरयति, तथा चाह— "एकसुकृतेन दुष्कृतशतानि ये नाशयन्ति ते धन्याः । न त्वेकदोषजनितो येषां कोपः स च कृतघ्नः ॥ १ ॥" इति, कलहश्च–वाचिको विग्रहः डमरं च–प्राणिघातादिभिस्तद्वर्जको, 'बुद्धो' बुद्धिमान्, एतच्च सर्वत्रानुगम्यत एवेति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥६-१३॥

दीप अनुक्रम [३३३--३४०]

न प्रकृतसङ्ख्याविरोधः, 'अभिजातिए'त्ति अभिजातिः–कुलीनता ता गच्छति–उत्क्षिप्तभारनिर्वाहणादिनेत्यभिजातिगः, ह्रीः–लज्जा सा विद्यतेऽस्य ह्रीमान्, कथञ्चित् कलुषाध्यवसायतायामप्यकार्यमाचरन् लज्जते, 'प्रतिसंलीनः' गुरुसकाशेऽन्यत्र वा कार्यं विना न यतस्ततश्चेष्टते, प्रस्तुतमुपसंहरन्नाह—'सुविनीतः' सुविनीतशब्दवाच्यः 'इति' इत्येवंविधगुणान्वितः उच्यते, इति सूत्राष्टकार्थः ॥ यश्चैवं विनीतः स कीदृक् स्यादित्याह—

वसे गुरुकुले निच्चं, जोगवं उवहाणवं । पियंकरे पियंवाई, से सिक्खं लद्धुमरिहति ॥ १४ ॥

व्याख्या—'वसेत्' आसीत क्व?–गुरूणाम्–आचार्यादीनां कुलम्–अन्वयो गच्छ इत्यर्थः गुरुकुलं तत्र, तदाज्ञोपलक्षणं च कुलग्रहणं, 'नित्यं' सदा, किमुक्तं भवति?–यावज्जीवमपि गुर्वाज्ञायामेव तिष्ठेत्, उक्तं हि–"णाणस्स होइ भागी" इत्यादि, योजनं योगो–व्यापारः, स चेह प्रक्रमाद्धर्मगत एव तद्वान्, अतिशायने मतुप्, यद्वा योगः–समाधिः सोऽस्यास्तीति योगवान्, प्रशंसायां मतुप्, उपधानम्–अङ्गानङ्गाध्ययनादौ यथायोगमाचाम्लादितपोविशेषस्तद्वान्, यद्यस्योपधानमुक्तं न तत् कृच्छ्रभीरुतयोत्सृज्यान्यथा वाऽधीते शृणोति वा, प्रियम्–अनुकूलं करोतीति प्रियङ्करः, कथञ्चित् केनचिदपकृतोऽपि न तत्प्रतिकूलमाचरति, किन्तु ममैव कर्मणामयं दोष इत्यवधारयन्नप्रियकारिण्यपि प्रियमेव चेष्टते, अत एव च 'पियंवाई'त्ति केनचिदप्रियमुक्तोऽपि प्रियमेव वदतीत्येवंशीलः प्रियवादी, यद्वा–'प्रियङ्करः'

१ ज्ञानस्य भवति भागी । (थिरयरओ दंसणे चरित्ते य । धण्णा आवकहाए गुरुकुलवासं न मुंचंति ॥ १ ॥)

॥३४७॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१४॥

दीप अनुक्रम [३४१]

आचार्यादेरभिमताहारादिभिरनुकूलकारी, एवं 'प्रियवाद्यपि' आचार्याभिप्रायानुवर्तितयैव वक्ता, तथा चास्य को गुण इत्याह–'स' एवंगुणविशिष्टः 'शिक्षां' शास्त्रार्थग्रहणादिरूपां 'लब्धुम्' अवाप्तुम् 'अर्हति' योग्यो भवतीति, अनेनैव अविनीतस्त्वेतद्विपरीतः शिक्षां लब्धुं नार्हतीत्यर्थादुक्तं भवति, तथा च यः शिक्षां लभते स बहुश्रुतः इतर स्त्वबहुश्रुत इति भाव इति सूत्रार्थः ॥ एवं च सविपक्षं बहुश्रुतं प्रपञ्चतोऽभिधाय प्रतिज्ञातं तत्प्रतिपत्तिरूपमाचारं तस्यैव स्तवद्वारेणाह—

जहा–संखंमि पयं निहियं, दुहओवि विरायइ । एवं बहुस्सुए भिक्खू, धम्मो कित्ती तहा सुयं ॥ १५ ॥

व्याख्या—'यथा' इति दृष्टान्तोपन्यासे 'शङ्खे' जलजे 'पयो' दुग्धं 'निहितं' न्यस्तं' दुहओवि'त्ति द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां द्विधा, न शुद्धतादिना स्वसम्बन्धिगुणलक्षणेनैकेनैव प्रकारेण, किन्तु स्वसम्बन्ध्याश्रयसम्बन्धिगुणद्वयलक्षणेन प्रकारद्वयेनापीत्यपिशब्दार्थः, 'विराजते' शोभते, तत्र हि न तत् कलुषीभवति, न चाम्लतां भजते, नापि च परिस्रवति, 'एवम्' अनेन प्रकारेण बहुश्रुते 'भिक्खु'त्ति आर्षत्वाद् भिक्षौ–तपस्विनि, 'धर्मः' यतिधर्मः 'कीर्तिः' श्लाघा 'तथा' इति धर्मकीर्त्तिवत् 'श्रुतम्' आगमो, विराजत इति सम्बन्धः, किमुक्तं भवति ?–यद्यपि धर्मकीर्तिश्रुतानि निरुपलेपतादिगुणेन स्वयं शोभाभाञ्जि तथापि मिथ्यात्वादिकालुष्यविगमतो निर्मलतादिगुणेन शङ्ख इव पयो बहुश्रुते स्थितान्याश्रयगुणेन विशेषतः शोभन्ते, तान्यपि हि न तत्र मालिन्यम् अन्यथाभावं हानिं वा कदाचन प्रतिपद्य-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१५॥

दीप अनुक्रम [३४२]

न्ते, अन्यत्र त्वन्यथाभूतभाजनस्थपयोवदन्यथाऽपि स्युः, वृद्धास्तु व्याचक्षते—'यथे' लौपम्ये, 'संखंमि' संखभायणे 'पयं' क्षीरं 'निहितं' ठवितं न्यस्तमित्यर्थः,'दुहतो' उभयतो संखो खीरं च, अहवा ठवंतओ खीरं च, संखे ण परिस्सवति ण य अंबीभवति, 'विरायति' सोभति, 'एव'मुपसंहारे अणुमाणे वा 'बहुसुओ' सुत्तत्थविसारतो, जानक इत्यर्थः, 'तस्स' एवं भिक्खुभायणे दिंतस्स धम्मो भवति कित्ती जसो तथा सुयमाराधियं भवति, अपत्ते दिंतस्स असुयमेव भवति, अहवा इहलोए परलोए य सोहइ पत्तदाई, अहवा एवंगुणजाइए भिक्खू बहुस्सुए भवति, धम्मो कित्ती जसो य हवइ, सुयं से (सुयमाराहियं) हवइ, अहवा इहलोए परलोए य विरायइ, अहवा सीलेण य सुएण य" इति सूत्रार्थः ॥ पुनर्बहुश्रुतस्तवमाह—

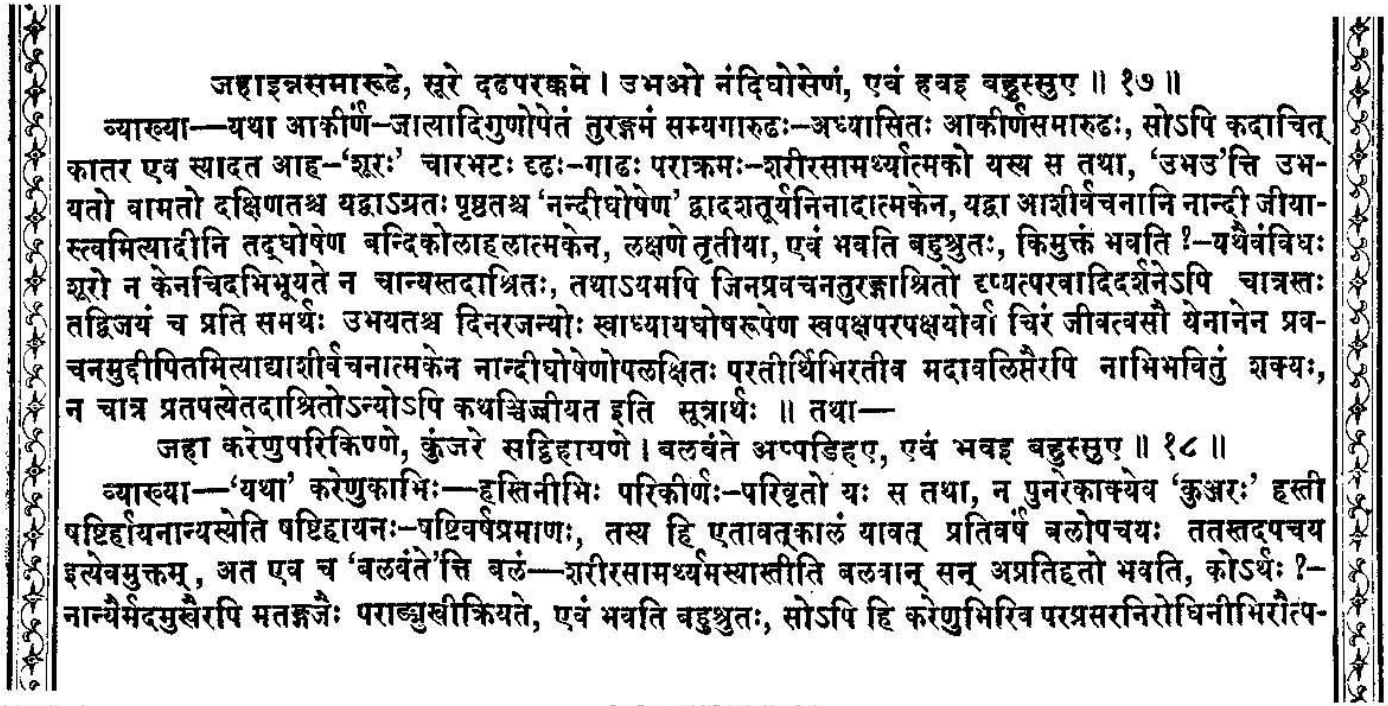
जहा से कंबोयाणं, आइन्ने कंथए सिया । आसे जवेण पवरे, एवं हवइ बहुस्सुए ॥ १६ ॥

व्याख्या—'यथा' येन प्रकारेण 'स' इति प्रतीतः 'काम्बोजानां' कम्बोजदेशोद्भवानां प्रक्रमादश्वानां, निर्द्धारणे षष्ठी, 'आकीर्णः' व्याप्तः, शीलादिगुणैरिति गम्यते, 'कन्थकः' प्रधानोऽश्वो, यः किल दपच्छकलभूतकुतुपनिपतनध्वनेर्न सन्त्रस्यति, 'स्यात्' भवेत् 'अश्वः' तुरङ्गमः 'जवेन' वेगेन 'प्रवरः' प्रधानः 'एवम्' इत्युपनये तत ईदृशो भवति बहुश्रुतः, जिनधर्मप्रपन्ना हि व्रतिनः काम्बोजा इवाश्वेषु जातिजवादिभिर्गुणैरन्यधार्मिकापेक्षया श्रुतशीलादिभिर्वरा एव, अयं त्वाकीर्णकन्यकाश्ववत् तेष्वपि प्रवर इति सूत्रार्थः ॥ १६ ॥ किञ्च—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१७॥

दीप अनुक्रम [३४४]



जहाइन्नसमारूढे, सूरे दढपरक्कमे। उभओ नंदिघोसेणं, एवं हवइ बहुस्सुए ॥ १७ ॥

व्याख्या—यथा आकीर्ण–जात्यादिगुणोपेतं तुरङ्गमं सम्यगारुढः–अध्यासितः आकीर्णसमारुढः, सोऽपि कदाचित् कातर एव स्यादत आह–'शूरः' चारभटः दृढः–गाढः पराक्रमः–शरीरसामर्थ्यात्मको यस्य स तथा, 'उभउ'त्ति उभयतो वामतो दक्षिणतश्च यद्वाऽग्रतः पृष्ठतश्च 'नन्दीघोषेण' द्वादशतूर्यनिनादात्मकेन, यद्वा आशीर्वचनानि नान्दी जीयास्त्वमित्यादीनि तद्घोषेण बन्दिकोलाहलात्मकेन, लक्षणे तृतीया, एवं भवति बहुश्रुतः, किमुक्तं भवति ?–यथैवंविधः शूरो न केनचिदभिभूयते न चान्यस्तदाश्रितः, तथाऽयमपि जिनप्रवचनतुरङ्गाश्रितो दृप्यत्परवादिदर्शनेऽपि चात्रस्तः तद्विजयं च प्रति समर्थः उभयतश्च दिनरजन्योः स्वाध्यायघोषरूपेण स्वपक्षपरपक्षयोर्वा चिरं जीवत्वसौ येनानेन प्रवचनमुदीपितमित्याद्याशीर्वचनात्मकेन नान्दीघोषेणोपलक्षितः परतीर्थिभिरतीव मदावलिप्तैरपि नाभिभवितुं शक्यः, न चात्र प्रतपत्येतदाश्रितोऽन्योऽपि कथञ्चिज्जीयत इति सूत्रार्थः ॥ तथा—

जहा करेणुपरिकिण्णे, कुंजरे सट्ठिहायणे। बलवंते अप्पडिहए, एवं भवइ बहुस्सुए ॥ १८ ॥

व्याख्या—'यथा' करेणुकाभिः—हस्तिनीभिः परिकीर्णः–परिवृतो यः स तथा, न पुनरेकाक्येव 'कुञ्जरः' हस्ती षष्टिर्हायनान्यस्येति षष्टिहायनः–षष्टिवर्षप्रमाणः, तस्य हि एतावत्कालं यावत् प्रतिवर्षं बलोपचयः ततस्तदपचय इत्येवमुक्तम्, अत एव च 'बलवंते'त्ति बलं—शरीरसामर्थ्यमस्यास्तीति बलवान् सन् अप्रतिहतो भवति, कोऽर्थः ?–नान्यैर्मदमुखैरपि मतङ्गजैः पराङ्मुखीक्रियते, एवं भवति बहुश्रुतः, सोऽपि हि करेणुभिरिव परप्रसरनिरोधिनीभिरौत्प-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१८॥

दीप अनुक्रम [३४५]

त्तिक्यादिबुद्धिभिर्विद्याभिश्च विविधाभिर्वृतः षष्टिहायनतया चात्यन्तस्थिरमतिः, अत एव च बलवत्त्वेनाप्रतिहतो भवति, दर्शनोपहन्तृभिर्बहुभिरपि न प्रतिहन्तुं शक्यत इति सूत्रार्थः ॥ अन्यच्च—

जहा से तिक्खसिंगे, जायक्खंधे विरायइ । वसभे जूहाहिवती, एवं भवति बहुस्सुए ॥ १९ ॥

व्याख्या—यथा स तीक्ष्णे–निशिताग्रे शृङ्गे–विषाणे यस्य स तथा, जातः–अत्यन्तोपचितीभूतः स्कन्धः–प्रतीत एवास्येति जातस्कन्धः, समस्ताङ्गोपाङ्गोपचितत्वोपलक्षणं चैतत्, तदुपचये हि शेषाङ्गान्युपचितान्येवास्य भवन्ति, 'विराजते' विशेषेण राजते–शोभते 'वृषभः' प्रतीतो, यूथस्य–गवां समूहस्याधिपतिः–स्वामी यूथाधिपतिः सन्, एवं भवति बहुश्रुतः, सोऽपि हि परपक्षभेत्तृतया तीक्ष्णाभ्यां स्वशास्त्रपरशास्त्राभ्यां शृङ्गाभ्यामिवोपलक्षितः गच्छगुरुकार्यधुराधरणधौरेयतया च जातस्कन्ध इव जातस्कन्धः, अत एव च यूथस्य—साध्वादिसमूहस्याधिपतिः–आचार्यपदवीं गतः सन् विराजते इति सूत्रार्थः ॥ अन्यच्च—

जहा से तिक्खदाढे, ओदग्गे दुप्पहंसए । सीहे मियाण पवरे, एवं भवइ बहुस्सुए ॥ २० ॥

व्याख्या—यथा स तीक्ष्णाः–निशिता दंष्ट्राः–प्रतीता एव यस्य स तीक्ष्णदंष्ट्रः, 'उदग्रः' उत्कट उदग्रवयःस्थितत्वेन वा उदग्रः, अत एव 'दुप्पहंसए'त्ति दुष्प्रधर्ष एव दुष्प्रधर्षकः—अन्यैर्दुरभिभवः 'सिंहः' केशरी 'मृगाणाम्' आरण्यप्राणिनां 'प्रवरः' प्रधानो भवति, एवं भवति बहुश्रुतः, अयमपि हि परपक्षभेत्तृतया तीक्ष्णदंष्ट्राभिरिव नैगमादि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२०॥

दीप अनुक्रम [३४७]

नयैः प्रतिभादिगुणोदग्रतया च दुरभिभवः इत्यन्यतीर्थानां मृगस्थानीयानां प्रवर एवेति सूत्रार्थः ॥ अपरं च—

जहा से वासुदेवे, संखचक्कगदाधरे। अप्पडिहयबले जोहे, एवं भवइ बहुस्सुए ॥ २१ ॥

व्याख्या—यथा स 'वासुदेवः' विष्णुः, शङ्खश्च–पाञ्चजन्यः चक्रं च–सुदर्शनं गदा च–कौमोदकी शङ्खचक्रगदास्ताधारयति–वहतीति शङ्खचक्रगदाधरः, अप्रतिहतम्–अन्यैः स्खलयितुमशक्यं बलं–सामर्थ्यमस्येत्यप्रतिहतबलः, किमुक्तं भवति ?–एकं सहजसामर्थ्यवानन्यच्च तथाविधायोधान्वित इति, युध्यतीति योधः–सुभटो भवति, एवं भवति बहुश्रुतः, सोऽपि ह्येकं स्वाभाविकप्रतिभाप्रागल्भ्यवान् अपरं शङ्खचक्रगदाभिरिव सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैरुपेत इति, योध इव योधः कर्मवैरिपराभवं प्रतीति सूत्रार्थः ॥ अपरं—

जहा से चाउरंते, चक्कवट्टी महिड्ढिए। चोद्दसरयणाहिवई, एवं हवइ बहुस्सुए ॥ २२ ॥

व्याख्या—यथा स चतसृष्वपि दिक्ष्वन्तः–पर्यन्त एकत्र हिमवानन्यत्र च दिक्त्रये समुद्रः स्वसम्बन्धितयाऽस्येति चतुरन्तः, चतुर्भिर्वा—हयगजरथनरात्मकैरन्तः–शत्रुविनाशात्मको यस्य स तथा, 'चक्रवर्ती' षट्खण्डभरताधिपः, महती ऋद्धिः–समृद्धिरस्येति महर्द्धिकः—दिव्यानुकारिलक्ष्मीकः, चतुर्दश च तानि रत्नानि च चतुर्दशरत्नानि, तानि चामूनि–'सेणावइ गाहावइ पुरोहिय गय तुरंग वड्ढइग इत्थी। चक्कं छत्तं चम्मं मणि कागिणी खग्ग दंडो य ॥१॥'

१ सेनापतिः गाथापतिः पुरोहितो गजस्तुरङ्गो वर्धकिः स्त्री। चक्रं छत्रं चर्म मणिः काकिणी खड्गो दण्डश्च ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२२॥

दीप अनुक्रम [३५०]

तेषामधिपतिः चतुर्दशरत्नाधिपतिः, 'एवं भवति बहुश्रुतः' सोऽपि द्वासमुद्रमहीमण्डलख्यातकीर्तिः तिसृषु दिक्ष्वन्यत्र च वन्दीभूतविद्याधरवृन्द इति दिक्चतुष्टयव्यापिकीर्तितया चतुरन्त उच्यते, चतुर्भिर्वा दानादिधर्म्मैरन्तः—कर्मवैरिविनाशोऽस्येति चतुरन्तः, ऋद्धयश्चामर्षौषध्यादयश्चक्रवर्तिनमपि योधयेदित्येवंविधपुलाकलब्ध्यादयश्च महत्य एवास्य भवन्ति, सन्ति चास्यापि चतुर्दशरत्नोपमानि सकलातिशयनिधानानि पूर्वाणीति कथं न चक्रवर्तितुल्यताऽस्येति सूत्रार्थः ॥ अन्यच्च—

जहा से सहस्सक्खे, वज्जपाणी पुरंदरे । सक्के देवाहिवई, एवं हवइ बहुस्सुए ॥ २३ ॥

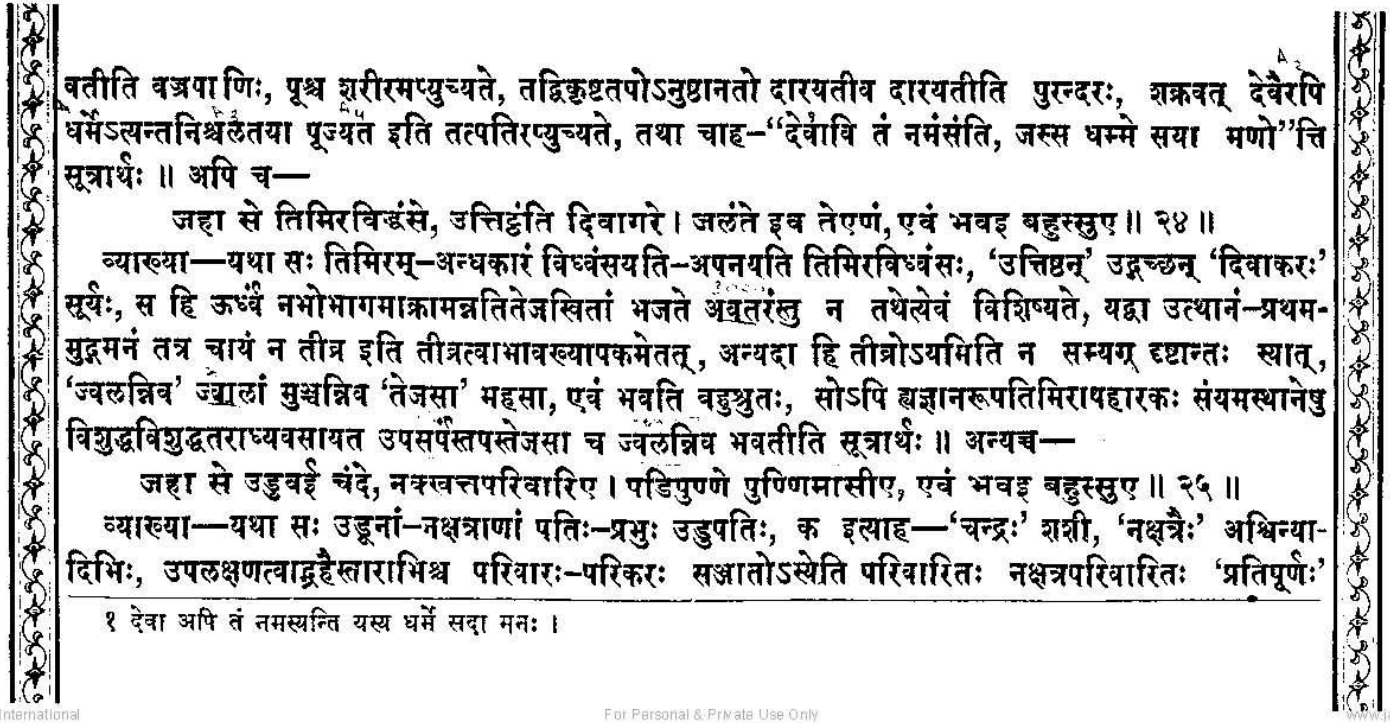
व्याख्या—यथा स सहस्रमक्षीण्यस्येति सहस्राक्षः–सहस्रलोचनः, अत्र च सम्प्रदायः–'सहस्सक्खत्ति पंच मंतिसया देवाणं तस्स, तेसिं सहस्सं अच्छीणं, तेसिं नीईए विक्कमति, अहवा जं सहस्सेणं अच्छीणं दीसति तं सो दोहिं अच्छीहिं अब्भहियगरागं पेच्छती'ति । वज्रं–वज्राभिधानमायुधं पाणावस्येति वज्रपाणिः, लोकोक्त्या च पूर्दारणात् पुरन्दरः, क ईदृगित्याह–शक्रो 'देवाधिपतिः' देवानां स्वामी, एवं भवति बहुश्रुतः, सोऽपि हि श्रुतज्ञानेनाशेषातिशयरत्ननिधानतुल्येन लोचनसहस्रेणेव जानीते, यश्चैवं तस्यैवंविधत्वोपलक्षणं, वज्रमपि लक्षणं पाणौ सम्भ-

१ पञ्च मन्त्रिशतानि देवानां तस्य, तेषां सहस्रमक्ष्णां, तेषां नीतौ विक्रमते, अथवा यत्सहस्रेणाक्ष्णां दृश्यते तत् स द्वाभ्यामक्षिभ्यामभ्यधिकतरं प्रेक्षते इति ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२३॥

दीप अनुक्रम [३५१]



वतीति वज्रपाणिः, पूश्च शरीरमप्युच्यते, तद्विकृष्टतपोऽनुष्ठानतो दारयतीव दारयतीति पुरन्दरः, शक्रवत् देवैरपि धर्मेऽत्यन्तनिश्चलतया पूज्यत इति तत्पतिरप्युच्यते, तथा चाह–"देवावि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो"त्ति सूत्रार्थः ॥ अपि च—

जहा से तिमिरविद्धंसे, उत्तिट्ठंति दिवागरे। जलंते इव तेएणं, एवं भवइ बहुस्सुए ॥ २४ ॥

व्याख्या—यथा सः तिमिरम्–अन्धकारं विध्वंसयति–अपनयति तिमिरविध्वंसः, 'उत्तिष्ठन्' उद्गच्छन् 'दिवाकरः' सूर्यः, स हि ऊर्ध्वं नभोभागमाक्रामन्नतितेजस्वितां भजते अवतरंस्तु न तथेत्येवं विशिष्यते, यद्वा उत्थानं–प्रथममुद्गमनं तत्र चायं न तीव्र इति तीव्रत्वाभावख्यापकमेतत्, अन्यदा हि तीव्रोऽयमिति न सम्यग् दृष्टान्तः स्यात्, 'ज्वलन्निव' ज्वालां मुञ्चन्निव 'तेजसा' महसा, एवं भवति बहुश्रुतः, सोऽपि ह्यज्ञानरूपतिमिरापहारकः संयमस्थानेषु विशुद्धविशुद्धतराध्यवसायत उपसर्पंस्तपस्तेजसा च ज्वलन्निव भवतीति सूत्रार्थः ॥ अन्यच—

जहा से उडुवई चंदे, नक्खत्तपरिवारिए। पडिपुण्णे पुण्णिमासीए, एवं भवइ बहुस्सुए ॥ २५ ॥

व्याख्या—यथा सः उडूनां–नक्षत्राणां पतिः–प्रभुः उडुपतिः, क इत्याह—'चन्द्रः' शशी, 'नक्षत्रैः' अश्विन्यादिभिः, उपलक्षणत्वाद्ग्रहैस्ताराभिश्च परिवारः–परिकरः सञ्जातोऽस्येति परिवारितः नक्षत्रपरिवारितः 'प्रतिपूर्णः'

१ देवा अपि तं नमस्यन्ति यस्य धर्मे सदा मनः ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२५॥

दीप अनुक्रम [३५३]

समस्तकलोपेतः, स चेदृक् कदा भवति ? अत आह–पौर्णमास्याम् । इह च चन्द्र इत्युक्ते मा भून्नामचन्द्रादावपि सम्प्रत्ययः इत्युडुपतिग्रहणं, उडुपतिरपि च कश्चिदेकाक्येव भवति मृगपतिवत् अत उक्तं नक्षत्रपरिवारितः, सोऽप्यपरिपूर्णोऽपि द्वितीयादिषु सम्भवतीति परिपूर्णः पौर्णमास्यामित्युक्तं, एवं भवति बहुश्रुतः, असावपि हि नक्षत्राणामिवानेकसाधूनामधिपतिः तथा तत्परिवारितः सकलकलोपेतत्वेन प्रतिपूर्णश्च भवतीति सूत्रार्थः ॥ अपरं च–

जहा से सामाइयाणं, कोट्ठागारे सुरक्खिए । नाणाधण्णपडिपुण्णे, एवं हवइ बहुस्सुए ॥ २६ ॥

व्याख्या—यथा स 'सामाइयाणं'ति समाजः–समूहस्तं समवयन्ति सामाजिकाः–समूहवृत्तयो लोकास्तेषां, पठन्ति च–'सामाइयंगाणं'ति तत्र च श्यामा–अतसी तदादीनि च तानि अङ्गानि च उपभोगाङ्गतया श्यामाद्यङ्गानि धान्यानि तेषां 'कोट्ठागारे'त्ति कोष्ठा–धान्यपल्यास्तेषामगारं–तदाधारभूतं गृहम्, उपलक्षणत्वादन्यदपि प्रभूतधान्यस्थानं, यत्र प्रदीपनकादिभयात् धान्यकोष्ठाः क्रियन्ते तत् कोष्ठागारमुच्यते, यदिवा कोष्ठान् आ–समन्तात् कुर्वते तस्मिन्निति कोष्ठाकारः, "अकर्तरि च कारके सञ्ज्ञायां" (पा० ३-३-१९)मिति घञ्, तथा सुष्ठु–प्राहरिकपुरुषादिव्यापारणद्वारेण रक्षितः–पालितो दस्युमूषिकादिभ्यः सुरक्षितः, स च कदाचित् प्रतिनियतधान्यविषयोऽप्रतिपूर्णश्च स्यात् अत आह—नाना–अनेकप्रकाराणि धान्यानि–शालिमुद्गादीनि तैः प्रतिपूर्णो–भृतः नानाधान्यप्रतिपूर्णः, आद्यपक्षे तु विशेषणे नपुंसकलिङ्गतया नेये, एवं भवति बहुश्रुतः, असावपि सामाजिकलोकाना-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२६॥

दीप अनुक्रम [३५२]

मिव गच्छवासिनामुपयोगिभिर्नानाधान्यैरिवाङ्गोपाङ्गप्रकीर्णकादिभेदैः श्रुतज्ञानविशेषैः प्रतिपूर्ण एव भवति, सुरक्षितश्च प्रवचनाधारतया, यत उक्तम्—"जेणं कुलं आयत्तं तं पुरिसं आयरेण रक्खेह" इत्यादीति सूत्रार्थः ॥ अपि च—

जहा सा दुमाण पवरा, जंबूनाम सुदंसणा । अणाढियस्स देवस्स, एवं हवइ बहुस्सुए ॥ २७ ॥

व्याख्या—यथा सा द्रुमाणां मध्ये प्रवरा–प्रधाना जम्बूः नाम्ना–अभिधानेन सुदर्शना नाम सुदर्शना, न हि यथेयममृतोपमफला देवाद्याश्रयश्च तथाऽन्यः कश्चिद् द्रुमोऽस्ति, द्रुमत्वं फलव्यवहारश्चास्यास्तत्प्रतिरूपतयैव, वस्तुतः पार्थिवत्वेनोक्तत्वात्, वज्रवैडूर्यादिमयानि हि तन्मूलादीनि तत्र तत्रोक्तानि, सा च कस्येत्याह–'अनाद्दतस्य' अनाद्दतनाम्नो 'देवस्य' जम्बूद्वीपाधिपतेर्व्यन्तरसुरस्य आश्रयत्वेन सम्बन्धिनी, एवं भवति बहुश्रुतः, सोऽपि ह्यमृतोपमफलकल्पश्रुतान्वितो देवादीनामपि च पूज्यतयाऽभिगमनीयः शेषद्रुमोपमसाधुषु च प्रधान इति सूत्रार्थः ॥ अन्यच्च—

जहा सा नईण पवरा, सलिला सागरंगमा । सीया नीलवंतपवहा, एवं हवइ बहुस्सुए ॥ २८ ॥

व्याख्या—यथा सा 'नदीनां' सरितां 'प्रवरा'प्रधाना सलिलं–जलमस्यामस्तीति, अर्शआदेराकृतिगणत्वादच्

१ यस्मिन् कुलं स्वाधीनं तं पुरुषमादरेण रक्ष

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२८॥

दीप अनुक्रम [३५५]

सलिला–नदी, सागरं–समुद्रं गच्छतीति सागरङ्गमा–समुद्रपातिनीत्यर्थः, न तु क्षुद्रनदीवदपान्तराल एव विशीर्यते, 'शीता' शीतानाम्नी, नीलवान्–मेरोरुत्तरस्यां दिशि वर्षधरपर्वतस्ततः प्रभवति पाठान्तरतः प्रवहति वा नीलवत्प्रभवा नीलवत्प्रवहा वा, 'एवं' शीतानदीवद्भवति बहुश्रुतः, असावपि हि सरितामिवान्यसाधूनामशेषश्रुतज्ञानिनां वा मध्ये प्रधानो विमलजलकल्पश्रुतज्ञानान्वितश्च, तथा सागरमिव मुक्तिमेवासौ गच्छति, तदुचितानुष्ठान एवास्य प्रवृत्तत्वात्, न ह्यन्यदर्शनिनामिव देवादिभव एवास्य विवेकिनो वाञ्छा, तथा च कथमस्य तेषामिव प्रायोऽपान्तरालावस्थानं ?, नीलवत्तुल्याच्च उच्छ्रितोच्छ्रितमहाकुलादेवास्य प्रसूतिः, कथमिवान्यथैवंविधयोग्यतासम्भव इति सूत्रार्थः ॥ किञ्च—

जहा से नगाण पवरे, सुमहं मंदरे गिरी । नाणोसहीपज्जलिए, एवं हवइ बहुस्सुए ॥ २९ ॥

व्याख्या—यथा स 'नगानां' पर्वतानां मध्ये 'प्रवरः' अतिप्रधानः 'सुमहान्' अतिशयगुरुरत्युच्च इतियावत्, 'मन्दरः' मन्दराभिधानः, कः पुनरसौ ? इत्याह–गिरिः, किमुक्तं भवति ?–मेरुपर्वतः, 'नानौषधिभिः' अनेकविधविशिष्टमाहात्म्यवनस्पतिविशेषरूपाभिः प्रकर्षेण ज्वलितो–दीप्तः नानौषधिप्रज्वलितः, ता ह्यतिशायिन्यः प्रज्वलन्त्य एवासत इति तद्योगादसावपि प्रज्वलित इत्युक्तः, यद्वा–प्रज्वलिता नानौषधयोऽस्मिन्निति प्रज्वलितनानौषधिः, प्रज्वलितशब्दस्य तु परनिपातः प्राग्वत्, 'एवम्' इति मन्दरवत् भवति बहुश्रुतः, श्रुतमाहात्म्येन ह्यसावत्यन्त-

बहुश्रुतपूजाध्ययनं. ११

॥३५२॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२९॥

दीप अनुक्रम [३५६]

स्थिर इति शेषगिरिकल्पापरस्थिरसाध्वपेक्षया प्रवर एव भवति, तथाऽन्धकारेऽपि प्रकाशनशक्त्यन्विता आमर्षौषध्यादयस्तत्रातिप्रतीता एवेति सूत्रार्थः ॥ किं बहुना ?—

जहा से सयंभूरमणे, उदही अक्खओदए। नाणारयणपडिपुण्णे, एवं भवइ बहुस्सुए ॥ ३० ॥

व्याख्या—यथा स 'स्वयम्भूरमणः' स्वयम्भूरमणाभिधानः 'उदधिः' समुद्रः अक्षयम्–अविनाश्युदकं–जलं यस्मिन् स तथा, नानारत्नैः–नानाप्रकारैर्मरकतादिभिः प्रतिपूर्णो–भृतः नानारत्नप्रतिपूर्णः, एवं भवति बहुश्रुतः, अयमपि ह्यक्षयसम्यग्ज्ञानोदको नानाऽतिशयरत्नवांश्च भवति, यदिवाऽक्षत उदयः—प्रादुर्भावो यस्य सोऽक्षतोदय इति सूत्रार्थः ॥ साम्प्रतमुक्तगुणानुवादतः फलोपदर्शनतश्च तस्यैव माहात्म्यमाह—

समुद्दगंभीरसमा दुरासया, अचक्किया केणइ दुप्पहंसया।
सुयस्स पुण्णा विउलस्स ताइणो, खवेत्तु कम्मं गइमुत्तमं गया ॥ ३१ ॥

व्याख्या—'समुद्दगंभीरसम'त्ति आर्षत्वाद्गाम्भीर्येण—अलब्धमध्यात्मकेन गुणेन समा गाम्भीर्यसमाः समुद्रस्य गाम्भीर्यसमाः समुद्रगाम्भीर्यसमाः, 'दुरासय'त्ति दुःखेनाश्रीयन्ते–अभिभवबुद्धयाऽऽसाद्यन्ते वा–जेतुं सम्भाव्यन्ते केनापीति दुराश्रया दुरासदा वा, अत एव 'अचक्किय'त्ति अचकिताः–अत्रासिताः, 'केनचिदि'ति परीषहादिना परप्रवादिना वा, तथा दुःखेन प्रधर्ष्यन्ते—पराभूयन्ते केनापीति दुष्प्रधर्षास्त एव दुष्प्रधर्षकाः, क एवंविधाः ?

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३१॥

दीप अनुक्रम [३५८]

इत्याह–'सुयस्स पुण्णा विउलस्स'त्ति–सुब्व्यत्ययाच्छ्रुतेन–आगमेन पूर्णाः–परिपूर्णा विपुलेन–अङ्गानङ्गादिभेदतो विस्तीर्णेन तायिनः त्रायिणो वा, एवंविधाश्च बहुश्रुता एव, तानेव फलतो विशेषयितुमाह–'क्षपयित्वा' विनाश्य 'कर्म्म' ज्ञानावरणादि, गम्यत इति गतिस्ताम् 'उत्तमां' प्रधानां, मुक्तिमितियावत्, 'गताः' प्राप्ताः, उपलक्षणत्वाद्गच्छन्ति गमिष्यन्ति च। इह चैकवचनप्रक्रमेऽपि बहुवचननिर्देशः, पूज्यताख्यापनार्थं व्याप्तिप्रदर्शनार्थं चेति सूत्रार्थः॥ इत्थं बहुश्रुतस्य गुणवर्णनात्मिकां पूजामभिधाय शिष्योपदेशमाह—

तम्हा सुयमहिट्ठेज्जा, उत्तमट्ठगवेसए। जेणऽप्पाणं परं चेव, सिद्धिं संपाउणिज्जासि॥ ३२॥ त्तिबेमि॥

व्याख्या—यस्मादमी मुक्तिगमनावसाना बहुश्रुतगुणाः तस्मात् 'श्रुतम्' आगमम् 'अधितिष्ठेत्' अध्ययनश्रवणचिन्तनादिनाऽऽश्रयेत्, उत्तमः—प्रधानोऽर्थः–प्रयोजनम्–उत्तमार्थः, स च मोक्ष एव तं 'गवेषयति' अन्वेषयतीति उत्तमार्थगवेषकः, येन किं स्यादित्याह–'येन' श्रुताश्रयणेन 'आत्मानं' स्वं 'परं' चान्यं तपस्व्यादिकं 'एवः' अवधारणे भिन्नक्रमश्च सम्प्रापयेदित्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः, ततः 'सिद्धिं' मुक्तिगतिं 'संपाउणिज्जासि'त्ति सम्यक् प्रापयेदेव, नेह कश्चित् सन्देह इति सूत्रार्थः। 'इतिः' परिसमाप्तौ 'ब्रवीमि' इति पूर्ववत्, उक्तोऽनुगमः, सम्प्रति नयास्तेऽपि पूर्ववदेव॥ इति श्रीशान्त्याचार्यविरचितायां शिष्यहितायामुत्तराध्ययनटीकायामेकादशमध्ययनं समाप्तम्॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्र अध्ययनं- ११ परिसमाप्तं

प्रत सूत्रांक ॥३२॥

दीप अनुक्रम [३५९]

अथ द्वादशं हरिकेशीयमध्ययनम् ।

व्याख्यातमेकादशमध्ययनमधुना द्वादशमारभ्यते,अस्य चायमभिसम्बन्धः–अनन्तराध्ययने बहुश्रुतपूजोक्ता,इह तु बहुश्रुतेनापि तपसि यत्नो विधेय इति ख्यापनार्थं तपःसमृद्धिरुपवर्ण्यत इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्याध्ययनस्य चतुरनुयोगद्वारचर्चा प्राग्वत् तावद्यावन्नामनिष्पन्ननिक्षेपेऽस्य हरिकेशीयमिति नाम, अतो हरिकेशनिक्षेपमाह निर्युक्तिकृत्—

नामं ठवणादविए० ॥ ३१८ ॥ जाणयसरीरभविए० ॥ ३१९ ॥

हरिएसनामगोअं वेअंतो भावओ अ हरिएसो । तत्तो समुट्ठियमिणं हरिए-सिज्जंति अज्झयणं ॥३२०॥

हरिकेशे निक्षेपश्चतुर्विधो नामादिः, तत्र नामस्थापने क्षुण्णे, द्विविधो भवति 'द्रव्ये' द्रव्यविषयः–आगमनोआगमतश्च,तत्र आगमतो ज्ञाताऽनुपयुक्तो, नोआगमतश्च स त्रिविधो–ज्ञशरीरभव्यशरीरतद्व्यतिरिक्तश्च, स पुनः त्रिविधः— एकभविको बद्धायुष्कोऽभिमुखनामगोत्रश्च, हरिकेशनामगोत्रं वेदयन् भावतस्तु हरिकेश उच्यते, ततोऽभिधेयभूतात् समुत्थितमिदं हरिकेशीयं इत्यध्ययनमुच्यते इति शेषः, इति गाथात्रयार्थः ॥ सम्प्रति हरिकेशवक्तव्यतामाह निर्युक्तिकृत्

पुव्वभवे संखस्स उ जुवरन्नो अंतिअं तु पव्वज्जा । जाईमयं तु काउं हरिएसकुलंमि आयाओ ॥ ३२१ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ अध्ययनं – १२ "हरिकेशिय" आरभ्यते

महुराए संखो खलु पुरोहिअसुओ अ गयउरे आसी । दट्ठूण पाडिहेरं हुयवहरत्थाइ निक्खंतो ॥३२२॥
हरिएसा चंडाला सोवाग मयंग बाहिरा पाणा । साणधणा य मयासा सुसाणवित्ती य नीया य ३२३
जम्मं मयंगतीरे वाणारसिगंडितिंदुगवणं च । कोसलिएसु सुभद्दा इसिवंता जन्नवाडंमि ॥ ३२४ ॥
बलकुट्ठे बलकोट्ठो गोरी गंधारि सुविणगवसंतो । नामनिरुत्ती छणसप्प संभवो दुंदुहे बीओ ॥३२५॥
भद्दएणेव होअव्वं पावइ भद्दाणि भद्दओ । सविसो हम्मए सप्पो, भेरुंडो तत्थ मुच्चइ ॥ ३२६ ॥
इत्थीण कहित्थ वट्टई, जणवयरायकहित्थ वट्टई। पडिगच्छह रम्म तिंदुअं, अइसहसा बहुमुंडिए जणे ॥

एतदक्षरार्थः सुगम एव, णवरं 'अंतियं तु' इति अन्तिके–समीपे, 'तुः' पूरणे, 'पाडिहेरं'ति प्रतिहारो–दौवारिकस्तद्वत्सदा सन्निहितवृत्तिर्देवताविशेषोऽपि प्रतिहारस्तस्य कर्म्म प्रातिहार्यं, तच्चेह हुतवहरथ्यायाः शीतलत्वं, तथा हरिकेशाश्चाण्डालाः श्वपाकाः मातङ्गा बाह्याः पाणाः श्वधनाश्च मृताशाः श्मशानवृत्तयश्च नीचाश्चेत्येकार्थिकाः, तथा 'मयङ्गतीरे'त्ति मृतेव मृता विवक्षितभूदेशे तत्कालाप्रवाहिणी सा चासौ गङ्गा च मृतगङ्गा तस्यास्तीरं तस्मिन् ऋषिवान्ता–ऋषित्यक्ता, तथा भद्र एव भद्रको यो न कस्यचिदशुभे प्रवर्त्तते, भद्राणि–कल्याणानि, तथा स्त्रीणां कथा तासां नेपथ्याभरणभाषादिविषया 'अत्र' अस्मिन् यत्राश्रमे प्रवर्त्तते, 'जणवयरायकह'त्ति जनपदकथा मालवकादि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३२॥

दीप अनुक्रम [३५९]

देशप्रशंसानिन्दात्मिका राजकथा च राज्ञां शौर्यादिगुणवर्णनादिरूपा, 'पडिगच्छह'त्ति तिङ्व्यत्ययात् प्रतिगच्छामो–निवर्त्तावहे, 'अयी'त्यामन्त्रणे 'सहसे'त्यपर्यालोच्य, कोऽर्थः ?–अपरीक्षितयोग्यताविशेषो, 'बहुमुण्डितो जनो' मुण्डमात्रेणैव गृहीतदीक्षः प्रायो जनो, गृहीतभावदीक्षस्तु स्वल्प एवेति भावः ॥ तथेहाद्यगाथाया एव पादद्वयं द्वितीयगाथया स्पष्टीकृतं, ततस्तृतीयपादः स्पष्ट एवेति, शेषगाथाभिश्चतुर्थपादस्य पर्यायदर्शनतस्तत्सूचितार्थाभिधानतश्चाभिव्यञ्जनं । भावार्थस्तु कथानकादवसेयः, तत्र च सम्प्रदायः–महुराए नयरीए संखो नाम जुवराया, सो धम्मं सोउं पवतितो, विहरंतो य गयउरं गओ । तहिं च भिक्खं हिंडंतो एगं रत्थं पत्तो, सा य किर अतीव उण्हा मुम्मुरसमा, उण्हकाले ण सक्कंति कोऽवि वोलेउं, जो तत्थ अजाणंतो उप्फंदति सो विणस्सति, तीसे पुण णामं चेव हुयवहरत्था, तेण साहुणा पुरोहियपुत्तो पुच्छितो–एसा रत्था निव्वहति ?, सो पुरोहियस्स पुत्तो चिंतेति—एस उज्झउत्ति निव्वहति इइ वुत्तं, सो पट्ठिओ, इयरो य अलिंदट्ठिओ पेच्छति अतुरियाए गईए वच्चंतं तं, सो

१ मथुरायां नगर्यां शङ्खो नाम युवराजः, स धर्मं श्रुत्वा प्रव्रजितः, विहरंश्च गजपुरं गतः । तत्र च भिक्षां हिण्डमान एकां रथ्यां प्राप्तः, सा च किलातीवोष्णा मुर्मुरसमा, उष्णकाले न शक्नोति कोऽपि व्यतिक्रमितुं, यस्तत्राजानान उत्स्पन्दते स विनश्यति, तस्याः पुनर्नामैव हुतवहरथ्या, तेन साधुना पुरोहितपुत्रः पृष्टः—एषा रथ्या निर्वहति ?, स पुरोहितस्य पुत्रश्चिन्तयति–एष दह्यतामिति निर्वहतीति उक्तं, स प्रस्थितः, इतरश्चालिन्दकस्थितः प्रेक्षते अत्वरितया गत्या व्रजन्तं तं, स

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३२॥

दीप अनुक्रम [३५९]

आसंकाए उइण्णो तं रत्थं, जाव सा तस्स तवप्पभावेणं सीतीभूया, आउट्टो–अहो इमो महातवस्सी मए आसादितो, उज्जाणट्ठियं गन्तुं भणति–भगवं ! मए पावकम्मं कयं, कहं वा तस्स मुंचेज्जामि ?, तेण भण्णति—पव्वयह, पव्वइतो, जातिमयं रूवमयं च काउं मओ, देवलोगगमणं, चुओ संतो मयगंगाए तीरे बलकोट्टा नाम हरिएसा, तेसिं अहिवई बलकोट्टो नाम, तस्स दुवे भारियाओ–गोरी गंधारी य, गोरीए कुच्छिंसि उववण्णो, सुमिणदंसणं, वसंतमासं पेच्छति, तत्थ कुसुमियं चूयपायवं पेच्छइ, सुमिणपाढयाणं कहियं, तेहिं भण्णति–महप्पा ते पुत्तो भविस्सति, समएण पसूया, दारगो जाओ कालो विरूओ पुव्वभवजाइरूवमयदोसेणं, बलकोट्टेसु जाउत्ति बलो से नामं कयं, भंडणसीलो असहणो। अण्णया ते छणेण समागया भुंजंति सुरं च पिबंति, सोऽवि अप्पियणियं

१ आशङ्कयाऽवतीर्णस्तां रथ्यां, यावत्सा तस्य तपःप्रभावेण शीतीभूता, आवृत्तः–अहो अयं महातपस्वी मया आशातितः, उद्यानस्थितं गत्वा भणति—भगवन्! मया पापकर्म कृतं, कथं वा तस्मात् मुच्येय ?, तेन भण्यते–प्रव्रज, प्रव्रजितः, जातिमदं रूपमदं च कृत्वा मृतो, देवलोकगमनं, च्युतः सन् मृतगङ्गायास्तीरे बलकोट्टा नाम हरिकेशाः, तेषामधिपतिर्बलकोट्टो नाम, तस्य द्वे भार्ये–गौरी गान्धारी च, गौर्याः कुक्षौ उत्पन्नः, स्वप्नदर्शनं, वसन्तमासं प्रेक्षते, तत्र कुसुमितं चूतपादपं पश्यति, स्वप्नपाठकेभ्यः कथितं, तैर्भण्यते—महात्मा ते पुत्रो भविष्यति, समये प्रसूता, दारको जातः–कालो विरूपः पूर्वभवजातिरूपमददोषेण, बलकोट्टेषु जात इति बलस्तस्य नाम कृतं, भण्डनशीलोऽसहनः। अन्यदा ते क्षणे समागता भुञ्जते सुरां च पिबन्ति, सोऽप्यप्रीतिकं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३२॥

दीप अनुक्रम [३५९]

करेइत्ति निच्छूढो अच्छति समंतओ पलोएंतो, जाव अही आगतो, उट्ठिया सहसा सव्वे, सो अही णेहिं मारिओ, अण्णमुहुत्तस्स भेरुंडसप्पो आगतो,भेरुंडो नाम दिव्वगो, भीया पुणो उट्ठिया, णाए दिव्वगोत्तिकाऊण मुक्को,वलस्स चिंता जाया—अहो सदोसेण जीवा किलेसभागिणो भवंति, तम्हा—'भद्दएणेव होयव्वं, पावति भद्दाणि भद्दओ । सविसो हम्मती सप्पो, भेरुंडो तत्थ मुच्चति ॥१॥" एयं चिंतेंतो संबुद्धो पव्वतिओ। विहरंतो वाणारसिं गओ,उज्जाणं तेंदुयवणं, तेंदुगं नाम जक्खाययणं, तत्थ गंडीतेंदुगो नाम जक्खो परिवसति, सो तत्थ अणुण्णवेउं ठितो, जक्खो उवसंतो, अण्णो जक्खो अण्णहिं वणे वसति, तत्थवि अण्णे बहू साहूणो ठिया, सो य गंडीजक्खं पुच्छति–ण दीससि ?, पुणाइं तेण भणियं–साहुं पज्जुवासामि, तत्थ य तेंदुएण दिट्ठो, सोऽवि उवसंतो, सो भणति–ममवि उज्जाणे बहवे

१ करोतीति निष्काशितस्तिष्ठति समन्ततः प्रलोकयन्, यावदहिरागतः, उत्थिताः सहसा सर्वे, सोऽहिरेतैर्मारितः, अन्यस्मिन्मुहूर्त्ते भेरुण्डसर्प आगतः, भेरुण्डो नाम दिव्यकः, भीताः पुनरुत्थिताः, ज्ञाते दिव्यक इतिकृत्वा मुक्तः, बलस्य चिन्ता जाता—अहो स्वदोषेण जीवाः क्लेशभागिनो भवन्ति, तस्मात्–भद्रकेनैव भाव्यं, प्राप्नोति भद्राणि भद्रकः । सविषो हन्यते सर्पो, भेरुण्डस्तत्र मुच्यते ॥ १ ॥ एवं चिन्तयन् संबुद्धः प्रव्रजितः । विहरन् वाणारसीं गतः, उद्यानं तिन्दुकवनं, तिन्दुकं नाम यक्षायतनं, तत्र गण्डीतिन्दुको नाम यक्षः परिवसति, स तत्रानुज्ञाप्य स्थितः, यक्ष उपशान्तः, अन्यो यक्षोऽन्यत्र वने वसति, तत्राप्यन्ये बहवः साधवः स्थिताः, स च गण्डीयक्षं पृच्छति–न दृश्यसे ?, पुनस्तेन भणितं— साधुं पर्युपासे, तत्र च तिन्दुकेन दर्शितः, सोऽप्युपशान्तः, स भणति—ममाप्युद्याने बहवः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३२॥

दीप अनुक्रम [३५९]

साहू ठिया, एहि पासामो, ते गया, तेऽवि समावत्तीए साहुणो विकहमाणा अच्छंति, ततो सो जक्खो इमं भणति–'इत्थीण कहऽत्थ वट्टइ, जणवयरायकहत्थ वट्टई । पडिगच्छह रम्म तेंदुगं, अइसहसा बहुमुंडिए जणे ॥ १ ॥' अह अण्णया जक्खाययणं कोसलियरायधूया भद्दा नाम पुप्फधूवमादी गहाय अच्चिउं निग्गया पयाहिणं करेमाणा तं दट्ठूण कालं विगरालं छित्तिकाऊण णिट्ठुहति, जक्खेण रुट्ठेण अण्णइट्ठा कया, णीया नीयघरं, आवेसिया भणति ते–णवरं मुंचामि जइ णं तस्सेव देह, तं च साहति—जहा एईए सो साहू ओदूढो, रण्णावि जीवउत्तिकाऊण दिण्णा, महत्तरियाहिं समं तत्थाणीया, रत्तिं ताहिं भण्णति—वच्च पतिसगासंति, पविट्ठा जक्खाययणं, सो पडिमं ठिओ णेच्छति, ताहे जक्खोवि इसिसरीरं छाइऊण दिव्वरूवं दंसेति, पुणो मुणिरूवं, एवं सव्वरत्तिं वेलंबिया, पभाए णेच्छएत्ति

हरिकेशीयमध्ययनम्· १२

॥३५६॥

१ साधवः स्थिताः, यावः पश्यावः, तौ गतौ, तेऽपि भवितव्यतया साधवः विकथयन्तस्तिष्ठन्ति, ततः स यक्ष इदं भणति—स्त्रीणां कथाऽत्र वर्त्तते, जनपदराजकथाऽत्र वर्त्तते । प्रतिगच्छावो रम्यतेन्दुकं, अतिसहसा बहुमुण्डितो जनः ॥ १ ॥ अथान्यदा यक्षायतनं कौशलिकराजदुहिता भद्रानाम पुष्पधूपादि गृहीत्वाऽर्चयितुं निर्गता प्रदक्षिणां कुर्वती तं दृष्ट्वा कृष्णविकरालं थूत्कृत्य निष्ठीवति, यक्षेण रुष्टेनान्याविष्टा कृता, नीता निजगृहं, आविष्टा भणति तान्—परं मुञ्चामि यद्येनां तस्मायेव दत्त, तच्च कथयति—यथैतया स साधुराशातितः (:थूत्कृतः), राज्ञाऽपि जीवत्वितिकृत्वा दत्ता, महत्तराभिः समं तत्रानीता, रात्रौ ताभिर्भण्यते–व्रज पतिसकाशमिति, प्रविष्टा यक्षायतनं,स प्रतिमां स्थितो नेच्छति,तदा यक्षोऽपि ऋषिशरीरं छादयित्वा दिव्यरूपं दर्शयति, पुनर्मुनिरूपं,एवं सर्वां रात्रिं विडम्बिता,प्रभाते नेच्छतीति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [३६०]

काऊणं पविसंती सघरं पुरोहिएण राया भणिओ–एसा रिसिभज्जा बंभणाणं कप्पइत्ति, दिण्णा तस्सेव। सो य जण्णे दिक्खिज्जिउकामो सा अण्णेण लद्धा, साऽवि जण्णपत्तित्तिकाऊण दिक्खिया। इत्युक्तः सम्प्रदायोऽवसितश्च नामनिष्पन्ननिक्षेपः, सम्प्रति सूत्रालापकनिष्पन्नस्यावसरः, स च सूत्रे सति सम्भवत्यतः सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्–

सोवागकुलसंभूओ, गुणुत्तरधरो मुणी। हरिएस बलो नाम, आसि भिक्खू जिइंदिओ ॥ १ ॥

श्वपाकाः–चाण्डालास्तेषां कुलम्–अन्वयस्तस्मिन् सम्भूतः–समुत्पन्नः श्वपाककुलसम्भूतः, तर्किं तत्कुलोत्पत्त्यनुरूप एवायमुत नेत्याह–गुणेषूत्तराः–प्रधाना गुणोत्तराः–ज्ञानादयः तान् धारयति गुणोत्तरधरः, पठन्ति च—'अणुत्तरधरे'त्ति, तत्र न विद्यते उत्तरम्–अन्यत्प्रधानमेषामित्यनुत्तराः, ते च प्रक्रमात्प्रकर्षप्राप्ता ज्ञानादय एव गुणास्तान् धारयत्यनुत्तरधरो, यद्वा अनुत्तरान् गुणान् धारयतीत्यनुत्तरधर इति मयूरव्यंसकादिषु द्रष्टव्यो, मुणति–प्रतिजानीते सर्वविरतिमिति मुणिः, श्वपाककुलोत्पन्नोऽपि कदाचित्संवासादिनाऽन्यथैव प्रतीतः स्यादत आह–हरिकेशः सर्वत्र हरिकेशतयैव प्रतीतो बलो नाम–बलाभिधानः आसीद्–अभूत्, तस्य च मुनित्वं प्रतिज्ञामात्रेणापि स्यादत आह–

१ कृत्वा प्रविशन्ती स्वगृहं पुरोहितेन राजा भणितः—एषा ऋषिभार्या ब्राह्मणानां कल्पते इति, दत्ता तस्मायेव। स च यज्ञे दीक्षयितुकामः साऽन्ये(ने)न लब्धा, साऽपि यज्ञपत्नीतिकृत्वा दीक्षिता।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२॥

दीप अनुक्रम [३६१]

'भिक्खू'त्ति भिनत्ति–यथाप्रतिज्ञातेनानुष्ठानेन क्षुधमष्टविधं वा कर्म्मेति भिक्षुः, अत एव जितानि–वशीकृतानीन्द्रियाणि–स्पर्शनादीन्यनेनेति जितेन्द्रिय इति सूत्रार्थः ॥ तथा

इरिएसणभासाए, उच्चारसमिईसु य । जओ आयाणणिक्खेवे, संजओ सुसमाहिओ ॥ २ ॥

ईरणमीर्य्या, एष्यत इत्येषणा अनयोर्द्वन्द्वस्ततस्ताभ्यां सहिता भाष्यत इति भाषा ईर्येषणाभाषेति मध्यपदलोपी समासः, तस्यां, तथा उच्चारं–पुरीषपरिष्ठापनमपीहोच्चार उक्तः, प्रश्रवणपरिष्ठापनोपलक्षणं चैतत्, तद्विषया समितिः–सम्यग्गमनं, तत्र सम्यक्प्रवर्त्तनमितियावत्, उच्चारसमितिः, तस्यां च, यतत इति यतो–यत्नवान्, तथा आदानं च–ग्रहणं पीठफलकादेर्निक्षेपश्च–स्थापनं तस्यैव आदाननिक्षेपं, तत इहापि चकारानुवृत्तेस्तस्मिंश्च, इह च 'उच्चारसमिएसु'त्ति एकत्वेऽपि बहुवचनं सूत्रत्वात्, समितिशब्दश्च मध्यव्यवस्थितो डमरुकमणिरिवाद्यन्तयोरपि सम्बध्यते, ततश्च ईर्यासमितावेषणासमितौ भाषासमितावादाननिक्षेपसमितावितियोज्यं, यद्वा ईर्येषणाभाषोच्चारसमितिष्वित्येकमेव पदं, 'भासाए' इति च एकारोऽलाक्षणिकः, स चैवं कीदृगित्याह—संयतः–संयमान्वितः सुसमाहितः—सुष्ठुसमाधिमानिति सूत्रार्थः ॥ तथा—

मणगुत्तो वयगुत्तो, कायगुत्तो जिइंदिओ । भिक्खट्ठा बंभइज्जंमि, जन्नवाडमुवट्ठिओ ॥ ३ ॥

मनोगुप्त्या–मनोनियन्त्रणात्मिकया गुप्तः–संवृतो मनोगुप्तो, मध्यपदलोपी समासः, मनो गुप्तमस्येति वा मनोगुप्तः,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३॥

दीप अनुक्रम [३६२]

आहिताग्न्यादित्वाच्च गुप्तशब्दस्य परनिपातः, एवं वाग्गुप्तो–निरुद्धवाक्प्रसरः, कायगुप्तः असत्कायक्रियाविकलो, जितेन्द्रियः प्राग्वत्, पुनरुपादानमस्य कादाचित्कत्वनिराकरणार्थमतिशयख्यापनार्थं वा, 'भिक्षार्थं' भिक्षानिमित्तं, न तु निष्प्रयोजनमेव, निष्प्रयोजनगमनस्यागमे निषिद्धत्वात्, 'बंभइज्जंमि'त्ति ब्रह्मणां–ब्राह्मणानामिज्या–यजनं यस्मिन् सोऽयं ब्रह्मेज्यस्तस्मिन्, 'जण्णवाडं'ति यज्ञवाटे यज्ञपाटे वा 'उपस्थितः' प्राप्त इति सूत्रार्थः ॥ तं च तत्रा-ऽऽयान्तमवलोक्य तत्रत्यलोका यदकुर्वंस्तदाह—

तं पासिऊणमज्जंतं, तवेण परिसोसियं । पंतोवहिउवगरणं, उवहसंति अणारिया ॥ ४ ॥

'त'मिति बलनामानं मुनिं 'पासिऊणं'ति दृष्ट्वा–निरीक्ष्य 'एज्जंत'न्ति आयान्तमागच्छन्तं तपसा—षष्ठाष्टमादि-रूपेण परि–समन्ताच्छोषितम्–अपचितीकृतमांसशोणितं कृशीकृतमितियावत् परिशोषितं, तथा प्रान्तं–जीर्णमलि-नत्वादिभिरसारमुपधिः–वर्षाकल्पादिः स एव च उपकरणं–धर्म्मशरीरोपष्टम्भहेतुरस्येति प्रान्तोपध्युपकरणस्तं, यद्वो-पधिः स एवोपकरणम्–औपग्रहिकं, द्वन्द्वगर्भश्च बहुव्रीहिः, 'उवहसंति'त्ति उपहसन्ति आर्याः–उक्तनिरुक्ता न तथा अनार्याः, यद्वा अनार्या—म्लेच्छाः, ततश्च साधुनिन्दादिना अनार्या इव अनार्या इति सूत्रार्थः ॥ कथं पुनरनार्याः ?, कथं चोपहसितवन्तस्ते ? इत्याह—

जाइमयं पडिथद्धा, हिंसगा अजिइंदिया । अबंभचारिणो बाला, इमं वयणमब्बवी ॥ ५ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥६॥

दीप अनुक्रम [३६५]

कयरे आगच्छई दित्तरूवे ?, काले विकराले फुक्कनासे ।
ओमचेलए पंसुपिसायभूए, संकरदूसं परिहरिय कंठे ॥ ६ ॥

जातिमदो–जातिदर्पो यदुत ब्राह्मणा वयमिति तेन प्रतिस्तब्धाः पाठान्तरतः प्रतिबद्धा वा ये ते तथा, 'हिंसकाः' प्राण्युपमर्दकारिणः 'अजितेन्द्रिया' न वशीकृतस्पर्शनादयोऽत एवाब्रह्म–मैथुनं तच्चरितुं–आसेवितुं शीलं धर्म्मो वा येषां तेऽमी अब्रह्मचारिणो, वर्ण्यते हि तन्मते मैथुनमपि–'धर्म्मार्थं पुत्रकामस्य, स्वदारेष्वधिकारिणः । ऋतुकाले विधानेन, तत्र दोषो न विद्यते ॥ १ ॥' तथा 'अपुत्रस्य गतिर्नास्ती'त्यादि, अत एव बाला इव बालक्रीडितानुकारिष्वग्निहोत्रादिषु तत्प्रवृत्तेः, उक्तं हि केनचिद्–"अग्निहोत्रादिकं कर्म, बालक्रीडेति लक्ष्यते" ईदृशास्ते किमित्याह–'इदं' वक्ष्यमाणलक्षणं 'वचनं' वचः 'अब्बवि'त्ति आर्षत्वाद्वचनव्यत्ययेन अब्रुवन्—उक्तवन्तः । किं तदित्याह–'कयरे'त्ति कतरः, एकारस्तु प्राकृतत्वात्, तथा च तल्लक्षणं–'ए होति अयारंते' इत्यादि, एवमन्यत्रापि, आगच्छति –आयाति, पठ्यते च–'को रे आगच्छइ'त्ति, ते ह्यन्योऽन्यमाहुः–कोऽयमीदृक् 'रे' इति लघोरामन्त्रणं साक्षेपवचनेषु च दृश्यते, 'दित्तरूवे'त्ति दीप्तं रूपमस्येति दीप्तरूपः, दीप्तवचनं त्वतिबीभत्सोपलक्षकम्, अत्यन्तदाहिषु स्फोटकेषु शीतलकव्यपदेशवत्, विकृततया वा दुर्दर्शमिति दीप्तमिव दीप्तमुच्यते, कालो वर्णतो विकरालो दन्तुरतादिना भयानकः पिशाचवत् स एव विकरालकः, 'फोक्क'त्ति देशीपदं, ततश्च फोक्का–अग्रे स्थूलोन्नता च नासाऽस्येति फोक्क-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥६॥

दीप अनुक्रम [३६५]

नासः, अवमानि—असाराणि लघुत्वजीर्णत्वादिना चेलानि–वस्त्राण्यस्येत्यवमचेलकः, पांशुना–रजसा पिशाचवद्भूतो–जातः पांशुपिशाचभूतः, गमकत्वात्समासः, पिशाचो हि लौकिकानां दीर्घश्मश्रुनखरोमा पुनश्च पांशुभिः समविध्वस्त इष्टः, ततः सोऽपि निष्परिकर्म्मतया रजोदिग्धदेहतया चैवमुच्यते, 'संकरे'ति सङ्करः, स चेह प्रस्तावात्तृणभस्मगोमयाङ्गारादिमीलक उकुरुडिकेतियावत् तत्र दुष्यं–वस्त्रं सङ्करदुष्यं, तत्र हि यदत्यन्तनिकृष्टं निरुपयोगि तल्लोकैरुत्सृज्यते, ततस्तत्प्रायमन्यदपि तथोक्तं, यद्वा उज्झितधर्म्मकमेवासौ गृह्णातीत्येवमभिधानं, 'परिहरिय'त्ति परिवृत्त्य, निक्षिप्येत्यर्थः, क्व ?–'कण्ठे' गले, स ह्यनिक्षिप्तोपकरण इति स्वमुपधिमुपादायैव भ्राम्यति, अत्र कण्ठैकपार्श्वः कण्ठशब्द इति कण्ठे परिवृत्त्येत्युच्यत इति सूत्रद्वयार्थः ॥ इत्थं दूरादागच्छन्नुक्तः, सन्निकृष्टं चैनं किमूचुरित्याह–

कयरे तुमं इय अदंसणिज्जे ?, काए व आसा इहमागओऽसि ?।
ओमचेलगा पंसुपिसायभूया, गच्छ क्खलाहि किमिहं ठिओऽसि ? ॥ ७ ॥

कतरस्त्वं, पाठान्तरश्च–को रे त्वम्, अधिक्षेपे रेशब्दः 'इती'त्येवमदर्शनीयो–द्रष्टुमनर्हः, 'कया वा' किंरूपया वा ?, 'आसा इहमागओऽसि'त्ति 'अचां सन्धिलोपौ बहुल'मितिवचनादेकारलोपो, मकारश्चागमिकः, तत आशया—वाञ्छया 'इह' अस्मिन्यज्ञपट्टके आगतः–प्राप्तोऽसि–भवसि, अवमचेलकः पांसुपिशाचभूत इति च प्राग्वत्, पुनरनयोरुपादानमत्यन्ताधिक्षेपदर्शनार्थं, गच्छ–प्रव्रज, प्रक्रमादितो यज्ञवाटकात्, 'खलाहि'त्ति देशीपदमपसरेत्यस्यार्थे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥७॥

दीप अनुक्रम [३६६]

वर्त्तते, ततोऽयमर्थः—अस्मद्दृष्टिपथादपसर, तथा किमिह स्थितोऽसि त्वं ?, नैवेह त्वया स्थातव्यमिति भाव इति सूत्रार्थः ॥ एवमधिक्षिप्तेऽपि तस्मिन् मुनौ प्रशमपरतया किञ्चिदप्यजल्पति तत्सान्निध्यकारी गण्डीतिन्दुकयक्षो यदचेष्टत तदाह—

जक्खो तहिं तिंदुयरुक्खवासी, अणुकंपओ तस्स महामुणिस्स ।
पच्छायइत्ता नियगं सरीरं, इमाइं वयणाइं उदाहरित्था ॥ ८ ॥

यक्षो—व्यन्तरविशेषः, तस्मिन् अवसर इति गम्यते, तिन्दुको नाम वृक्षस्तद्वासी, तथा च सम्प्रदायः–तस्स तिंदुगवणस्स मज्झे महंतो तिंदुगरुक्खो, तहिं सो वसति, तस्सेव हेट्ठा चेइयं, जत्थ सो साहू चिट्ठति । 'अणुकंपउ'त्ति अनुशब्दोऽनुरूपार्थे ततश्चानुरूपं कम्पते–चेष्टत इत्यनुकम्पकः–अनुरूपक्रियाप्रवृत्तिः, कस्येत्याह–'तस्य' हरिकेशबलस्य 'महामुनेः' प्रशस्ततपस्विनः 'प्रच्छाद्य' प्रकर्षेणावृत्य निजकम्–आत्मीयं शरीरं, कोऽभिप्रायः ?–तपस्विशरीर एवाविश्य स्वयमनुपलक्ष्यः सन्निमानि–वक्ष्यमाणानि 'वचनानि' वचांसि 'उदाहरित्थ'त्ति उदाहार्षीदुदाहृतवानित्यर्थः, इति सूत्रार्थः ॥ कानि पुनस्तानि ?, इत्याह—

समणो अहं संजउ बंभयारी, विरओ धणपयणपरिग्गहाओ ।
परप्पवित्तस्स उ भिक्खकाले, अन्नस्स अट्ठा इहमागओमि ॥ ९ ॥

॥३५९॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१०॥

दीप अनुक्रम [३६९]

वियरिज्जइ खज्जइ भुज्जई य, अन्नं पभूयं भवयाणमेयं ।
जाणाहि मे जायणजीविणुत्ति, सेसावसेसं लहओ तवस्सी ॥ १० ॥

श्रमणो–मुनिः 'अह'मित्यात्मनिर्देशः, किमभिधानत एवेत्याशङ्क्याह–सम्यग् यतः संयतः–असद्व्यापारेभ्य उपरतः, अत एव च ब्रह्मचारी–ब्रह्मचर्यवान्, तथा विरतो निवृत्तः, कुतो ?–धनं च पचनं च परिग्रहश्च धनपचनपरिग्रहमिति समाहारः तस्मात्, तत्र धनं चतुष्पदादि पचनमाहारनिष्पादनं परिग्रहो द्रव्यादिषु मूर्च्छा, अत एव च परस्मै प्रवृत्तं–परैः स्वार्थं निष्पादितत्वेन परप्रवृत्तं तस्य, तुरवधारणे, ततः परप्रवृत्तस्यैव, न तु मदर्थं साधितस्येति भावः, 'भिक्षाकाले' भिक्षाप्रस्तावे, कदाचिदकालोऽयं ब्रूयादित्येवमुक्तं, 'अन्नस्य' अशनस्य 'अट्ठ'त्ति सूत्रत्वादर्थाय, भोजनार्थमिति भावः, 'इह' अस्मिन् यज्ञवाटके आगतोऽसि, अनेन यदुक्तं–कतर त्वं किमिहागतोऽसि ?, तत्प्रतिवचनमुक्तम्, एवमुक्ते च ते कदाचिदभिदध्युः–नेह किञ्चित् कस्मैचिद्दीयते न वा देयमस्त्यत आह–'वितीर्यते' दीयते दीनानाथादिभ्यः खाद्यते खण्डखाद्यादि, भुज्यते च भक्तसूपादि, अद्यत इत्यन्नं स सर्वमपि सामान्येनोच्यते, तदप्यल्पमेव स्यादत आह–'प्रभूतं' बहु, प्रभूतमपि परकीयमेव स्यात्, अत आह–'भवतां' युष्माकमेव सम्बन्धि 'एतदि'ति प्रत्यक्षं, तथा च 'जानीत' अवगच्छत 'मे'त्ति सूत्रत्वान्मां 'जायणजीविणो'त्ति याचनेन जीवनं–प्राणधारणमस्येति याचन-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१०॥

दीप अनुक्रम [३६९]

जीवनं, आर्षत्वादिकारः, पठ्यते च–'जायणजीवणो'त्ति, इतिशब्दः स्वरूपपरामर्शकः, तत एवंस्वरूपं, यतश्चैवमतो मह्यमपि ददध्वमिति भावः, कदाचिदुत्कृष्टमेवासौ याचत इति तेषामाशयः स्यादत आह, अथवा जानीत मां याचनजीविनं–याचनेन जीवनशीलं, द्वितीयार्थे षष्ठी, पाठान्तरे तु प्रथमा, 'इती'त्यस्माद्धेतोः, किमित्याह–शेषावशेषम्–उद्धरितस्याप्युद्धरितम्, अन्तप्रान्तमित्यर्थः, लभतां–प्राप्नोतु, तपस्वी–यतिर्वराको वा भवद्भिप्रायेण, अनेनात्मानं निर्दिशतीति सूत्रद्वयार्थः ॥ एवं यक्षेणोक्ते यज्ञवाटवासिनः प्राहुः—

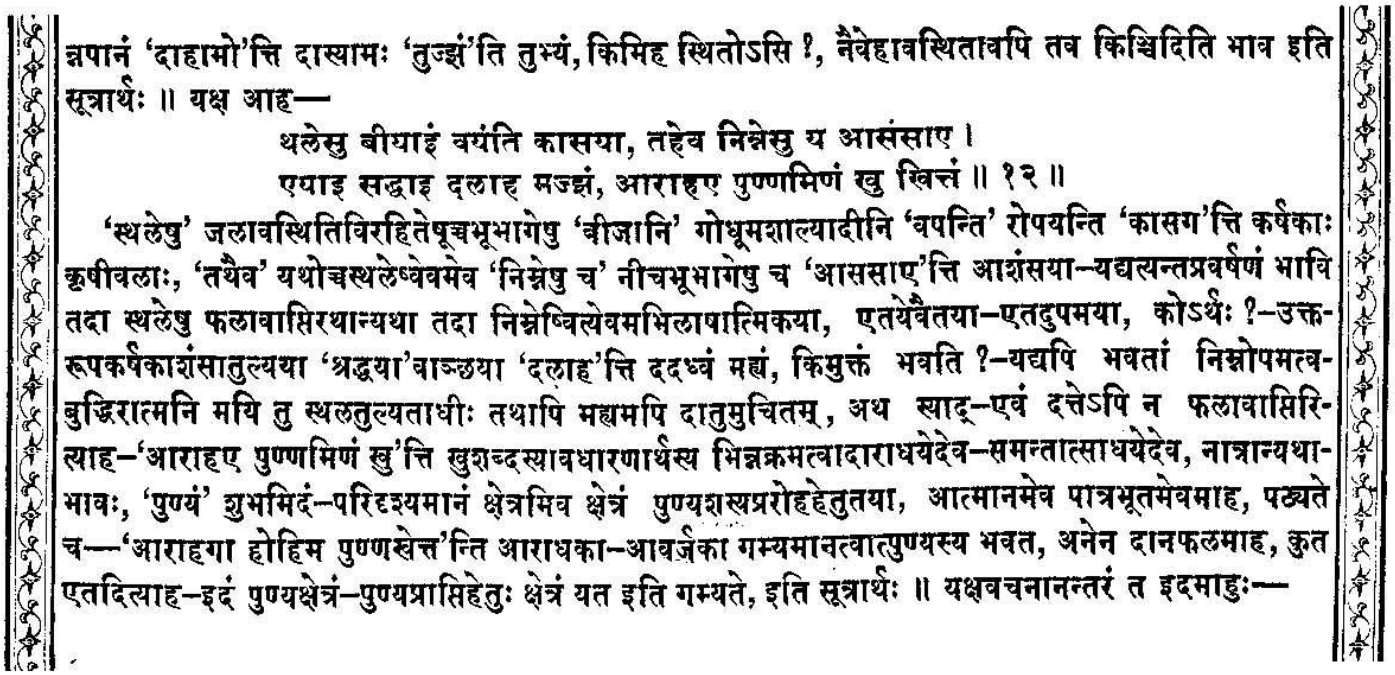
उवक्खडं भोयण माहणाणं, अत्तट्ठियं सिद्धमिहेगपक्खं ।
न ऊ वयं एरिसमन्नपाणं, दाहामु तुज्झं किमिहं ठिओऽसि ? ॥ ११ ॥

'उपस्कृतं' लवणवेसवारादिसंस्कृतं 'भोयण'त्ति भोजनं माहनानां–ब्राह्मणानां आत्मनोऽर्थः आत्मार्थस्तस्मिन् भवमात्मार्थिकं, ब्राह्मणैरप्यात्मनैव भोज्यं न त्वन्यस्मै देयं, किमिति ?, यतः सिद्धं–निष्पन्नं 'इह' अस्मिन् यज्ञे एकः पक्षो–ब्राह्मणलक्षणो यस्य तदेकपक्षं, किमुक्तं भवति ?–यदस्मिन्नुपस्क्रियते न तद्ब्राह्मणव्यतिरिक्तायान्यस्मै दीयते, विशेषतस्तु शूद्राय, यत उक्तम्–"न शूद्राय मतिं दद्यान्नोच्छिष्टं न हविः कृतम् । न चास्योपदिशेद् धर्मं, न चास्य व्रतमादिशेत् ॥ १ ॥" यतश्चैवमतो 'न तु' नैव वयमीदृशमुक्तरूपं अन्नं च–ओदनादि पानं च–द्राक्षापानाद्य- ॥३६०॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१२॥

दीप अनुक्रम [३७१]



न्नपानं 'दाहामो'त्ति दास्यामः 'तुज्झं'ति तुभ्यं, किमिह स्थितोऽसि ?, नैवेहावस्थितावपि तव किञ्चिदिति भाव इति सूत्रार्थः ॥ यक्ष आह—

थलेसु बीयाइं वयंति कासया, तहेव निन्नेसु य आससाए ।
एयाइ सद्धाइ दलाह मज्झं, आराहए पुण्णमिणं खु खित्तं ॥ १२ ॥

'स्थलेषु' जलावस्थितिविरहितेषूच्चभूभागेषु 'बीजानि' गोधूमशाल्यादीनि 'वपन्ति' रोपयन्ति 'कासग'त्ति कर्षकाः कृषीवलाः, 'तथैव' यथोच्चस्थलेष्वेवमेव 'निम्नेषु च' नीचभूभागेषु च 'आससाए'त्ति आशंसया–यद्यत्यन्तप्रवर्षणं भावि तदा स्थलेषु फलावाप्तिरथान्यथा तदा निम्नेष्वित्येवमभिलाषात्मिकया, एतयैवैतया–एतदुपमया, कोऽर्थः ?–उक्तरूपकर्षकाशंसातुल्यया 'श्रद्धया'वाञ्छया 'दलाह'त्ति ददध्वं मह्यं, किमुक्तं भवति ?–यद्यपि भवतां निम्नोपमत्वबुद्धिरात्मनि मयि तु स्थलतुल्यताधीः तथापि मह्यमपि दातुमुचितम्, अथ स्याद्–एवं दत्तेऽपि न फलावाप्तिरित्याह–'आराहए पुण्णमिणं खु'त्ति खुशब्दस्यावधारणार्थस्य भिन्नक्रमत्वादाराधयेदेव–समन्तात्साधयेदेव, नान्यथाभावः, 'पुण्यं' शुभमिदं–परिदृश्यमानं क्षेत्रमिव क्षेत्रं पुण्यशस्यप्ररोहहेतुतया, आत्मानमेव पात्रभूतमेवमाह, पठ्यते च—'आराहगा होहिम पुण्णखेत्त'न्ति आराधका–आवर्जका गम्यमानत्वात्पुण्यस्य भवत, अनेन दानफलमाह, कुत एतदित्याह–इदं पुण्यक्षेत्रं–पुण्यप्राप्तिहेतुः क्षेत्रं यत इति गम्यते, इति सूत्रार्थः ॥ यक्षवचनानन्तरं त इदमाहुः—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१३॥

दीप अनुक्रम [३७२]

खित्ताणि अम्हं विइयाणि लोए, जहिं पकिण्णा विरुहंति पुण्णा ।
जे माहणा जाइविज्जोववेया, ताइं तु खित्ताइं सुपेसलाइं ॥ १३ ॥

'क्षेत्राणी'ति क्षेत्रोपमानि पात्राण्यस्माकं 'विदितानि' ज्ञातानि, वर्तन्त इति गम्यते, 'लोके' जगति 'जहिं'ति वचनव्यत्ययाद्येषु क्षेत्रेषु प्रकीर्णानीव प्रकीर्णानि–दत्तान्यशनादीनि 'विरोहन्ति' जन्मान्तरोपस्थानतः प्रादुर्भवन्ति 'पूर्णानि' समस्तानि, न तु तथाविधदोषसद्भावतः कानिचिदेव, स्यादेतद्—अहमपि तन्मध्यवर्त्येवेत्याशङ्क्याह—ये 'ब्राह्मणा' द्विजाः, तेऽपि न नामत एव, किन्तु जातिश्च–ब्राह्मणजातिरूपा विद्या च—चतुर्दशविद्यास्थानात्मिका ताभ्याम् 'उववेय'त्ति उपेता—अन्विता जातिविद्योपेताः, 'ताइं तु'त्ति तान्येव क्षेत्राणि 'सुपेसलाणि'त्ति सुपेशलं नाम शोभनं प्रीतिकरं वा इति वृद्धाः, ततश्च सुपेशलानि—शोभनानि प्रीतिकराणि वा, न तु भवादृशानि शूद्रजातीनि, शूद्रजातित्वादेव वेदादिविद्याबहिष्कृतानीति, यत उक्तम्—"सममश्रोत्रिये दानं, द्विगुणं ब्राह्मणब्रुवे । सहस्रगुणमाचार्ये, अनन्तं वेदपारगे ॥ १ ॥" इति सूत्रार्थः ॥ यक्ष उवाच—

कोहो य माणो य वहो य जेसिं, मोसं अदत्तं च परिग्गहं च ।
ते माहणा जाइविज्जाविहीणा, ताइं तु खित्ताइं सुपावयाइं ॥ १४ ॥

'क्रोधश्च' रोषः 'मानश्च' गर्वः, चशब्दान्मायालोभौ च, 'वधश्च' प्राणिघातो 'येषा'मिति प्रक्रमाद्भवतां

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||१४||

दीप अनुक्रम [३७३]

ब्राह्मणानां 'मोसं'ति मृषा—अलीकभाषणं 'अदत्तं'ति पदेऽपि पदैकदेशस्य दर्शनात्सत्यभामा सत्येतिवत् अदत्तादानमुक्तं, चशब्दान्मैथुनं, 'परिग्रहश्च' गोभूम्यादिस्वीकारः, अस्तीति सर्वत्र गम्यते, 'ते' इति क्रोधाद्युपेता यूयं ब्राह्मणा जातिविद्याभ्यां विहीना—रहिता जातिविद्याविहीनाः, क्रियाकर्मविभागेन हि चातुर्वर्ण्यव्यवस्था, यत उक्तम्—"एकवर्णमिदं सर्वं, पूर्वमासीद्युधिष्ठिर ! । क्रियाकर्मविभागेन, चातुर्वर्ण्यं व्यवस्थितम् ॥ १ ॥ ब्राह्मणो ब्रह्मचर्येण, यथा शिल्पेन शिल्पिकः । अन्यथा नाममात्रं स्यादिन्द्रगोपककीटवत् ॥ २ ॥" न चैवंविधक्रिया ब्रह्मचर्यात्मिका कोपाद्युपेतेषु तत्त्वतः सम्भवत्यतो न तावज्जातिसम्भवः, तथा विद्यापि सच्छास्त्रात्मिका, सच्छास्त्रेषु च सर्वेष्वहिंसादिपञ्चकमेव वाच्यं, यत उक्तम्—"पञ्चैतानि पवित्राणि, सर्वेषां धर्म्मचारिणाम् । अहिंसा सत्यमस्तेयं, त्यागो मैथुनवर्जनम् ॥ १॥" तद्युक्तत्वं च तत्तज्ज्ञानादेव भवति, ज्ञानस्य तु विरतिः फलं रागाद्यभावश्च, यत उक्तम्—"तज्ज्ञानमेव न भवति यस्मिन्नुदिते विभाति रागगणः । तमसः कुतोऽस्ति ? शक्तिर्दिनकरकिरणाग्रतः स्थातुम् ॥१॥" न चैवमभ्याद्यारम्भिषु कोपादिमत्सु च भवत्सु विरते रागाद्यभावस्य च सम्भवोऽस्ति, न च निश्चयनयमतेन फलरहितं वस्तु सत्, तथा च निश्चयो यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थसदित्याह, ततः स्थितमेतत्—'ताइं तु'त्ति तुरवधारणे भिन्नक्रमश्च, ततश्च तानि भवद्विदितानि ब्राह्मणलक्षणानि क्षेत्राणि सुपापकान्येव, न तु सुपेशलानि,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१५॥

दीप अनुक्रम [३७४]

क्रोधाद्युपेतत्वेनातिशयपापहेतुत्वादिति सूत्रार्थः ॥ कदाचित्ते वदेयुः–वेदविद्याविदो वयमत एव च ब्राह्मणजातयस्तत्कथं जातिविद्याविहीना इत्युक्तवानसीत्याह—

तुब्भित्थ भो! भारहरा गिराणं, अट्ठं न याणाह अहिज्ज वेए।
उच्चावयाइं मुणिणो चरंति, ताइं तु खित्ताइं सुपेसलाइं ॥ १५ ॥

यूयमत्रेति–लोके 'भो' इत्यामन्त्रणे भारं धरन्तीति भारधराः, पाठान्तरतो वा–'भारवहा' वा, कासां ?–'गिरां' वाचां, प्रक्रमाद्वेदसम्बन्धिनीनाम्, इह च भारस्तासां भूयस्त्वमेव, किमिति भारधरा भारवहा वेति उच्यते, यतोऽर्थम्–अभिधेयं न जानीथ–नावबुध्यध्वे !, 'अहिज्ज'त्ति अपेर्गम्यमानत्वादधीत्यापि 'वेदान्' ऋग्वेदादीन्, तथाहि–'आत्मा वा रे ज्ञातव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" तथा "कर्म्मभिर्मृत्युमृषयो निषेदुः, प्रजावन्तो द्रविणमन्विच्छमानाः, अथापरं कर्म्मभ्योऽमृतत्वमानशुः,–परेण नाकं निहितं गुहायां, विभ्राजते यद्यतयो विशन्ति। वेदाहमेनं पुरुषं महान्तं, तमेव विदित्वा अमृतत्वमेति ॥ १ ॥ नान्यः पन्थाः अयनाये'त्यादिवचनानां यद्यर्थवेत्तारः स्युस्तत्किमित्थं यागादि कुर्वीरन्?, ततस्तत्त्वतो वेदविद्याविदो भवन्तो न भवन्ति, तत्कथं जातिविद्यासम्पन्नत्वेन क्षेत्रभूताः स्युः?। कानि तर्हि भवदभिप्रायेण क्षेत्राणीत्याह–'उच्चावयाइं'ति उच्चावचानि–उत्तमाधमानि मुनयश्चरन्ति–भिक्षानिमित्तं पर्यटन्ति गृहाणि, ये इति गम्यते, न तु भवन्त इव पचनाद्यारम्भप्रवृत्तयः, त एव परमार्थतो वेदार्थं विदन्ति, तत्रापि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१६॥

दीप अनुक्रम [३७५]

भैक्षवृत्तेरेव समर्थितत्वात्, तथा च वेदानुवादिनः–"चरेद् माधुकरीं वृत्तिमपि म्लेच्छकुलादपि। एकान्नं नैव भुञ्जीत, बृहस्पतिसमादपि ॥ १ ॥" यदिवोच्चावचानि–विकृष्टाविकृष्टतया नानाविधानि, तपांसीति गम्यते, उच्चव्रतानि वा शेषव्रतापेक्षया महाव्रतानि ये मुनयश्चरन्ति—आसेवन्ते, न तु यूयमिवाजितेन्द्रिया अशीला वा, तान्येव मुनिलक्षणानि क्षेत्राणि सुपेशलानीति प्राग्वदिति सूत्रार्थः ॥ इत्थमध्यापकं यक्षेण निर्भुखीकृतमवलोक्य तच्छात्राः प्राहुः—

अज्झावयाणं पडिकूलभासी, पभाससे किंसु सगासि अम्हं?।
अवि एयं विणस्सउ अन्नपाणं, न य णं दाहामु तुमं नियंठा!॥ १६ ॥

अध्यापयन्ति–पाठयन्तीत्यध्यापकाः–उपाध्यायास्तेषां प्रतिकूलं–प्रतिलोमं भाषते वक्तीत्येवंशीलः प्रतिकूलभाषी सन् प्रकर्षेण भाषसे–ब्रूषे प्रभाषसे, किमिति क्षेपे, दुरित्यक्षमायां, ततश्च धिग् भवन्तं न वयं क्षमामहे यदित्थं भवान् ब्रूते सकाशे–समीपे 'अम्हं'ति अस्माकम्, अपिः सम्भावनायां, 'एतत्' परिदृश्यमानं 'विनश्यतु' कथितत्वादिना स्वरूपहानिमाप्नोतु 'अन्नपानम्' ओदनकाञ्जिकादि, 'न च' नैव 'ण'मिति वाक्यालङ्कारे 'दाहामु'त्ति दास्यामस्तव हे निर्ग्रन्थ!–निष्किञ्चन!, गुरुप्रत्यनीको हि भवान्, अन्यथा तु कदाचिदनुकम्पया किञ्चिदन्तप्रान्तादि दद्यामोऽपीति भाव इति सूत्रार्थः ॥ यक्ष आह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१७॥

दीप अनुक्रम [३७६]

समिईहिं मज्झं सुसमाहियस्स, गुत्तीहि गुत्तस्स जिइंदियस्स ।
जइ मे न दाहित्थ अहेसणिज्जं, किमज्ज जन्नाण लभित्थ लाभं ? ॥ १७ ॥

समितिभिः–ईर्यासमित्यादिभिर्मह्यं सुष्ठु समाहिताय–समाधिमते सुसमाहिताय गुप्तिभिः–मनोगुप्त्यादिभिर्गुप्ताय जितेन्द्रियायेति च प्राग्वत्, सर्वत्र च चतुर्थ्यर्थे षष्ठी, 'यदी'त्यभ्युपगमे 'मे' मह्यं 'मज्झं'तीत्यस्य व्यवहितत्वात् क्रियां प्रति पुनरुपादानमदुष्टमेव 'न दास्यथ' न वितरिष्यथ, 'अथे'त्युपन्यासे आनन्तर्ये वा, 'एषणीयम्' एषणाविशुद्धमन्नादिकं, किं न किञ्चिदित्यर्थः, 'अज्ज'त्ति अद्य ये यज्ञास्तेषामिदानीमारब्धयज्ञानां, यद्वा 'अज्ज'त्ति हे आर्या ! यज्ञानां 'लभित्थ'त्ति सूत्रत्वाल्लप्स्यध्वे–प्राप्स्यध्वं 'लाभं' पुण्यप्राप्तिरूपं, पात्रदानादेव हि विशिष्टपुण्यावाप्तिः, अन्यत्र तु तथाविधफलाभावेन दीयमानस्य हानिरेव, उक्तं हि–"दधिमधुघृतान्यपात्रे क्षिप्तानि यथाऽऽशु नाशमुपयान्ति । एवमपात्रे दत्तानि केवलं नाशमुपयान्ती ॥ १ ॥" ति सूत्रार्थः ॥ इत्थं तेनोक्ते यदध्यापकप्रधान आह तदुच्यते—

के इत्थ खत्ता उवजोइया वा, अज्झावया वा सह खंडिएहिं ? ।
एयं खु दंडेण फलेण हंता, कंठंमि घित्तूण खलिज्ज जो णं ॥ १८ ॥

के 'अत्रे'त्येतस्मिन् स्थाने 'क्षत्राः' क्षत्रियजातयो वर्णसङ्करोत्पन्ना वा तत्कर्म्मनियुक्ताः 'उवजोइय'त्ति ज्योतिषः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१८॥

दीप अनुक्रम [३७७]

समीपे ये त उपज्योतिषस्त एवोपज्योतिष्काः–अग्निसमीपवर्त्तिनो महानसिका ऋत्विजो वा 'अध्यापकाः' पाठकाः, ते वा उभयत्र वा विकल्पे 'सहे'ति युक्ताः, कैः ?–'सण्डिकैः' छात्रैः, ये किमित्याह–'एनं' श्रमणकं 'दण्डेन' वंशयष्ट्यादिना 'फलेन' बिल्वादिना 'हंते'ति हत्वा–ताडयित्वा यद्वा 'दण्डेने'ति कूर्परादिघातेन 'फलेन' च मुष्टिप्रहारेणेति वृद्धाः, ततश्च 'कण्ठे' गले 'गृहीत्वा' उपादाय 'खलेज्ज'त्ति स्खलयेयुः–निष्काशयेयुः, 'यो'त्ति वचनव्यत्ययाद्ये इत्थमेतदभिघाते निष्काशने वा शक्ताः, 'णमि'ति वाक्यालङ्कारे इति सूत्रार्थः ॥ अत्रान्तरे यदभूत्तदाह—

अज्झावयाणं वयणं सुणित्ता, उद्धाइया तत्थ बहू कुमारा ।
दंडेहिं वित्तेहिं कसेहिँ चेव, समागया तं इसिं तालयंति ॥ १९ ॥

अध्यापकानाम्–उपाध्यायानाम्, एकत्वेऽपि पूज्यत्वाद्बहुवचनं, 'वचनम्' उक्तरूपं 'श्रुत्वा' आकर्ण्य 'उद्धाविता' वेगेन प्रसृताः 'तत्र' यत्रासौ मुनिस्तिष्ठति 'बहवः' प्रभूताः 'कुमारा' द्वितीयवयोवर्त्तिनश्छात्रादय इति गम्यते, ते हि क्रीडनकपरा इत्यहो क्रीडनकमागतमिति रभसतो 'दण्डैः' वंशयष्ट्यादिभिर्वेत्रैः–जलजवंशात्मकैः 'कशैः' चर्म-विकारैः, चः समुच्चये, एवेति पूरणे, 'समागताः' सम्प्राप्ता मिलिता वा तमृषिं–मुनिं 'ताडयन्ति' घ्नन्ति, सर्वत्र वर्त्तमाननिर्देशः प्राग्वत् इति सूत्रार्थः ॥ अस्मिंश्चावसरे—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२०॥

दीप अनुक्रम [३७९]

रण्णो तहिं कोसलियस्स धूया, भद्दत्ति नामेण अणिंदियंगी ।
तं पासिया संजय हम्ममाणं, कुद्धे कुमारे परिनिव्ववेइ ॥ २० ॥

'राज्ञो' नृपतेस्तत्र—यज्ञवाटे कोशलायां भवः कौशलिकस्तस्य 'धूय'त्ति दुहिता भद्रेति 'नाम्ना'अभिधानेन 'अनिन्दिताङ्गी' कल्याणशरीरा 'तं' हरिकेशबलं 'पासिय'त्ति दृष्ट्वा 'सञ्जय'त्ति संयतं तस्यामप्यवस्थायां हिंसादेः सम्यगुपरतं 'हन्यमानं' दण्डादिभिस्ताड्यमानं 'कुद्धान्' कोपवतः 'कुमारान्' उक्तरूपान् 'परिनिर्वापयति' कोपाग्निविध्यापनात् समन्तात् शीतीकरोति उपशमयतीतियावदिति सूत्रार्थः ॥ सा च तान् परिनिर्वापयन्ती तस्य माहात्म्यमतिनिःस्पृहतां चाह—

देवाभिओगेण निओइएणं, दिन्ना मु रण्णा मणसा न झाया ।
नरिंददेविंदऽभिवंदिएणं, जेणामि वंता इसिणा स एसो ॥ २१ ॥
एसो हु सो उग्गतवो महप्पा, जिइंदिओ संजओ बंभयारी ।
जो मे तया नेच्छई दिज्जमाणी, पिउणा सयं कोसलिएण रण्णा ॥ २२ ॥
महाजसो एस महाणुभागो, घोरव्वओ घोरपरक्कमो य ।
मा एयं हीलह अहीलणिज्जं, मा सव्वे तेएण भे निद्दहिज्जा ॥ २३ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||२१--२३||

दीप अनुक्रम [३८०--३८२]

देवस्य–अमरस्याभियोगो–बलात्कारो देवाभियोगस्तेन 'नियोजितेन' व्यापारितेन न त्वप्रियेतिकृत्वा 'दिन्ना मु'त्ति दत्ताऽस्मि, अहं यस्मै इति गम्यते, दत्ता च केन ?–राज्ञा–प्रक्रमात्कौशलिकेन, तथापि 'मणस'त्ति अपेर्गम्यमानत्वान्मनसाऽपि–चित्तेनापि 'न ध्याता' न चिन्तिता नाभिलषितेतियावत्, प्रक्रमादेतेन मुनिना, कीदृशेन ?–नरेन्द्राश्च–नृपतयो देवेन्द्राश्च–शक्रादयो नरेन्द्रदेवेन्द्रास्तैरभि–आभिमुख्येन वन्दितः–स्तुतो नरेन्द्रदेवेन्द्राभिवन्दितस्तेन, अनभिध्याताऽपि नृपोपरोधतः स्वीकृता स्यादत आह–येनास्म्यहं 'वान्ता' त्यक्ता 'ऋषिणा' मुनिना, स एष युष्माभिर्यः कदर्थयितुमारब्धः, ततो न कदर्थयितुमुचित इति भावः, पुनरिममेवार्थं समर्थयितुमाह–'एसो हु सो'त्ति, एष एव स न मनागप्यत्र संशयः, उग्गं—उत्कटं दारुणं वा कर्म्मशत्रून् प्रति तपः—अनशनाद्यस्येति उग्रतपाः, अत एव महान्—प्रशस्यो विशिष्टवीर्योल्लासत आत्मा अस्येति महात्मा, जितेन्द्रियः संयतो (ग्रं० ९०००) ब्रह्मचारी च प्राग्वत्, स इति क ? इत्याह–यो 'मि'त्ति मां 'तदा' तस्मिन् विवक्षितसमये 'नेच्छति' नाभिलषति 'दीयमानां' निसृज्यमानां, केन ?–'पित्रा' जनकेन 'स्वयं' आत्मना, न तु प्रधानप्रेषणादिना, तेनापि कीदृशा ?–कौशलिकेन राज्ञा, न त्वितरजनसाधारणेन, तदनेन विभूतावपि निःस्पृहत्वमुक्तं, पुनस्तन्माहात्म्यमाह—'महायसा' अपरिमितकीर्त्तिः 'एष' प्रत्यक्षो मुनिर्महानुभागः—अतिशयाचिन्त्यशक्तिः, पाठान्तरतो महानुभावो वा, तत्र चानुभावः—शापानुग्रहसामर्थ्यं, 'घोरव्रतो' धृतात्यन्तदुर्द्धरमहाव्रतः 'घोरपराक्रमश्च' कषायादिजयं प्रति रौ-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२१--२३॥

दीप अनुक्रम [३८०--३८२]

द्रसामर्थ्यो, यतोऽयमीदृक् ततः किमित्याह—'मा' इति निषेधे 'एनं' यतिं 'हीलयत' अवधूतं पश्यत 'अहीलनीयम्' अवज्ञातुमनुचितं, किमित्यत आह–मा सर्वान्–समस्तांस्तेजसा–तपोमाहात्म्येन 'भे' भवतो निर्धाक्षीद्—भस्मसात्कार्षीद्, अयं हि हीलितो यदि कदाचिद्रुष्येत्तदा सर्वं भस्मसादेव कुर्यादिति भाव इति सूत्रत्रयार्थः ॥ अत्रान्तरे मा भूदेतस्या वचनं मृषेति यद्यक्षः कृतवांस्तदाह—

एयाइं तीसे वयणाइं सुच्चा, पत्तीइ भद्दाइ सुभासियाइं ।
इसिस्स वेयावडियट्ठयाए, जक्खा कुमारे विणिवारयंति ॥ २४ ॥
ते घोररूवा ठिअ अंतलिक्खे, असुरा तहिं तं जणं तालयंति ।
ते भिन्नदेहे रुहिरं वमंते, पासित्तु भद्दा इणमाहु भुज्जो ॥ २५ ॥

'एतानि' अनन्तरोक्तानि 'तस्याः' अनन्तरोक्तायाः 'वचनानि' भाषितानि 'श्रुत्वा' निशम्य 'पत्न्याः' यज्ञवाटकाधिपतेः सोमदेवपुरोहितस्य, तस्यैव वा मुनेरिति गम्यते, 'भद्रायाः' भद्राभिधानायाः 'सुभाषितानि' सूक्तानि वचनानीति योज्यते, ऋषेः–तस्यैव तपस्विनः 'वेयावडियट्ठयाए'त्ति सूत्रत्वाद्वैयावृत्त्यार्थमेतत् प्रत्यनीकनिवारणलक्षणे प्रयोजने व्यावृत्ता भवाम इत्येवमर्थं यक्षाः, यक्षपरिवारस्य बहुत्वात् बहुवचनं, कुमारान् प्रक्रमात्तानेवोपहन्तॄन् 'विनिपातयन्ति' विविधं नितरां पातयन्ति—भूमौ विलोलयन्ति, पठ्यते च–'विणिवारयंति'त्ति विशेषेणोपहतिं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||२४--२५||

दीप अनुक्रम [३८३--३८४]

कुर्वतो निराकुर्वन्ति, तथा 'ते' इति यक्षाः 'घोररूपा' रौद्राकारधारिणः 'ठिय'त्ति स्थिताः 'अन्तरिक्षे' आकाशे 'असुरा' आसुरभावान्वितत्वात् त एव यक्षाः 'तस्मिन्' यज्ञवाटे 'तम्' उपसर्गकारिणं 'जनं' छात्रलोकं 'ताडयन्ति' घ्नन्ति, ततस्तान् कुमारान् भिन्ना–विदारिताः प्रक्रमाद्यक्षप्रहारैर्देहाः–शरीराणि येषां ते भिन्नदेहास्तान् रुधिरं–शोणितं वमतः–उद्गिरतः 'पासित्त'त्ति दृष्ट्वा 'भद्रा' सैव कौशलिकराजदुहिता 'इदं' वक्ष्यमाणं 'आहु'त्ति वचनव्यत्ययेनाह–ब्रूते 'भूयः' पुनरिति सूत्रद्वयार्थः ॥ किं तदित्याह—

गिरिं नहेहिं खणह, अयं दंतेहिं खायह । जायतेयं पायेहिं हणह जे भिक्खुं अवमन्नह ॥ २६ ॥
आसीविसो उग्गतवो महेसी,घोरव्वओ घोरपरक्कमो य। अगणिं व पक्खंद पयंगसेणा,जे भिक्खुं भत्तकाले वहेह
सीसेण एयं सरणं उवेह, समागया सव्वजणेण तुम्हे ।
जइ इच्छह जीवियं वा धणं वा, लोगंपि एसो कुविओ डहिज्जा ॥ २८ ॥

'गिरिं' पर्वतं 'नखैः' कररुहैः 'खनथ' विदारयथ, इह च मुख्यखननक्रियाद्यसम्भवादिववक्षितमन्तरेणाप्युपमार्थो गम्यते, ततश्च खनथेव खनथ, 'अयो' लोहं 'दन्तैः' दशनैः खादथेव खादथ, जाततेजसम्–अग्निं पादैः–चरणैर्हथेव हथ, ताडयथेत्यर्थः, ये वयं किं कुर्मः इत्याह–ये यूयं भिक्षुं प्रक्रमादेनं 'अवमन्नह'त्ति अवमन्यध्वे—अवधीरयथ, अनर्थफलत्वात् भिक्ष्वपमानस्येति भावः, कथमिदमित्याह—आस्यो–दंष्ट्रास्तासु विषमस्येत्यासीविषः–आसीविषलब्धि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२६--२८॥

दीप अनुक्रम [३८५--३८७]

मान्, शापानुग्रहसमर्थ इत्यर्थः, यद्वा आसीविष इव आसीविषः, यथा हि तमत्यन्तमवजानानो मृत्युमेवाप्नोति, एवमेनमपि मुनिमवमन्यमानानामवश्यं भावि मरणमित्याशयः, कुतः पुनरयमेवंविधो ?, यतः–उग्रतपाः प्राग्वत्, 'महेसि'त्ति महान्—बृहन् शेषस्वर्गाद्यपेक्षया मोक्षस्तमिच्छति—अभिलषतीति महदेषी महर्षिर्वा, घोरव्रतो घोरपराक्रमश्च पूर्ववत्, यतश्चैवमतः 'अगणिं व'त्ति अग्निं–ज्वलनं, वाशब्द इवार्थो भिन्नक्रमश्च, ततः 'पक्खंद'त्ति प्रस्कन्दथेव–आक्रामथेव, केव ?–'पतंगसेण'त्ति उपमार्थस्य गम्यमानत्वात्पतङ्गानां–शलभानां सेनेव सेना–महती सन्ततिः पतङ्गसेना तद्वत्, यथा हि असौ तत्र निपतन्त्याशु घातमाप्नोत्येवं भवन्तोऽपीति भावः, ये यूयमनुकम्पितं भिक्षुं भिक्षुकं 'भक्तकाले' भोजनसमये, तत्र दीनादेरवश्यं देयमिति शिष्टसमयो यूयं तु न केवलं न यच्छत किन्तु तत्रापि 'वधह'त्ति विध्यथ–ताडयथ, अयमाशयो—यतोऽयमाशीविषादिविशेषणान्वितो मुनिरतो गिरिनखननादिप्रायमेव यदेनं भक्तकालेऽपि भक्तार्थिनमित्थं विध्यथ । अथ स्वकृत्योपदेशमाह–'शीर्षेण' शिरसा 'एनं' मुनिं 'शरणार्थं' रक्षणार्थमाश्रयमुपेत–अभ्युपगच्छत, किमुक्तं भवति ?–शिरःप्रणामपूर्वकमयमेवास्माकं शरणमिति प्रपद्यध्वं, 'समागताः' सम्मिलिताः 'सर्वजनेन' समस्तलोकेन, सहार्थे तृतीया, 'यूयं' भवन्तो, यदीच्छत—अभिलषत 'जीवितं' प्राणधारणात्मकं धनं वा द्रव्यं, न तस्मिन् कुपिते जीवितव्यादिरक्षाक्षममन्यच्छरणमस्ति, किमित्येवमत आह—'लोकमपि' भुवनमप्येष कुपितः—कुद्धो 'दहेद्' भस्मसात्कुर्यात्, तथा च वाचकः—"कल्पान्तोग्रानलवत्प्रज्वलनं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२६--२८॥

दीप अनुक्रम [३८५--३८७]

तेजसैकतस्तेषाम् ॥१॥" तथा लौकिका अप्याहुः–"न तत् दूरं यदश्वेषु, यवाग्नौ यच्च मारुते । विवे च रुधिरप्राप्ते, साधौ च कृतनिश्चये ॥ १ ॥" इति सूत्रत्रयार्थः ॥ सम्प्रति तत्पतिस्तान् यादृशान् ददर्श दृष्ट्वा च यदचेष्टत तदाह—

अवहेडियपिट्ठिसउत्तमंगे, पसारियाबाहुअकम्मचिट्ठे ।
निब्भेरियच्छे रुहिरं वमंते, उड्ढंमुहे निग्गयजीहनित्ते ॥ २९ ॥
ते पासिया खंडिय कट्ठभूए, विमणो विसन्नो अह माहणो सो ।
इसिं पसाएइ सभारियाओ, हीलं च निंदं च खमाह भंते ! ॥ ३० ॥

'अवे'त्यधो 'हेडिय'त्ति हेठितानि–बाधितानि, किमुक्तं भवति ?–अधोनामितानि, पठन्ति च 'आवडिए'त्ति तत्र सूत्रत्वादवकोटितानि–अधस्तादामोटितानि 'पट्ठि'त्ति पृष्ठं यावत् तदभिमुखं वा सन्ति–शोभनान्युत्तमाङ्गानि येषां ते अवहेठितपृष्ठसदुत्तमाङ्गाः अवकोटितपृष्ठसदुत्तमाङ्गा वा, प्राग्वन्मध्यपदलोपी समासस्तान्, 'पसारियाबाहु-अकम्मचिट्ठ'त्ति प्रसारिता–विरलीकृता बाहवो–भुजा यैर्येषां वा ते तथा ततस्ते च ते अकर्मचेष्टाश्च–अविद्यमान-कर्महेतुव्यापारतया प्रसारितबाह्यकर्मचेष्टास्तान्, यद्वा क्रियन्त इति कर्माणि–अग्नौ समित्प्रक्षेपणादीनि तद्वि-षया चेष्टा कर्मचेष्टेह गृह्यते, 'निब्भेरिय'त्ति प्रसारितान्यक्षीणि–लोचनानि येषां ते तथोक्तास्तान्, रुधिरं वमद्—उद्गिरत् 'उड्ढंमुह'त्ति ऊर्ध्वमुखान्–उन्मुखीभूतवक्त्रान्, अत एव निर्गतानि–निःसृतानि जिह्वाश्च प्रतीता नेत्राणि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२९--३०॥

दीप अनुक्रम [३८८--३८९]

च–नयनानि जिह्वानेत्राणि येषां ते तथा तान्, 'तानि'त्युक्तरूपान् 'दृष्ट्वा' अवलोक्य 'खंडिय'त्ति आर्षत्वात्सुपो लुकि खण्डिकान्–छात्रान् काष्ठभूतान्–अत्यन्तनिश्चेष्टतया काष्ठोपमान् विगतमिव विगतं मनः–चित्तमस्येति विमनाः, विषण्णः–कथममी प्रवणीभविष्यन्तीति चिन्तया व्याकुलितः 'अथे'ति दर्शनानन्तरं 'ब्राह्मणो'द्विजातिः 'स' इति सोमदेवनामा 'ऋषिं' तमेव हरिकेशबलनामानं मुनिं 'प्रसादयति' प्रसत्तिं ग्राहयति, सह भार्यया—पत्न्या तयैव भद्राभिधानया वर्त्तते इति सभार्याकः, कथमित्याह–हीलां च—अवज्ञां निन्दां च—दोषोद्घट्टनं 'खमाह'त्ति क्षमस्व सहस्व 'भंतेति' सूत्रद्वयार्थः ॥ पुनः स प्रसादनामेवाह—

बालेहिँ मूढेहिँ अयाणएहिं, जं हीलिया तस्स खमाह भंते !।
महप्पसाया इसिणो हवंति, न हु मुणी कोवपरा हवंति ॥ ३१ ॥

बालैः—शिशुभिर्मूढैः–कषायमोहनीयोदयाद्विचित्तता गतैः अत एव चाज्ञैः–हिताहितविवेकविकलैः 'यदि'त्युपप्रदर्शने 'हीलिताः' अवज्ञाताः 'तस्स'त्ति सूत्रत्वात् तत् 'खमाह'त्ति क्षमध्वं भदन्त !, अनेनैतदाह—यतोऽमी शिशवो मूढा अज्ञानाश्च तत्किमेषामुपरि कोपेन ?, यतोऽनुकम्पनीया एवामी, उक्तं च केनचिद्–"आत्मद्रुहममर्यादं, मूढमुज्झितसत्पथम् । सुतरामनुकम्पेत, नरकार्चिष्मदिन्धनम् ॥ १ ॥" किं च–महान् प्रसादः–चित्तप्रसत्तिरूपो येषां ते

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३१॥

दीप अनुक्रम [३९०]

महाप्रसादा ऋषयः–साधवो भवन्ति, व्यतिरेकमाह—'न हु'त्ति न पुनर्मुनयो–यतयः 'कोपपराः' क्रोधवशगा भवन्ति, भिन्नवाक्यत्वाच्च मुनिग्रहणमदुष्टमेवेति सूत्रार्थः ॥ मुनिराह—

पुव्विं च इण्हिं च अणागयं च, मणप्पओसो न मे अत्थि कोई ।
जक्खा हु वेयावडियं करिंति, तम्हा हु एए निहया कुमारा ॥ ३२ ॥

'पुव्विं च'त्ति पूर्वं च पुरा इदानीं च–अस्मिन् काले 'अणागयं चे'ति अनागते च भविष्यत्काले मनःप्रद्वेषः–चित्तानुशयलक्षणो न 'मे' ममास्तीत्युपलक्षणत्वादासीद्भविष्यति च, 'कोऽपी'त्यल्पोऽपि, इह च भाविनि प्रमाणाभावेऽपि 'अनागतं प्रत्याचक्ष' इति वचनादनागतस्यापि तस्य निपिद्धत्वाच्छ्रुतज्ञानबलतः कालत्रयपरिज्ञानसम्भवाच्चैवमभिधानं, पठन्ति च 'पुव्विं च पच्छा व तहेव मज्झे' तत्र च पूर्वं वा पश्चाद्वेति विहेठनकालापेक्षं तथैव मध्ये विहेठनकाल एव, न च कुमारावहेठनादिदर्शनात्प्रत्यक्षविरुद्धता शङ्कनीया, 'यक्षा' देवविशेषा 'हु'रिति यस्माद्वैयावृत्त्यं–प्रत्यनीकप्रतिघातरूपं 'कुर्वन्ति' विदधति, 'तम्ह'त्ति तस्मात् हुरवधारणे ततस्तस्मादेव हेतोरेते–पुरोवर्त्तिनो नितरां हताः–ताडिता निहताः कुमाराः, न तु मम मनःप्रद्वेषोऽत्र हेतुरिति भाव इति सूत्रार्थः ॥ सम्प्रति तद्दुष्टचेतस उपाध्यायप्रमुखा इदमाहुः—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३३॥

दीप अनुक्रम [३९२]

अत्थं च धम्मं च वियाणमाणा, तुब्भे नवि कुप्पह भूइपन्ना ।
तुब्भं तु पाए सरणं उवेमो, समागया सव्वजणेण अम्हे ॥ ३३ ॥

अर्यत इत्यर्थो–ज्ञेयत्वात्सर्वमेव वस्तु, इह तु प्रक्रमाच्छुभाशुभकर्म्मविभागो रागद्वेषविपाको वा परिगृह्यते, यद्वा अर्थः–अभिधेयः स चार्थाच्छास्त्राणामेव तं, चशब्दस्तद्वतानेकभेदसंसूचकः, धर्मः–सदाचारो दशविधो वा यतिधर्म्मस्तं च 'वियाणमाणे'त्ति विशेषेण विविधं वा जानन्तः–आगच्छन्तो यूयं 'नापि' नैव कुप्यथ—क्रोधं कुरुध्वं, भूतिप्रज्ञा इति, भूतिर्मङ्गलं वृद्धी रक्षा चेति वृद्धाः, प्रज्ञायतेऽनया वस्तुतत्त्वमिति प्रज्ञा, ततश्च भूतिः–मङ्गलं सर्वमङ्गलोत्तमत्वेन वृद्धिर्वा वृद्धिविशिष्टत्वेन रक्षा वा प्राणिरक्षकत्वेन प्रज्ञा–बुद्धिरस्येति भूतिप्रज्ञः, अतश्च 'तुब्भं तु'त्ति तुशब्दस्यैवकारार्थत्वात् युष्माकमेव पादौ–चरणौ शरणमुपेमः–उपगच्छामः समागताः–मिलिताः, केन सह ?–सर्वजनेन, वयमिति सूत्रार्थः ॥ किं च—

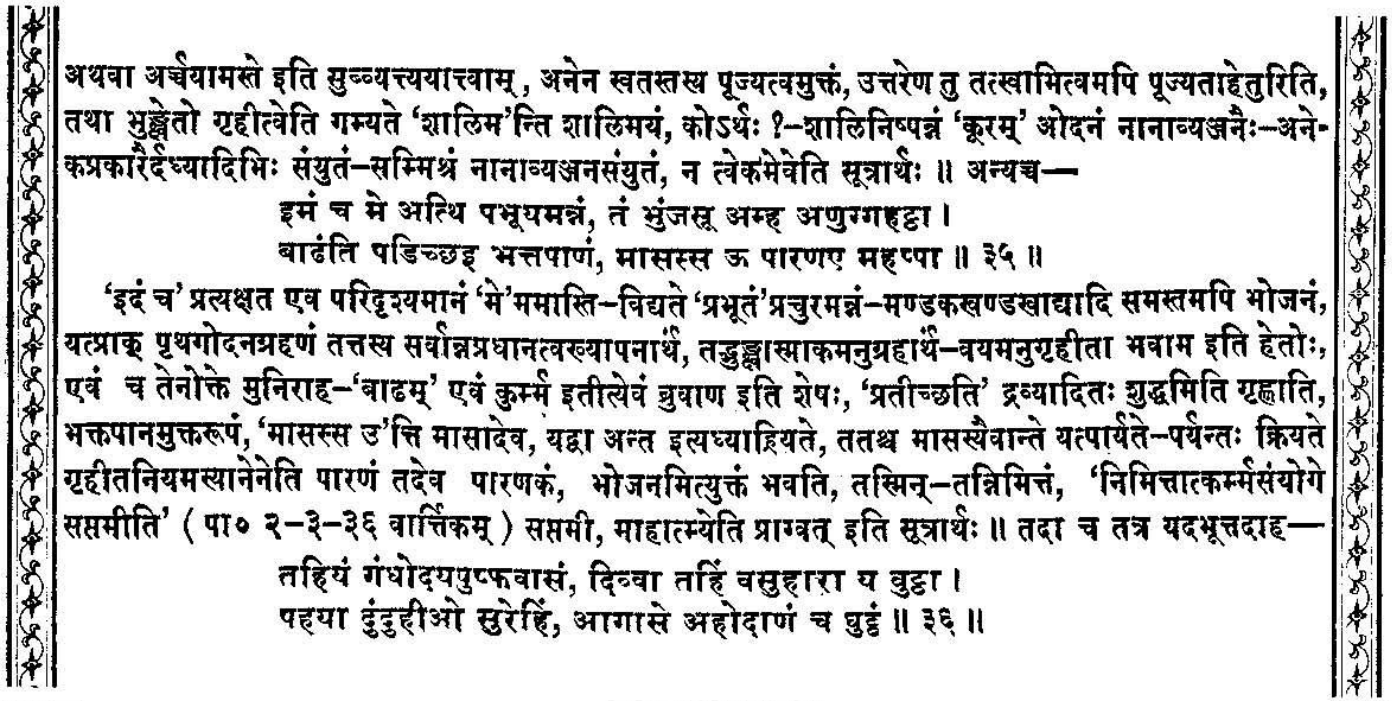
अच्चेमु ते महाभागा !, न ते किंचन नाच्चिमो । भुंजाहि सालिमं कूरं, नाणावंजणसंजुयं ॥ ३४ ॥

'अर्चयामः' पूजयामस्ते–तव सम्बन्धि सर्वमपीति गम्यते, प्रविश पिण्डिमित्युक्ते यथा गृहमिति भक्षयेति च, महाभाग ! अतिशयाचिन्त्यशक्तियुक्तत्वेनेति, नैव 'ते' तव किञ्चिदिति चरणरेणवादिकमपि नार्चयामो-न पूजयामो, अपि तु सर्वमर्चयामः, अस्य च पूर्वेणैव गतार्थत्वे पुनरभिधानमन्वयव्यतिरेकाभ्यामुक्तोऽर्थः सुखावगमो भवतीतिकृत्वा,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||३५||

दीप अनुक्रम [३९४]



अथवा अर्चयामस्ते इति सुव्यत्त्ययात्त्वाम्, अनेन स्वतस्तस्य पूज्यत्वमुक्तं, उत्तरेण तु तत्स्वामित्वमपि पूज्यताहेतुरिति, तथा भुङ्क्षेतो गृहीत्वेति गम्यते 'शालिम'न्ति शालिमयं, कोऽर्थः ?–शालिनिष्पन्नं 'कूरम्' ओदनं नानाव्यञ्जनैः–अनेकप्रकारैर्दध्यादिभिः संयुतं–सम्मिश्रं नानाव्यञ्जनसंयुतं, न त्वेकमेवेति सूत्रार्थः ॥ अन्यच—

इमं च मे अत्थि पभूयमन्नं, तं भुंजसू अम्ह अणुग्गहट्ठा ।
बाढंति पडिच्छइ भत्तपाणं, मासस्स ऊ पारणए महप्पा ॥ ३५ ॥

'इदं च' प्रत्यक्षत एव परिदृश्यमानं 'मे'ममास्ति–विद्यते 'प्रभूतं'प्रचुरमन्नं–मण्डकखण्डखाद्यादि समस्तमपि भोजनं, यत्प्राक् पृथगोदनग्रहणं तत्तस्य सर्वान्नप्रधानत्वख्यापनार्थं, तद्भुङ्क्ष्वास्माकमनुग्रहार्थं–वयमनुगृहीता भवाम इति हेतोः, एवं च तेनोक्ते मुनिराह–'बाढम्' एवं कुर्म्म इतीत्येवं ब्रुवाण इति शेषः, 'प्रतीच्छति' द्रव्यादितः शुद्धमिति गृह्णाति, भक्तपानमुक्तरूपं, 'मासस्स उ'त्ति मासादेव, यद्वा अन्त इत्यध्याहियते, ततश्च मासस्यैवान्ते यत्पार्यते–पर्यन्तः क्रियते गृहीतनियमस्थानेनेति पारणं तदेव पारणकं, भोजनमित्युक्तं भवति, तस्मिन्–तन्निमित्तं, 'निमित्तात्कर्म्मसंयोगे सप्तमीति' (पा० २–३–३६ वार्त्तिकम्) सप्तमी, माहात्म्येति प्राग्वत् इति सूत्रार्थः ॥ तदा च तत्र यदभूत्तदाह—

तहियं गंधोदयपुप्फवासं, दिव्वा तहिं वसुहारा य वुट्ठा ।
पहया दुंदुहीओ सुरेहिं, आगासे अहोदाणं च घुट्ठं ॥ ३६ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३६॥

दीप अनुक्रम [३९५]

'तहियं'ति तस्मिन् मुनौ भक्तपानं प्रतीच्छति यज्ञवाटे वा गन्धः–आमोदस्तत्प्रधानमुदकं–जलं गन्धोदकं तच्च पुष्पाणि च–कुसुमानि तेषां वर्षं–वर्षणं गन्धोदकपुष्पवर्षं, सुरैरिति सम्बधात् कृतमिति गम्यते, दिव्या–श्रेष्ठा यदिवा दिवि—गगने भवा दिव्या, 'तहिं'ति तस्मिन्नेव नान्यत्र, अनेन कथमियतामेकत्र कल्याणानां मीलक इत्यन्यत्रैवान्यतरत्कल्याणान्तरं भविष्यतीत्याशङ्का निराकृता, वसु—द्रव्यं तस्य धारा—सततपातजनिता सन्ततिर्वसुधारा सा च 'वृष्टे'ति पातिता, सुरैरित्यत्रापि सम्बध्यते, तथा प्रकर्षेण हताः—ताडिताः प्रहताः, के ते ?—'दुन्दुभयो' देवानकाः, उपलक्षणत्वाच्छेषातोद्यानि च, कैः ?–'सुरैः' देवैः, तथा तैरेव 'आकाशे' नभसि 'अहो' इति विस्मये, विस्मयनीयमिदं दानं, कोऽन्यः किलैवं शक्नोति दातुं ?, एवं दत्तं सुदत्तमिति च 'घुष्टं' संशब्दितमिति सूत्रार्थः ॥ तेऽपि ब्राह्मणा विस्मितमनस इदमाहुः—

सक्खं खु दीसइ तवोविसेसो, न दीसई जाइविसेस कोई ।
सोवागपुत्तं हरिएससाहुं, जस्सेरिसा इड्ढि महाणुभागा ॥ ३७ ॥

'साक्षात्' प्रत्यक्षं 'खु'रिति निश्चितं अवधारणे वा ततः साक्षादेव 'दृश्यते' अवलोक्यते, कोऽसौ ?–तपो–लोकप्रसिद्धा व्रतमुपवासादिर्वा तस्य विशेषो–विशिष्टत्वं माहात्म्यमितियावत्तपोविशेषो, 'न' नैव दृश्यते 'जातिविशेषो' जातिमाहात्म्यलक्षणः 'कोऽपी'ति स्वल्पोऽपि, किमित्येवमत आह—यतः श्वपाकपुत्रः–चाण्डालसुतो हरि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||३७||

दीप अनुक्रम [३९६]

केशश्चासौ मातङ्गत्वेन प्रसिद्धत्वात् साधुश्च यतित्वाद्धरिकेशसाधुः, पठ्यते च–'सोवागपुत्तं हरिएससाहु'न्ति, अत्र च पश्यतेति शेषः, कदाचिदन्य एव कश्चिदत आह–यस्येदृशी–दृश्यमानरूपा ऋद्धिः–देवसन्निधानात्मिका सम्पत् महानुभागा—सातिशयमाहात्म्या, जातिविशेषे हि सति सर्वोत्तमत्वाद्ब्राह्मणजातेस्तद्गतामस्माकमेव देवा वैयावृत्त्यं कुर्युरिति भाव इति सूत्रार्थः ॥ साम्प्रतं स एव मुनिस्तानुपशान्तमिथ्यात्वमोहनीयोदयानिव पश्यन्निदमाह—

किं माहणा ! जोइसमारभंता, उदएण सोहिं बहिया विमग्गहा ?।
जं मग्गहा बाहिरियं विसोहिं, न तं सुदिट्ठं कुसला वयंति ॥ ३८ ॥

'कि'मिति क्षेपे, ततो न युक्तमिदं, यत् 'माहना' ब्राह्मणा ! 'ज्योतिः' अग्निं 'समारभमाणाः' प्रस्तावाद्यागकरणतः प्रवर्त्तमानाः, यागं कुर्वन्त इत्यर्थः, 'उदकेन' जलेन 'सोहिं'ति शुद्धिं निर्म्मलतां 'बहिय'त्ति बाह्यां, कोऽर्थो ?–बाह्यहेतुकां, यागं हि समारभमाणैर्जलेन या शुद्धिर्मार्ग्यते तत्र यागस्नाने एव तत्त्वतो हेतुत्वेनेष्टे, ते च भवदभिमते बाह्ये एवेति 'विमार्गयथ' विशेषेणान्वेषयथ, किमेवमुपदिश्यत इत्याह—यद्यूयं मार्ग्गयथ बाह्यां—बाह्यहेतुकां विशुद्धिं, न तत् सुदृष्टं–सुष्ठु प्रेक्षितं 'कुशलाः' तत्त्वविचारं प्रति निपुणा 'वदन्ति' प्रतिपादयन्तीति सूत्रार्थः ॥ यथा चैतत् सुदृष्टं न भवति तथा स्वत एवाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३९॥

दीप अनुक्रम [३९८]

कुसं च जूवं तणकट्ठमग्गिं, सायं च पायं उदयं फुसंता।
पाणाइं भूयाइं विहेडयंता, भुज्जोऽवि मंदा! पकरेह पावं ॥ ३९ ॥

'कुशं च' दर्भं च 'यूपं' प्रतीतमेव तृणं च–वीरणादि काष्ठं–समिदादि तृणकाष्ठम् अग्निं–प्रतीतं, सर्वत्र परिगृह्णन्त इति शेषः, 'सायं' सन्ध्यायां, चशब्दो भिन्नक्रमस्ततः 'पायं'ति प्रातश्च प्रभाते उदकं—जलं 'स्पृशन्तः' आचमनादिषु परामृशन्तः 'पाणाइं'ति प्राणयोगात् प्राणिनो यद्वा प्रकर्षेणानन्तीति—वसन्तीति प्राणाः—द्वीन्द्रियादयः, सम्भवन्ति हि जले पूतरकादिरूपास्त इति, 'भूयाइं' इति भूतान्–तरून् 'भूताश्च तरवः स्मृता' इति वचनात्, पृथिव्याद्येकेन्द्रियोपलक्षणं चैतत् 'विहेडयंति'त्ति विहेठयन्तो—विशेषेण विविधं वा बाधमानाः विनाशयन्त इत्यर्थः, किमित्याह–'भूयोऽपि' पुनरपि, न केवलं पुरा किन्तु विशुद्धिकालेऽपि जलानलादिजीवोपमर्दतो 'मन्दाः' जडाः 'प्रकुरुथ' प्रकर्षेणोपचिनुथ यूयं, किं तत्?–पापम्–अशुभकर्म्म, अयमाशयः–कुशला हि कर्म्ममलविलयात्मिकां तात्त्विकीमेव शुद्धिं मन्यन्ते, भवदभिमतयागस्नाने च यूपादिपरिग्रहजलस्पर्शाविनाभावित्वेन भूतोपमर्दहेतुतया प्रत्युत कर्म्ममलोपचयनिबन्धने एवेति नातः तत्सम्भव इति कथं तद्धेतुकशुद्धिमार्गेण सुदृष्टं ते वदेयुः?, तथा च वाचकः– "शौचमाध्यात्मिकं त्यक्त्वा, भावशुद्धयात्मकं शुभम्। जलादिशौचं यत्रेष्टं, मूढविस्मापकं हि तदि ॥१॥" ति सूत्रार्थः ॥ इत्थं तद्वचनतः समुत्पन्नशङ्कास्ते यागं प्रति तावदेवं पप्रच्छुः—

॥३७०॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४०॥

दीप अनुक्रम [३९९]

कहं चरे भिक्खु ! वयं जयामो ?, पावाइं कम्माइं पणुल्लयामो ।
अक्खाहि णे संजय जक्खपूइआ, कहं सुजट्ठं कुसला वयंति ? ॥ ४० ॥

'कथं' केन प्रकारेण 'चरि'त्ति 'विभाषा कथमि लिङ्' च इति(पा०३-३-१४३)लिङि वचनव्यत्यये वचनव्यत्ययाच्चरेमहि–यागार्थं प्रवर्त्तेमहि, हे भिक्षो !–मुने ! वयमित्यात्मनिर्देशः, तथा 'यजामो' यागं कुर्म्मः, कथमिति योगः ?, पापानि –अशुभानि कर्म्माणि पुरोपचितानिद्यारूपाणि 'पणुल्लयामो'त्ति प्रणुदामः प्रेरयामो, येनेति गम्यते, 'आख्याहि' कथय 'नः' अस्माकं 'संयतः' पापस्थानेभ्यः सम्यगुपरतः 'यक्षपूजित' यक्षार्चित !, किमुक्तं भवति ?–यो ह्यस्माद्विदितः कर्म्मप्रणोदनोपायत्वेन यागः स युष्माभिर्दूषित इति भवन्त एवापरं यागमुपदिशन्तु, कदाचिदविशिष्टमेव यजनमुपदिशेदित्याशङ्क्याह–'कथं' केन प्रकारेण 'सिट्ठं' शोभनं यजनं 'कुशला' उक्तरूपा 'वदन्ति' प्रतिपादयन्ति, 'न तं 'सुदिट्ठं कुसला वयंति'त्ति कुशलमुखेनैव मुनिना दूषितमिति तैरपि तथैव पृष्टमिति सूत्रार्थः ॥ मुनिराह—

छज्जीवकाए असमारभंता, मोसं अदत्तं च असेवमाणा ।
परिग्गहं इत्थिउ माण मायं, एयं परिन्नाय चरंति दंता ॥ ४१ ॥

षड् जीवकायान्–पृथिव्यादीन् 'असमारभमाणा' अनुपमर्दयन्तः 'मोसं'ति मृषा अलीकभाषणं 'अदत्तं चे'त्यदत्तादानं चानासेवमानाः–अनाचरन्तः परिग्रहं–मूर्च्छां स्त्रियो–योषितो 'माण'त्ति मानम्–अहङ्कारं मायां–परव-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४१॥

दीप अनुक्रम [४००]

ञनात्मिकां तत्सहचारित्वात्कोपलोभौ च, 'एतद्' अनन्तरोक्तं परिग्रहादि 'परिज्ञाय' ज्ञपरिज्ञया सर्वप्रकारं ज्ञात्वा प्रत्याख्यानपरिज्ञया च प्रत्याख्याय 'चरेज्ज दन्त'त्ति वचनव्यत्ययाच्चरेयुर्योगे प्रवर्त्तेरन्, भवन्त इति गम्यते, पठन्ति च–'चरन्ति दंत'त्ति अत्र च यत एवं दान्ताश्चरन्त्यतो भवद्भिरप्येवं चरितव्यमिति भाव इति सूत्रार्थः ॥ प्रथमप्रश्नप्रतिवचनमुक्तं, शेषप्रश्नप्रतिवचनमाह—

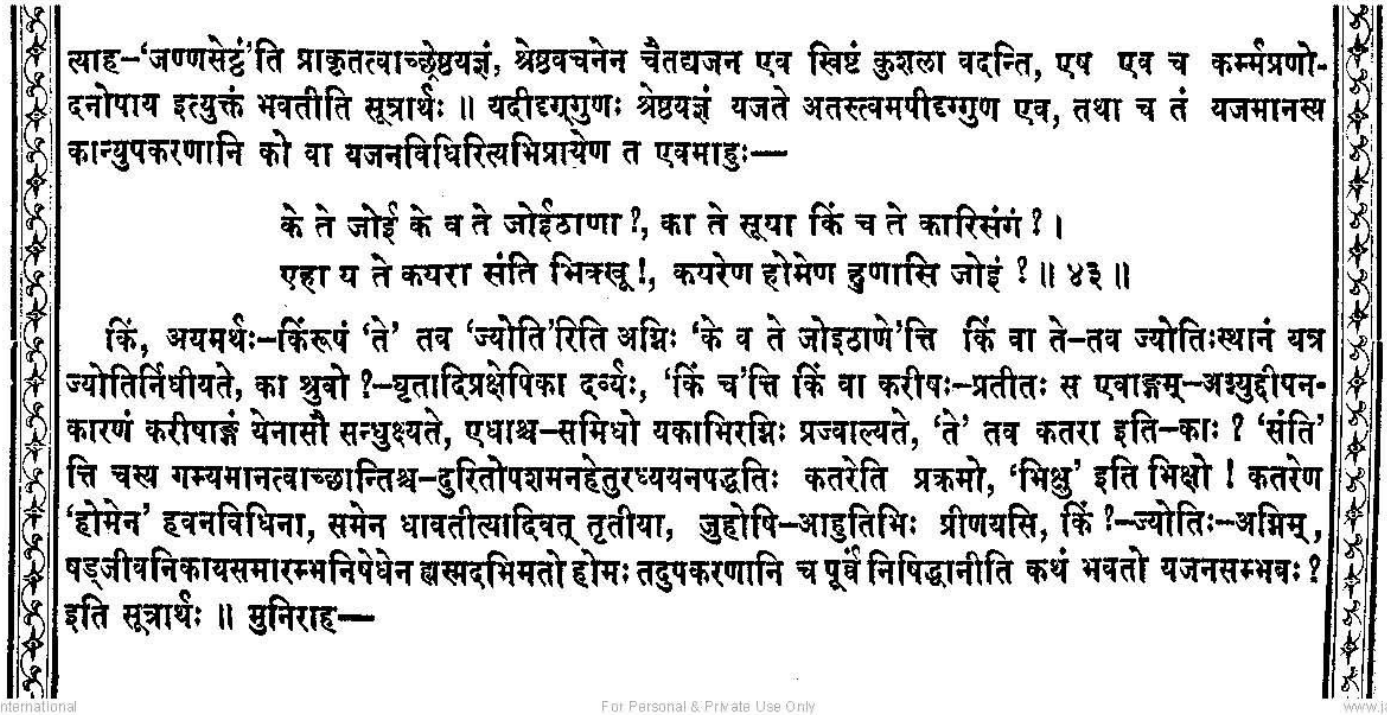
सुसंवुडा पंचहिँ संवरेहिं, इह जीवियं अणवकंखमाणो ।
वोसट्ठकाओ सुइचत्तदेहो, महाजयं जयई जन्नसिट्ठं ॥ ४२ ॥

सुष्ठु संवृतः—स्थगितसमस्ताश्रवद्वारः सुसंवृतः, कैः ?—पञ्चभिः—पञ्चसङ्ख्यैः संवरैः–प्राणातिपातविरत्यादिव्रतैः 'इहे' त्यस्मिन् मनुष्यजन्मनि, उपलक्षणत्वात्परत्र च 'जीवितं' प्रस्तावादसंयमजीवितम् 'अनवकाङ्क्षन्' अनिच्छन्, यद्वा अपेर्गम्यमानत्वाज्जीवितमपि–आयुरप्यास्तामन्यद्धनादि, अनवकाङ्क्षन्, यत्र हि व्रतबाधा तत्रासौ जीवितमपि न गणयति, अत एव व्युत्सृष्टो–विविधैरुपायैर्विशेषेण वा परीषहोपसर्गसहिष्णुतालक्षणेनोत्सृष्टः–त्यक्तः कायः—शरीरमनेनेति व्युत्सृष्टकायः, शुचिः—अकलुषव्रतः स चासौ त्यक्तदेहश्च–अत्यन्तनिष्प्रतिकर्म्मतया शुचित्यक्तदेहो महान् जयः–कर्म्मशत्रुपराभवनलक्षणो यस्मिन् यज्ञश्रेष्ठेऽसौ महाजयस्तं, क्रियाविशेषणं वा महाजयं यथा भवत्येवं यजते यतिरिति गम्यते, ततो भवन्तोऽप्येवमेव यजन्तामिति भावः, तिङ्व्यचनव्यत्ययेन वा 'जयइ'त्ति यजतां, कमि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४२॥

दीप अनुक्रम [४०१]



त्याह–'जण्णसेट्ठं'ति प्राकृतत्वाच्छ्रेष्ठयज्ञं, श्रेष्ठवचनेन चैतद्यजन एव स्विष्टं कुशला वदन्ति, एष एव च कर्म्मप्रणोदनोपाय इत्युक्तं भवतीति सूत्रार्थः ॥ यदीदृग्गुणः श्रेष्ठयज्ञं यजते अतस्त्वमपीदृग्गुण एव, तथा च तं यजमानस्य कान्युपकरणानि को वा यजनविधिरित्यभिप्रायेण त एवमाहुः—

के ते जोई के व ते जोईठाणा ?, का ते सूया किं च ते कारिसंगं ? ।
एहा य ते कयरा संति भिक्खू !, कयरेण होमेण हुणासि जोइं ? ॥ ४३ ॥

किं, अयमर्थः–किंरूपं 'ते' तव 'ज्योति'रिति अग्निः 'के व ते जोइठाणे'त्ति किं वा ते–तव ज्योतिःस्थानं यत्र ज्योतिर्निधीयते, का श्रुवो ?–घृतादिप्रक्षेपिका दर्व्यः, 'किं च'त्ति किं वा करीषः–प्रतीतः स एवाङ्गम्–अग्न्युद्दीपनकारणं करीषाङ्गं येनासौ सन्धुक्ष्यते, एधाश्च–समिधो यकाभिरग्निः प्रज्वाल्यते, 'ते' तव कतरा इति–काः ? 'संति'त्ति चास्य गम्यमानत्वाच्छान्तिश्च–दुरितोपशमनहेतुरध्ययनपद्धतिः कतरेति प्रक्रमो, 'भिक्षु' इति भिक्षो ! कतरेण 'होमेन' हवनविधिना, समेन धावतीत्यादिवत् तृतीया, जुहोषि–आहुतिभिः प्रीणयसि, किं ?–ज्योतिः–अग्निम्, षड्जीवनिकायसमारम्भनिषेधेन ह्यस्मदभिमतो होमः तदुपकरणानि च पूर्वं निषिद्धानीति कथं भवतो यजनसम्भवः ? इति सूत्रार्थः ॥ मुनिराह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४४॥

दीप अनुक्रम [४०२]

तवो जोई जीवो जोइठाणं, जोगा सुया सरीरं कारिसंगं ।
कम्म एहा संजमजोग संती, होमं हुणामी इसिणं पसत्थं ॥ ४४ ॥

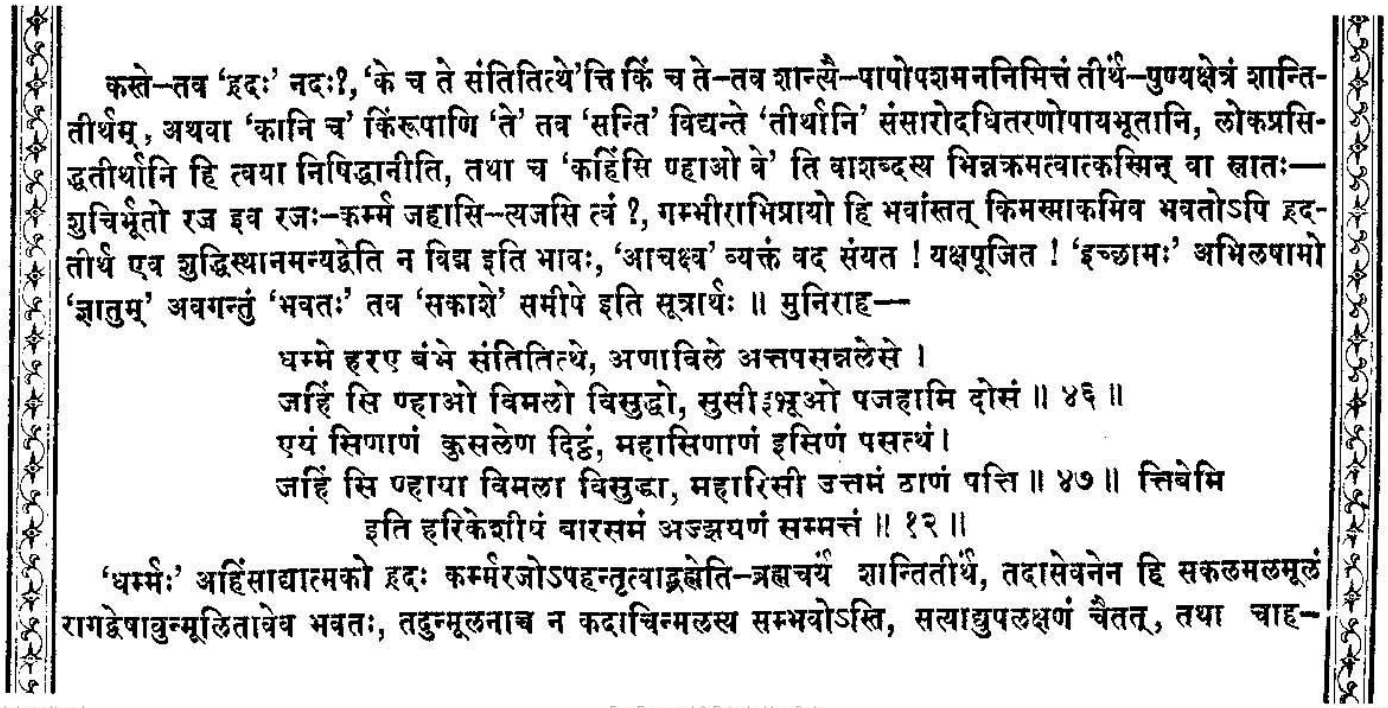
'तपो' बाह्याभ्यन्तरभेदभिन्नं 'ज्योतिः' अग्निः, यथा हि ज्योतिरिन्धनानि भस्मीकरोत्येवं तपोऽपि भावेन्धनानि—कर्म्माणि, जीवो–जन्तुर्ज्योतिःस्थानं, तपोज्योतिषस्तदाश्रयत्वात्, युज्यन्ते–सम्बन्ध्यन्ते स्वकर्म्मणेति योगाः–मनोवाक्कायाः शुभाः, ते हि शुभव्यापाराः स्नेहस्थानीयाः, तपोज्योतिषो ज्वलनहेतुभूताः तत्र संस्थाप्यन्त इति, शरीरं करीषाङ्गं, तेनैव हि तपोज्योतिरुद्दीप्यते, तद्भावभावित्वात्तस्य, 'कर्म' उक्तरूपं एधास्तस्यैव तपसा भस्मीभावनयनात्, 'संजमजोग'त्ति संयमयोगाः–संयमव्यापाराः शान्तिः सर्वप्राण्युपद्रवापहारित्वात्तेषां, तथा 'होम'न्ति होमेन जुहोति तपोज्योतिरिति गम्यते, ऋषीणां–मुनीनां सम्बन्धिनां 'पसत्थं'ति प्रशस्तेन जीवोपघातरहितत्वेन विवेकिभिः श्लाघितेन सम्यक्चारित्रेणेति भावः, अनेन च कतरेण होमेन जुहोषि ज्योतिरिति प्रत्युक्तमिति सूत्रार्थः ॥ तदेतेन 'किं माहना जोइसमारहंता' इत्यादिना लोकप्रसिद्धयज्ञानां स्नानस्य च निषिद्धत्वाद्यज्ञस्वरूपं तैः पृष्टं कथितं च मुनिना ॥ इदानीं स्नानस्वरूपं पिपृच्छिषव इदमाहुः—

के ते हरए के य ते संतितित्थे ?, कहंसि पहाओ व रयं जहासि ?।
आयक्ख णे संजय जक्खपूइया, ! इच्छामु नाउं भवओ सगासे ॥ ४५ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||४५||

दीप अनुक्रम [४०३]



कस्ते–तव 'ह्रदः' नदः?, 'के च ते संतितित्थे'त्ति किं च ते–तव शान्त्यै–पापोपशमननिमित्तं तीर्थं–पुण्यक्षेत्रं शान्तितीर्थम्, अथवा 'कानि च' किंरूपाणि 'ते' तव 'सन्ति' विद्यन्ते 'तीर्थानि' संसारोदधितरणोपायभूतानि, लोकप्रसिद्धतीर्थानि हि त्वया निषिद्धानीति, तथा च 'कहिंसि ण्हाओ वे' ति वाशब्दस्य भिन्नक्रमत्वात्कस्मिन् वा स्नातः—शुचिर्भूतो रज इव रजः–कर्म्म जहासि–त्यजसि त्वं ?, गम्भीराभिप्रायो हि भवांस्तत् किमस्माकमिव भवतोऽपि ह्रदतीर्थ एव शुद्धिस्थानमन्यद्वेति न विद्म इति भावः, 'आचक्ष्व' व्यक्तं वद संयत ! यक्षपूजित ! 'इच्छामः' अभिलषामो 'ज्ञातुम्' अवगन्तुं 'भवतः' तव 'सकाशे' समीपे इति सूत्रार्थः ॥ मुनिराह—

धम्मे हरए बंभे संतितित्थे, अणाविले अत्तपसन्नलेसे ।
जहिं सि ण्हाओ विमलो विसुद्धो, सुसीइभूओ पजहामि दोसं ॥ ४६ ॥
एयं सिणाणं कुसलेण दिट्ठं, महासिणाणं इसिणं पसत्थं ।
जहिं सि ण्हाया विमला विसुद्धा, महारिसी उत्तमं ठाणं पत्ति ॥ ४७ ॥ त्तिबेमि
इति हरिकेशीयं बारसमं अज्झयणं सम्मत्तं ॥ १२ ॥

'धर्म्मः' अहिंसाद्यात्मको ह्रदः कर्म्मरजोऽपहन्तृत्वाद्ब्रह्मेति–ब्रह्मचर्यं शान्तितीर्थं, तदासेवनेन हि सकलमलमूलं रागद्वेषावुन्मूलितावेव भवतः, तदुन्मूलनाच्च न कदाचिन्मलस्य सम्भवोऽस्ति, सत्याद्युपलक्षणं चैतत्, तथा चाह–

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||४६--४७||

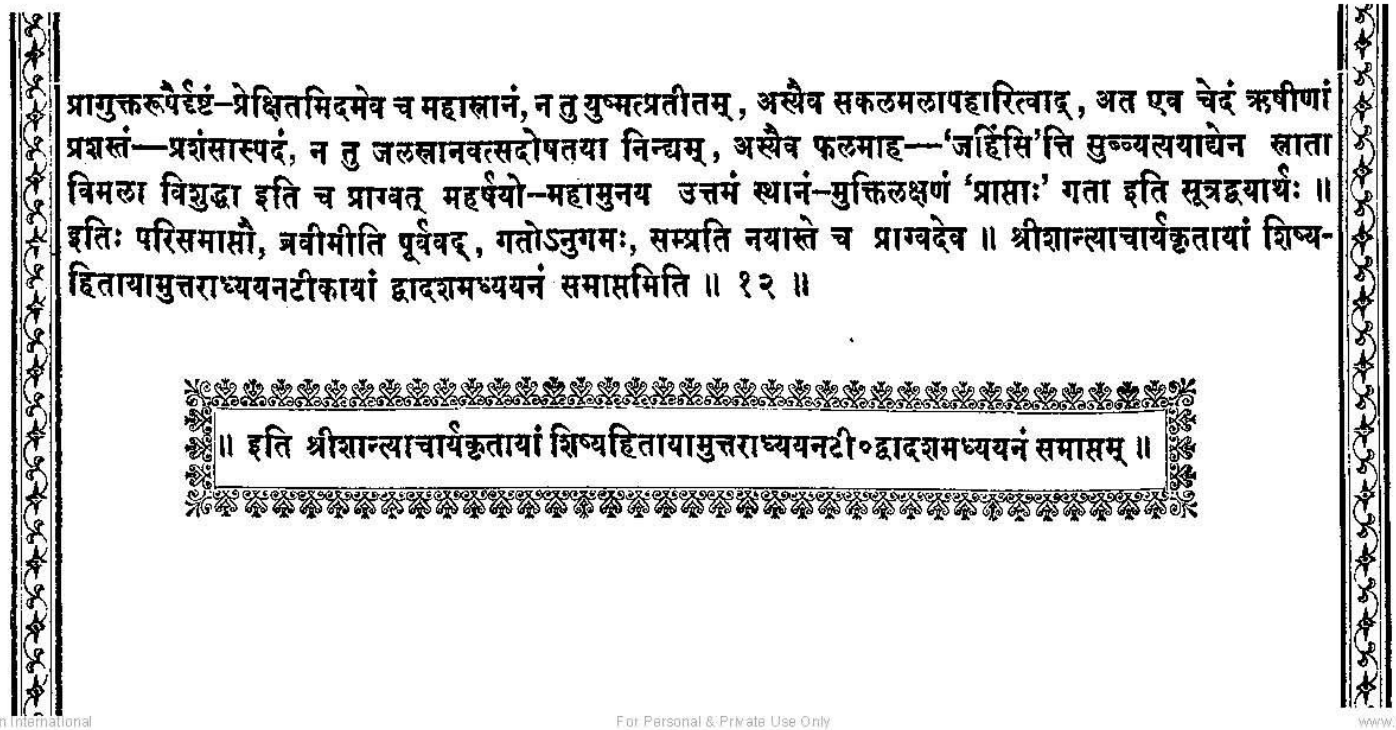
दीप अनुक्रम [४०४--४०५]

"ब्रह्मचर्येण सत्येन, तपसा संयमेन च । मातङ्गर्षिर्गतः शुद्धिं, न शुद्धिस्तीर्थयात्रया ॥१॥" अथवा 'ब्रह्मे'ति ब्रह्मचर्यवन्तो मतुब्लोपादभेदोपचाराद्वा साधव उच्यन्ते, सुब्व्यत्ययाच्चैकवचनं, 'संति' विद्यन्ते तीर्थानि ममेति गम्यते, उक्तं हि–"साधूनां दर्शनं श्रेष्ठं, तीर्थभूता हि साधवः । तीर्थं पुनाति कालेन, सद्यः साधुसमागमः ॥ १ ॥" किं च–भवत्प्रतीततीर्थानि प्राण्युपमर्दहेतुतया प्रत्युत मलोपचयनिमित्तानीति कुतस्तेषां शुद्धिहेतुता ?, तथा चोक्तम्–"कुर्याद्वर्षसहस्रं तु, अहन्यहनि मज्जनम् । सागरेणापि कृत्स्नेन, वधको नैव शुद्धयति ॥ १ ॥" ह्रदशान्तितीर्थे एव विशिनष्टि–'अनाविले' मिथ्यात्वगुप्तिविराधनादिभिरकलुषे अनाविलत्वादेवात्मनो–जीवस्य प्रसन्ना–मनागप्यकलुषा पीताद्यन्यतरा लेश्या यस्मिंस्तदात्मप्रसन्नलेश्यं तस्मिन्, अथवा आप्ता–प्राणिनामिह परत्र च हिता प्राप्ता वा तैरेव प्रसन्नलेश्या–उक्तरूपा यस्मिंस्तदाप्तप्रसन्नलेश्यं तस्मिन्नेवंविधे धर्म्महृदे, ब्रह्माख्यशान्तितीर्थे च, यदा ब्रह्मशब्देन ब्रह्मचर्यवन्त उच्यन्ते तत्पक्षे वचनविपरिणामेन विशेषणद्वयं व्याख्येयं, 'जहिंसि'त्ति यत्रास्मि स्नात इव स्नातः–अत्यन्तशुद्धिभवनाद्विमलो–भावमलरहितोऽत एवाति(ब)विशुद्धो–गतकलङ्कः, 'सुसीतीभूओ'त्ति सुशीतीभूतो रागाद्युत्पत्तिविरहतः सुष्ठु शैत्यं प्राप्तः, पठ्यते च–'सुसीलभूओ'त्ति सुष्ठु–शोभनं शीलं–समाधानं चारित्रं वा भूतः–प्राप्तः सुशीलभूतः 'प्रजहामि' प्रकर्षेण त्यजामि दूषयति—विशुद्धमप्यात्मानं विकृतिं नयतीति दोषः–कर्म्म तं, अनेनैतदाह—ममापि ह्रदतीर्थे एव शुद्धिस्थानं परमेवंविधे एवेति, निगमयितुमाह–'एतदि'त्यनन्तरमुक्तं 'स्नानं' रजोहीनं 'कुशलैः'

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||४६--४७||

दीप अनुक्रम [४०४--४०५]



प्रागुक्तरूपैर्दृष्टं–प्रेक्षितमिदमेव च महास्नानं, न तु युष्मत्प्रतीतम्, अस्यैव सकलमलापहारित्वाद्, अत एव चेदं ऋषीणां प्रशस्तं—प्रशंसास्पदं, न तु जलस्नानवत्सदोषतया निन्द्यम्, अस्यैव फलमाह—'जहिंसि'त्ति सुब्व्यत्ययाद्येन स्नाता विमला विशुद्धा इति च प्राग्वत् महर्षयो–महामुनय उत्तमं स्थानं–मुक्तिलक्षणं 'प्राप्ताः' गता इति सूत्रद्वयार्थः ॥ इतिः परिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववद्, गतोऽनुगमः, सम्प्रति नयास्ते च प्राग्वदेव ॥ श्रीशान्त्याचार्यकृतायां शिष्यहितायामुत्तराध्ययनटीकायां द्वादशमध्ययनं समाप्तमिति ॥ १२ ॥

॥ इति श्रीशान्त्याचार्यकृतायां शिष्यहितायामुत्तराध्ययनटी०द्वादशमध्ययनं समाप्तम् ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्र अध्ययनं- १२ परिसमाप्तं

प्रत सूत्रांक ॥४६--४७॥

दीप अनुक्रम [४०४--४०५]

अथ त्रयोदशाध्ययनम् ।

व्याख्यातं हरिकेशीयं नाम द्वादशमध्ययनम्, अधुना त्रयोदशममारभ्यते, अस्य चायमभिसंबन्धः—इहानन्तराध्ययने श्रुतवत्तपस्यपि यत्नो विधेय इति ख्यापयितुं तपःसमृद्धिरभिहिता, इह तु तत्प्राप्तावपि निदानं परिहर्त्तव्यमिति दर्शयितुं यथा तत् महापायहेतुस्तथा चित्रसंभूतोदाहरणेन निदर्श्यत इति, अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्याध्ययनस्यानुयोगद्वारचतुष्टयचर्चा प्राग्वद्यावन्नामनिष्पन्ननिक्षेपे चित्रसंभूतीयमिति नाम, अतश्चित्रसंभूतनिक्षेपाभिधानायाह निर्युक्तिकृत्—

चित्ते संभूअंमि अ निक्खेवो चउक्कओ दुहा दव्वे । आगमनोआगमओ नोआगमओ अ सो तिविहो ॥३३०
जाणगसरीरभविए तव्वतिरित्ते य सो पुणो तिविहो । एगभविअ बद्धाऊ अभिमुहओ नामगोए य ॥३३१॥
चित्तेसंभूआउं वेअंतो भावओ अ नायव्वो । तत्तो समुट्ठिअमिणं अज्झयणं चित्तसंभूयं ॥ ३३२ ॥

गाथात्रयं स्पष्टमेव, नवरं 'चित्तेसंभूयाउं'ति एकारोऽलाक्षणिकः, 'ततः समुत्थित'मिति ताभ्यां–चित्रसम्भू-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ अध्ययनं – १३ "चित्रसंभूतिय" आरभ्यते

अत्र मूल-संपादने निर्युक्तिगाथा क्रमांकने किञ्चित् स्खलना दृश्यते, मया निर्युक्ति-गाथा २२८,२२९ न दृष्टं

प्रत सूत्रांक ॥४६--४७॥

दीप अनुक्रम [४०४--४०५]

ताभ्यामभिधेयभूतामागतं, 'तेसुं'ति च पाठे तयोः 'समुत्थित'मिति भवं चित्रसंभूतीयं, 'वृद्धाच्छः' इति (पा० ४-२-११४) छप्रत्यये वृद्धसञ्ज्ञा तु 'वा नामधेयं यस्से'ति (वा नामधेयस्य वृद्धसंज्ञा वक्तव्या । वार्त्तिक) वचनात् ॥ सम्प्रति काविमौ चित्रसंभूतौ ? केन चानयोरत्राधिकारः ? इत्याशङ्क्याह—

सागेए चंडवडिंसयस्स पुत्तो अ आसि मुणिचंदो । सोऽवि अ सागरचंदस्स अंतिए पव्वए समणो ॥३३३॥
तण्हाछुहाकिलंतं समणं दट्ठूण अडविनीहुत्तं । पडिलाहणा य बोही पत्ता गोवालपुत्तेहिं ॥ ३३४ ॥
तत्तो दुन्नि दुगछं काउं दासा दसन्नि आयाया । दुन्नि अ उसुआरपुरे अहिगारो बंभदत्तेणं ॥ ३३५ ॥

गाथात्रयमस्याप्यक्षरार्थः स्पष्ट एव, णवरं 'पव्वए समणो'त्ति प्राव्राजीत् समानं मनोऽस्येति समनाः–सर्वत्रारक्तद्विष्टचित्तः सन्, यद्वा श्राम्यतीति श्रमणः–तपस्वी सन्, निश्चयनयापेक्षं चैतत्, "णेरइए णेरइएसु उववज्जति" इत्यादिवत्, तथा 'अडविणीहुत्तं'ति अटवीनिःसृतम्, अरण्यान्निष्क्रान्तमित्यर्थः । भावार्थस्तु कथानकगम्यः, तच्चेदम्–अस्ति कोसलालङ्कारभूतं साकेतं नाम नगरं, तत्र चाभूदधिगतजीवाजीवादितत्त्वश्चन्द्रावतंसको नाम राजा, तस्य च धारिणी देवी, तदङ्गजो मुनिचन्द्रः, स च राजाऽन्यदा समुत्पन्नसंवेगस्तमेव सुतं राज्येऽभिषिच्य प्रव्रज्यामशिश्रियत्,

१ नैरयिको नैरयिकेषूत्पद्यते

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||४६--४७||

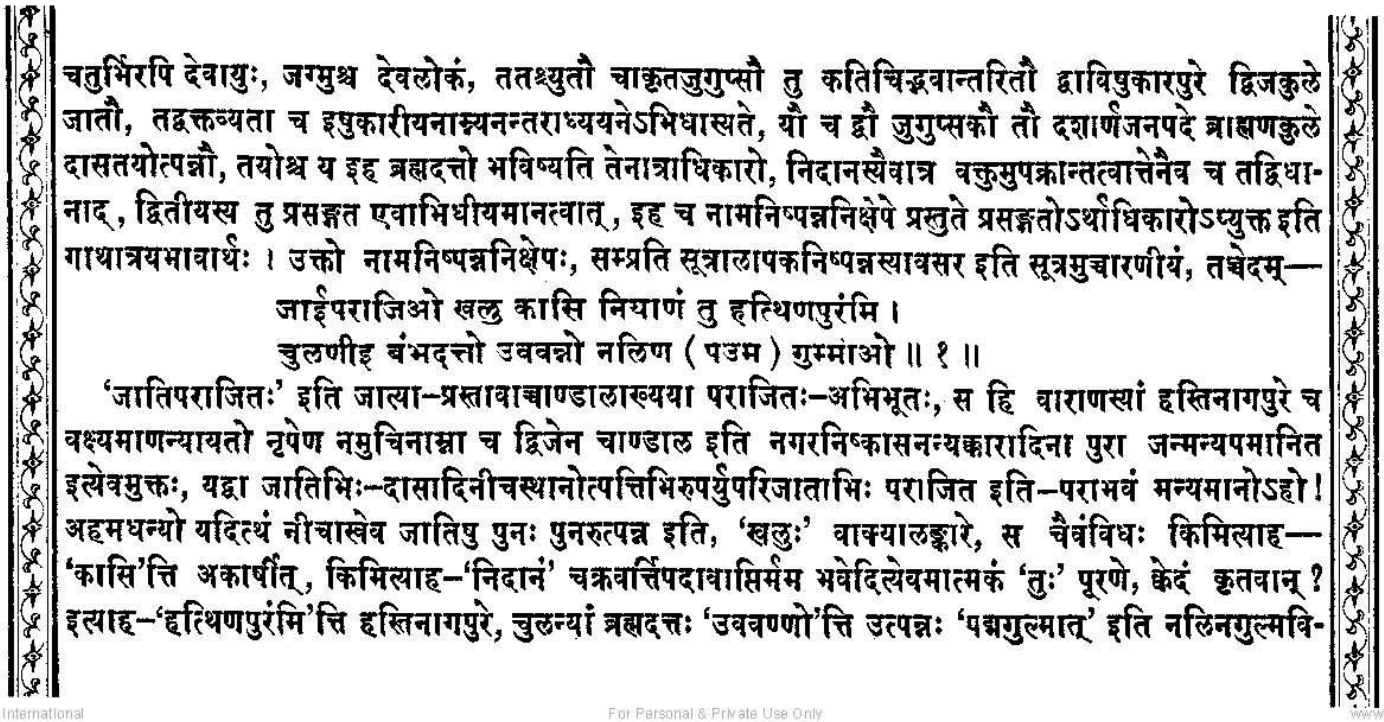
दीप अनुक्रम [४०४--४०५]

प्रतिपाल्य च प्रव्रज्यामपगतमलकलङ्कोऽपवर्गमगमत् । अन्यदा च सागरचन्द्राचार्या बहुशिष्यपरिवृतास्तत्रागताः निर्गतश्च मुनिचन्द्रनृपतिस्तद्वन्दनाय, दृष्टाश्चानेन सूरयः, स्तुत्वा च तानुपविष्टस्तदन्तिके, श्रुतश्च तत्कथितो विशुद्धधर्मः, समुत्पन्नश्चास्य तत्करणाभिलाषः, ततः स्वसुतं राज्ये निवेश्य प्रतिपन्नोऽसौ श्रामण्यं, गृहीता चानेन ग्रहणासेवनोभयलक्षणा शिक्षा, प्रवृत्ताश्चान्यदा सुसार्थेन सगच्छाः सागरचन्द्रसूरयोऽध्वानं, मुनिचन्द्रमुनिश्च तैः समं व्रजन् गुरुनियोगादेकाकयेव भक्तपाननिमित्तं क्वचित्प्रत्यन्तग्रामे प्राविशत्, प्रविष्टे चास्मिन् प्रवृत्तः सार्थो गन्तुं, प्रचलिताः सहानेन सूरयो, विस्मृतश्चायमेषां, प्रस्थितश्च क्षणान्तरेण गृहीतभक्तपानस्तदनुमार्गेण, पतितश्च मूढदिक्चक्रवालः सार्थगवेषणापरो, मार्गात्परिभ्रष्टो भ्रमदनेकशार्दूलजालां द्विपकदम्बकभज्यमानशालशल्लकीप्रभृतितरुनिकरामनर्वाक्पारतया च संसारानुकारिणीं विन्ध्याटवीं, तत्र चासौ परिभ्रमन् गिरिकन्दराण्यतिक्रामन्नतिनिम्नोन्नतभूभागान् पश्यन् भयानकानेकश्वापदान् उत्तीर्णस्तृतीयदिने, तदा च क्षुत्क्षामकुक्षिः शुष्कोष्ठकण्ठतालुरेकत्र वृक्षच्छायायां मूर्च्छावशनष्टचेष्टो दृष्टश्चतुर्भिर्गोपालदारकैः, उत्पन्ना अमीषामनुकम्पा, सिक्तस्त्वरितमागत्य गोरसोन्मिश्रदधितिजलेन, पायितोऽसौ तदेव, समाश्वस्तश्च नीतो गोकुलं, प्रतिजागरितश्च तत्कालोचितकृत्येन, प्रतिलाभितः प्रासुकान्नादिना, कथितस्तेषामनेन जिनप्रणीतधर्मः, गृहीतश्चायमेतैर्भावगर्भं, गतश्चासौ विवक्षितस्थानं, तं च मलदिग्धदेहमवलोक्य द्वयोः समजनि जुगुप्सा, तदनुकम्पातः सम्यक्त्वानुभावतश्च निर्वर्त्तितं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [४०७]



चतुर्भिरपि देवायुः, जग्मुश्च देवलोकं, ततश्च्युतौ चाकृतजुगुप्सौ तु कतिचिद्भवान्तरितौ द्वाविषुकारपुरे द्विजकुले जातौ, तद्वक्तव्यता च इषुकारीयनाम्न्यनन्तराध्ययनेऽभिधास्यते, यौ च द्वौ जुगुप्सकौ तौ दशार्णजनपदे ब्राह्मणकुले दासतयोत्पन्नौ, तयोश्च य इह ब्रह्मदत्तो भविष्यति तेनात्राधिकारो, निदानस्यैवात्र वक्तुमुपक्रान्तत्वात्तेनैव च तद्विधानाद्, द्वितीयस्य तु प्रसङ्गत एवाभिधीयमानत्वात्, इह च नामनिष्पन्ननिक्षेपे प्रस्तुते प्रसङ्गतोऽर्थाधिकारोऽप्युक्त इति गाथात्रयभावार्थः । उक्तो नामनिष्पन्ननिक्षेपः, सम्प्रति सूत्रालापकनिष्पन्नस्यावसर इति सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

जाईपराजिओ खलु कासि नियाणं तु हत्थिणपुरंमि ।
चुलणीइ बंभदत्तो उववन्नो नलिण (पउम) गुम्माओ ॥ १ ॥

'जातिपराजितः' इति जात्या–प्रस्तावाच्चाण्डालाख्यया पराजितः–अभिभूतः, स हि वाराणस्यां हस्तिनागपुरे च वक्ष्यमाणन्यायतो नृपेण नमुचिनाम्ना च द्विजेन चाण्डाल इति नगरनिष्कासनन्यक्कारादिना पुरा जन्मन्यपमानित इत्येवमुक्तः, यद्वा जातिभिः–दासादिनीचस्थानोत्पत्तिभिरुपर्युपरिजाताभिः पराजित इति–पराभवं मन्यमानोऽहो! अहमधन्यो यदित्थं नीचास्वेव जातिषु पुनः पुनरुत्पन्न इति, 'खलुः' वाक्यालङ्कारे, स चैवंविधः किमित्याह— 'कासि'त्ति अकार्षीत्, किमित्याह–'निदानं' चक्रवर्त्तिपदावाप्तिर्मम भवेदित्येवमात्मकं 'तुः' पूरणे, क्वेदं कृतवान्? इत्याह–'हत्थिणपुरंमि'त्ति हस्तिनागपुरे, चुलन्यां ब्रह्मदत्तः 'उववण्णो'त्ति उत्पन्नः 'पद्मगुल्मात्' इति नलिनगुल्मवि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

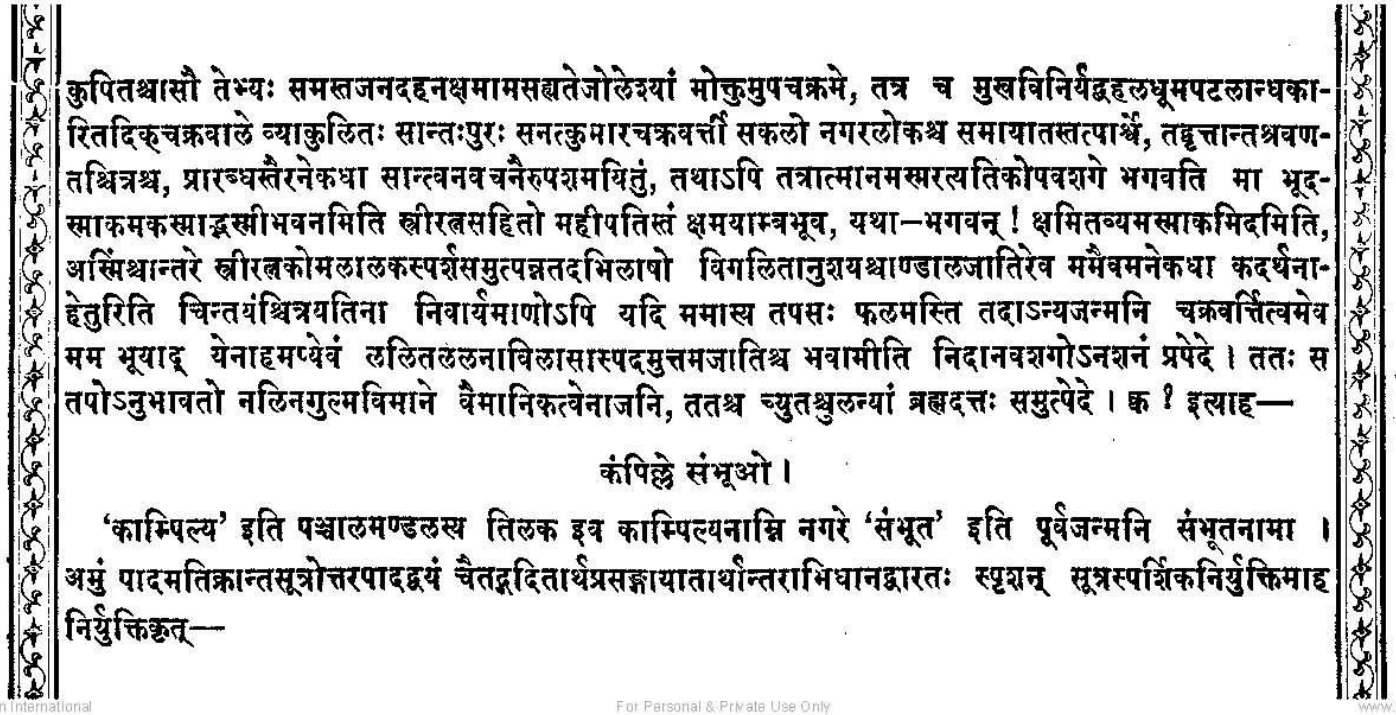
दीप अनुक्रम [४०७]

मानाच्युत्वेति शेषः, इति सूत्राक्षरार्थः ॥ भावार्थस्त्वयम्–स हि ब्रह्मदत्तः पूर्वजन्मनि वाराणस्या संभूतनामा चण्डालश्चित्रश्च तज्ज्येष्ठ आसीत्, तत्र च नमुचिनामा ब्राह्मणो ममान्तःपुरमपधर्षितमनेनेत्युत्पन्नकोपेन राज्ञा समर्पितो मारणनिमित्तं मातङ्गाधिपस्य तत्पितुः, उक्तश्चायमेतेन–यदि मत्सुतौ सकलकलाकलापकुशलौ विधत्से ततोऽस्ति ते जीवितमन्यथा नेति, प्रारब्धं च तदर्थिनाऽनेन तद्गृह एवातिगुप्तस्थानस्थितेन तदध्यापनं, ग्राहितौ तौ व्याकरणवीणापुरःसराः सकला अपि कलाः, अन्यदा च शुश्रूषापरायां तन्मातरि मोहोदयादयमुपपतित्वमाजगाम, ज्ञातस्तज्जनकेन, इष्टश्च मारयितुं, ज्ञातं तत्ताभ्यां, ज्ञापितं चास्मै, उपाध्यायोऽयमावयोस्ततो मा भूदस्यापदिति, तदवगमाच्च पलायितोऽसौ ततः स्थानात्, प्राप्तो हस्तिनागपुरं, कृतः सनत्कुमारचक्रवर्त्तिना मन्त्री । इतश्च तौ चित्रसंभूतौ सातिशयगीतकलाक्षिप्ततरुणीजनात्यासक्तिहेतुतया त्याजितस्पृश्यास्पृश्यविभागौ जनेन राज्ञे निवेदितौ, यथा–विनाशितं नगरमाभ्यां, निषिद्धस्तेन नगरस्यान्तस्तत्प्रचारः, कदाचिच्च तावतिकुतूहलतया कौमुदीमहविलोकनार्थमागतौ, दृष्टौ जनेन, कदर्थितावत्यर्थं, प्रव्रजतुश्च तत एवोत्पन्नवैराग्यौ, जातौ विकृष्टतपोनिष्टप्तदेहौ, प्राप्ताश्चाभ्यां तेजोलेश्यादिलब्धयः, समापप्तितश्च गतौ हस्तिनागपुरं, प्रविष्टौ मासक्षपणपारणके तत्र भिक्षार्थं संभूतयतिः, दृष्टश्च नमुचिना, जातोऽस्य चेतसि दुरध्यवसायो–महुश्चरितमयं प्रकाशयिष्यतीति, निर्भर्त्सितो–धिग् मुण्ड चाण्डाल ! क्व नगरस्यान्तःप्रविष्टोऽसि ? इत्यादिनिष्ठुरवचोभिः, प्रहत इष्टकोपलशकलादिभिस्तत्परिजनेन, तदनु च समस्तलोकेन,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [४०७]



कुपितश्चासौ तेभ्यः समस्तजनदहनक्षमामसह्यतेजोलेश्यां मोक्तुमुपचक्रमे, तत्र च मुखविनिर्यद्वहलधूमपटलान्धकारितदिक्चक्रवाले व्याकुलितः सान्तःपुरः सनत्कुमारचक्रवर्त्ती सकलो नगरलोकश्च समायातस्तत्पार्श्वे, तद्वृत्तान्तश्रवणतश्चित्रश्च, प्रारब्धस्तैरनेकधा सान्त्वनवचनैरुपशमयितुं, तथाऽपि तत्रात्मानमस्मरत्यतिकोपवशगे भगवति मा भूदस्माकमकस्माद्भस्मीभवनमिति स्त्रीरत्नसहितो महीपतिस्तं क्षमयाम्बभूव, यथा–भगवन्! क्षमितव्यमस्माकमिदमिति, अस्मिंश्चान्तरे स्त्रीरत्नकोमलालकस्पर्शसमुत्पन्नतदभिलाषो विगलितानुशयश्चाण्डालजातिरेव ममैवमनेकधा कदर्थनाहेतुरिति चिन्तयंश्चित्रयतिना निवार्यमाणोऽपि यदि ममास्य तपसः फलमस्ति तदाऽन्यजन्मनि चक्रवर्त्तित्वमेव मम भूयाद् येनाहमप्येवं ललितललनाविलासास्पदमुत्तमजातिश्च भवामीति निदानवशगोऽनशनं प्रपेदे। ततः स तपोऽनुभावतो नलिनगुल्मविमाने वैमानिकत्वेनाजनि, ततश्च च्युतश्चुलन्यां ब्रह्मदत्तः समुत्पेदे। क ? इत्याह—

कंपिल्ले संभूओ।

'काम्पिल्य' इति पञ्चालमण्डलस्य तिलक इव काम्पिल्यनाम्नि नगरे 'संभूत' इति पूर्वजन्मनि संभूतनामा। अमुं पादमतिक्रान्तसूत्रोत्तरपादद्वयं चैतद्वृदितार्थप्रसङ्गायातार्थान्तराभिधानद्वारतः स्पृशन् सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिमाह निर्युक्तिकृत्—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [४०७]

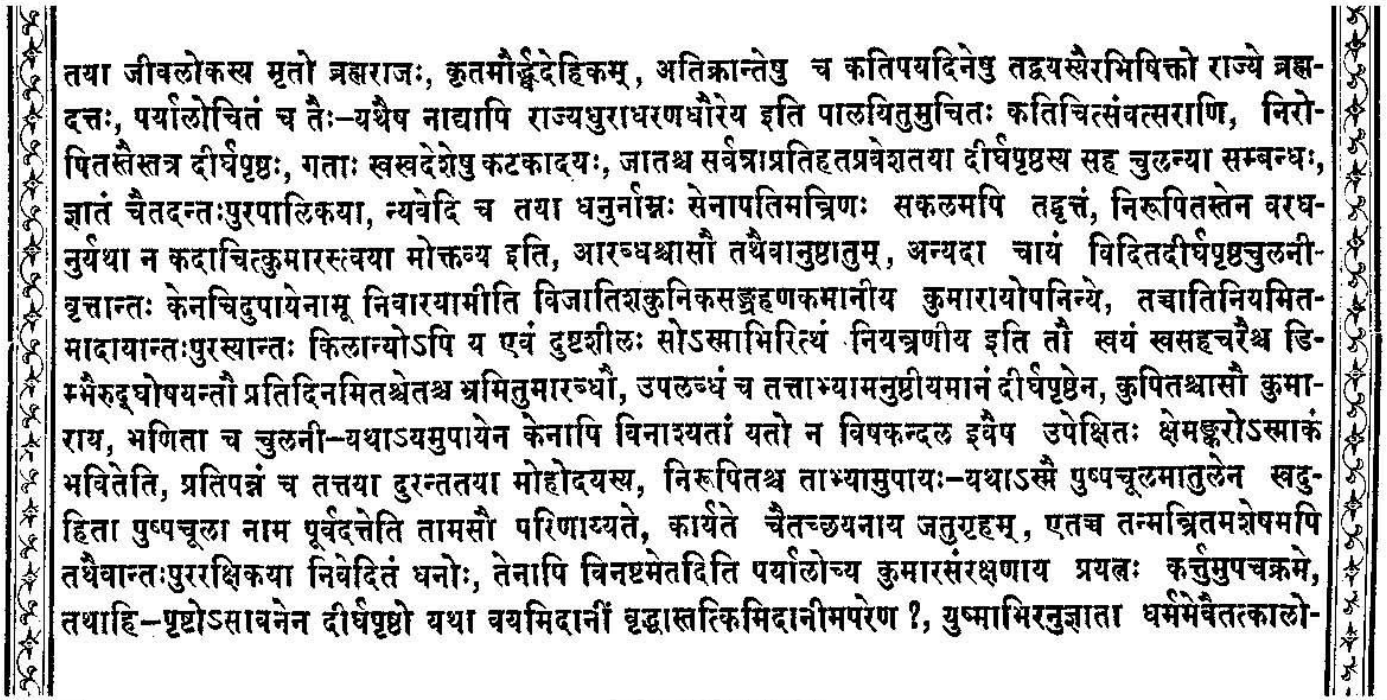
राया य तत्थ बंभो कडओ तइओ कणेरदत्तोत्ति। राया य पुप्फचूलो दीहो पुण होइ कोसलिओ ॥३३६॥
एए पंच वयंसा सव्वे सह दारदरिसिणो भोच्चा । संवच्छरं अणूणं वसंति इक्किक्करज्जंमि ॥ ३३७ ॥
राया य बंभदत्तो धणुओ सेणावई अ वरधणुओ । इंदसिरी इंदजसा इन्दुवसु चुलणिदेवीओ ॥ ३३८ ॥

राजा च तत्र पाञ्चालेषु काम्पिल्ये 'ब्रह्म'इति ब्रह्मनामा कासीजनपदाधिपः कटकस्तृतीयः कुरुषु गजपुराधिपतिः कणेरुदत्त इति राजा च अङ्गेषु चम्पास्वामी पुष्पचूलो यः किल ब्रह्मपत्न्याश्चुलिन्या भ्राता,'दीर्घ' इति दीर्घपृष्ठः पुनर्भवति कौशलिकः साकेतपुराधिपतिः। एतेऽनन्तरोक्ताः पञ्च वयस्याः 'सर्वे' समस्ताः सह दारान् पश्यन्तीत्येवंशीलाः सहदारदर्शिनः, किमुक्तं भवति ?–एककालकृतकलत्रस्वीकाराः समानवयस इतियावत् 'भोच्च'त्ति भूत्वा संवत्सरं वर्षम् 'अन्यूनं' परिपूर्णं 'वसन्ति' आसते, तत्कालापेक्षया वर्त्तमानता, 'एकैकराज्ये' एकैकसंबन्धिनि नृपतित्वे । एष तावद्गाथाद्वयार्थः, तृतीयगाथा तु तात्पर्यतो व्याख्यायते--ब्रह्मराजस्येन्द्रश्रीप्रमुखाश्चतस्रो देव्यः, तत्र च चुलन्याः पुत्रोऽजनि, धनुर्नाम्नः सेनापतेरपि तत्रैवाहनि सुतः समुदपादि, कृतानि द्वयोरपि मङ्गलकौतुकानि, दत्तानि च दीनानाथेभ्यो दानानि, विहितं च स्वसमये राजपुत्रस्य ब्रह्मदत्त इति नाम, इतरस्य तु वरधनुरिति, कालक्रमेण च जातौ कलाग्रहणोचितौ, ग्राहितौ सर्वा अपि कलाः, अस्मिंश्चान्तरे मरणपर्यवसान-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [४०७]



तथा जीवलोकस्य मृतो ब्रह्मराजः, कृतमौर्द्धदेहिकम्, अतिक्रान्तेषु च कतिपयदिनेषु तद्वयस्यैरभिषिक्तो राज्ये ब्रह्मदत्तः, पर्यालोचितं च तैः–यथैष नाद्यापि राज्यधुराधरणधौरेय इति पालयितुमुचितः कतिचित्संवत्सराणि, निरोपितस्तैस्तत्र दीर्घपृष्ठः, गताः स्वस्वदेशेषु कटकादयः, जातश्च सर्वत्राप्रतिहतप्रवेशतया दीर्घपृष्ठस्य सह चुलन्या सम्बन्धः, ज्ञातं चैतदन्तःपुरपालिकया, न्यवेदि च तया धनुर्नाम्नः सेनापतिमन्त्रिणः सकलमपि तद्वृत्तं, निरूपितस्तेन वरधनुर्यथा न कदाचित्कुमारस्त्वया मोक्तव्य इति, आरब्धश्चासौ तथैवानुष्ठातुम्, अन्यदा चायं विदितदीर्घपृष्ठचुलनीवृत्तान्तः केनचिदुपायेनामू निवारयामीति विजातिशकुनिकसङ्ग्रहणकमानीय कुमारायोपनिन्ये, तचातिनियमितमादायान्तःपुरस्यान्तः किलान्योऽपि य एवं दुष्टशीलः सोऽस्माभिरित्थं नियन्त्रणीय इति तौ स्वयं स्वसहचरैश्च डिम्भैरुद्घोषयन्तौ प्रतिदिनमितश्चेतश्च भ्रमितुमारब्धौ, उपलब्धं च तत्ताभ्यामनुष्ठीयमानं दीर्घपृष्ठेन, कुपितश्चासौ कुमाराय, भणिता च चुलनी–यथाऽयमुपायेन केनापि विनाश्यतां यतो न विषकन्दल इवैष उपेक्षितः क्षेमङ्करोऽस्माकं भवितेति, प्रतिपन्नं च तत्तया दुरन्ततया मोहोदयस्य, निरूपितश्च ताभ्यामुपायः–यथाऽस्मै पुष्पचूलमातुलेन स्वदुहिता पुष्पचूला नाम पूर्वदत्तेति तामसौ परिणाय्यते, कार्यते चैतच्छलनाय जतुगृहम्, एतच्च तन्मन्त्रितमशेषमपि तथैवान्तःपुररक्षिकया निवेदितं धनोः, तेनापि विनष्टमेतदिति पर्यालोच्य कुमारसंरक्षणाय प्रयत्नः कर्त्तुमुपचक्रमे, तथाहि–पृष्टोऽसावनेन दीर्घपृष्ठो यथा वयमिदानीं वृद्धास्तत्किमिदानीमपरेण ?, युष्माभिरनुज्ञाता धर्ममेवैतत्कालो-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [४०७]

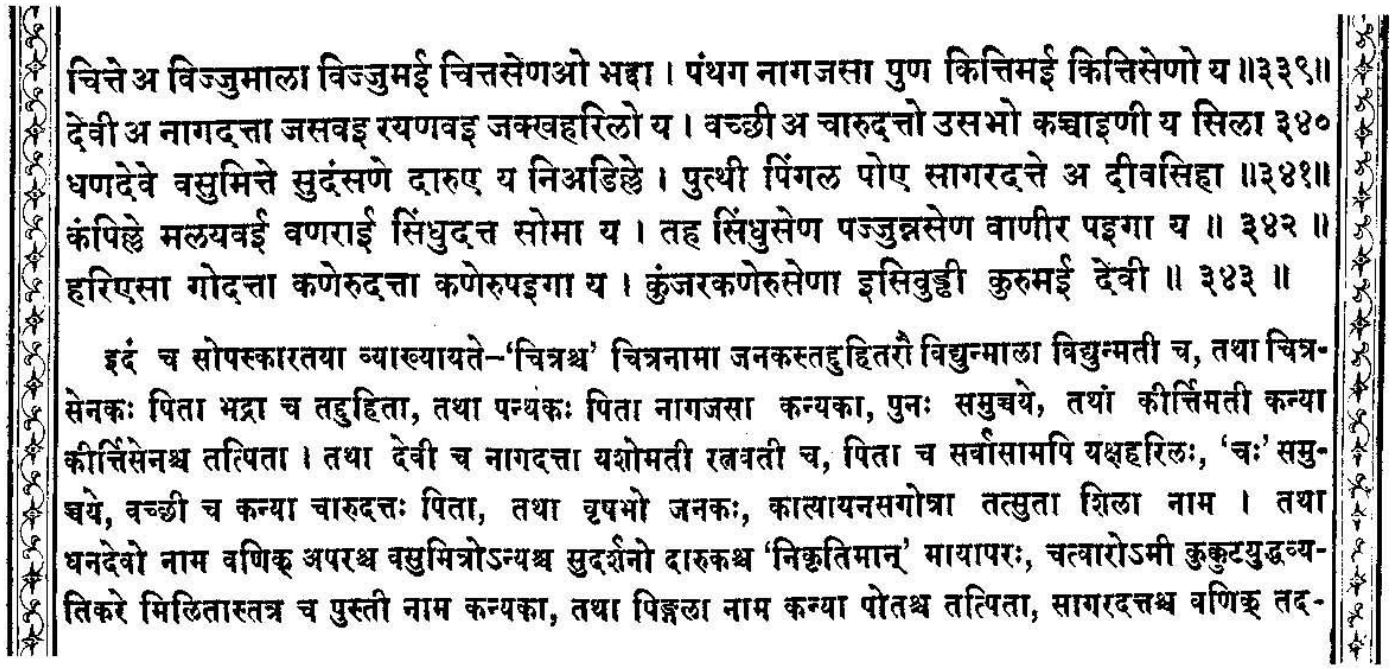
चितं कुर्मः, तेनालोचितं–यथैष दुरात्मा दूरस्थो न सुन्दर इति, उक्तश्च–यथैतत्त्वद्रहितमखिलमपि राज्यं विनश्यत्यत इहैव स्थितो जपहोमदानादिभिर्धर्ममुपचिनु, तेन चोक्तं–यदादिशन्ति भवन्तः, इत्युक्त्वा च गतः स्वगृहं, कारितं चानेन भागीरथ्यास्तटे स्वनिवासस्थानं, निरूपितं तत्र सत्रं, खानिता च तत्र प्रत्ययिकपुरुषैर्जतुगृहं यावत्सुरङ्गा, ज्ञापिताऽसौ वरधनोः, इतश्च गणितं तत्परिणयनलग्नं, निष्पन्नं च जतुगृहं, प्रेषिता च मन्त्रिवचनतोऽन्यैव कन्यका मातुलेन, समागतो लग्नदिनः, कृतं सर्वसमृद्ध्योपयमनं, शायितश्च रजन्यां जतुगृहे कुमारः, प्रदीपितं च तद्द्वार एव सुप्तजनायां रजन्यां, ज्ञातं चासन्नस्थितेन वरधनुना, उत्थापितः कुमारो, दृष्टं च सर्वतः प्रदीप्तमेतेन, उक्तश्च वरधनुः–मित्र! किमिदानीं क्रियतामिति, तेनोक्तं–मा भैषीः, यतः प्रतिविहितमत्र तातेन, अत्रान्तरे चागतं नागकुमारद्वयानुकारि भुवनमुद्भिद्य पुरुषद्वयम्, अभ्यधाच्च तत्–मा भैष्टाम्, आवां हि धनोर्गृहजातौ दासचेटकौ, तत्क्रियतां प्रसादो, निर्गम्यतां सुरङ्गामार्गेण, इत्युक्तौ च तौ गतौ सुरङ्गाद्वारं, दृष्टं च तत्र प्रधानमश्वद्वयम्, उक्तं च ताभ्यां चेटकाभ्याम्—एतावारुह्य देशान्तरापक्रमणेनात्मानं रक्षतां दीर्घपृष्ठाद्भवन्तौ यावत्कचिदवसरः शुभो भवति, ततस्तद्वचनमाकर्ण्य किं किमेतत्? इत्याकुलितचेतसो ब्रह्मदत्तस्य कथितः सर्वोऽपि वरधनुना चुलनीवृत्तान्तः, अभिहितं च–यथेदमेवेदानीं प्राप्तकालमिति, विनिर्गतौ च तत्प्रधानमश्वयुगलमारुह्येति तृतीयगाथातात्पर्यार्थः। एवं च प्राप्तावसरा ब्रह्मदत्तहिण्डी, ततस्तत्र ये कन्यालाभा ये च तत्पितरस्तदुपदर्शनाय गाथापञ्चकमाह—

॥३७८॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [४०७]



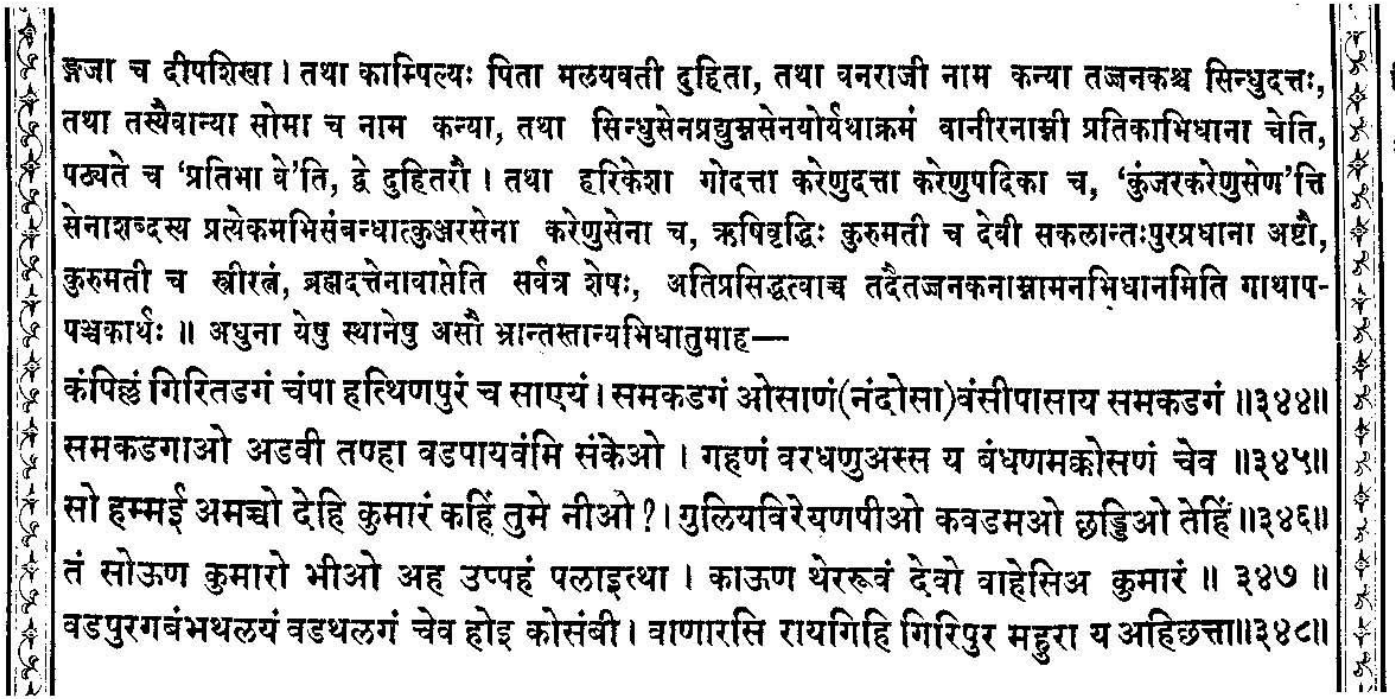
चित्ते अ विज्जुमाला विज्जुमई चित्तसेणओ भद्दा । पंथग नागजसा पुण किन्तिमई किन्तिसेणो य ॥३३९॥
देवी अ नागदत्ता जसवइ रयणवइ जक्खहरिलो य । वच्छी अ चारुदत्तो उसभो कच्चाइणी य सिला ३४०
धणदेवे वसुमित्ते सुदंसणे दारुए य निअडिल्ले । पुत्थी पिंगल पोए सागरदत्ते अ दीवसिहा ॥३४१॥
कंपिल्ले मलयवई वणराई सिंधुदत्त सोमा य । तह सिंधुसेण पज्जुन्नसेण वाणीर पइगा य ॥ ३४२ ॥
हरिएसा गोदत्ता कणेरुदत्ता कणेरुपइगा य । कुंजरकणेरुसेणा इसिवुड्ढी कुरुमई देवी ॥ ३४३ ॥

इदं च सोपस्कारतया व्याख्यायते–'चित्रश्च' चित्रनामा जनकस्तदुहितरौ विद्युन्माला विद्युन्मती च, तथा चित्रसेनकः पिता भद्रा च तदुहिता, तथा पन्थकः पिता नागजसा कन्यका, पुनः समुच्चये, तथा कीर्त्तिमती कन्या कीर्त्तिसेनश्च तत्पिता । तथा देवी च नागदत्ता यशोमती रत्नवती च, पिता च सर्वासामपि यक्षहरिलः, 'चः' समुच्चये, वच्छी च कन्या चारुदत्तः पिता, तथा वृषभो जनकः, कात्यायनसगोत्रा तत्सुता शिला नाम । तथा धनदेवो नाम वणिक् अपरश्च वसुमित्रोऽन्यश्च सुदर्शनो दारुकश्च 'निकृतिमान्' मायापरः, चत्वारोऽमी कुक्कुटयुद्धव्यतिकरे मिलितास्तत्र च पुस्ती नाम कन्यका, तथा पिङ्गला नाम कन्या पोतश्च तत्पिता, सागरदत्तश्च वणिक् तद-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [४०७]



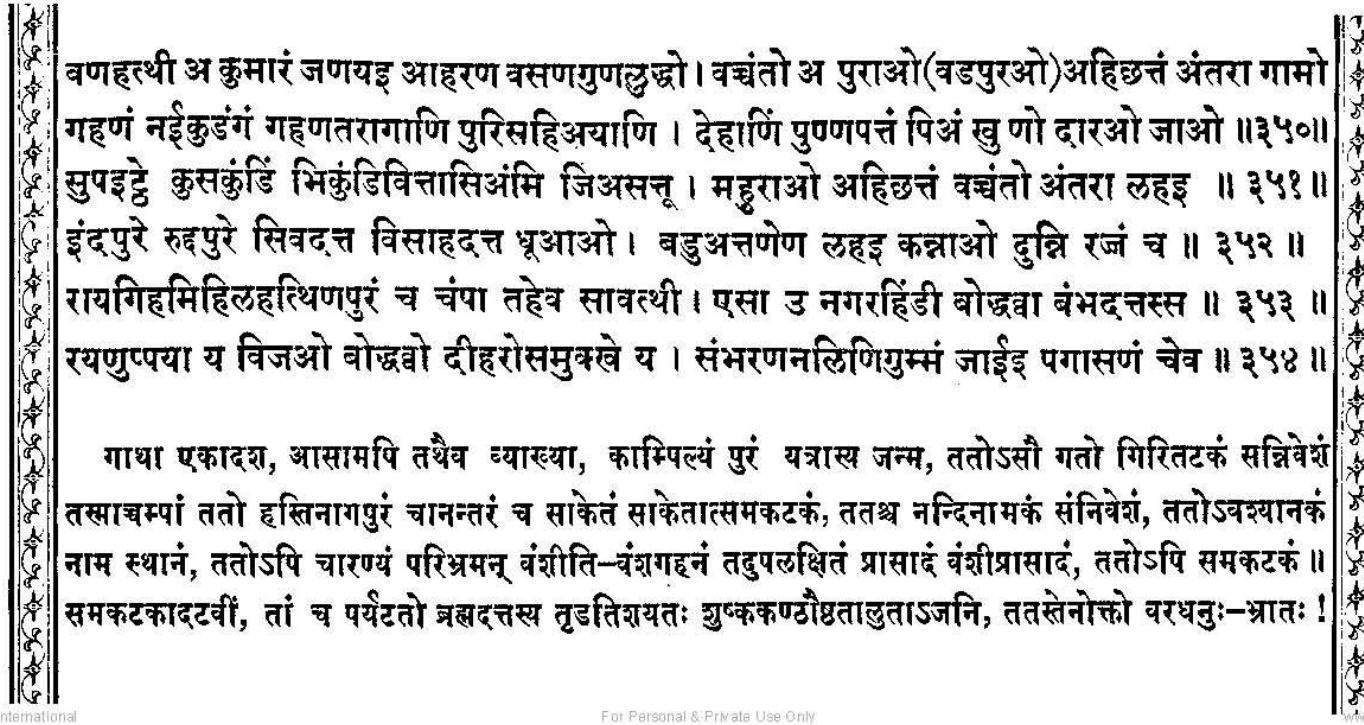
ज्ञजा च दीपशिखा। तथा काम्पिल्यः पिता मलयवती दुहिता, तथा वनराजी नाम कन्या तज्जनकश्च सिन्धुदत्तः, तथा तस्यैवान्या सोमा च नाम कन्या, तथा सिन्धुसेनप्रद्युम्नसेनयोर्यथाक्रमं वानीरनाम्नी प्रतिकाभिधाना चेति, पठ्यते च 'प्रतिभा वे'ति, द्वे दुहितरौ। तथा हरिकेशा गोदत्ता करेणुदत्ता करेणुपदिका च, 'कुंजरकरेणुसेण'त्ति सेनाशब्दस्य प्रत्येकमभिसंबन्धात्कुञ्जरसेना करेणुसेना च, ऋषिवृद्धिः कुरुमती च देवी सकलान्तःपुरप्रधाना अष्टौ, कुरुमती च स्त्रीरत्नं, ब्रह्मदत्तेनावाप्तेति सर्वत्र शेषः, अतिप्रसिद्धत्वाच्च तदैतज्जनकनाम्नामनभिधानमिति गाथापञ्चकार्थः ॥ अधुना येषु स्थानेषु असौ भ्रान्तस्तान्यभिधातुमाह—

कंपिल्लं गिरितडगं चंपा हत्थिणपुरं च साएयं। समकडगं ओसाणं(नंदोसा)वंसीपासाय समकडगं ॥३४४॥
समकडगाओ अडवी तण्हा वडपायवंमि संकेओ। गहणं वरधणुअस्स य बंधणमक्कोसणं चेव ॥३४५॥
सो हम्मई अमच्चो देहि कुमारं कहिं तुमे नीओ?। गुलियविरेयणपीओ कवडमओ छड्डिओ तेहिं ॥३४६॥
तं सोऊण कुमारो भीओ अह उप्पहं पलाइत्था। काऊण थेररूवं देवो वाहेसिअ कुमारं ॥ ३४७ ॥
वडपुरगबंभथलयं वडथलगं चेव होइ कोसंबी। वाणारसि रायगिहि गिरिपुर महुरा य अहिछत्ता॥३४८॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [४०७]



वणहत्थी अ कुमारं जणयइ आहरण वसणगुणलुद्धो। वच्चंतो अ पुराओ(वडपुरओ)अहिछत्तं अंतरा गामो
गहणं नईकुडंगं गहणतरागाणि पुरिसहिअयाणि । देहाणिं पुण्णपत्तं पिअं खु णो दारओ जाओ ॥३५०॥
सुपइट्ठे कुसकुंडिं भिकुंडिवित्तासिअंमि जिअसत्तू । महुराओ अहिछत्तं वच्चंतो अंतरा लहइ ॥ ३५१ ॥
इंदपुरे रुद्दपुरे सिवदत्त विसाहदत्त धूआओ। बडुअत्तणेण लहइ कन्नाओ दुन्नि रज्जं च ॥ ३५२ ॥
रायगिहमिहिलहत्थिणपुरं च चंपा तहेव सावत्थी। एसा उ नगरहिंडी बोद्धव्वा बंभदत्तस्स ॥ ३५३ ॥
रयणुप्पया य विजओ बोद्धव्वो दीहरोसमुक्खे य । संभरणनलिणिगुम्मं जाईइ पगासणं चेव ॥ ३५४ ॥

गाथा एकादश, आसामपि तथैव व्याख्या, काम्पिल्यं पुरं यत्रास्य जन्म, ततोऽसौ गतो गिरितटकं सन्निवेशं तस्माच्चम्पां ततो हस्तिनागपुरं चानन्तरं च साकेतं साकेतात्समकटकं, ततश्च नन्दिनामकं संनिवेशं, ततोऽवश्यानकं नाम स्थानं, ततोऽपि चारण्यं परिभ्रमन् वंशीति–वंशगहनं तदुपलक्षितं प्रासादं वंशीप्रासादं, ततोऽपि समकटकं ॥ समकटकादटवीं, तां च पर्यटतो ब्रह्मदत्तस्य तृडतिशयतः शुष्ककण्ठौष्ठतालुताऽजनि, ततस्तेनोक्तो वरधनुः–भ्रातः !

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

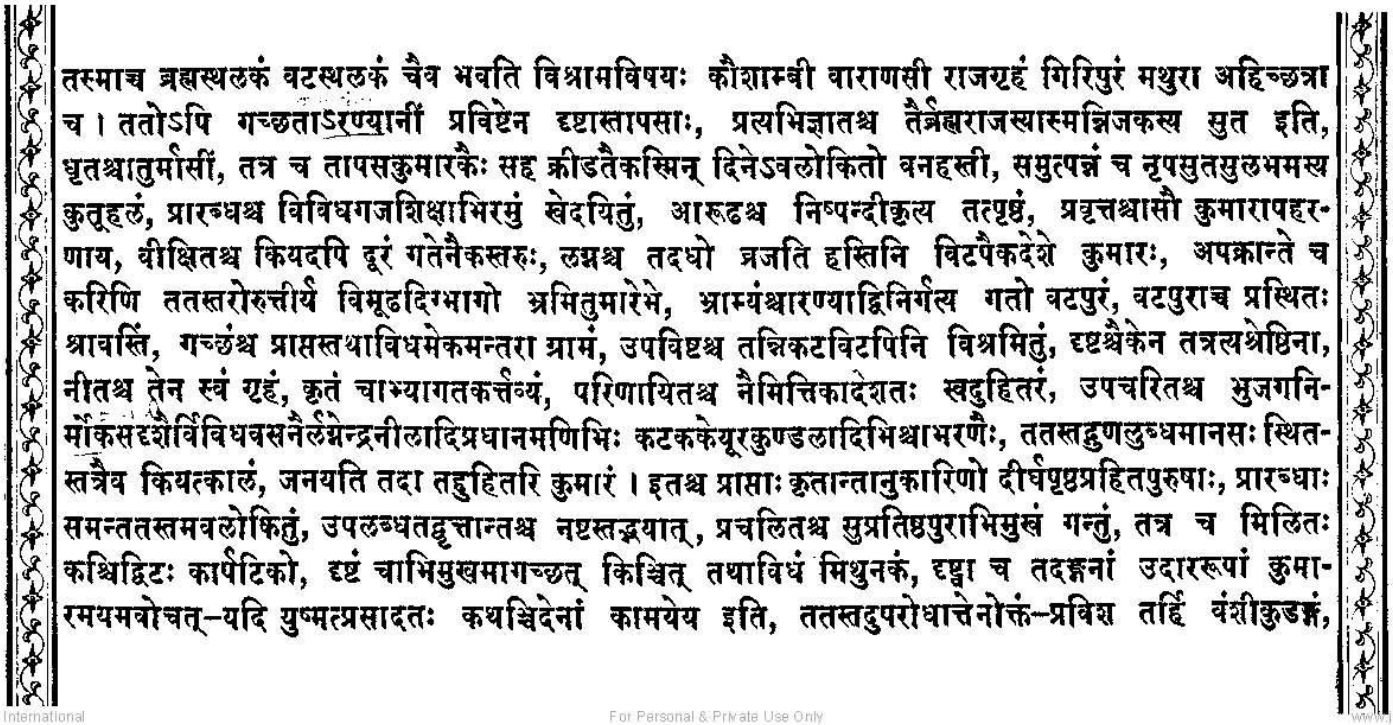
दीप अनुक्रम [४०७]

बाधते मां तृट्, तदुपाहर कुतोऽपि जलम्, अत्रान्तरे दृष्टोऽनेन निटकवर्त्ती वटपादपः, शायितस्तत्र शीतलच्छाये तत्पल्लवोपरचितश्रस्तरे ब्रह्मदत्तः, कृतश्च वरधनुना तेन सह सङ्केतः—यथा यदि मां कथञ्चिद्दीर्घप्रहितपुरुषाः प्राप्स्यन्ति ततोऽहमन्योक्त्याऽभिज्ञानं करिष्ये, तत इतस्त्वया पलायितव्यमिति, गतोऽसौ जलान्वेषणाय, दृष्टं चैकत्र पद्मिनीखण्डमण्डितं सरः, गृहीतं च पद्मिनीपत्रपुटके जलं, प्रवृत्तस्य च ब्रह्मदत्ताभिमुखमागन्तुं ग्रहणं तद्वटासन्नदेशे, कथञ्चिदुपलब्धतदपसरणवृत्तान्तैर्दीर्घपृष्ठप्रहितपुरुषैरतिरोषवद्भिर्वरधनोर्बन्धनं वल्लीवितानेन आक्रोशनं चैव दुष्टवचसा कृतं। अन्यच्च–स हन्यते मुष्टिप्रहारादिभिरमात्यो–वरधनुः, भण्यते च—यथा 'देही'ति ढौकय कुमारमरे ! दुराचार ! क्व पुनरसौ नीतस्त्वया राजपुत्र इति ?, अत्रान्तरे सङ्केतमनुसरता पठितमिदमनेन—'सहकारमञ्जरीमनुधावति मधुपो विमुच्य मधु मधुरम्। कमले कलयन् पश्चात्सङ्कोचकृतां खतनुबाधाम् ॥ १ ॥' 'गुलीयविरेयणपीतो'त्ति प्राकृतत्वात्पीतविरेचनगुलिकः, स हि तैर्ग्रहीतुमुपक्रान्तोऽन्यथाऽऽत्मनो विमुक्तिमनवगच्छन् पूर्वलब्धां विरेचनगुटिकां प्रथममेव पयसा पीतवान्, विरक्तश्च तया, जाताश्च मुखे फेनबुद्बुदाः, एवं च कपटेन मृतः कपटमृतो मृत इति 'छर्दितः' त्यक्तस्तैः। इतश्च तत्पठितं श्रुत्वा कुमारो 'भीतः' इति त्रस्तः 'अथ' अनन्तरम् 'उप्पहं'ति उत्पथेन 'पलायित्थ'त्ति पलायितवान्, तथा च तं पलायमानमवलोक्य कृत्वा स्थविररूपं देवः किमस्य सत्त्वमस्त्युत नेति परीक्षणार्थं 'वाहेसिअ'त्ति वाहितवान् व्यंसितवानित्यर्थः कुमारं। ततश्च परिभ्रमतो वटपुरकं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [४०७]



तस्माच्च ब्रह्मस्थलकं वटस्थलकं चैव भवति विश्रामविषयः कौशाम्बी वाराणसी राजगृहं गिरिपुरं मथुरा अहिच्छत्रा च। ततोऽपि गच्छताऽरण्यानीं प्रविष्टेन दृष्टास्तापसाः, प्रत्यभिज्ञातश्च तैर्ब्रह्मराजस्यास्मन्निजकस्य सुत इति, धृतश्चातुर्मासीं, तत्र च तापसकुमारकैः सह क्रीडतैकस्मिन् दिनेऽवलोकितो वनहस्ती, समुत्पन्नं च नृपसुतसुलभमस्य कुतूहलं, प्रारब्धश्च विविधगजशिक्षाभिरमुं खेदयितुं, आरूढश्च निष्पन्दीकृत्य तत्पृष्ठं, प्रवृत्तश्चासौ कुमारापहरणाय, वीक्षितश्च कियदपि दूरं गतेनैकस्तरुः, लग्नश्च तदधो व्रजति हस्तिनि विटपैकदेशे कुमारः, अपक्रान्ते च करिणि ततस्तरोरुत्तीर्य विमूढदिग्भागो भ्रमितुमारेभे, भ्राम्यंश्चारण्याद्विनिर्गत्य गतो वटपुरं, वटपुराच्च प्रस्थितः श्रावस्तिं, गच्छंश्च प्राप्तस्तथाविधमेकमन्तरा ग्रामं, उपविष्टश्च तन्निकटविटपिनि विश्रमितुं, दृष्टश्चैकेन तत्रत्यश्रेष्ठिना, नीतश्च तेन स्वं गृहं, कृतं चाभ्यागतकर्त्तव्यं, परिणायितश्च नैमित्तिकादेशतः स्वदुहितरं, उपचरितश्च भुजगनिर्मोकसदृशैर्विविधवसनैर्ललामेन्द्रनीलादिप्रधानमणिभिः कटककेयूरकुण्डलादिभिश्चाभरणैः, ततस्तद्गुणलुब्धमानसः स्थितस्तत्रैव कियत्कालं, जनयति तदा तद्दुहितरि कुमारं। इतश्च प्राप्ताः कृतान्तानुकारिणो दीर्घपृष्ठप्रहितपुरुषाः, प्रारब्धाः समन्ततस्तमवलोकितुं, उपलब्धतद्वृत्तान्तश्च नष्टस्तद्भयात्, प्रचलितश्च सुप्रतिष्ठपुराभिमुखं गन्तुं, तत्र च मिलितः कश्चिद्विटः कार्पटिको, दृष्टं चाभिमुखमागच्छत् किञ्चित् तथाविधं मिथुनकं, दृष्ट्वा च तदङ्गनां उदाररूपां कुमारमयमवोचत्–यदि युष्मत्प्रसादतः कथञ्चिदेनां कामयेय इति, ततस्तदुपरोधात्तेनोक्तं–प्रविश तर्हि वंशीकुडङ्गं,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [४०७]

स्थितः पथि कुमारः प्राप्तं च मिथुनं, उक्तस्तत्पतिः–मदीयं कलत्रमिह गर्भशूलाभ्याहतमास्ते तद्विसर्जय क्षणमेकं स्वकीयपल्लीं, विसर्जिता चासौ तेनानुकम्पापरेण, दृष्टश्च तयाऽसौ, जातस्तस्यापि तदनुरागः, प्रवृत्तं च तयोर्मोहनकं, एवं च कियतीमपि वेलामतिक्रम्य विनिर्गताऽसौ कुडङ्गात्, उक्तं चात्मानं ख्यापयितुं कुमारं प्रति, यथा—गहनं नदीकुडङ्गं ततोऽपि गहनतराण्येव गहनतरकाणि पुरुषहृदयानि भवन्ति, अयं चानेन ध्वनितोऽर्थः—यथा वयं जानीमः स्त्रीहृदयान्यतिगहनानि भवच्चित्तेन च तान्यपि जितानीत्युक्त्वा पतिं प्रत्याययितुमाह—'देहाणि'न्ति देहीदानीं 'पूर्णपात्रम्' अक्षतभृतभाजनं प्रियं खलु 'नः' अस्माकं यद्दारको जात इति, ते (इति) वक्तव्ये यन्न इत्युक्तं तदैक्यं द्योतयितुं, इत्युक्त्वा च तया धूर्त्या गृहीतं ब्रह्मदत्तोत्तरीयं, गता च पत्यैव सह, ततश्च निर्गतोऽसौ कुडङ्गात्कृतपरिहासः प्रवृत्तो गन्तुं, प्राप्तः सुप्रतिष्ठं, तत्र च कुसकुण्डी नाम कन्या 'भिकुंडिवित्तासियंमि जियसत्तुं'ति आर्षत्वादुभयत्र सुब्व्यत्ययः, 'भिकुण्डिवित्रासिताद्' भिकुण्डिनामनृपतिनिष्काशितात् 'जितशत्रोः' जितशत्रुनामनृपतेः सकाशान्मथुरातोऽहिच्छत्रां व्रजन् 'अन्तरे' अन्तराले 'लभते' प्राप्नोति। तथेन्द्रपुरे शिवदत्तो नाम रुद्रपुरे च विशाखदत्ताभिधानस्तदुहितरौ 'वटुकत्वेन' दीर्घपृष्ठपुरुषभीत्या कृतब्राह्मणवेषेण लभते कन्ये द्वे राज्यं च। ततो राजगृहं मिथिलां हस्तिनागपुरं चम्पां तथैव श्रावस्तीम्, अभ्रमीदिति शेषः 'एषा तु' अनन्तरमुपदर्शिता नगरहिण्डनोद्वव्या ब्रह्मदत्तस्येति ॥ एवं च भ्रमतोऽस्य मिलिताः कटककरेणुदत्तादयः पितृवयस्याः, गृहीताः कियन्तोऽपि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२॥

दीप अनुक्रम [४०८]

प्रत्यन्तराजानः, समुत्पन्नं चक्ररत्नं, प्रारब्धस्तदुपदर्शितमार्गेण दिग्विजयः, प्राप्तः काम्पिल्ये, निर्गतस्तदभिमुखं दीर्घपृष्ठो, लग्नमनयोरायोधनं, विनिपातितोऽसौ ब्रह्मदत्तेन, एवं च बोद्धव्यस्तस्य दीर्घपृष्ठविषयरोषमोक्षश्च, अत्रान्तरे मिलिताः परिणीतकन्यापितरः, समुत्पन्नानि च यथाऽवसरं शेषरत्नानि, साधितं षट्खण्डमपि भरतं, प्राप्ताश्च नवापि निधयः, परिणतं चक्रवर्त्तिपदं, एवं च सुकृतफलमुपभुञ्जतोऽतिक्रान्तः कियानपि कालः, अन्यदा चोपनीतं देवतया मन्दारदाम, समुत्पन्नं तद्दर्शनादस्य जातिस्मरणं–अनुभूतानि मयैवंविधकुसुमदामानि, अहं हि नलिनगुल्मविमाने देवोऽभवं ॥ इत्येकादशनिर्युक्तिगाथार्थः । इत्थं तावत्काम्पिल्ये संभूतश्चक्रवर्त्ती जातः, चित्रस्य तु का वार्त्तेत्याह—

चित्तो पुण जाओ पुरिमतालंमि । सिट्ठिकुलंमि विसाले धम्मं सोऊण पव्वइओ ॥ २ ॥

पादत्रयं, चित्रः पुनर्जातः पुरिमताले, स हि चित्रनामा महर्षिः तत्र संभूतिनाम्नि भ्रातरि तथाऽनशनं प्रतिपन्नवत्यहो दुरन्तो मोहश्चित्रा कर्मपरिणतिश्चञ्चलं चित्तमित्यादि विचिन्त्य चतुर्विधमप्याहारं प्रत्याख्यातवान्, मृत्वा च पण्डितमरणेन समुत्पन्नस्तत्रैव नलिनगुल्मनाम्नि विमाने, ततस्तत्र स्वस्थितिमनुपाल्योत्पन्नः पुरिमतालपुरे, तत्रापि केत्याह–'श्रेष्ठिकुले' वणिक्प्रधानान्वये 'विशाले' विस्तीर्णे पुत्रपौत्रादिवृद्धिमति, प्राप्तवयाश्च तथाविधस्थविरसन्निधौ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३॥

दीप अनुक्रम [४०९]

'धर्मं' यतिधर्मं क्षान्त्यादिकं 'श्रुत्वा' आकर्ण्य 'प्रव्रजितः' प्रव्रज्यां प्रतिपन्नवान् इति सूत्रभावार्थः ॥ ततः किमित्याह—

कंपिल्लंमि अ नयरे समागया दोऽवि चित्तसंभूया । सुहदुक्खफलविवागं कहिंति ते इक्कमिक्कस्स ॥ ३ ॥

काम्पिल्ये च नगरे–ब्रह्मदत्तोत्पत्तिस्थाने 'समागतौ' मिलितौ द्वावपि चित्रसंभूतौ जन्मान्तरनामतः 'सुखदुःखफलविपाकं' सुकृतदुष्कृतकर्मानुभवरूपं 'कहंति'त्ति कथयतः स्मेति शेषः, ततश्च कथितवन्तौ तौ चित्रजीवयति–ब्रह्मदत्तौ 'एक्कमेक्कस्स'त्ति एकैकस्य परस्परमितियावत् इति सूत्राक्षरार्थः ॥ भावार्थस्तु निर्युक्तिकृतोच्यते—

जाईइ पगास निवेयणं च जाईपयासणं चित्ते । चित्तस्स य आगमणं इड्ढिपरिच्चागसुत्तत्थो ॥ ३५५ ॥

तदा हि ब्रह्मदत्तो जातिस्मरणोपलब्धस्वजातीनां 'दासा दसन्नये आसी' इत्यादिना सार्द्धश्लोकेन जनाय प्रकाशनं निवेदनं च–य इमं द्वितीयश्लोकं पूरयति तस्मै राज्यार्द्धमहं प्रयच्छामीति विहितवान्, ततस्तदर्थिना जनेनोद्घुष्यते, तद् ग्रामनगराकरादिषु पठ्यमानं चाकर्णितं कर्ण्योपकर्ण्या चित्रजीवयतिना, ततस्तथाविधज्ञानातिशयोपयोगतः स्वजातीरुपलभ्य जातोऽस्याभिप्रायो यथा–गत्वा तं जन्मान्तरनिजभ्रातरं संभूतजीवमवबोधयामीति, प्रस्थितस्ततः स्थानात्, प्राप्तः क्रमेण काम्पिल्यं, स्थितस्तद्बहिरुद्याने, श्रुतश्चारघट्टिकपरिपठ्यमानः सार्द्धश्लोकः, पूरितश्चानेन द्वितीयश्लोकः, अवधारितश्चारघट्टिकेन, धावितश्चासौ नृपसकाशं राज्यलोभेन, पठितं चैतेन तत्पुरतः,

॥३८२॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३॥

दीप अनुक्रम [४०९]

परिपूर्णं श्लोकद्वयं, जातस्तदाकर्णनात्तस्य चित्तावेशः, निरुद्धश्च तज्जनितमूर्च्छयाऽऽश्वासमार्गो, निमीलितं लोचनयुगलं, लुठितः स आसनात्, निपतितो भुवि, किमेतत् किमेतदित्यादिनाऽऽकुलितः सर्वोऽपि तत्परिच्छदः, दृष्टश्च तेनारघट्टिकः, ताडितः पार्ष्णिप्रहारादिभिः, आरटितमेतेन–न मयैतत्पूरितं न मयेति, किन्त्वन्येनैव भिक्षुणैतत्कलिकन्दमूलेनेति, अत्रान्तरे लब्धा चेतना, प्राप्तं च स्वास्थ्यं चक्रवर्त्तिना, उक्तं च–कासौ श्लोकपूरयिताऽऽस्त इति ?, कथितस्तद्व्यतिकरो यथा–केनचिद् भिक्षुणैतत्पूरितं न त्वमुनेति, पृष्टं च पुनरनेन हर्षोत्फुल्लनयनयुगलेन–क्व तर्ह्यसाविति, कथितमारघट्टिकेन–देव! मदीयवाटिकायां, एतच्चाकर्ण्य प्रचलितः सबलवाहनः सकलान्तःपुरसमन्वितश्च तद्दर्शनाय, प्राप्तस्तद्उद्यानं, दृष्टो मुनिः, वन्दितः सबहुमानं, उपवेशितश्चैकासने, पप्रच्छतुः परस्परमनाभयं, कथयामासतुश्च यथास्वमनुभूतसुखदुःखफलविपाकं, तत्कथनानन्तरं च वर्णिता निजसमृद्धिश्चक्रवर्त्तिना, प्ररूपितस्तद्विपाकदर्शनतस्तत्परित्यागश्चित्रयतिना, एतावानेव प्रस्तुताध्ययनसूत्रस्यार्थोऽभिधेय इति सूत्रनिर्युक्तिगाथयोर्भावार्थः । सम्प्रति यदुक्तं–'सुखदुःखफलविपाकं तौ कथयामासतु'रिति, तत्र चक्रवर्त्ती यथा कथयामास तथा संबन्धपुरस्सरमाह—

चक्कवट्टी महिड्ढीओ, बंभदत्तो महायसो । भायरं बहुमाणेण, इमं वयणमब्बवी ॥ ४ ॥
आसिमो भायरा दोऽवि, अन्नमन्नवसाणुगा । अन्नमन्नमणूरत्ता, अन्नमन्नहिएसिणो ॥ ५ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४-७॥

दीप अनुक्रम [४१०--४१३]

दासा दसन्नये आसी, मिआ कालिंजरे नगे । हंसा मयंगतीराए, सोवागा कासिभूमिए ॥ ६ ॥
देवा य देवलोगंमि, आसि अम्हे महिड्ढिआ । इमा णो छट्ठिया जाई, अन्नमन्नेण जा विणा ॥ ७ ॥

चक्रवर्त्ती 'महर्द्धिकः' बृहद्विभूतिर्ब्रह्मदत्तो महायशाः 'भ्रातरं' जन्मान्तरसोदर्यं 'बहुमानेन' मानसप्रतिबन्धेन 'इदं' वक्ष्यमाणलक्षणं 'वचनं' वाक्यं 'अब्रवीद्' इत्युक्तवान्, यथा 'आसिमो'त्ति अभूवावां भ्रातरौ द्वावपि 'अन्योऽन्यं' परस्परं 'वसाणुग'त्ति वशम्–आयत्ततामनुगच्छन्तौ यौ तावन्योऽन्यवशानुगौ, तथा 'अन्योऽन्यमनुरक्तौ' अतीव स्नेहवन्तौ, तथा अन्योऽन्यहितैषिणौ' परस्परशुभाभिलाषिणौ, पुनः पुनरन्योऽन्यग्रहणं च तुल्यचित्ततातिशयख्यापनार्थं, मकारश्च सर्वत्रालाक्षणिकः । केषु पुनर्भवेष्वित्थमावामभूवेत्याह—दासौ 'दशार्णे' दशार्णदेशे 'आसि'त्ति अभूव, मृगौ 'कालिञ्जरे' कालिञ्जरनाम्नि नगे, हंसौ 'मृतगङ्गातीरे' उक्तरूपे, 'श्वपाकौ' चाण्डालौ 'कासिभूमिए'त्ति काशीभूम्यां काश्यभिधाने जनपदे, देवौ च देवलोके सौधर्माभिधानेऽभूव 'अम्हे'त्ति आवां महर्द्धिकौ,न तु किल्बिषिकौ, 'इमा मे'त्ति 'इमा णो'त्ति वा उभयत्रेयमावयोः षष्ठ्येव षष्ठिका जातिः, कीदृशी येत्याह—'अन्नमन्नेणं'ति अन्योऽन्येन परस्परेण या विना, कोऽर्थः ?–परस्परसाहित्यरहिता, वियुक्तयोर्यकेति भाव इति सूत्रचतुष्टयार्थः ॥ इत्थं चक्रवर्त्तिनोक्ते मुनिराह—

कम्मा नियाणप्पगडा, तुमे राय ! विचिंतिया । तेसिं फलविवागेणं, विप्पओगमुवागया ॥ ८ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥८॥

दीप अनुक्रम [४१४]

'कर्माणि' ज्ञानावरणादीनि नितरां दीयन्ते–लूयन्ते दीयन्ते वा खण्ड्यन्ते तथाविधसानुबन्धफलाभावतस्तपः–प्रभृतीन्यनेनेति निदानं–साभिष्वङ्गप्रार्थनारूपं तेन प्रकर्षेण कृतानि–विहितानि निदानप्रकृतानि, निदानवशनिबद्धानीति योऽर्थः, त्वया राजन् ! विचिन्तितानीति, तद्धेतुभूतार्त्तध्यानादिध्यानतः कर्माण्यपि तथोच्यन्ते 'तेषाम्' एवंविधकर्मणां फलं चासौ विपाकश्च–शुभाशुभजनकत्वलक्षणः फलविपाकस्तेन, यद्वा कर्माणि–अनुष्ठानानि 'णियाणपयड'त्ति निदानेनैव शेषशुभानुष्ठानस्याच्छादितत्वात्प्राग्वत्प्रकटनिदानानि त्वया राजन् ! विचिन्तितानि कृतानीतियावत्, तेषां फलं क्रमात्कर्म तद्विपाकेन 'विप्रयोगं' विरहं 'उपागतौ' प्राप्तौ, किमुक्तं भवति ?–यत्तदा त्वयाऽस्मन्निवारितेनापि निदानमनुष्ठितं तत्फलमेतद् यदावयोस्तथाभूतयोरपि वियोग इति सूत्रार्थः ॥ इत्थमवगतवियोगहेतुश्चक्री पुनः प्रश्नयितुमाह—

सच्चसोअप्पगडा, कम्मा मए पुरा कडा । ते अज्ज परिभुंजामो, किं नु चित्तेवि से तहा ? ॥ ९ ॥

सत्यं—मृषाभाषापरिहाररूपं शौचम्—अमायमनुष्ठानं ताभ्यां प्रकटानि—प्रख्यातानि कर्माणि–प्रक्रमाच्छुभानुष्ठानानि शुभप्रकृतिरूपाणि वा मया पुरा कृतानि, यानीति गम्यते, तानि 'अद्य' अस्मिन्नहनि, शेषतद्भवकालोपलक्षणं चैतत् 'परिभुंजामो'त्ति परिभुञ्जे–तद्विपाकोपनतस्त्रीरत्नादिपरिभोगद्वारेण वेदये, यथेति गम्यते, किमिति प्रश्ने, 'नु' इति वितर्के, 'चित्रोऽपि' चित्रनामाऽपि, कोऽर्थः ?–भवानपि 'से' इति तानि तथा परिभुङ्क्ते ?, नैव भुङ्क्ते,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥९॥

दीप अनुक्रम [४१५]

भिक्षुकत्वाद्व्रतः, तथा च किमिति भवताऽपि मयैव सहोपार्जितानि शुभकर्माणि विफलानि जातानीत्याशय इति सूत्रार्थः ॥ मुनिराह—

सव्वं सुचिण्णं सफलं नराणं, कडाण कम्माण न मुक्खु अत्थि ।
अत्थेहि कामेहि अ उत्तमेहिं, आया ममं पुण्णफलोववेओ ॥ १० ॥
जाणाहि संभूय! महाणुभागं, महिड्ढियं पुण्णफलोववेयं ।
चित्तंपि जाणाहि तहेव रायं !, इड्ढी जुई तस्सवि अप्पभूआ ॥ ११ ॥
महत्थरूवा वयणप्पभूया, गाहाणुगीया नरसंघमज्झे ।
जं भिक्खुणो सीलगुणोववेया, इहऽज्जयंते समणोऽम्हि जाओ ॥ १२ ॥

'सर्वं' निरवशेषं 'सुचीर्णं' शोभनमनुष्ठितं, तपःप्रभृतीति गम्यते, चीर्णशब्दस्य 'सुचीर्णं प्रोपितव्रत'मित्यादिरूढितः साधुत्वं, सह फलेन वर्त्तत इति सफलं, नराणामिति, उपलक्षणत्वादशेषाणामपि प्राणिनां, किमिति ?, यतः कृतेभ्यः—अर्थादवश्यवेद्यतयोपरचितेभ्यः कर्मभ्यो न 'मोक्षः' मुक्तिरस्तीति ,ददति हि तानि निजफलमवश्यमिति भावः, प्राकृतत्वाच्च सुच्च्यत्ययः, स्यादेतत्–त्वयैव व्यभिचार इत्याह–'अर्थैः' द्रव्यैरर्थैर्वा–प्रार्थनीयैः, वस्तुभिरिति गम्यते, कामैश्च—मनोज्ञशब्दादिभिः 'उत्तमैः' प्रधानैः, लक्षणे तृतीया, तत एतदुपलक्षितः सन्नात्मा मम

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१०--१२॥

दीप अनुक्रम [४१६--४१८]

पुण्यफलेन—शुभकर्मफलेनोपपेतः—अन्वितः स पुण्यफलोपपेतः इति ॥ यथा त्वं 'जानासि' अवधारयसि 'संभूत !' पूर्वजन्मनि संभूताभिधान ! 'महानुभागं' बृहन्माहात्म्यं 'महर्द्धिकं' सातिशयविभूतियुक्तम् अत एव पुण्यफलोपेतं चित्रमपि 'जानीहि' अवबुद्धस्व 'तथैव' अविशिष्टमेव 'राजन्!' नृप !, किमित्येवमत आह–ऋद्धिः–सम्पत् द्युतिः–दीप्तिस्तस्यापीति–जन्मान्तरनामतश्चित्राभिधानस्य, ममापीति भावः, चशब्दो यस्मादर्थे, ततो यस्मात्प्रभूता–बह्वीत्यर्थः, यद्वाऽऽत्मा मम पुण्यफलोपेत इति, अनेन चित्र एवात्मानं निर्दिशति, तथा जानीहि संभूत इत्यादौ आत्मेत्यनुवर्त्तते, अर्थवशाच्च विभक्तिपरिणामः, ततश्चैवं योज्यते—हे संभूत ! यथा त्वमात्मानं महानुभागादिविशेषणविशिष्टं जानासि तथा चित्रमपि जानीहि, चित्रनाम्नो ममापि गृहस्थभावे एवंविधत्वादेवेति भावः, शेषं प्राग्वत् ॥ यदि तवाप्येवंविधा समृद्धिरासीत् तत्किमिति प्रव्रजित इत्याह—महान्–अपरिमितोऽनन्तद्रव्यपर्यायात्मकतयाऽर्थः—अभिधेयं यस्य तन्महार्थं रूपं–स्वरूपं न तु चक्षुर्ग्राह्यो गुणः, ततो महार्थं रूपं यस्याः सा तथा, महतो वाऽर्थान्–जीवादितत्त्वरूपान् रूपयति—दर्शयतीति महार्थरूपा, 'वयणप्पभूय'त्ति वचनेन अग्रभूता अल्पभूता वा–अल्पत्वं प्राप्ता वचनाल्पभूता वचनात्प्रभूता वा श्लोकाक्षरेतियावत्, केयमीदृशीत्याह–गीयत इति गाथा, सा चेहार्थोद्धर्माभिधायिनी सूत्रपद्धतिः, अन्विति—तीर्थकृद्गणधरादिभ्यः पश्चाद्गीता अनुगीता, कोऽर्थः ?–तीर्थकरादिभ्यः श्रुत्वा प्रतिपादिता स्थविरैरिति शेषः, अनुलोमं वा गीताऽनुगीता, अनेन श्रोत्रनुकूलैव देशना क्रियत

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१०--१२॥

दीप अनुक्रम [४१६--४१८]

इति ख्यापितं भवति । केत्याह—नराणां—पुरुषाणां सङ्घः—समूहस्तन्मध्ये, गाथामेव पुनर्विशेषयितुमाह—'यां' गाथां 'भिक्षवः' मुनयः शीलं—चारित्रं तदेव गुणः, यद्वा गुणः पृथगेव ज्ञानं, ततः शीलगुणेन शीलगुणाभ्यां वा–चारित्रज्ञानाभ्यामुपेताः–युक्ताः शीलगुणोपेताः 'इह' अस्मिन् जगति 'अज्जयंते'त्ति अर्जयन्ति पठनश्रवणतदर्थानुष्ठानादिभिरावर्जयन्ति । यद्वा 'जं भिक्खुणो' इत्यत्र श्रुत्वेति शेषः, ततो यां श्रुत्वा 'जयंत'त्ति 'इह' अस्मिन् जिनप्रवचने 'यतन्ते' यत्नवन्तो भवन्ति, सोपस्कारत्वात्सा मयाऽप्याकर्णिता, ततः 'श्रमणः' तपस्वी अस्मि अहं जातो, न तु दुःखदग्धत्वादिति भावः, पठ्यते च–'सुमणो'त्ति सुमनाः शोभनमना इति सूत्रत्रयार्थः ॥ इत्थं मुनिनाऽभिहिते ब्रह्मदत्तः स्वसमृद्धया निमन्त्रयितुमाह—

उच्चोअए मद्दुकक्के य बंभे, पवेइया आवसहा य रम्मा ।
इमं गिहं वित्तधणप्पभूयं, पसाहि पंचालगुणोववेयं ॥ १३ ॥
नट्टेहि गीएहि य वाइएहिं, नारीजणाहिं परिवारयंतो ।
भुंजाहि भोगाइं इमाइं भिक्खू!, मम रोअई पव्वज्जा हु दुक्खं ॥ १४ ॥

उच्चोदयो मधुः कर्कः, चशब्दान्मध्यो ब्रह्मा च पञ्च प्रधानाः प्रासादाः प्रवेदिताः, मम वर्द्धकिपुरःसरैः सुरैरुपनीता इत्यर्थः, 'आवसथाश्च' शेषभवनप्रकारा 'रम्याः' रमणीयाः, पाठान्तरतश्च आवसथाः अतिरम्याः—सुरम्या

॥३८५॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१३--१४॥ दीप अनुक्रम [४१९--४२०]

वा, एते तु यत्रैव चक्रिणे रोचते तत्रैव भवन्तीति वृद्धाः, किञ्च–'इदं' प्रत्यक्षं 'गृहम्' अवस्थितप्रासादरूपं वित्तं–प्रतीतं तच्च तद्धनं च–हिरण्यादि तेनोपेतं–युक्तं वित्तधनोपेतं, पठन्ति च 'चित्तधणप्पभूयं'ति, तत्र प्रभूतं—बहु चित्रम्—आश्चर्यमनेकप्रकारं वा धनमस्मिन्निति प्रभूतचित्रधनं, सूत्रे तु प्रभूतशब्दस्य परनिपातः प्राग्वत्, 'प्रसाधि' प्रतिपालय पञ्चाला नाम जनपदस्तस्मिन् गुणा–इन्द्रियोपकारिणो रूपादयस्तैरुपेतं पञ्चालगुणोपेतं, किमुक्तं भवति ?–पञ्चालेषु यानि विशिष्टवस्तूनि तान्यस्मिन् गृहे सर्वाण्यपि सन्ति, तदा पञ्चालानामत्युदीर्णत्वात्पञ्चालग्रहणम्, अन्यथा हि भरतेऽपि यद्विशिष्टवस्तु तत् तद्गेह एव तदासीत् ॥ किं च 'णट्टेहिं'ति द्वात्रिंशत्पात्रोपलक्षितैर्नाट्यैर्नृत्यैर्वा—विविधाङ्गहारादिस्वरूपैर्गीतैः—ग्रामस्वरमूर्च्छनालक्षणैः, चस्य भिन्नक्रमत्वात्, 'वाइएहिं'ति वादित्रैश्च मृदङ्गमुकुन्दादिभिः 'नारीजनान्' स्त्रीजनान् 'परिवारयन्' परिवारीकुर्वन्, पठ्यते च–'पवियारियंतो'त्ति प्रविचारयन् सेवमानो, 'भुञ्जाहि'त्ति भुङ्क्ष्व भोगानिमान्–परिदृश्यमानान्, सूत्रत्वात् सर्वत्र लिङ्गव्यत्ययः, भिक्षो !, इह तु यद्गजतुरङ्गमाद्यनभिधाय स्त्रीणामेवाभिधानं तत् स्त्रीलोलुपत्वात्तस्य, तासामेव वाऽत्यन्ताक्षेपकत्वख्यापनार्थं, कदाचिच्चित्रो वदेदित्थमेव सुखमित्याह—मह्यं 'रोचते' प्रतिभाति प्रव्रज्या, 'दुः' अवधारणे भिन्नक्रमश्च, दुःखमेव, न मनागपि सुखं, दुःखहेतुत्वादिति भाव इति सूत्रद्वयार्थः ॥ इत्थं चक्रिणोक्ते मुनिः किं कृतवान् ? इत्याह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१५॥

दीप अनुक्रम [४२१]

तं पुव्वनेहेण कयाणुरागं, नराहिवं कामगुणेसु गिद्धं ।
धम्मस्सिओ तस्स हियाणुपेही, चित्तो इमं वयणमुदाहरित्था ॥ १५ ॥

'तं' ब्रह्मदत्तं 'पूर्वस्नेहेन' जन्मान्तरप्ररूढप्रणयेन 'कृतानुरागं' विहिताभिष्वङ्गं 'नराधिपं' राजानं 'कामगुणेषु' अभिलष्यमाणशब्दादिषु 'गृद्धम्' अभिकाङ्क्षान्वितं 'धर्माश्रितः' धर्मस्थितः 'तस्य' इति चक्रिणः हितं—पथ्यम् अनुप्रेक्षते–पर्यालोचयतीत्येवंशीलो हितानुप्रेक्षी–कथं नु नामास्य हितं स्यादिति विचिन्तनपरश्चित्रजीवयतिरिदं वाक्यं पाठान्तरतो वचनं वा 'उदाहरित्थ'त्ति 'उदाहृतवान्' उक्तवानिति सूत्रार्थः ॥ किं तदुदाहृतवानित्याह—

सव्वं विलवियं गीयं, सव्वं नट्टं विडंबणा । सव्वे आभरणा भारा, सव्वे कामा दुहावहा ॥ १६ ॥
बालाभिरामेसु दुहावहेसु, न तं सुहं कामगुणेसु रायं ! ।
विरत्तकामाण तवोधणाणं, जं भिक्खुणं सीलगुणे रयाणं ॥ १७ ॥

'सर्वम्' अशेषं विलपितमिव विलपितं निरर्थकतया रुदितयोनितया च, तत्र निरर्थकतया मत्तबालकगीतवत् रुदितयोनितया च विरहावस्थमृतप्रोषितभर्तृकागीतवत्, किमित्याह–'गीतं' गानं, तथा सर्वं 'नृत्यं' गात्रविक्षेपणरूपं विडम्बितमिव विडम्बितं, यथा हि यक्षाविष्टः पीतमद्यादिर्वा यतस्ततो हस्तपादादीन् विक्षिपति, एवं नृत्यन्नपीति, तथा सर्वाणि 'आभरणानि' मुकुटाङ्गदादीनि 'भाराः' तत्त्वतो भाररूपत्वात्तेषां, तथाविधवनिताभर्तृ-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१६--१७॥

दीप अनुक्रम [४२२--४२३]

कारितसुवर्णस्थगितशिलापुत्रकाभरणवत्, सर्वे 'कामाः' शब्दादयो 'दुःखावहाः' मृगादीनामिवायतौ दुःखावाप्तिहेतुत्वात्, मत्सरेर्ष्याविषादादिभिश्चित्तव्याकुलत्वोत्पादकत्वान्नरकादिहेतुत्वाच्चेति । तथा बालानां—विवेकरहितानामभिरामाः—चित्ताभिरतिहेतवो ये तेषु 'दुःखावहेषु' उक्तन्यायेन दुःखप्रापकेषु न तत्सुखं 'कामगुणेषु' मनोज्ञशब्दादिषु, सेव्यमानेष्विति शेषः, 'राजन्!' पृथ्वीपते! 'विरत्तकामाणं'त्ति प्राग्वत्, कामविरक्तानां–विषयपराङ्मुखानां तप एव धनं येषां ते तपोधनास्तेषां यत्सुखमिति संबन्धः, 'भिक्षूणां' यतीनां शीलगुणयोर्वा सूत्रत्वाद् 'रतानां' आसक्तानामिति सूत्रद्वयार्थः ॥ बालेत्यादिसूत्रं चूर्णिकृता न व्याख्यातं, क्वचित्तु दृश्यत इत्यस्माभिरुन्नीतं ॥ सम्प्रति धर्मफलोपदर्शनपुरःसरमुपदेशमाह—

नरिंद जाई अहमा नराणं, सोवागजाई दुहओ गयाणं।
जहिं वयं सव्वजणस्स वेसा, वसीअ सोवागनिवेसणेसु ॥ १८ ॥
तीसे अ जाईइ उ पावियाए, वुच्छा मु सोवागनिवेसणेसुं।
सव्वस्स लोगस्स दुगुंछणिज्जा, इहं तु कम्माइं पुरेकडाइं ॥ १९ ॥
सो दाणि सिं राय! महाणुभागो महिड्ढिओ पुण्णफलोववेओ।
चइत्तु भोगाइं असासयाइं, आयाणहेउं अभिनिक्खमाहि ॥ २० ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१८--२०॥

दीप अनुक्रम [४२४--४२६]

'नरेन्द्र !' चक्रवर्त्तिन् ! जायन्तेऽस्यामिति जातिः 'अधमा' निकृष्टा 'नराणां' मनुष्याणां मध्ये 'श्वपाकजातिः' चाण्डालजातिः 'दुहतो'त्ति द्वयोरपि 'गतयोः' प्राप्तयोः, किमुक्तं भवति ?–यदाऽऽवां श्वपाकजातावुत्पन्नौ तदा सर्वजनगर्हिता जातिरासीत्, कदाचित्तामवाप्याप्यन्यत्रैवोषितौ स्यातामित्याह—यस्यां, वयं प्राग्वच्च बहुवचनं,'सर्वजनस्य' अशेषलोकस्य 'द्वेष्यौ' अप्रीतिकरौ 'वसीय'त्ति अवसाव–उषितौ, केषु ?—श्वपाकानां निवेशनानि–गृहाणि श्वपाकनिवेशनानि तेषु, कदाचित्तत्रापि विज्ञानविशेषादिनाऽहीलनीयावेव स्यातामित्याह–तस्यां च जातौ श्वपाकसम्बन्धिन्यां च, 'तुः' विशेषणे, ततश्च जात्यन्तरेभ्यः कुत्सितत्वं विशिनष्टि, पापैव पापिका तस्यां कुत्सितायां, पापहेतुभूतत्वेन वा पापिका तस्यां, प्रापिकायां वा नरकादिकुगतेरिति गम्यते, 'वुच्छे'ति उषितौ 'मु' इत्यावां, केषु ?–श्वपाकनिवेशनेषु, कीदृशौ ?–सर्वस्य लोकस्य 'जुगुप्सनीयौ' हीलनीयौ 'इह' इत्यस्मिन् जन्मनि 'तुः' पुनरर्थस्तत इह पुनः 'कर्माणि' शुभानुष्ठानानि 'पुरेकडाइं'ति पूर्वजन्मोपार्जितानि विशिष्टजात्यादिनिबन्धनानीति शेषः, तत उत्पन्नप्रत्ययैः पुनस्तदुपार्जन एव यत्नो विधेयो न तु विषयाभिष्वङ्गव्याकुलितमानसैरेव स्थेयमिति भाव इति ॥ यतश्चैवमतः 'सः' इति यः पुरा संभूतनामाऽनगार आसीद् 'इदानीम्' अस्मिन् काले 'सि'त्ति पूरणे यद्वा 'दाणिसिं'ति देशीयभाषयेदानीं राजा महानुभागो महर्द्धिकः पुण्यफलोपेतश्च सन् दृष्टधर्मफलत्वेनाभिनिष्क्रामेति संबन्धः, अथवा सोपस्कारत्वाद्यत् स एव त्वमिदानीं राजा महानुभागताद्यन्वित इह जातस्तत्कर्माणि पुराकृतानीति

॥३८७॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१८--२०॥

दीप अनुक्रम [४२४--४२६]

पूर्वेण संबन्धः, कोऽर्थः ?–पुराकृतकर्मविजृम्भितमेवैतत्, कथमन्यथा तथाभूतस्यैवंविधसमृद्ध्यवाप्तिरिति भावः, यतश्चैवमतोऽभिनिष्क्रामेति संबन्धः, किं कृत्वेत्याह–'त्यक्त्वा' अपहाय भुज्यन्त इति भोगाः–द्रव्यनिचयाः कामा वा तान् 'अशाश्वतान्' अनित्यान् आदीयते–सद्विवेकैर्गृह्यत इत्यादानः–चरित्रधर्मस्तद्धेतोरभिनिष्क्राम–आभिमुख्येन प्रव्रजितो भव, गृहस्थतायां हि न सर्वविरतिरूपचारित्रसम्भव इति भावः, पठन्ति च–'आयाणमेवा अणुचिंतयाही'ति, स्पष्टमिति सूत्रत्रयार्थः ॥ क एवमकरणे दाष इत्याह—

इह जीविए राय ! असासयंमि, धणियं तु पुण्णाइँ अकुव्वमाणो ।
से सोअई मच्चुमुहोवणीए, धम्मं अकाऊण परंमि लोगे ॥ २१ ॥

इह 'जीविते' मनुष्यसम्बन्धिन्यायुषि राजन् ! 'अशाश्वते' अस्थिरे 'धणियं तु'त्ति अतिशयेनैव न तु ध्वजपटप्रान्ताद्यन्यास्थिरवस्तुसाधारणतया 'पुण्यानि' पुण्यहेतुभूतानि शुभानुष्ठानान्यकुर्वाणः 'सः' इति पुण्यानुपार्जकः 'शोचते' दुःखार्त्तः पश्चात्तापं विधत्ते, मृत्युः–आयुःपरिक्षयस्तस्य मुखमिव मुखं मृत्युमुखं–शिथिलीभवद्बन्धनाद्यवस्था तदुपनीतस्तथाविधकर्मभिरुपढौकितो मृत्युमुखोपनीतः सन् 'धर्मं' शुभानुष्ठानम् 'अकृत्वा' अननुष्ठाय 'परंमि'त्ति चास्य गम्यमानत्वात् परस्मिंश्च 'लोके' जन्मान्तररूपे, गत इति शेषः, नरकादिषु ह्यसद्यासातवेदनार्दितशरीरः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२१॥

दीप अनुक्रम [४२७]

शशिनृपतिवत्किं न मया तदैव सदनुष्ठानमनुष्ठितमिति खिद्यत एवाधर्मकारीति सूत्रार्थः ॥ स्यादेतत्–मृत्युमुखोपनीतस्य परत्र वा दुःखाभिहतस्य स्वजनादयस्त्राणाय भविष्यन्ति, ततो न शोचिष्यन्ते इत्याशङ्क्याह—

जहेह सीहो व मियं गहाय, मच्चू नरं नेइ हु अंतकाले ।
न तस्स माया व पिया व भाया, कालंमि तंमंसहरा भवंति ॥ २२ ॥
न तस्स दुक्खं विभयंति नायओ, न मित्तवग्गा न सुआ न बंधवा ।
इक्को सयं पच्चणुहोइ दुक्खं, कत्तारमेवं अणुजाइ कम्मं ॥ २३ ॥

'यथे'त्यौपम्ये 'इहे'ति लोके 'सिंहः' मृगपतिः, वेति पूरणे, यद्वा वाशब्दोऽयं विकल्पार्थे, ततो व्याघ्रादिर्वा 'मृगं' कुरङ्गं 'गृहीत्वा' उपादाय प्रक्रमात्स्वमुखं परलोकं वा नयतीति सम्बन्धः, एवं 'मृत्युः' कृतान्तः 'नरं' पुरुषं नयति 'हुः' अवधारणे, ततो नयत्येव, कदा ?–अन्तकाले जीवितव्यावसानसमये, किमुक्तं भवति ?–यथाऽसौ सिंहेन नीयमानो न तस्यै अलम्, एवमयमपि जन्तुर्मृत्युना, कदाचित्स्वजनस्तत्र साहाय्यं करिष्यत्यत आह–न तस्य–मृत्युना नीयमानस्य माता वा पिता वा 'भाय'त्ति वाशब्दस्येह गम्यमानत्वाद्भ्राता वा 'काले तस्मिन्' जीवितान्तरूपे अंशं–प्रक्रमाज्जीवितव्यभागं धारयन्ति–मृत्युना नीयमानं रक्षन्तीत्यंशधराः, यथा हि नृपादौ स्वजनसर्वस्वमपहरति स्वद्रविणदानतः स्वजनादिभिस्तद्रक्ष्यते नैवं स्वजीवितव्यांशदानतस्तज्जीवितं मृत्युना नीयमानम्, उक्तं

॥३८८॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२२--२३॥

दीप अनुक्रम [४२८--४२९]

हि–"न पिता भ्रातरः पुत्रा, न भार्या न च बान्धवाः । न शक्ताः मरणात्त्रातुं, शक्ताः संसारसागरे ॥ १ ॥" इति, अथवाऽंशो–दुःखभागस्तं हरन्ति–अपनयन्ति ये तेऽंशहरा भवन्तीति, इदमेवाभिव्यनक्ति, आद्यव्याख्याने तु स्यादेतद्–जीवितारक्षणेऽपि दुःखांशहारिणो भविष्यन्त्यत आह–न तस्य–मृत्युना नीयमानस्य तत्कालभाविना दुःखेनात्यन्तपीडितस्य दुःखं शारीरं मानसं वा 'विभजन्ति' विभागीकुर्वन्ति 'ज्ञातयः' दूरवर्त्तिनः स्वजना न 'मित्रवर्गा' सुहृत्समूहा न 'सुताः' पुत्रा न 'बान्धवाः' निकटवर्त्तिनः स्वजनाः, किन्तु एकः–अद्वितीयः 'स्वयम्' आत्मना 'प्रत्यनुभवति' वेदयते 'दुःखं' क्लेशं, किमिति ?, यतः 'कर्तारमेव' उपार्जयितारमेव 'अनुयाति' अनुगच्छति, किं तत् ?–कर्म, येन तत्कृतं तस्यैव फलमुपनयतीति भाव इति सूत्रद्वयार्थः ॥ इत्थमशरणत्वभावनामभिधायैकत्वभावनामाह–

चिच्चा दुपयं च चउप्पयं च, खित्तं गिहं धणधन्नं च सव्वं ।
कम्मप्पबीओ अवसो पयाई, परं भवं सुंदर पावगं वा ॥ २४ ॥
तं इक्कगं तुच्छसरीरगं से, चिईगयं दहिउं पावगेणं ।
भज्जा य पुत्तावि य नायओ अ, दायारमन्नं अणुसंकमंति ॥ २५ ॥

'त्यक्त्वा' उत्सृज्य 'द्विपदं च' भार्यादि 'चतुष्पदं च' हस्त्यादि 'क्षेत्रम्' इक्षुक्षेत्रादि 'गृहं' धवलगृहादि 'धण'त्ति धनं–कनकादि 'धान्यं' शाल्यादि, चशब्दाद् वस्त्रादि च, 'सर्वं' निरवशेषं, ततः किमित्याह–कर्मैवात्मनो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२४--२५॥

दीप अनुक्रम [४३०--४३१]

द्वितीयमस्येति कर्मात्मद्वितीयः 'अवशः' अस्वतन्त्रः प्रकर्षेण याति–प्राप्नोति प्रयाति, कं ?–'परम्' अन्यं 'भवं' जन्म 'सुंदर'त्ति विन्दुलोपात् 'सुन्दरं' स्वर्गादि 'पापकं वा' नरकादि, स्वकृतकर्मानुरूपमिति भावः ॥ तत्र किमन्यदर्शनिनामिव सशरीर एव भवान्तरं यात्युत अन्यथेति ?, उच्यते, औदारिकशरीरापेक्षयाऽशरीर एव, तर्हि तत्त्यक्त्वेत्यत्र का वार्त्तेत्याह–'तद्' इति यत्तेन त्यक्तम् 'एकम्' अद्वितीयं तद्द्वितीयस्य जन्तोरन्यत्र सङ्क्रमणात् तुच्छम्–असारमत एव कुत्सितं शरीरं शरीरकम्, अनयोस्तु विशेषणसमासः, 'से' तस्य भवान्तरगतस्य संबन्धि चीयन्ते–मृतकदहनाय इन्धनानि अस्यामिति चितिः–काष्ठरचनात्मिका तस्यां गतं–स्थितं चितिगतं दग्ध्वा 'तुः' पूरणे 'पावकेन' अग्निना भार्या च पुत्रोऽपि च ज्ञातयश्च 'दातारम्' अभिलषितवस्तुसम्पादयितारमन्यम् 'अनुसङ्क्रामन्ति' उपसर्पन्ति, ते हि गृहमनेनावरुद्धमास्त इति तद्गृहिर्निष्काश्य जनलज्जादिना च भस्मसात्कृत्य कृत्वा च लौकिककृत्यान्याक्रन्द्य च कतिचिद्दिनानि पुनः स्वार्थतत्परतया तथाविधमन्यमेवानुवर्त्तन्ते, न तु तत्प्रवृत्तिमपि पृच्छन्ति, आस्तां तदनुगमनमित्यभिप्राय इति सूत्रद्वयार्थः ॥ किञ्च—

उवणिज्जई जीवियमप्पमायं, वण्णं जरा हरइ नरस्स रायं !।
पंचालराया ! वयणं सुणाहि, मा कासि कम्माइं महालयाइं ॥ २६ ॥

'उपनीयते' ढौक्यते प्रक्रमान्मृत्यवे तथाविधकर्मभिः 'जीवितम्' आयुः 'अप्रमादं' प्रमादं विनैव, आवीचीमर-

॥३८९॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२६॥

दीप अनुक्रम [४३२]

णतो निरन्तरमित्यभिप्रायः, सत्यपि च जीविते 'वर्ण' सुस्निग्धच्छायात्मकं 'जरा' विश्रसा 'हरति' अपनयति 'नरस्य' मनुष्यस्य 'राजन्!' चक्रवर्त्तिन्!, यतश्चैवमतः 'पञ्चालराज!' पञ्चमण्डलोद्भवनृपते! 'वचनं' वाक्यं 'शृणु' आकर्णय, किं तत्?–मा कार्षीः, कानि?–'कर्माणि' असदारम्भरूपाणि 'महालयाणि'त्ति अतिशयमहान्ति, महान् वा लयः–कर्माश्लेषो येषु तानि, उभयत्र पञ्चेन्द्रियव्यपरोपणकुणिमभक्षणादीनीति सूत्रार्थः ॥ एवं मुनिनोक्ते नृपतिराह—

अहंपि जाणामि जहेह साहू!, जं मे तुमं साहसि वक्कमेयं।
भोगा इमे संगकरा भवंति, जे दुज्जया अज्जो! अम्हारिसेहिं ॥ २७ ॥

अहमपि, न केवलं भवानित्यपिशब्दार्थः, 'जानामि' अवबुध्ये, तथा इति शेषः, 'यथा' येन प्रकारेण 'इह' अस्मिन् जगति साधो! यत् 'मे' मम त्वं 'साधयसि' कथयसि'वाक्यम्' उपदेशरूपं वचः 'एतत्' यदनन्तरं भवतोक्तं, तत् किं न विषयान् परित्यजस्यत आह–'भोगाः' शब्दादयः 'इमे' प्रत्यक्षाः 'सङ्गकराः' प्रतिबन्धोत्पादका भवन्ति ये यत्तदोश्च नित्याभिसम्बन्धात्ते दुःखेन जीयन्ते–अभिभूयन्तें इति दुर्जयाः दुस्त्यजा इतियावत् 'अज्जो'त्ति आर्य! अस्मादृशैः, गुरुकर्मभिर्जन्तुभिरिति गम्यते, पठ्यते च–'अहंपि जाणामि जो एत्थ सारो' पादत्रयं तदेव, अहमपि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२४--२५॥

दीप अनुक्रम [४३०--४३१]

जानामि योऽत्र सारो–यदिह मनुजजन्मनि प्रधानं चारित्रधर्मात्मकं, चस्य गम्यमानत्वात्, यच्च मे त्वं साधयसि, शेषं प्राग्वदिति सूत्रार्थः ॥ किञ्च—

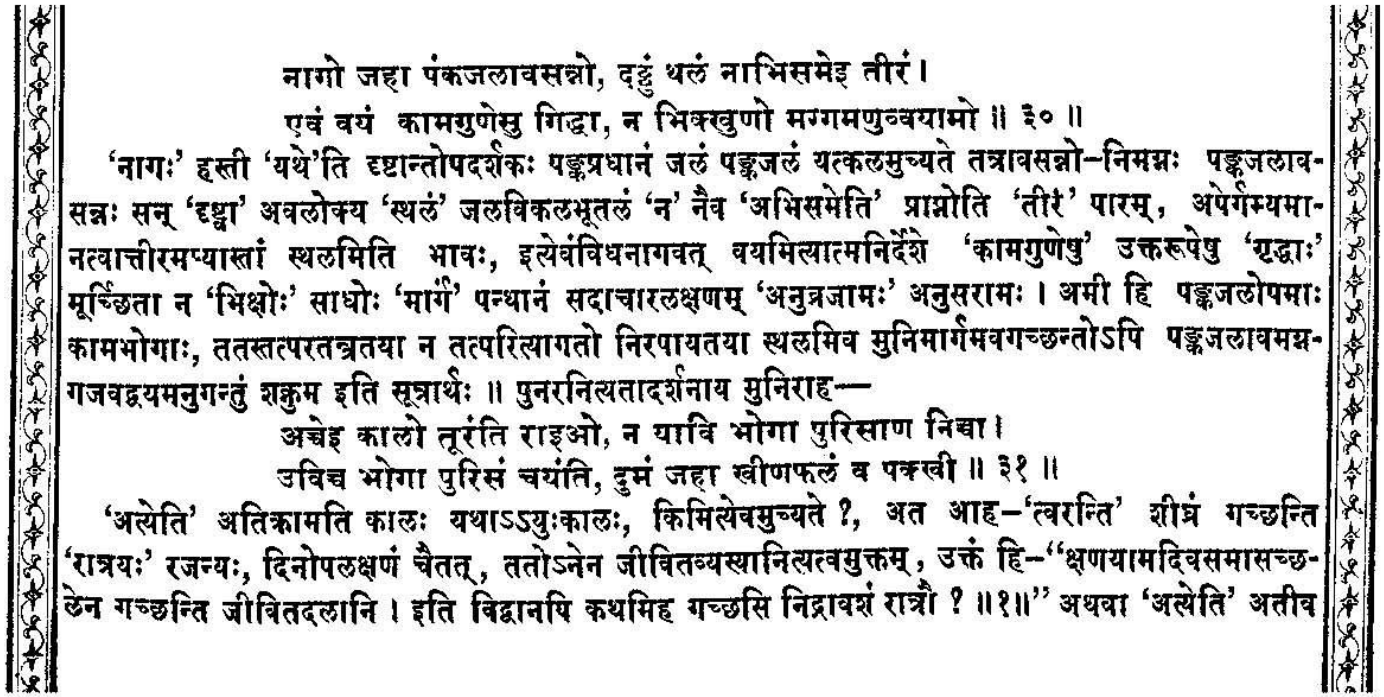
हत्थिणपुरंमि चित्ता ! दट्ठूणं नरवइं महिड्ढियं । कामभोगेसु गिद्धेणं नियाणमसुभं कडं ॥ २८ ॥
तस्स मे अप्पडिकंतस्स, इमं एयारिसं फलं । जाणमाणोऽवि जं धम्मं, कामभोगेसु मुच्छिओ ॥ २९ ॥

हस्तिनागपुरे 'चित्ता' इति आकारोऽलाक्षणिकः, हे 'चित्र !' चित्रनामन् मुने ! दृष्ट्वा 'नरपतिं' सनत्कुमारनामानं चतुर्थचक्रवर्त्तिनं 'महर्द्धिकं' सातिशयसम्पदं 'कामभोगेषु' उत्कटरूपेषु 'गृद्धेन' अभिकाङ्क्षावता 'निदानं' जन्मान्तरे भोगाशंसात्मकम् 'अशुभं' अशुभानुबन्धि 'कृतं' निवर्त्तितमिति ॥ कदाचित्तत्र कृतेऽपि ततः प्रतिक्रान्तः स्यादत आह–'तस्स'त्ति सुव्व्यत्ययेन तस्मात् निदानात् 'मे' मम 'अप्रतिक्रान्तस्य' अप्रतिनिवृत्तस्य, तदा हि त्वया बहुधोच्यमानेऽपि न मच्चेतसः प्रत्यावृत्तिरभूदिति, 'इदमेतादृशम्' अनन्तरवक्ष्यमाणरूपं 'फलं' कार्यं, यत् कीदृगित्याह–'जाणमाणोऽवि'त्ति प्राकृतत्वात् 'जानन्नपि' अवबुध्यमानोऽपि यदहं 'धर्मं' श्रुतधर्मादिकं कामभोगेषु मूर्छितः–गृद्धः, तदेतत्कामभोगेषु मूर्छनं मम निदानकर्मणः फलम्, अन्यथा हि 'ज्ञानस्य फलं विरति'रिति कथं न जानतोऽपि धर्मानुष्ठानावासिः स्यादिति भाव इति सूत्रद्वयार्थः ॥ पुनर्निदानफलमेवोदाहरणतो दर्शयितुमाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३०॥

दीप अनुक्रम [४३६]



नागो जहा पंकजलावसन्नो, दट्ठुं थलं नाभिसमेइ तीरं।
एवं वयं कामगुणेसु गिद्धा, न भिक्खुणो मग्गमणुव्वयामो ॥ ३० ॥

'नागः' हस्ती 'यथे'ति दृष्टान्तोपदर्शकः पङ्कप्रधानं जलं पङ्कजलं यत्कलमुच्यते तत्रावसन्नो–निमग्नः पङ्कजलावसन्नः सन् 'दृष्ट्वा' अवलोक्य 'स्थलं' जलविकलभूतलं 'न' नैव 'अभिसमेति' प्राप्नोति 'तीरं' पारम्, अपेर्गम्यमानत्वात्तीरमप्यास्तां स्थलमिति भावः, इत्येवंविधनागवत् वयमित्यात्मनिर्देशे 'कामगुणेषु' उक्तरूपेषु 'गृद्धाः' मूर्च्छिता न 'भिक्षोः' साधोः 'मार्गं' पन्थानं सदाचारलक्षणम् 'अनुव्रजामः' अनुसरामः। अमी हि पङ्कजलोपमाः कामभोगाः, ततस्तत्परतन्त्रतया न तत्परित्यागतो निरपायतया स्थलमिव मुनिमार्गमवगच्छन्तोऽपि पङ्कजलावमग्नगजवद्वयमनुगन्तुं शक्नुम इति सूत्रार्थः ॥ पुनरनित्यतादर्शनाय मुनिराह—

अच्चेइ कालो तूरंति राइओ, न यावि भोगा पुरिसाण निच्चा।
उविच्च भोगा पुरिसं चयंति, दुमं जहा खीणफलं व पक्खी ॥ ३१ ॥

'अत्येति' अतिक्रामति कालः यथाऽऽयुःकालः, किमित्येवमुच्यते ?, अत आह–'त्वरन्ति' शीघ्रं गच्छन्ति 'रात्रयः' रजन्यः, दिनोपलक्षणं चैतत्, ततोऽनेन जीवितव्यस्यानित्यत्वमुक्तम्, उक्तं हि–"क्षणयामदिवसमासच्छलेन गच्छन्ति जीवितदलानि। इति विद्वानपि कथमिह गच्छसि निद्रावशं रात्रौ ? ॥१॥" अथवा 'अत्येति' अतीव

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३१॥

दीप अनुक्रम [४३७]

याति, कोऽसौ?–कालः, कुत एतत्?–यतस्त्वरन्ति रात्रयो, न चापि भोगाः पुरुषाणां 'नित्याः' शाश्वताः, अपेभिन्नक्रमत्वान्न केवलं जीवितमुक्तिनीतितो न नित्यं, किन्तु भोगा अपि, यत उपेत्य स्वप्रवृत्त्या न तु पुरुषाभिप्रायेण भोगाः पुरुषं 'त्यजन्ति' परिहरन्ति, कमिव क इवेत्याह–'द्रुमं' वृक्षं यथा क्षीणानि–विनष्टानि फलानि यस्यासौ क्षीणफलस्तं, 'वा' इत्यौपम्ये, उक्तं हि–"पिव मिव विव वा इवार्थे" भिन्नक्रमश्चायं, ततः 'पक्षीव' विहग इव, फलोपमानि हि पुण्यानि, ततस्तदपगमे क्षीणफलं वृक्षमिव पुरुषं पक्षिवद्भोगा विमुञ्चन्तीति सूत्रार्थः॥ यत एवमतः–

जईऽसि भोगे चइउं असत्तो, अज्जाइं कम्माइं करेहि रायं !।
धम्मे ठिओ सव्वपयाणुकंपी, तं होहिसि देवो इओ विउव्वी ॥ ३२ ॥

यदि तावदसि त्वं भोगान् 'त्यक्तुम्' अपहातुम् 'अशक्तः' असमर्थः, पठ्यते च–'जइ तंसि भोगे चइतुं असत्ते'त्ति, यदि चैवं तावत्कर्तुं न शक्तस्ततः किमित्याह–'आर्याणि' हेयधर्मेभ्यः–अतिनिस्त्रिंशतादिभ्यो दूरयातानि शिष्टजनोचितानीतियावत् 'कर्माणि' अनुष्ठानानि कुरु राजन्! 'धर्मे' प्रक्रमाद्गृहस्थधर्मे सम्यग्दृष्ट्यादिशिष्टाचरिताचारलक्षणे स्थितः सन् 'सर्वप्रजानुकम्पी' समस्तप्राणिदयापरः, ततः किं फलमित्याह–'ततः' इत्यार्यकर्मकरणाद् भविष्यसि 'देवः' वैमानिकः 'इतः' इत्यस्मान्मनुष्यभवादनन्तरं 'विउवि'त्ति वैक्रियशरीरवानित्यर्थ इति वृद्धाः, गृहस्थ-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३२॥

दीप अनुक्रम [४३८]

धर्मस्यापि सम्यक्त्वदेशविरतिरूपस्य देवलोकफलत्वेनोक्तत्वादिति भाव इति सूत्रार्थः ॥ एवमुक्तोऽपि यदाऽसौ न किञ्चित्प्रतिपद्यते तदा तदविनेयतामवधार्य मुनिराह—

न तुज्झ भोगे चइऊण बुद्धी, गिद्धोऽसि आरंभपरिग्गहेसुं ।
मोहं कओ इत्तिउ विप्पलावो, गच्छामि रायं ! आमंतिओऽसि ॥ ३३ ॥

'नें'ति प्रतिषेधे तव 'भोगान्' शब्दादीन्, उपलक्षणत्वादनार्यकर्माणि वा, 'चइऊण'त्ति त्यक्तुं, यद्वा सोपस्कारत्वाद्भोगांस्त्यक्त्वा धर्मो मया विधेय इति 'बुद्धिः' अवगतिः, किन्तु 'गृद्धः' मूर्च्छितः 'असि' भवसि, केषु ?– 'आरम्भपरिग्रहेषु' अवद्यहेतुषु व्यापारेषु चतुष्पदद्विपदादिस्वीकारेषु च, 'मोहं'ति मोघं निष्फलं यथा भवति एवं, मुच्यत्यया वा मोघो–निष्फलो मोहेन वा–पूर्वजन्मनि मम भ्राताऽऽसीदिति स्नेहलक्षणेन 'कृतः' विहितः एतावान् 'विप्रलापः' विविधव्यर्थवचनोपन्यासात्मकः, सम्प्रति तु 'गच्छामि' व्रजामि राजन् ! आमन्त्रितः–संभाषितः, अनेकार्थत्वाद्धातूनां पृष्टो वा 'असि' भवसि, अयमाशयः–अनेकधा जीवितानित्यत्वादिदर्शनद्वारेणानुशिष्यमाणस्यापि ते न मनागपि विषयविरक्तिरित्यविनेयत्वादुपेक्षैव श्रेयस्करी, उक्तं हि "मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनेयेषु" (तत्त्वा० अ० ७–सू०–६) इति सूत्रार्थः ॥ इत्थमुक्त्वा गते मुनौ ब्रह्मदत्तस्य यदभूत्तदाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३४॥

दीप अनुक्रम [४४०]

पंचालरायाऽविय बंभदत्तो, साहुस्स तस्स वयणं अकाउं ।
अणुत्तरे भुंजिय कामभोगे, अणुत्तरे सो नरए पविट्ठो ॥ ३४ ॥

'पंचालराआऽविय'त्ति 'अपि' पुनरर्थः, 'चः' पूरणे, ततः पञ्चालराजः पुनर्ब्रह्मदत्तो–ब्रह्मदत्ताभिधानः 'साधोः' तपस्विनः 'तस्य' अनन्तरोक्तस्य 'वचनं' हितोपदेशदर्शकं वाक्यम् 'अकृत्वा' वज्रतन्दुलवद्गुरुकर्मतयाऽत्यन्तदुर्भेदत्वादननुष्ठाय 'अनुत्तरान्' सर्वोत्तमान् 'भुङ्क्त्वा' अनुपाल्य 'कामभोगान्' उक्तरूपान् 'अनुत्तरे' स्थित्यादिभिः सुकलनरकज्येष्ठेऽप्रतिष्ठान इतियावत् 'स' ब्रह्मदत्तः 'नरके' प्रतीते 'प्रविष्टः' तदन्तरुत्पन्नः, तदनेन निदानस्य नरकपर्यवसानफलत्वमुपदर्शितं भवतीति सूत्रार्थः ॥ इह चास्य शेषवक्तव्यतासूचिका अपि निर्युक्तिगाथाः पञ्च दृश्यन्ते, तद्यथा—

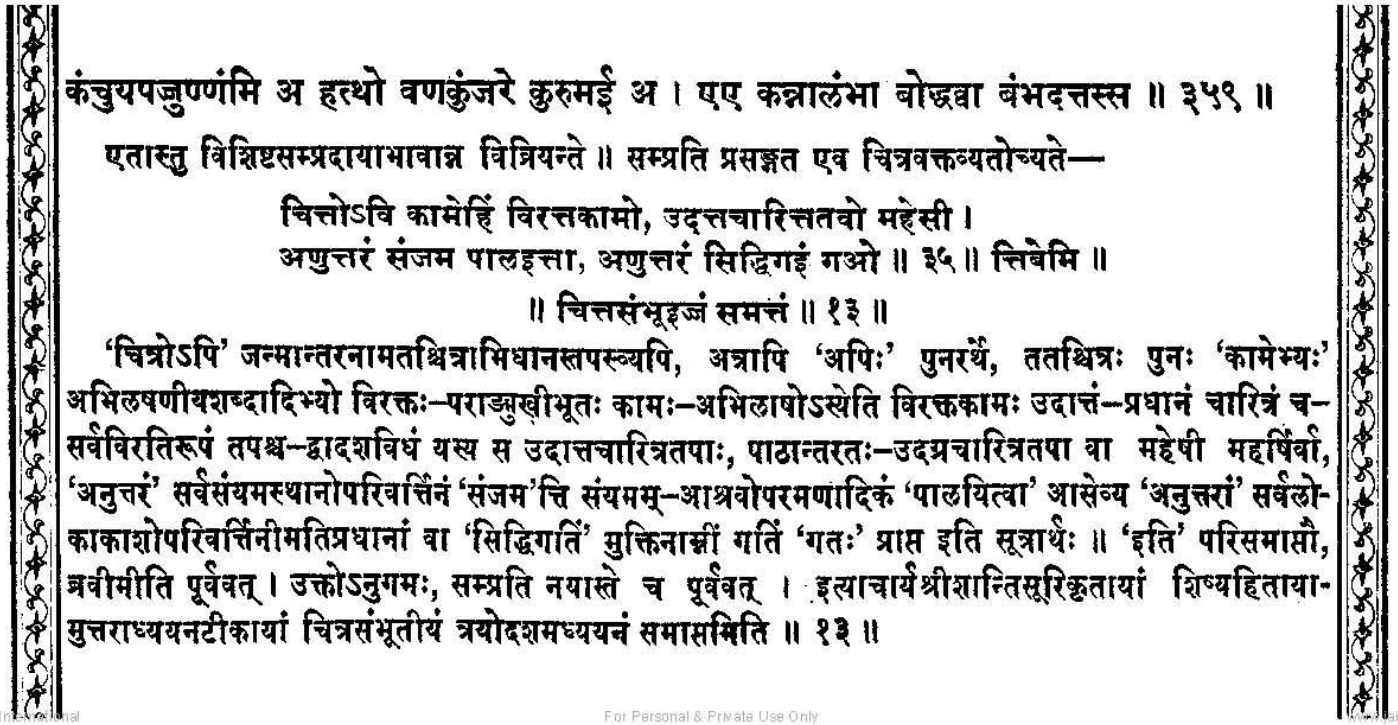
इत्थीरयणपुरोहियभिज्जाणं वुग्गहो विणासंमि । सेणावइस्स भेओ वक्कमणं चेव पुत्ताणं ॥ ३५५ ॥
संगाम अत्थि भेओ मरणं पुण चूयपायवुज्जाणे।कडगस्स य निब्भेओ दंडो अ पुरोहियकुलस्स ३५६
जउघरपासायंमि अ दारे य सयंवरे अ थाले अ।तत्तो अ आसए हत्थिए अ तह कुंडए चेव ॥३५७॥
कुक्कुडरहतिलपत्ते सुदंसणो दारुए य नयणिल्ले। पत्तच्छिज्जसयंवर कलाउ तह आसणे चेव ॥ ३५८ ॥

॥३९२॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||३५||

दीप अनुक्रम [४४१]



कंचुयपज्जुण्णंमि अ हत्थो वणकुंजरे कुरुमई अ । एए कन्नालंभा बोद्धवा बंभदत्तस्स ॥ ३५९ ॥

एतास्तु विशिष्टसम्प्रदायाभावान्न विव्रियन्ते ॥ सम्प्रति प्रसङ्गत एव चित्रवक्तव्यतोच्यते—

चित्तोऽवि कामेहिं विरत्तकामो, उदत्तचारित्ततवो महेसी ।
अणुत्तरं संजम पालइत्ता, अणुत्तरं सिद्धिगइं गओ ॥ ३५ ॥ त्तिबेमि ॥

॥ चित्तसंभूइज्जं समत्तं ॥ १३ ॥

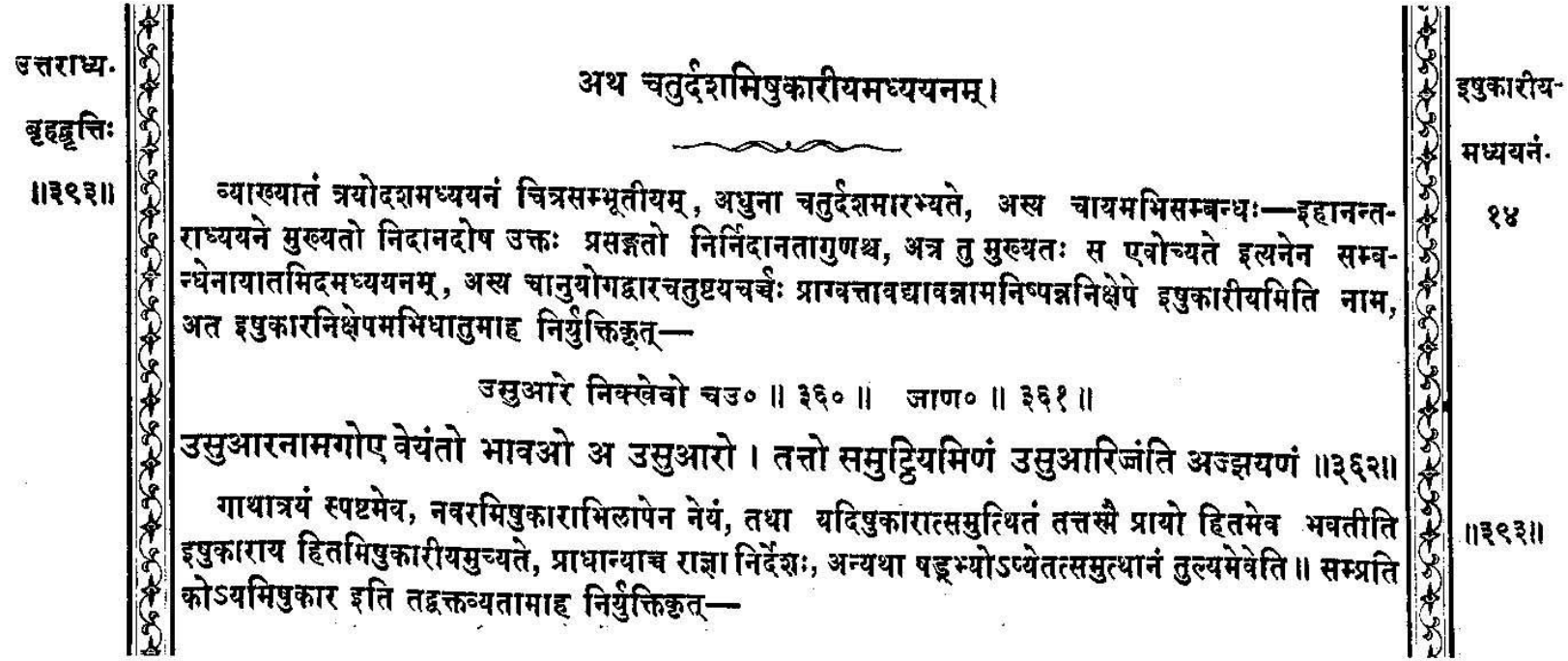
'चित्रोऽपि' जन्मान्तरनामतश्चित्राभिधानस्तपस्व्यपि, अत्रापि 'अपिः' पुनरर्थे, ततश्चित्रः पुनः 'कामेभ्यः' अभिलषणीयशब्दादिभ्यो विरक्तः–पराङ्मुखीभूतः कामः–अभिलाषोऽस्येति विरक्तकामः उदात्तं–प्रधानं चारित्रं च–सर्वविरतिरूपं तपश्च–द्वादशविधं यस्य स उदात्तचारित्रतपाः, पाठान्तरतः–उदग्रचारित्रतपा वा महेषी महर्षिर्वा, 'अनुत्तरं' सर्वसंयमस्थानोपरिवर्त्तिनं 'संजम'त्ति संयमम्–आश्रवोपरमणादिकं 'पालयित्वा' आसेव्य 'अनुत्तरां' सर्वलोकाकाशोपरिवर्त्तिनीमतिप्रधानां वा 'सिद्धिगतिं' मुक्तिनाम्नीं गतिं 'गतः' प्राप्त इति सूत्रार्थः ॥ 'इति' परिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् । उक्तोऽनुगमः, सम्प्रति नयास्ते च पूर्ववत् । इत्याचार्यश्रीशान्तिसूरिकृतायां शिष्यहितायामुत्तराध्ययनटीकायां चित्रसंभूतीयं त्रयोदशमध्ययनं समाप्तमिति ॥ १३ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्र अध्ययनं- १३ परिसमाप्तं

प्रत सूत्रांक ॥३५॥

दीप अनुक्रम [४४१]



उत्तराध्ययन-बृहद्वृत्तिः ॥३९३॥

अथ चतुर्दशमिषुकारीयमध्ययनम्।

इषुकारीय-मध्ययनं-१४

व्याख्यातं त्रयोदशमध्ययनं चित्रसम्भूतीयम्, अधुना चतुर्दशमारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः—इहानन्तराध्ययने मुख्यतो निदानदोष उक्तः प्रसङ्गतो निर्निदानतागुणश्च, अत्र तु मुख्यतः स एवोच्यते इत्यनेन सम्बन्धेनायातमिदमध्ययनम्, अस्य चानुयोगद्वारचतुष्टयचर्चः प्राग्वत्तावद्यावन्नामनिष्पन्ननिक्षेपे इषुकारीयमिति नाम, अत इषुकारनिक्षेपमभिधातुमाह निर्युक्तिकृत्—

उसुआरे निक्खेवो चउ० ॥ ३६० ॥ जाण० ॥ ३६१ ॥

उसुआरनामगोए वेयंतो भावओ अ उसुआरो। तत्तो समुट्ठियमिणं उसुआरिज्जंति अज्झयणं ॥३६२॥

गाथात्रयं स्पष्टमेव, नवरमिषुकाराभिलापेन नेयं, तथा यदिषुकारात्समुत्थितं तत्तस्मै प्रायो हितमेव भवतीति इषुकाराय हितमिषुकारीयमुच्यते, प्राधान्याच्च राज्ञा निर्देशः, अन्यथा षड्भ्योऽप्येतत्समुत्थानं तुल्यमेवेति॥ सम्प्रति कोऽयमिषुकार इति तद्वक्तव्यतामाह निर्युक्तिकृत्—

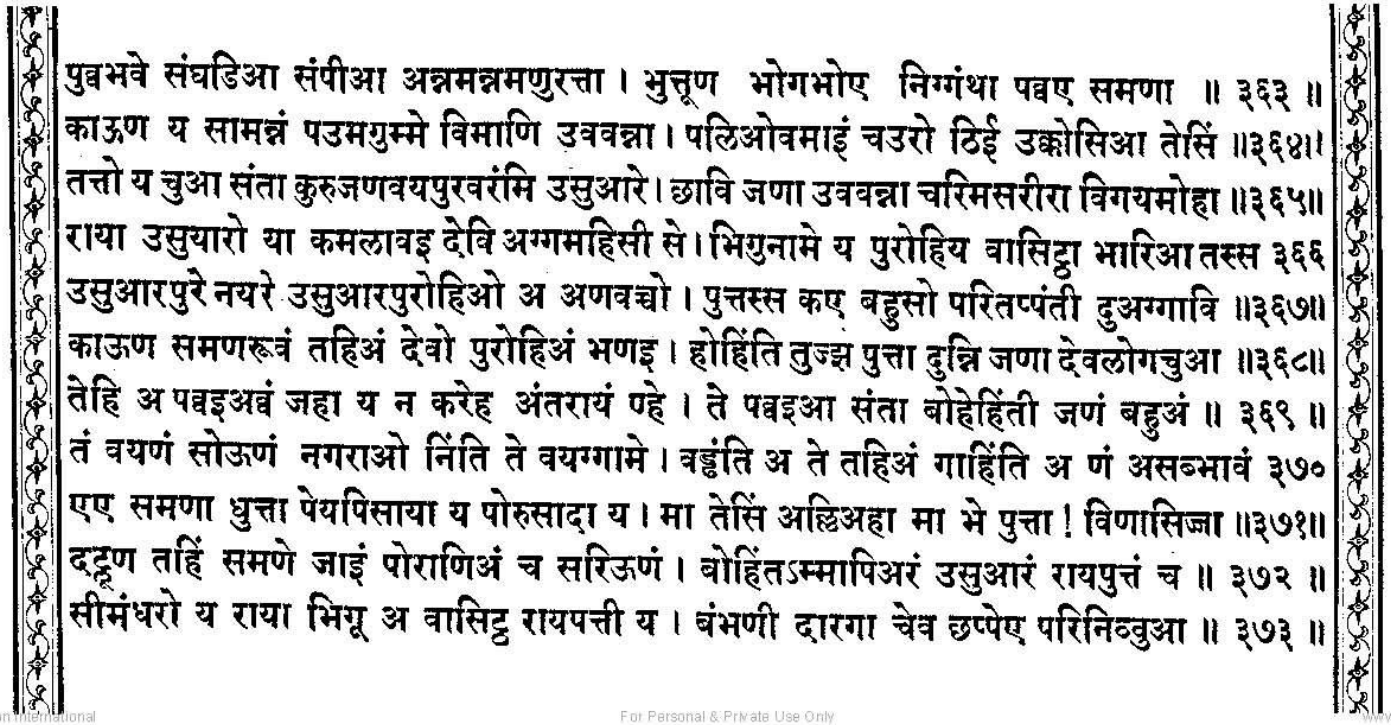
॥३९३॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ अध्ययनं – १४ "इषुकारिय" आरभ्यते

प्रत सूत्रांक ॥३५॥

दीप अनुक्रम [४४१]



पुव्वभवे संघडिआ संपीआ अन्नमन्नमणुरत्ता । भुत्तूण भोगभोए निग्गंथा पव्वए समणा ॥ ३६३ ॥
काऊण य सामन्नं पउमगुम्मे विमाणि उववन्ना । पलिओवमाइं चउरो ठिई उक्कोसिआ तेसिं ॥३६४॥
तत्तो य चुआ संता कुरुजणवयपुरवरंमि उसुआरे । छावि जणा उववन्ना चरिमसरीरा विगयमोहा ॥३६५॥
राया उसुयारो या कमलावइ देवि अग्गमहिसी से । भिगुनामे य पुरोहिय वासिट्ठा भारिआ तस्स ३६६
उसुआरपुरे नयरे उसुआरपुरोहिओ अ अणवच्चो । पुत्तस्स कए बहुसो परितप्पंती दुअग्गावि ॥३६७॥
काऊण समणरूवं तहिअं देवो पुरोहिअं भणइ । होहिंति तुज्झ पुत्ता दुन्नि जणा देवलोगचुआ ॥३६८॥
तेहि अ पव्वइअव्वं जहा य न करेह अंतरायं एहे । ते पव्वइआ संता बोहेहिंती जणं बहुअं ॥ ३६९ ॥
तं वयणं सोऊणं नगराओ निंति ते वयग्गामे । वड्ढंति अ ते तहिअं गाहिंति अ णं असब्भावं ३७०
एए समणा धुत्ता पेयपिसाया य पोरुसादा य । मा तेसिं अल्लिअहा मा भे पुत्ता ! विणासिज्जा ॥३७१॥
दट्ठूण तहिं समणे जाइं पोराणिअं च सरिऊणं । बोहिंतऽम्मापिअरं उसुआरं रायपुत्तं च ॥ ३७२ ॥
सीमंधरो य राया भिगू अ वासिट्ठ रायपत्ती य । बंभणी दारगा चेव छप्पेए परिनिव्वुआ ॥ ३७३ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३५॥

दीप अनुक्रम [४४१]

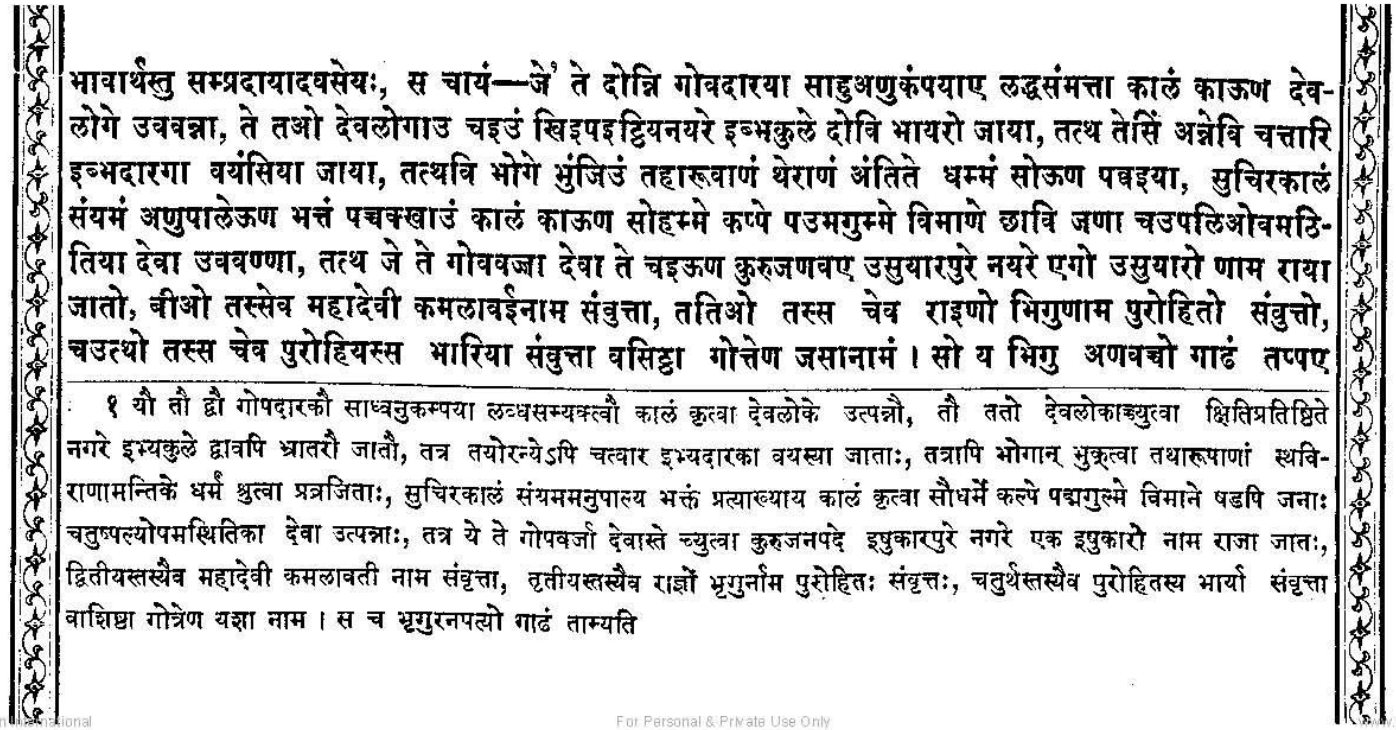
आसामक्षरार्थः स्पष्ट एव, नवरं 'संघडिय'त्ति सम्यग् घटिताः–परस्परं स्नेहेन संबद्धा वयस्या इतियावत्, तेऽपि कदाचिद्विगलितान्तरप्रीतयोऽपि दाक्षिण्याज्जनलज्जादितस्तथा स्युरत आह–'संप्रीताः' सम्यगान्तरप्रीतिभाजः, तथा 'अन्योऽन्यमनुरक्ताः' अतिशयख्यापनफलत्वादत्यन्तस्नेहभाजः, अथवा 'संघडिय'त्ति देशीपदमव्युत्पन्नमेव मित्राभिधायि, प्रीतिर्बाह्या अनुरागस्तु भावतः प्रतिबन्धः, पठ्यते च–'घडियाउ'त्ति घटिता–मिलिताः, तथा 'भोगभोगे'त्ति भोक्तुं योग्या भोग्या ये भोगास्तान् भोग्यभोगान् भोगभोगान् वाऽतिशायिनो भोगान्, पाठान्तरतः कामभोगान् वा, 'णिग्गंथा पव्वए समण'त्ति निर्ग्रन्थाः–त्यक्तग्रन्थाः 'प्राव्रजन्' प्रव्रज्यां गृहीतवन्तः, ततश्च 'श्रमणाः' तपस्विनोऽभूवन्निति शेषः । 'दुयग्गावि'त्ति देशीपदं प्रक्रमाच्च द्वावपि दम्पती, तथा 'अन्तरायं' विघ्नं 'णहे'ति अनयोः, तथा 'णिंति'त्ति निर्यन्ति आधिक्येन गच्छन्ति, कं ?–'व्रजग्रामं' गोकुलप्रायग्रामं, प्रत्यन्तग्राममित्यर्थः,'गाहिंति अणं असब्भावं'ति ग्राहयतोऽसद्भावमसन्तम् असुन्दरं वाऽर्थं–साधुप्रेतत्वादिलक्षणं प्रेताः 'पिशाचाश्च' पिशाचनिकायोत्पन्नाः 'पौरुषादाश्च' प्रस्तावात्पुरुषसम्बन्धिमांसभक्षका राक्षसा इतियावत्, 'तेसिं'ति सूत्रत्वात् तान् 'अल्लियह'त्ति आलीयेताम्—आश्रयतां, किमित्यत आह—मा 'भे' भवन्तौ पुत्रौ विनश्येतामिति । अत्र चेषुकारमिति राज्यकालनाम्ना सीमन्धरश्चेति मौलिकनाम्नेति सम्भावयामः इति गाथैकादशकावयवार्थः ॥

॥३९४॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३५॥

दीप अनुक्रम [४४१]



भावार्थस्तु सम्प्रदायादवसेयः, स चायं—जे ते दोन्नि गोवदारया साहुअणुकंपयाए लद्धसंमत्ता कालं काऊण देवलोगे उववन्ना, ते तओ देवलोगाउ चइउं खिइपइट्ठियनयरे इब्भकुले दोवि भायरो जाया, तत्थ तेसिं अन्नेवि चत्तारि इब्भदारगा वयंसिया जाया, तत्थवि भोगे भुंजिउं तहारूवाणं थेराणं अंतिते धम्मं सोऊण पवइया, सुचिरकालं संयमं अणुपालेऊण भत्तं पच्चक्खाउं कालं काऊण सोहम्मे कप्पे पउमगुम्मे विमाणे छावि जणा चउपलिओवमठितिया देवा उववण्णा, तत्थ जे ते गोववज्जा देवा ते चइऊण कुरुजणवए उसुयारपुरे नयरे एगो उसुयारो णाम राया जातो, बीओ तस्सेव महादेवी कमलावईनाम संवुत्ता, ततिओ तस्स चेव राइणो भिगुणाम पुरोहितो संवुत्तो, चउत्थो तस्स चेव पुरोहियस्स भारिया संवुत्ता वसिट्ठा गोत्तेण जसानामं। सो य भिगु अणवचो गाढं तप्पए

१ यौ तौ द्वौ गोपदारकौ साध्वनुकम्पया लब्धसम्यक्त्वौ कालं कृत्वा देवलोके उत्पन्नौ, तौ ततो देवलोकाच्च्युत्वा क्षितिप्रतिष्ठिते नगरे इभ्यकुले द्वावपि भ्रातरौ जातौ, तत्र तयोरन्येऽपि चत्वार इभ्यदारका वयस्या जाताः, तत्रापि भोगान् भुक्त्वा तथारूपाणां स्थविराणामन्तिके धर्मं श्रुत्वा प्रव्रजिताः, सुचिरकालं संयममनुपाल्य भक्तं प्रत्याख्याय कालं कृत्वा सौधर्मे कल्पे पद्मगुल्मे विमाने षडपि जनाः चतुष्पल्योपमस्थितिका देवा उत्पन्नाः, तत्र ये ते गोपवर्जा देवास्ते च्युत्वा कुरुजनपदे इषुकारपुरे नगरे एक इषुकारो नाम राजा जातः, द्वितीयस्तस्यैव महादेवी कमलावती नाम संवृत्ता, तृतीयस्तस्यैव राज्ञो भृगुर्नाम पुरोहितः संवृत्तः, चतुर्थस्तस्यैव पुरोहितस्य भार्या संवृत्ता वाशिष्ठा गोत्रेण यशा नाम। स च भृगुरनपत्यो गाढं ताम्यति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३५॥

दीप अनुक्रम [४४१]

अवचनिमित्तं, उपायणए देवयाणि पुच्छइ नेमित्तिए। ते दोऽवि पुव्वभवगोवा देवभवे वट्टमाणा ओहिणा जाणिउं जधा अम्हे एयस्स भिगुस्स पुरोहियस्स पुत्ता भविस्सामो, तओ समणरूवं काऊण उवगया भिगुसमीवं, भिगुणा सभारिएण वंदिया, सुहासणत्था य धम्मं कहेंति, तेहिं दोहिवि सावगवयाणि गहियाणि, पुरोहिएण भण्णति-भगवं! अम्हं अवचं होज्जत्ति?, साहूहिं भण्णति–भविस्संति दुवेऽवि दारगा, ते य डहरगा चेव पव्वइस्संति, तेसिं तुब्भेहिं वाघाओ ण कायवो पव्वयंताणं, ते सुबहुं जणं संबोहिस्संतित्ति भणिऊण पडिगया देवा, णातिचिरेण चइऊण य तस्स पुरोहियस्स भारियाए वासिट्ठीए दुवे उदरे पच्चायाया, ततो पुरोहितो सभारितो नगरविणिग्गतो पच्चंतगामे ठितो, तत्थेव सा माहिणी पसूया, दारगा जाया, तओ मा पव्वइस्संतित्ति काउं मायावित्तेहिं

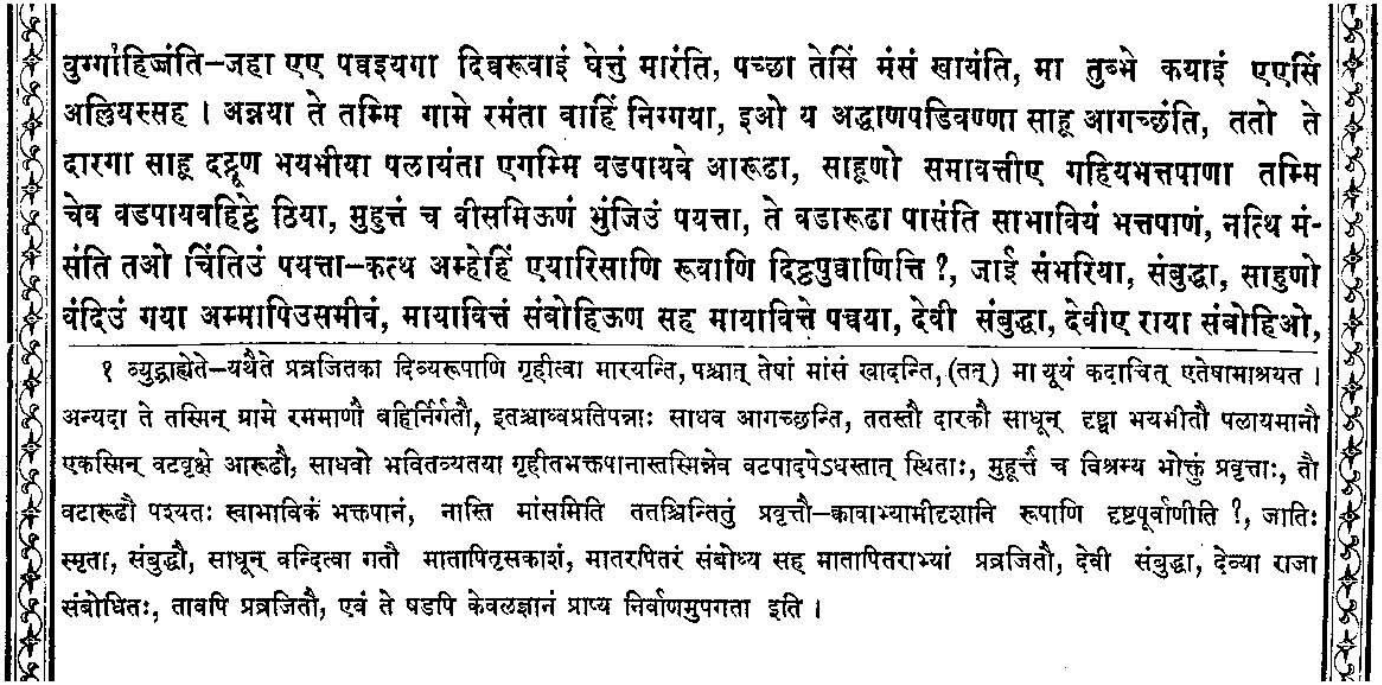
१ अपत्यनिमित्तं, उपयाचयति देवताः पृच्छति नैमित्तिकान्। तौ द्वावपि पूर्वभवगोपौ देवभवे वर्त्तमानौ अवधिना ज्ञात्वा यथा आवामेतस्य भृगोः पुरोहितस्य पुत्रौ भविष्यावः, ततः श्रमणरूपं कृत्वोपगतौ भृगुसमीपं, भृगुना सभार्येण वन्दितौ, सुखासनस्थौ च धर्मं कथयतः, ताभ्यां द्वाभ्यामपि श्रावकव्रतानि गृहीतानि, पुरोहितेन भण्यते—भगवन्! आवयोरपत्यं भविष्यतीति?, साधुभ्यां भण्यते–भविष्यतो द्वावपि दारकौ, तौ च बालकावेव प्रव्रजिष्यतः, तयोर्युवाभ्यां व्याघातो न कर्त्तव्यः प्रव्रजतोः, तौ सुबहुं जनं संबोधयिष्यत इति भणित्वा प्रतिगतौ देवौ, नातिचिरेण च्युत्वा च तस्यैव पुरोहितस्य भार्यायां वाशिष्ठ्यां द्वौ उदरे प्रत्यायातौ, ततः पुरोहितः सभार्यो नगरविनिर्गतः प्रत्यन्तग्रामे स्थितः, तत्रैव सा ब्राह्मणी प्रसूता, दारकौ जातौ, ततो मा प्रव्राजिष्टामितिकृत्वा मातापितृभ्यां

॥३९५॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३५॥

दीप अनुक्रम [४४१]



वुग्गाहिज्जंति–जहा एए पव्वइयगा दिव्वरूवाइं घेत्तुं मारंति, पच्छा तेसिं मंसं खायंति, मा तुब्भे कयाइं एएसिं अल्लियस्सह । अन्नया ते तम्मि गामे रमंता वाहिं निग्गया, इओ य अद्धाणपडिवण्णा साहू आगच्छंति, ततो ते दारगा साहू दट्ठूण भयभीया पलायंता एगम्मि वडपायवे आरूढा, साहूणो समावत्तीए गहियभत्तपाणा तम्मि चेव वडपायवहिट्ठे ठिया, मुहुत्तं च वीसमिऊणं भुंजिउं पयत्ता, ते वडारूढा पासंति साभावियं भत्तपाणं, नत्थि मंसंति तओ चिंतिउं पयत्ता–कत्थ अम्हेहिं एयारिसाणि रूवाणि दिट्ठपुव्वाणित्ति ?, जाई संभरिया, संबुद्धा, साहुणो वंदिउं गया अम्मापिउसमीवं, मायावित्तं संबोहिऊण सह मायावित्ते पव्वया, देवी संबुद्धा, देवीए राया संबोहिओ,

१ व्युद्ग्राह्येते–यथैते प्रव्रजितका दिव्यरूपाणि गृहीत्वा मारयन्ति, पश्चात् तेषां मांसं खादन्ति, (तत्) मा यूयं कदाचित् एतेषामाश्रयत । अन्यदा ते तस्मिन् ग्रामे रममाणौ बहिर्निर्गतौ, इतश्चाध्वप्रतिपन्नाः साधव आगच्छन्ति, ततस्तौ दारकौ साधून् दृष्ट्वा भयभीतौ पलायमानौ एकस्मिन् वटवृक्षे आरूढौ, साधवो भवितव्यतया गृहीतभक्तपानास्तस्मिन्नेव वटपादपेऽधस्तात् स्थिताः, मुहूर्त्तं च विश्रम्य भोक्तुं प्रवृत्ताः, तौ वटारूढौ पश्यतः स्वाभाविकं भक्तपानं, नास्ति मांसमिति ततश्चिन्तितुं प्रवृत्तौ–कावाभ्यामीदृशानि रूपाणि दृष्टपूर्वाणीति ?, जातिः स्मृता, संबुद्धौ, साधून् वन्दित्वा गतौ मातापितृसकाशं, मातरपितरं संबोध्य सह मातापितराभ्यां प्रव्रजितौ, देवी संबुद्धा, देव्या राजा संबोधितः, तावपि प्रव्रजितौ, एवं ते षडपि केवलज्ञानं प्राप्य निर्वाणमुपगता इति ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१-३॥

दीप अनुक्रम [४४१]

ताण्यिवि पवइयाणि, एवं ताणि छावि केवलणाणं पाविऊण णिव्वाणमुवगयाणित्ति ॥ इह तु सूत्रोक्तस्याप्यर्थस्याभिधानं प्रसङ्गत इत्यदोषः। उक्तो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, सम्प्रति सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

देवा भवित्ताण पुरे भवंमी, केई चुया एगविमाणवासी।
पुरे पुराणे इसुयारनामे, खाए समिद्धे सुरलोगरम्मे॥ १॥
सकम्मसेसेण पुराकएणं, कुलेसु उग्गे (सुदत्ते०) सु य ते पसूआ।
निव्विण्णसंसारभया जहाय, जिणिंदमग्गं सरणं पवन्ना॥ २॥
पुमत्तमागम्म कुमार दोऽवि, पुरोहिओ तस्स जसा य पत्ती।
विसालकित्ती य तहेसुआरो, रायऽत्थ देवी कमलावई य॥ ३॥

'देवाः' सुराः 'भूत्वा' उत्पद्य 'पुरे भवंमि'त्ति अनन्तरातीतजन्मनि 'केचित्' इत्यनिर्दिष्टनामानः 'च्युताः' भ्रष्टाः एकस्मिन् पद्मगुल्मनाम्नि विमाने वसन्तीत्येवंशीला एकविमानवासिनः 'पुरे' नगरे 'पुराणे' चिरन्तने इषुकारनाम्नि 'ख्याते' प्रथिते 'समृद्धे' ऋद्धिमत्यत एव 'सुरलोकरम्ये' देवलोकवद्रमणीये। ते च किं सर्वथोपभुक्तपुण्या एव ततश्च्युता उतान्यथेत्याह—स्वम्–आत्मीयं कर्म–पुण्यप्रकृतिलक्षणं तस्य शेषम्—उद्धरितं स्वकर्मशेषस्तेन, लक्षणे तृतीया, 'पुराकृतेन' पूर्वजन्मान्तरोपार्जितेन 'कुलेषु' अन्वयेषु 'उदात्तेषु' उच्चेषु 'चः' पूरणे, 'ते' इति ये देवा भूत्वा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१-३॥

दीप अनुक्रम [४४२--४४४]

च्युताः 'प्रसूताः' उत्पन्नाः, 'निविण्ण'त्ति आर्षत्वात् 'निर्विण्णाः' उद्विग्नाः, कुतः ?–संसारभयात्, 'जहाय'त्ति परित्यज्य, भोगादीनिति गम्यते, किमित्याह–'जिनेन्द्रमार्गं' तीर्थकृदुपदर्शितं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मकं मुक्तिपथं 'शरणम्' अपायरक्षाक्षममाश्रयं 'प्रपन्नाः' अभ्युपगता इत्यध्ययनार्थसूचनम् । कश्च किंरूपः सन् जिनेन्द्रमार्गं शरणं प्रपन्न इत्याह–'पुंस्त्वं' पुरुषत्वम् 'आगम्य' प्राप्य 'कुमार'त्ति 'कुमारौ' अकृतपाणिग्रहणौ द्वौ, 'अपिः' पूरणे, सुलभबोधिकत्वेन प्राधान्यख्यापनार्थं चानयोः पूर्वमुपादानम्, पुरोहितस्तृतीयस्तस्य जसा च नाम्ना पत्नी चतुर्थः, 'विशालकीर्त्तिश्च' विस्तीर्णयशाश्च तथेषुकारो नाम राजा पञ्चमः, 'अत्र' एतस्मिन् भवे 'देवी' इति प्रधानपत्नी, प्रक्रमात्तस्यैव राज्ञः कमलावती नाम्ना षष्ठ इति सूत्रत्रयार्थः ॥ सम्प्रति यथैतेषु जिनेन्द्रमार्गप्रतिपत्तिः कुमारयोर्जाता तथा दर्शयितुमाह—

जाईजरामच्चुभयाभिभूया, वहिंविहाराभिणिविट्ठचित्ता ।
संसारचक्कस्स विमुक्खणट्ठा, दट्ठूण ते कामगुणे विरत्ता ॥ ४ ॥
पियपुत्तगा दुन्निवि माहणस्स, सकम्मसीलस्स पुरोहियस्स ।
सरित्तु पोराणिय तत्थ जाइं, तहा सुचिण्णं तव संजमं च ॥ ५ ॥

जातिः–जन्म जरा—विश्रसा मृत्युः–प्राणत्यागलक्षणस्तेभ्यो भयं—साध्वसं तेनाभिभूतौ—बाधितौ जातिज-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४-५॥

दीप अनुक्रम [४४५--४४६]

रामृत्युभयाभिभूतौ, पाठान्तरतश्च जातिजरामृत्युभयाभिभूते सत्यर्थात् संसारिजने बहिः संसाराद्विहारः–स्थानं बहिर्विहारः, स चार्थान्मोक्षस्तस्मिन्नभिनिविष्टं—बद्धाग्रहं चित्तम्–अन्तःकरणं ययोस्तौ, तथा संसारश्चक्रमिव चक्रं भ्रमणोपलक्षितत्वात्संसारचक्रं तस्य विमोक्षणार्थं–परित्यागनिमित्तं 'दृष्ट्वा' निरीक्ष्य साधूनिति शेषः, यद्वा 'दृष्ट्वे'ति प्रेक्ष्य मुक्तिपरिपन्थिनोऽमी कामगुणा इति पर्यालोच्य 'तौ' अनन्तरोक्तौ 'कामगुणे'त्ति सुव्व्यत्ययात् 'कामगुणेभ्यः' शब्दादिभ्यो, विषयसप्तमी वा, 'विरक्तौ' पराङ्मुखीभूतौ प्रियौ—वल्लभौ तौ च तौ पुत्रावेव पुत्रकौ, द्वावपि नैक एव इत्यपिशब्दार्थः 'माहनस्य' ब्राह्मणस्य 'स्वकर्मशीलस्य' यजनयाजनादिस्वकीयानुष्ठाननिरतस्य 'पुरोहितस्य' शान्तिकर्तुः 'सरित्तु'त्ति स्मृत्वा 'पोराणिय'त्ति सूत्रत्वात्पुराणामेव पौराणिकीं–चिरन्तनीं 'तत्रे'ति सन्निवेशे कुमारभावे वा, वर्त्तमानाविति शेषः 'जातिं' जन्म तथा 'सुचिण्णं'ति सुचीर्णं सुचरितं वा निदानादिनाऽनुपहतत्वात् तपः–अनशनादिः, प्राकृतत्वाद्विन्दुलोपः, संयमं च, तपःसंयममिति समाहारद्वन्द्वो वा, अत्र कामगुणविरक्तिरेव जिनेन्द्रमार्गप्रतिपत्तिरिति सूत्रद्वयार्थः ॥ ततस्तौ किमकार्षीम् ? इत्याह—

ते कामभोगेसु असज्जमाणा, माणुस्सएसुं जे यावि दिव्वा ।
मुक्खाभिकंखी अभिजायसड्ढा, तायं उवागम्म इमं उदाहु ॥ ६ ॥

'तौ' पुरोहितपुत्रौ 'कामभोगेषु' उक्तरूपेषु 'असज्जमाण'त्ति असंसजन्तौ–सङ्गमकुर्वन्तौ 'मानुष्यकेषु' मनुजसम्ब-

॥३९७॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥६॥

दीप अनुक्रम [४४७]

न्धिषु, ये चापि 'दिव्याः' देवसम्बन्धिनः कामभोगास्तेषु चेति प्रक्रमः, 'मोक्षाभिकाङ्क्षिणौ' मुक्त्यभिलाषिणौ 'अभिजातश्रद्धौ' उत्पन्नतत्त्वरुची 'तातं' पितरमुपागम्य 'इदं' वक्ष्यमाणं 'उदाहु'त्ति उदाहरताम् । तयोर्हि साधुदर्शनानन्तरं काऽस्माभिरित्थंभूतानि रूपाणि पुराऽपि दृष्टानीति चिन्तयतोर्जातिस्मरणमुत्पन्नं, ततो जातवैराग्यौ प्रव्रज्याभिमुखावात्ममुत्कलीकरणाय तयोश्च प्रतिबोधोत्पादनाय वक्ष्यमाणमुक्तवन्ताविति सूत्रार्थः ॥ यच्च तावुक्तवन्तौ तदाह—

असासयं दट्ठु इमं विहारं, बहुअंतरायं न य दीहमाउं ।
तम्हा गिहंसि न रइं लभामो, आमंतयामो चरिस्सामु मोणं ॥ ७ ॥

'अशाश्वतम्' अनित्यं दृष्ट्वा 'इमं' प्रत्यक्षं विहरणं विहारं, मनुष्यत्वेनावस्थानमित्यर्थः, भण्यते हि–"भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरति"त्ति, किमित्येवमत आह–बहवः–प्रभूता अन्तरायाः–विघ्ना व्याध्यादयो यस्य तद्बहन्तरायं, बहन्तरायमपि दीर्घत्वा(र्घाद्धा)वस्थायि स्यादित्याह–'न च' नैव 'दीर्घं' दीर्घकालस्थित्या 'आयुः' जीवितं, सम्प्रति पल्योपमायुष्कताया अप्यभावात्, यत एवं सर्वमनित्यं तस्माद् 'गिहंसि'न्ति 'गृहे' वेश्मनि न 'रतिं' धृतिं 'लभामो'त्ति लभावहे–प्राप्नुवः, अतश्च 'आमन्त्रयावहे' पृच्छाव आवां यथा 'चरिष्यामः' आसेविष्यावहे 'मौनं' मुनिभावं संयममिति सूत्रार्थः ॥ एवं च ताभ्यामुक्ते—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥८-९॥

दीप अनुक्रम [४४९--४५०]

अह तायओ तत्थ मुणीण तेसिं, तवस्स वाघायकरं वयासी ।
इमं वयं वेयविओ वयंति, जहा न होई असुआण लोगो ॥ ८ ॥
अहिज्ज वेए परिविस्स विप्पे, पुत्ते परिट्ठप्प गिहंसि जाया ! ।
भुच्चा ण भोए सह इत्थियाहिं, आरण्णगा होह मुणी पसत्था ॥ ९ ॥

'अथ' अनन्तरं तायते–सन्तानं करोति पालयति च सर्वापद्भ्य इति तातः स एव तातकः 'तत्र' तस्मिन् संनिवेशेऽवसरे वा 'मुन्योः' भावतः प्रतिपन्नमुनिभावयोः 'तयोः' कुमारयोः 'तपसः' अनशनादेः उपलक्षणत्वाच्छेषसद्धर्मानुष्ठानस्य च 'व्याघातकरं' बाधाविधायि, वचनमिति शेषः, 'वयासि'त्ति अवादीत्, यदवादीत्तदाह–इमां वाचं वेदविदो 'वदन्ति' प्रतिपादयन्ति, यथा–'न भवति' न जायते 'असुतानाम्' अविद्यमानपुत्राणां 'लोकः' परलोकः, तं विना पिण्डप्रदानाद्यभावे गत्याद्यभावात्, तथा च वेदवचः–'अनपत्यस्य लोका न सन्ति", तथाऽन्यैरप्युक्तम्–"पुत्रेण जायते लोकः, इत्येषा वैदिकी श्रुतिः । अथ पुत्रस्य पुत्रेण, स्वर्गलोके महीयते ॥ १ ॥" तथा–"अपुत्रस्य गतिर्नास्ति, स्वर्गो नैव च नैव च । गृहिधर्ममनुष्ठाय, तेन स्वर्गं गमिष्यति ॥ १ ॥" यत एवं तस्माद् 'अधीत्य' पठित्वा 'वेदान्' ऋग्वेदादीन् 'परिवेष्य' भोजयित्वा 'विप्रान्' ब्राह्मणान्, तथा पुत्रान् 'प्रतिष्ठाप्य' कलाकलत्रग्रहणादिना गृहस्थधर्मे निवेश्य, कीदृशः पुत्रान् ?–गृहे जातान्, न तु गृहीतप्रतिपन्नका-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१०--१५॥

दीप अनुक्रम [४५१--४५६]

दीन्, पाठान्तरे च–पुत्रान् 'परिष्ठाप्य' स्वामित्वेन निवेश्य गृहे 'जाय'त्ति हे जातौ–पुत्रौ !, तथा 'भुक्त्वा' भुक्त्वा 'ण' इति वाक्यालङ्कारे 'भोगान्' शब्दादीन् सह 'स्त्रीभिः' नारीभिस्ततोऽरण्ये भवौ आरण्यौ, 'अरण्याण्णो वक्तव्यः' (अरण्याण्णः । वार्त्तिकं) इति णप्रत्ययः, आरण्यावेव आरण्यकौ–आरण्यकव्रतधारिणौ 'होह'त्ति भवतं–सम्पद्येथां युवां 'मुनी' तपस्विनौ 'प्रशस्तौ' श्लाघ्यौ, इत्थमेव ब्रह्मचर्याद्याश्रमव्यवस्थानात्, उक्तं हि–"ब्रह्मचारी गृहस्थश्च, वानप्रस्थो यतिस्तथे"ति, इह च 'अधीत्य वेदानि'त्यनेन ब्रह्मचार्याश्रम उक्तः परिवेष्येत्यादिना च गृहस्थाश्रमः आरण्यकावित्यनेन च वानप्रस्थाश्रमः मुनिग्रहणेन च यत्याश्रम इति सूत्रद्वयार्थः ॥ इत्थं तेनोक्ते कुमारकौ यदकार्षीत् तदाह—

सोअग्गिणा आयगुणिंधणेणं, मोहानिला पज्जलणाहिएणं ।
संतत्तभावं परितप्पमाणं, लोलुप्पमाणं बहुहा बहुं च ॥ १० ॥
पुरोहियं तं कमसोऽणुणंतं, निमंतयंतं च सुए धणेणं ।
जहक्कमं कामगुणेहिं चेव, कुमारगा ते पसमिक्ख वक्कं ॥ ११ ॥
वेआ अधीआ न भवंति ताणं, भुत्ता दिया निंति तमं तमेणं ।
जाया य पुत्ता न हवंति ताणं, को नाम ते अणुमन्निज्ज एयं ? ॥ १२ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१०--१५॥

दीप अनुक्रम [४५१--४५६]

खणमित्तसुक्खा बहुकालदुक्खा, पगामदुक्खा अणिगामसुक्खा ।
संसारमुक्खस्स विपक्खभूआ, खाणी अणत्थाण उ कामभोगा ॥ १३ ॥
परिव्वयंते अनियत्तकामे, अहो अ राओ परितप्पमाणे ।
अन्नप्पमत्ते धणमेसमाणे, पप्पुत्ति मच्चुं पुरिसो जरं च ॥ १४ ॥
इमं च मे अत्थि इमं च नत्थि, इमं च मे किच्च इमं अकिच्चं ।
तं एवमेवं लालप्पमाणं, हरा हरंतित्ति कहं पमाओ ? ॥ १५ ॥

सुतवियोगसम्भावनाजनितं मनोदुःखमिह शोकः स चाग्निरिव शोकाग्निस्तेन, आत्मनो गुणा आत्मगुणाः–कर्मक्षयोपशमादिसमुद्भूताः सम्यग्दर्शनादयस्त इन्धनमिवेन्धनं दाह्यतया यस्य स तथा तेन, अनादिकालसहचरितत्वेन रागादयो वाऽऽत्मगुणास्त इन्धनमुद्दीपकतया यस्य स तथा तेन, मोहो मूढताऽज्ञानमितियावत् सोऽनिल इव मोहानिलस्तस्मादधिकं–महानगरदाहादिभ्योऽप्यर्गलं प्रज्वलनं–प्रकर्षेण दीपनमस्येति अधिकप्रज्वलनः, यद्वा प्रज्वलनेनाधिक इतराग्न्यपेक्षया यस्तेन, पूर्वत्र प्राकृतत्वादधिकशब्दस्य परनिपातः, तथा समिति–समन्तात् तप्त इव तप्तः अनिर्वृतत्वेन भावः–अन्तःकरणमस्येति संतप्तभावस्तम्, अत एव च 'परितप्यमानं' समन्ताद्दह्यमानम्, अर्थात् शरीरे दाहस्यापि शोकावेशत उत्पत्तेः, लोलुप्यमानं तद्वियोगशङ्कावशोत्पन्नदुःखपरशुभिरतिशयेन हृदि छिद्य-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१०--१५॥

दीप अनुक्रम [४५१--४५६]

मानं, वृद्धास्तु व्याचक्षते–'लोलुप्यमाणं'ति लालप्यमानं–'भरणपोषणकुलसंताणेसु य तुब्भे भविस्सह'त्ति, 'बहुधा' अनेकप्रकारं 'बहुं' च प्रभूतं यथा भवत्येवं लोलुप्यमानं लालप्यमानं वेति सम्बन्धः, 'पुरोहितं' 'पुरोधसं 'त'मिति प्रक्रान्तं 'कमसो'त्ति क्रमेण–परिपाट्या 'अनुनयन्तं' स्वाभिप्रायेण प्रज्ञापयन्तं निमन्त्रयन्तं च–तौ भोगैरुपच्छन्दयन्तं 'सुतौ' पुत्रौ 'धनेन' द्रव्येण यथाक्रमं प्रक्रमानतिक्रमेण 'कामगुणैः' अभिलषणीयशब्दादिविषयैः, पाठान्तरतः–कामगुणेषु वा, 'चः' समुच्चये 'एव' इति पूरणे, कुमारकौ तावनन्तरप्रक्रान्तौ 'प्रसमीक्ष्य' प्रकर्षेणाज्ञानाच्छादितमतिमालोच्य 'वाक्यं' वचो वक्ष्यमाणमुक्तवन्ताविति गम्यते । किं तदित्याह 'वेदाः' ऋग्वेदादयः 'अधीताः' पठिता न 'भवन्ति' जायन्ते 'ताणं' शरणं, तदध्ययनमात्रतो दुर्गतिपतनरक्षणासिद्धेः, उक्तं हि तैरपि–"अकारणमधीयानो, ब्राह्मणस्तु युधिष्ठिरः । दुष्कुलेनाप्यधीयन्ते, शीलं यस्य स रोचते ॥ १ ॥" तथा–"शिल्पमध्ययनं नाम, वृत्तं ब्राह्मणलक्षणम् । वृत्तस्थं ब्राह्मणं प्राहुर्नेतरान् वेदजीवकान् ॥२॥" तथा 'भुज्ज'त्ति अन्तर्भावितण्यर्थत्वाद्भोजिताः 'द्विजाः' ब्राह्मणाः 'नयन्ति' प्रापयन्ति तमोरूपत्वात्तमो–नरकस्तत्तमसा–अज्ञानेन यद्वा तमसोऽपि यत्तमस्तस्मिन्–अतिरौद्रे रौरवादिनरके णमिति वाक्यालङ्कारे, ते हि भोजिताः कुमार्गप्ररूपणपशुवधादावेव कर्मोपचयनिबन्धने असद्व्यापारे प्रवर्त्तन्त इत्यसत्प्रवर्त्तनतस्तद्भोजनस्य नरकगतिहेतुत्वमेव, अनेन च तेषां निस्तारकत्वं दूरापास्तमित्यर्थादुक्तं, तथा 'जाताश्च' उत्पन्नाः 'पुत्राः' सुता न भवन्ति 'ताणं' शरणं नरकादिगतौ निपततामिति गम्यते, उक्तं हि तन्मतानुसा-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१०--१५॥

दीप अनुक्रम [४५१--४५६]

रिभिरपि–"यदि पुत्राद्भवेत्स्वर्गो, दानधर्मो न विद्यते। मुषितस्तत्र लोकोऽयं, दानधर्मो निरर्थकः ॥१॥ बहुपुत्रा दुली गोधा, ताम्रचूडस्तथैव च। तेषां च प्रथमं स्वर्गः,पश्चाल्लोको गमिष्यति ॥२॥" यतश्चैवं ततः को नाम ? न कश्चित्सम्भाव्यते यस्ते–तवानुमन्येत–शोभनमिदमित्यनुजानीयात्सविवेक इति गम्यते, 'एतद्' अनन्तरमुक्तं वेदाध्ययनादित्रितयमिति, भुक्त्वा भोगानिति च चतुर्थोपदेशप्रतिवचनमाह–क्षणमात्रं सौख्यं येषु ते तथा, बहुकालं नरकादिषु दुःखं शारीरं मानसं च येभ्यस्ते तथाविधाः, कदाचित्स्वल्पकालमपि सुखमतिशायि स्याद् दुःखं त्वन्यथेति स्वल्पकालमपि तद्बहुकालभाविनोऽपि दुःखस्योपहन्तृ स्यादत आह–प्रकामम्–अतिशयेन दुःखं येभ्यस्ते तथा, 'अनिकामसौख्याः' अप्रकृष्टसुखाः, ईदृशा अप्यायतौ शुभफलाः स्युरत आह–संसारान्मोक्षो–विश्लेषः संसारमोक्षो निर्वृत्तिरित्यर्थस्तस्य विपक्षभूताः–तत्प्रतिबन्धकतयाऽत्यन्तप्रतिकूलाः, किमित्येवंविधास्ते इत्याह–खनिरिव खनिः–आकरः 'अनर्थानाम्' इहपरलोकदुःखावाप्तिरूपाणां, तुशब्दोऽवधारणे भिन्नक्रमश्च ततः खनिरेव, के एवंविधाः ?–'कामभोगाः' उक्तरूपाः, अनर्थखनित्वमेव स्पष्टयितुमाह–'परिव्रजन्' विषयसुखलाभार्थमितस्ततो भ्राम्यन् 'अनिवृत्तकामः' अनुपरतेच्छः सन् 'अहो य राओ'त्ति आर्षत्वाच्चस्य च भिन्नक्रमादहि रात्रौ च अहर्निशमितियावत् 'परितप्यमानः' तदवाप्त्यै समन्ताच्चिन्ताग्निना दह्यमानः, अन्ये–सुहृत्स्वजनादयः, अथवाऽन्नं–भोजनं तदर्थं प्रमत्तः–तत्कृत्यासक्तचेता अन्यप्रमत्तः अन्न-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१६॥

दीप अनुक्रम [४५७]

प्रमत्तो वा 'धनं' वित्तं 'एसमाणे'त्ति 'एषयन्' विविधोपायैर्गवेषयमाणः 'पप्पोत्ति' प्राप्नोति 'मृत्युं' प्राणत्यागं, कोऽसौ ?–पुरुषः 'जरां च' वयोहानिलक्षणाम् । किञ्च–इदं च मेऽस्ति रजतरूप्यादि इदं च नास्ति पद्मरागादि, इदं च 'मे' मम 'कृत्यं' कर्तव्यं गृहप्राकारादि, इदमकृत्यमारब्धमपि वणिज्यादि न कर्तुमुचितं 'त'मिति पुरुषमेवमेव–वृथैव 'लालप्यमानम्' अत्यर्थं व्यक्तवाचा वदन्तं हरन्ति–अपनयन्त्यायुरिति हराः–दिनरजन्यादयो व्याधिविशेषा वा 'हरन्ति' जन्मान्तरं नयन्ति, उपसंहर्तुमाह–'इती'त्यस्माद्धेतोः 'कथं' केन प्रकारेण 'प्रमादः' अनुद्यमः प्रक्रमाद्धर्मे कर्तुमुचित इति शेषः ?, इति सूत्रषट्कार्थः ॥ सम्प्रति तौ धनादिभिर्लोभयितुं पुरोहितः प्राह—

धणं पभूयं सह इत्थियाहिं, सयणा तहा कामगुणा पगामा ।
तवं कए तप्पइ जस्स लोगो, तं सव्व साहीणमिहेव तुज्झं ॥ १६ ॥

'धनं' द्रव्यं 'प्रभूतं' प्रचुरं 'सह स्त्रीभिः' समं नारीभिः 'स्वजनाः' पितृपितृव्यादयः, तथा 'कामगुणाः' शब्दादयः 'पगाम'त्ति 'प्रकामाः' अतिशायिनः 'तपः' कष्टानुष्ठानं 'कृते' निमित्तं 'तप्यते' अनुतिष्ठति 'यस्य' धनादेः 'लोकः' जनस्तत् 'सर्वम्' अशेषं 'स्वाधीनम्' आत्मायत्तम् 'इहैव' अस्मिन्नेव गृहे 'तुज्झं'ति सूत्रत्वाद्युवयोः, यद्यपि च तयोः स्त्रियस्तदा न सन्ति तथाऽपि तदवाप्तियोग्यताऽस्तीति तासामभिधानमिति सूत्रार्थः ॥ तावाहतुः—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१७॥

दीप अनुक्रम [४५८]

धणेण किं धम्मधुराहिगारे ?, सयणेण वा कामगुणेहिं चेव ।
समणा भविस्सामु गुणोहधारी, बहिंविहारा अभिगम्म भिक्खं ॥ १७ ॥

'धनेन' द्रव्येण किं ?, न किञ्चिदित्यर्थः, धर्म एवातिसात्त्विकैरुह्यमानतया धूरिव धूर्धर्मधुरा तदधिकारे-तत्प्रस्तावे स्वजनेन वा कामगुणैश्चैव ?, तथा च वेदेऽप्युक्तं–"न प्रजया न धनेन त्यागेनैकेनामृतत्वमानशु"रित्यादि, ततः 'श्रमणौ' तपस्विनौ भविष्यावः, गुणौघं–सम्यग्दर्शनादिगुणसमूहं धारयत इत्येवंशीलौ गुणौघधारिणौ बहिः-ग्रामनगरादिभ्यो बहिर्वर्त्तित्वाद् द्रव्यतो भावतश्च क्वचिदप्रतिबद्धत्वाद् विहारः–विहरणं ययोस्तौ बहिर्विहारौ अप्रतिबद्धविहारावितियावत् 'अभिगम्य' आश्रित्य 'भिक्षां' शुद्धोञ्छां तामेवाहारयन्ताविति भाव इति सूत्रार्थः ॥ आत्मास्तित्वमूलत्वात्सकलधर्मानुष्ठानस्य तन्निराकरणायाह पुरोहितः—

जहा य अग्गी अरणीउऽसंतो, खीरे घयं तिल्लमहा तिलेसु ।
एमेव जाया सरीरंमि सत्ता, संमुच्छई नासइ नावचिट्ठे ॥ १८ ॥

'यथे' त्यौपम्ये चशब्दोऽवधारणे, यथैव 'अग्निः' वैश्वानरः 'अरणिउ'त्ति अरणितः–अग्निमन्थनकाष्ठाद् 'असन्' अविद्यमान एव संमूर्छति, तथा क्षीरे घृतं तैलमथ तिलेषु, एवमेव 'हे जातौ' पुत्रौ ! 'सरीरंसि'त्ति शरीरे काये 'सत्त्वाः' प्राणिनः 'समुच्छंति'त्ति संमूर्छन्ति, पूर्वमसन्त एव शरीराकारपरिणतभूतसमुदायत उत्पद्यन्ते, तथा चाहुः–

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१८॥

दीप अनुक्रम [४५९]

"पृथिव्यपस्तेजोवायुरिति तत्त्वानि, एतेभ्यश्चैतन्यं, मद्याङ्गेभ्यो मदशक्तिवत्", तथा 'नासइ'त्ति नश्यन्ति–अभ्रपटलवत्प्रलयमुपयान्ति 'णावचिट्ठे'त्ति न पुनः अवतिष्ठन्ते–शरीरनाशे सति न क्षणमप्यवस्थितिभाजो भवन्ति, यद्वा शरीरे सत्यप्यमी सत्त्वा नश्यन्ति, नावतिष्ठन्ते, जलबुद्बुदवत्, उक्तं हि–"जलबुद्बुदवज्जीवाः" अत्र च प्रत्यक्षतोऽनुपलम्भ एव प्रमाणं, न ह्यसौ शरीरे शरीरव्यतिरिक्तो वा भवान्तरप्रायौ प्रत्यक्षत उपलभ्यत इति नास्ति, शशविषाणवदिति भाव इति सूत्रार्थः ॥ कुमारकावाहतुः—

नो इंदियग्गिज्झ अमुत्तभावा, अमुत्तभावा चिय होइ निच्चो ।
अज्झत्थहेउं निययऽस्स बंधो, संसारहेउं च वयंति बंधं ॥ १९ ॥

'नो' इति प्रतिषेधे इन्द्रियैः–श्रोत्रादिभिर्ग्राह्यः–संवेद्य इन्द्रियग्राह्यः, सत्त्व इति प्रक्रमः, असत्त्वादेवायमिन्द्रियाग्राह्य इत्याशङ्क्याह–'अमूर्त्तभावात्' इन्द्रियग्राह्यरूपाद्यभावात्, अयमाशयः–यदिन्द्रियग्राह्यं सन्नोपलभ्यते तदसदिति निश्चीयते, यथा प्रदेशविशेषे घटो, यत्तु तद्ग्राह्यमेव न भवति न तस्यानुपलम्भेऽप्यभावनिश्चयः, पिशाचादिवत्, तद्विषयानुपलम्भस्य संशयहेतुत्वात्, न च साधकबाधकप्रमाणाभावात् संशयविषयतैवास्तिवति वाच्यं, तत्साधकस्यानुमानस्य सद्भावात्, तथाहि–अस्त्यात्मा अहं पश्यामि जिघ्रामीत्याद्यनुगतप्रत्ययान्यथानुपपत्तेः, आत्माभावे हीन्द्रियाण्येव द्रष्टृणि स्युः, तेषु च परस्परं विभिन्नेष्वहं पश्यामि जिघ्रामीत्यादिरनुगतोऽहमितिप्रत्ययोऽनेकेष्विव

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१९॥

दीप अनुक्रम [४६०]

प्रतिपत्तृषु न स्यात्, उक्तं हि–"अहं शृणोमि पश्यामि, जिघ्राम्यास्वादयामि च । चेतयाम्यध्यवस्यामि, बुध्यामीत्येवमस्ति सः ॥ १ ॥" वृद्धास्तु व्याचक्षते–अमूर्त्तत्वान्नोइन्द्रियग्राह्यो, नोइन्द्रियं च मनो, मनश्चात्मैव, अतः स्वप्रत्यक्ष एवायमात्मा, कस्मात् ?, उच्यते, त्रैकाल्यकार्यव्यपदेशात्, तद्यथा–कृतवानहं करोम्यहं करिष्याम्यहमुक्तवानहं ब्रवीम्यहं वक्ष्याम्यहं ज्ञातवानहं जानेऽहं ज्ञास्येऽहमिति योऽयं त्रिकालकार्यव्यपदेशहेतुरहंप्रत्ययो नायमानुमानिको न चागमिकः, किं तर्हि ?, प्रत्यक्षकृत एवायम्, अनेनैवात्मानं प्रतिपद्यस्व, नायमनात्मके घटादावुपलभ्यत इति, तथाऽमूर्त्तभावादपि च भवति नित्यः, तथाहि–यद्द्रव्यत्वे सत्यमूर्त्तं तन्नित्यं, यथा व्योम, अमूर्त्तश्चायं द्रव्यत्वे सत्यनेन विनाशानवस्थाने प्रत्युक्ते, न चैवममूर्त्तत्वादेव तस्य बन्धासम्भवः सम्भवे वा सर्वस्य सर्वदा तत्प्रसङ्ग इति वाच्यं, यतः 'अज्झत्थहेउं णियय्ऽस्स बंधो' अध्यात्मशब्देन आत्मस्था मिथ्यात्वादय इहोच्यन्ते, ततस्तद्धेतुः–तन्निमित्तोऽपरस्यहेतुकृतत्वेऽतिप्रसङ्गादिदोषसम्भवान्नियतो–निश्चितो न संदिग्धो, जगद्वैचित्र्यान्यथानुपपत्तेः, 'अस्य' जन्तोर्बन्धः–कर्मभिः संश्लेषः, यथा ह्यमूर्तस्यापि व्योम्नो मूर्तैरपि घटादिभिः सम्बन्धः एवमस्याप्यमूर्तस्यापि मूर्तैरपि कर्मभिरसौ न विरुध्यते, तथा चाह–"अरूपं हि यथाऽऽकाशं, रूपिद्रव्यादिभाजनम् । तथा ह्यरूपी जीवो, रूपिकर्मादिभाजनम् ॥ १ ॥" इति, मिथ्यात्वादिहेतुत्वाच्च न सर्वस्य सर्वदा तत्प्रसङ्ग इत्यदोषः, एवं हि येषामेव मिथ्यात्वादितद्धेतुसम्भवस्तेषामेवासौ न तु तद्विरहितानां सिद्धानामपि, तथा संसारः—चतुर्गतिप-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२०॥

दीप अनुक्रम [४६१]

र्यटनरूपस्तद्धेतुं च–तत्कारणं वदन्ति 'बन्धं' कर्मबन्धम्, एतेनामूर्तत्वाद्योग इव निष्क्रियत्वमपि निराकृतमिति सूत्रार्थः ॥ यत एवमस्त्यात्मा नित्योऽत एव च भवान्तरानुयायी तस्य च बन्धो बन्धादेव मोक्ष इत्यतः—

जहा वयं धम्ममजाणमाणा, पावं पुरा कम्ममकासि मोहा ।
ओरुज्झमाणा परिरक्खयंता, तं णेव भुज्जोऽवि समायरामो ॥ २० ॥

'यथा' येन प्रकारेण वयं 'धर्मं' सम्यग्दर्शनादिकम् 'अजानानाः' अनवबुध्यमानाः 'पापं' पापहेतुं 'पुरा' पूर्वं 'कर्म' क्रियाम् 'अकासि'त्ति अकार्ष्म कृतवन्तः 'मोहात्' तत्त्वानवबोधात् 'अवरुध्यमानाः' गृहान्निर्गममलभमानाः 'परिरक्षमाणाः' अनुजीविभिरनुपाल्यमानाः 'तद्' इति पापकर्म 'नेव'त्ति नैव 'भूयोऽपि' पुनरपि 'समाचरामः' अनुतिष्ठामो, यतः सम्प्रत्युपलब्धमेवास्माभिर्वस्तुतत्त्वमिति भावः, सर्वत्र च 'अस्मदो द्वयोश्चे'ति (पा० १-२-५९) द्वित्वेऽपि बहुवचनमिति सूत्रार्थः ॥ अन्यच्च—

अब्भाहयंमि लोगंमि, सव्वओ परिवारिए । अमोहाहिं पडंतीहिं, गिहंसि न रइं लभे ॥ २१ ॥

'अभ्याहते' आभिमुख्येन पीडिते 'लोके' जने 'सर्वत्र' सर्वासु दिक्षु 'परिवारिते' परिवेष्टिते 'अमोघाभिः' अवश्याभिः प्रहरणोपमाभिः 'पतन्तीभि' आगच्छन्तीभिः 'गिहंसि'त्ति गृहे तस्य चोपलक्षणत्वाद् गृहवासे न 'रतिम्'

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२१॥

दीप अनुक्रम [४६२]

आसक्तिं 'लभे'त्ति लभावहे, यथा हि वागुरया परिवेष्टितो मृगोऽमोघैश्च प्रहरणैर्व्याधेनाभ्याहतो न रतिं लभते, एवमावामपीति सूत्रार्थः ॥ भृगुराह—(ग्रन्थाग्रम् १००००)

केण अब्भाहओ लोओ, केण वा परिवारिओ । का वा अमोहा वुत्ता ?, जाया ! चिंतावरो हुमि ॥ २२ ॥

केन व्याधतुल्येनाभ्याहतो लोकः ?, केन वा वागुरास्थानीयेन परिवारितः ?, का वा 'अमोघा' अमोघप्रहरणोपमा अभ्याहतिक्रियां प्रति करणतयोक्ता, ? 'जातौ !' पुत्रौ चिन्तापरः 'हुमि'त्ति भवामि, ततो ममावेद्यतामयमर्थ इति भाव इति सूत्रार्थः ॥ तावाहतुः—

मच्चुणाऽब्भाहओ लोओ, जराए परिवारिओ । अमोहा रयणी वुत्ता, एवं ताय ! वियाणह ॥ २३ ॥

'मृत्युना' कृतान्तेनाभ्याहतो लोकः, तस्य सर्वत्राप्रतिहतप्रसरत्वात्, जरया परिवारितः, तस्या एव तदभिघातयोग्यतापादनपटीयस्त्वात्, अमोघा 'रयणि'त्ति रजन्य उक्ताः, दिवसाविनाभावित्वात्तासां दिवसाश्च, तत्पतने ह्यवश्यंभावी जनस्याभिघातः, एवं तात ! 'विजानीत' अवगच्छतेति सूत्रार्थः ॥ किञ्च—

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तई । अहम्मं कुणमाणस्स, अहला जंति राइओ ॥ २४ ॥

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तई । धम्मं तु च कुणमाणस्स, सफला जंति राइओ ॥ २५ ॥

या या 'वचति' व्रजति 'रजनी' रात्रिरुपलक्षणत्वाद्दिनं च न सा 'प्रतिनिवर्त्तते' पुनरागच्छति, तदागमने हि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२४--२५॥

दीप अनुक्रम [४६५--४६६]

सर्वदा सैवैका जन्मरात्रिः स्यात्ततो न द्वितीया मरणरात्रिः कदाचित्प्रादुष्ष्यात्, ताश्चाधर्मं कुर्वतो जन्तोरिति गम्यते अफला यान्ति रात्रयः, अधर्मनिबन्धनं च गृहस्थतेत्यायुषोऽनित्यत्वादधर्मकरणे च तस्य निष्फलत्वात्तत्परित्याग एव श्रेयानिति भावः। इत्थं व्यतिरेकद्वारेण प्रव्रज्याप्रतिपत्तिहेतुमभिधाय तमेवान्वयमुखेनाह—'जा जे'त्यादि पूर्ववत्, नवरं 'धम्मं च' त्ति चशब्दः पुनरर्थे धर्मं पुनः कुर्वतः सफला धर्मलक्षणफलोपार्जनतो, न च व्रतप्रतिपत्तिं विना धर्म इत्यतो व्रतं प्रतिपत्स्यावहे इत्यभिप्राय इति सूत्रद्वयार्थः ॥ इत्थं कुमारवचनादाविर्भूतसम्यक्त्वस्तद्वचनमेव पुरस्कुर्वन् भृगुराह—

एगओ संवसित्ता णं, दुहओ संमत्तसंजुया। पच्छा जाया! गमिस्सामो, भिक्खमाणा कुले कुले ॥२६॥

'एकतः' एकस्मिन् स्थाने 'समुष्य' सहैवासित्वा 'दुहतो'त्ति द्वयं च द्वयं च द्वये आवां युवां च, व्यक्त्यपेक्षया बहुवचनं पुरुषप्राधान्याच्च पुँल्लिङ्गता, 'सम्यक्त्वसंयुताः' सम्यक्त्वेन–तत्त्वरुचिलक्षणेन संयुताः–सहिताः, उपलक्षणत्वाद्देशविरत्या च 'पश्चाद्' यौवनावस्थोत्तरकालं, कोऽर्थः ?–पश्चिमे वयसि, 'जातौ' पुत्रौ! 'गमिष्यामः' व्रजिष्यामो वयं ग्रामनगरादिषु, मासकल्पादिक्रमेणेति शेषः, अर्थाच्च प्रव्रज्यां प्रतिपद्य, 'भिक्षमाणाः' याचमानाः, पिण्डादिकमिति गम्यते, क्व ?–'कुले कुले' गृहे गृहे न त्वेकस्मिन्नेव वेश्मनि, किमुक्तं भवति ?—अज्ञातोञ्छवृत्त्येति सूत्रार्थः ॥ कुमारावाहतुः—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२६--२८॥

दीप अनुक्रम [४६७--४६९]

जस्सऽत्थि मच्चुणा सक्खं, जस्स वऽत्थि पलायणं। जो जाणइ न मरिस्सामि, सो हु कंखे सुए सिया ॥२७॥
अज्जेव धम्मं पडिवज्जयामो, जहिं पवन्ना न पुणब्भवामो।
अणागयं नेव य अत्थि किंची, सद्धाखमं नो विणइत्तु रागं ॥ २८ ॥

'यस्य' इत्यनिर्दिष्टस्वरूपस्य 'अस्ति' विद्यते 'मृत्युना' कृतान्तेन 'सख्यं' मित्रत्वं, यस्य चास्ति 'पलायनं' नशनं, मृत्योरिति प्रक्रमः, तथा 'जो जाणइ'त्ति यो जानीते यथाऽहं न मरिष्यामि, 'सो हु कंखे सुए सिय'त्ति स एव 'काङ्क्षति' प्रार्थयते 'श्वः' आगामिनि दिने स्यादिदमिति गम्यते। न च कस्यचिन्मृत्युना सह सख्यं ततो वा पलायनं तदभावज्ञानं वा अतोऽद्यैव 'धर्मं' प्रक्रमाद्यतिधर्मं 'पडिवज्जयामो'त्ति 'प्रतिपद्यामहे' अङ्गीकुर्महे, तमेव फलोपदर्शनद्वारेण विशिनष्टि–'जहिं'ति आर्षत्वाद्यं धर्मं 'प्रपन्नाः' आश्रिताः 'ण पुणब्भवामो'त्ति न पुनर्भविष्यामो–न पुनर्जन्मानुभविष्यामः, तन्निबन्धनभूतकर्मापगमात्, जरामरणाद्यभावोपलक्षणं चैतत्, किञ्च–'अनागतम्' अप्राप्तं नैव चास्ति किञ्चिदिति मनोरममपि विषयसौख्यादि अनादौ संसारे सर्वस्य प्राप्तपूर्वत्वात्ततो न तदर्थमपि गृहावस्थानं युक्तमिति भावः, यद्वा 'अनागतम्' आगतिविरहितं नैव चास्ति किंचित्, किन्तु सर्वमागतिमदेव जरामरणादिव्यसनजातं, ध्रुवभावित्वादस्य भवस्थानां, यद्वाऽनागतं यत्र मृत्योरागतिर्नास्ति तन्न किञ्चित्स्थानमस्ति, यतश्चैवमतः श्रद्धा–अभिलाषः क्षमं–युक्तमिहलोकपरलोकयोः श्रेयःप्राप्तिनिमित्तमनुष्ठानं कर्तुमिति शेषः, 'ण' इति नोऽ-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२९--३०॥

दीप अनुक्रम [४७०--४७१]

साकं 'विनीय' अपसार्य, कं ?–'रागं' स्वजनाभिष्वङ्गलक्षणं, तत्त्वतो हि कः कस्य स्वजनो न वा स्वजन इति, उक्तं च–"अयं णं [1]भंते ! जीवे एगमेगस्स जीवस्स माइत्ताए (पियत्ताए) भाइत्ताए पुत्तत्ताए धूयत्ताए सुण्हत्ताए भज्जत्ताए सुहिसयणसंबंधसंथुयत्ताए उववण्णपुव्वे ?, हंता गोयमा !, असतिं अदुवा अणंतखुत्तो"त्ति, इति सूत्रद्वयार्थः ॥ ततस्तयोर्वचनमाकर्ण्य पुरोहित उत्पन्नव्रतग्रहणपरिणामो ब्राह्मणीं धर्मविघ्नकारिणीं मत्वेदमाह—

पहीणपुत्तस्स हु नत्थि वासो, वासिट्ठि ! भिक्खायरियाइ कालो ।
साहाहि रुक्खो लहई समाहिं, छिन्नाहिं साहाहिं तमेव खाणुं ॥ २९ ॥
पंखाविहूणो व जहेव पक्खी, भिच्चविहूणो व रणे नरिंदो ।
विवन्नसारो वणिउव्व पोए, पहीणपुत्तोमि तहा अहंपि ॥ ३० ॥

प्रहीणौ–प्रभ्रष्टौ पुत्रौ यस्मात्स प्रहीणपुत्रः, अथवा प्राकृते पूर्वापरनिपातस्यातन्त्रत्वात्पुत्राभ्यां प्रहीणः–त्यक्तः पुत्रप्रहीणः तस्य 'हुः' पूरणे 'नास्ति' न विद्यते 'वासः' अवस्थानं, मम गृह इति गम्यते, वाशिष्टि !–वशिष्टगोत्रोद्भवे, गौरवख्यापनार्थं गोत्राभिधानं, तच्च कथं नु नाम धर्माभिमुख्यमस्याः स्यादिति, भिक्षाचर्यायाः–भिक्षाटनस्य,

१ अयं भदन्त! जीव एकैकस्य जीवस्य मातृतया (पितृतया) भ्रातृतया पुत्रतया दुहितृतया स्नुषातया भार्यातया सुहृत्स्वजनसम्बन्धसंस्तुततया उत्पन्नपूर्वः ?, हन्त गौतम ! असकृत् अथवाऽनन्तकृत्वः ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२९--३०॥

दीप अनुक्रम [४७०--४७१]

उपलक्षणं चैतद् व्रतग्रहणस्य कालः–प्रस्तावो वर्त्तत इति शेषः। किमित्येवमत आह–'शाखाभिः' प्रतीताभिः 'वृक्षः' द्रुमः 'लभते' प्राप्नोति 'समाधिं' स्वास्थ्यं, 'छिन्नाभिः' द्विधाकृताभिः शाखाभिः 'तमेव' वृक्षं यस्ताभिः समाधिमाप्तवान् 'खाणुं'ति स्थाणुं जनोऽप्युपदिशतीत्युपस्कारः, यथा हि तास्तस्य शोभासंरक्षणसहायकृत्यकरणादिना समाधिहेतवः एवं ममाप्येतौ सुतावतस्तद्विरहितोऽहमपि स्थाणुकल्प एवेति किं ममैवंविधस्य स्वपरयोः कश्चिदुपकारमपुष्णत एव गृहवासेनेत्यभिप्रायः। किञ्च–पक्षाभ्यां–पतत्राभ्यां विहीनो–विरहितः पक्षविहीनः, 'वा' दृष्टान्तान्तरसमुच्चये, यथा 'इह' अस्मिँल्लोके 'पक्षी' विहङ्गमः पलायितुमप्यशक्त इति मार्जारादिभिरभिभूयते। तथा भृत्याः–पदातयस्तद्विहीनो, वा प्राग्वत्, 'रणे' सङ्ग्रामे 'नरेन्द्रः' राजा शत्रुजनपराजयस्थानमेव जायते, तथा विपन्नः–विनष्टः सारो–हिरण्यरत्नादिरस्येति विपन्नसारो वणिक् सांयात्रिको, वेति प्राग्वत्, 'पोते' प्रवहणे भिन्न इति गम्यते नार्वाग् न च परत इत्युदधिमध्यवर्त्ती विषीदति, पुत्रप्रहीणोऽस्मि तथाऽहमपि, कोऽर्थः ?–पक्षभृत्यार्थसारभूताभ्यां सुताभ्यां विरहितोऽहमप्येवंविध एवेति सूत्रद्वयार्थः॥ वाशिष्ठ्याह—

सुसंभिया कामगुणा इमे ते, संपिंडिया अग्गरसा पभूया।
भुंजामु ता कामगुणे पगामं, पच्छा गमिस्सामु पहाणमग्गं॥ ३१॥

सुष्ठु—अतिशयेन संभृताः–संस्कृताः सुसंभृताः, के ते ?—'कामगुणा' वेणुवीणाकणितकाकलीगीतादयः 'इमे'

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३१॥

दीप अनुक्रम [४७२]

इति स्वगृहवर्त्तिनः, तान् प्रत्यक्षतया निर्दिशति, 'ते' तव तथा 'संपिण्डिताः' सम्यक्पुञ्जीकृताः 'अग्गरस'त्ति चशब्दस्य गम्यमानत्वादग्र्या रसाश्च—प्रधाना मधुरादयश्च प्रभूताः—प्रचुराः, कामगुणान्तर्गतत्वेऽपि रसानां पृथगुपादानमतिगृद्धिहेतुत्वाच्छब्दादिष्वपि चैषामेव प्रवर्त्तकत्वात्,कामगुणविशेषणं वा अग्र्या रसास्त एव शृङ्गारादयो वा येषु ते तथा, वृद्धास्त्वाहुः–रसानां–सुखानामग्रं रसाग्रं ये कामगुणाः, सूत्रे च प्राकृतत्वादग्रशब्दस्य पूर्वनिपातः, 'भुंजामो'त्ति भुञ्जीमहि 'तत्' तस्मादमी सुसंभृतादिविशेषणविशिष्टास्ते च स्वाधीनाः सन्ति, 'कामगुणान्' उक्तरूपान् 'प्रकामम्' अतिशयेन, ततो भुक्तभोगाः 'पश्चाद्' इति वृद्धावस्थायां 'गमिष्यामः' प्रतिपत्स्यामहे 'प्रधानमार्गं' महापुरुषसेवितं प्रव्रज्यारूपं मुक्तिपथमिति सूत्रार्थः ॥ पुरोहितः प्राह—

भुत्ता रसा भोइ! जहाइ णे वओ, न जीवियट्ठा पजहामि भोए ।
लाभं अलाभं च सुहं च दुक्खं, संचिक्खमाणो चरिसामि मोणं ॥ ३२ ॥

'भुक्ताः' सेविताः 'रसाः' मधुरादयः, उपलक्षणत्वाच्छेषकामगुणाश्च, यद्वा रसा इह सामान्येनैवास्वाद्यमानत्वाद्भोगा भण्यन्ते 'होति'त्ति हे भवति !, आमन्त्रणवचनमेतत्, 'जहाति' त्यजति 'नः' इत्यस्मान् वयः शरीरावस्था कालकृतोच्यते, सा चेहाभिमतक्रियाकरणक्षमा गृह्यते, ततश्च यतो भुक्ता एवानेकशो भोगा वयश्चाभिमतक्रियाकरणक्षमं जहाति, उपलक्षणत्वाज्जीवितं च, ततो यावन्नैतत्त्यजति तावद्दीक्षां प्रतिपद्यामह इत्यभिप्रायः,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३२॥

दीप अनुक्रम [४७३]

तर्किं वयःस्थैर्याद्यर्थं दीक्षां प्रतिपद्यसे ?, उच्यते हि कैश्चित् दीक्षा वयःस्थैर्यादिविधायिनीत्याशङ्क्याह—'न' इति निषेधे जीवितम्–असंयमजीवितम्, उपलक्षणत्वाद्व्ययश्च तदर्थं 'प्रजहामि' प्रकर्षेण त्यजामि 'भोगान्' शब्दादीन्, किन्तु 'लाभम्' अभिमतवस्त्वाप्तिरूपम् 'अलाभं च' तदभावरूपं 'सुखम्' अभिलषणीयविषयसम्भोगजं, चस्य भिन्नक्रमत्वाद् 'दुःखं च' बाधात्मकं 'संचिक्खमाणो'त्ति समतया ईक्षमाणः—पश्यन्, किमुक्तं भवति ?–लाभालाभयोस्तथा सुखदुःखयोरुपलक्षणत्वाज्जीवितमरणादीनां च समतामेव भावयन् 'चरिष्यामि' आसेविष्ये, किं तत् ?–'मौनं' मुनिभावं, ततो मुक्त्यर्थमेव मम दीक्षाप्रतिपत्तिरिति भाव इति सूत्रार्थः ॥ वाशिष्ट्याह–

मा हू तुमं सोदरियाण संभरे, जुन्नो व हंसो पडिसोयगामी ।
भुंजाहि भोगाइं मए समाणं, दुक्खं खु भिक्खायरिया विहारो ॥ ३३ ॥

'मा' इति निषेधे 'हूः' इति वाक्यालङ्कारे त्वं सोदरे शयिताः सोदर्याः, 'सोदराद्य इति (पा०४–४–१०९) यः प्रत्ययः, ते च समानकुक्षिभवा भ्रातरस्तेषाम्, उपलक्षणत्वाच्छेषस्वजनानां भोगानां च, 'संभरे'त्ति अस्मार्षीः, क इव ?–'जुण्णो व हंसो'त्ति इवशब्दस्य भिन्नक्रमत्वात् 'जीर्णः' वयोहानिमुपगतो 'हंस इव' प्रधानपक्षीव प्रतिकूलं स्रोतः प्रतिस्रोतस्तद्गामी सन्, किमुक्तं भवति ?–यथाऽसौ नदीस्रोतस्यतिकष्टं प्रतिकूलगमनमारभ्यापि तत्राशक्तः पुनरनुस्रोत एवानुधावति, एवं भवानपि दुरनुचरं संयमभारं वोढुमसमर्थः पुनः सहोदरादीन् भोगान् वा स्मरिष्यति,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३३॥

दीप अनुक्रम [४७४]

तदिदमेवास्तु, भुङ्क्ष्व भोगान् मया 'समाणं'ति सह 'दुःख'मिति दुःखहेतुः 'खु' इति खलु निश्चितं 'भिक्षाचर्या' भिक्षाटनं 'विहारः' ग्रामादिष्वप्रतिबद्धविहारो, दीक्षोपलक्षणं चैतदिति सूत्रार्थः ॥ पुरोहित आह–

जहा य भोई ! तणुयं भुयंगे, निम्मोअणिं हिच्च पलाइ मुत्तो ।
एमेए जाया पजहंति भोए, तेऽहं कहं नाणुगमिस्समिक्को ? ॥ ३४ ॥
छिंदित्तु जालं अबलं व रोहिया, मच्छा जहा कामगुणे पहाय ।
धोरेयसीला तवसा उदारा, धीरा हु भिक्खायरियं चरंति ॥ ३५ ॥

यथा हे भवति ! पठ्यते च—'भोगि'त्ति हे भोगिनि ! तनुः–शरीरं तत्र जातां तनुजां 'भुजङ्गमः' सर्पः 'निर्मोचनीं' निर्मोकं हित्वा 'पर्येति' समन्ताद्गच्छति 'मुक्तः' इति निरपेक्षोऽनभिष्वक्त इत्यर्थः, 'एमेए'त्ति एवमेतौ, पठ्यते च 'इमेति'त्ति अत्र च तथेति गम्यते, ततस्तथैमौ 'ते' तव 'जातौ' पुत्रौ 'पजहंति' प्रजहीतः प्रकर्षेण त्यजतो भोगान्, ततः किमित्याह—तौ भोगांस्त्यजन्तौ जातौ अहं कथं न 'अनुगमिष्यामि' प्रव्रज्याग्रहणेनानुसरिष्यामि 'एकः' अद्वितीयः ? । यदि तावदनयोः कुमारकयोरपीयान् विवेको यन्निर्मोकवदत्यन्तसहचरितानपि भोगान् भुजङ्गवत्त्यजतस्तत्किमिति भुक्तभोगोऽप्यहमेतान्न त्यक्ष्यामि ?, किं वा ममासहायस्य गृहवासेनेति भावः । तथा 'छित्त्वा' द्विधाकृत्वा तीक्ष्णपुच्छादिना 'जालम्' आनायम् 'अबलमिव' जीर्णत्वादिना निःसारमिव, बलीयोऽपीति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३५॥

दीप अनुक्रम [४७६]

गम्यते, 'रोहिताः' रोहितजातीयाः 'मत्स्या' मीनाश्चरन्तीति सम्बन्धः, 'यथे'ति दृष्टान्तोपदर्शने, यत्तदोश्च नित्यसम्बन्धात्तथेति गम्यते, ततस्तथा जालप्रायान् कामगुणान् 'ग्रहाय' परित्यज्य, धुरि वहन्ति धौरेयास्तेषामिव शीलम्—उत्क्षिप्तभारवाहितालक्षणं स्वभावो येषां ते धौरेयशीलाः 'तपसा' अनशनादिना 'उदाराः' प्रधानाः 'धीराः' सत्त्ववन्तः हुरिति यस्माद् भिक्षाचर्यां 'चरन्ति' आसेवन्ते, व्रतग्रहणोपलक्षणमेतद्, अतोऽहमपीत्थं व्रतमेव ग्रहीष्ये इति भाव इति सूत्रद्वयार्थः ॥ इत्थं तत्प्रतिबोधिता ब्राह्मण्याह—

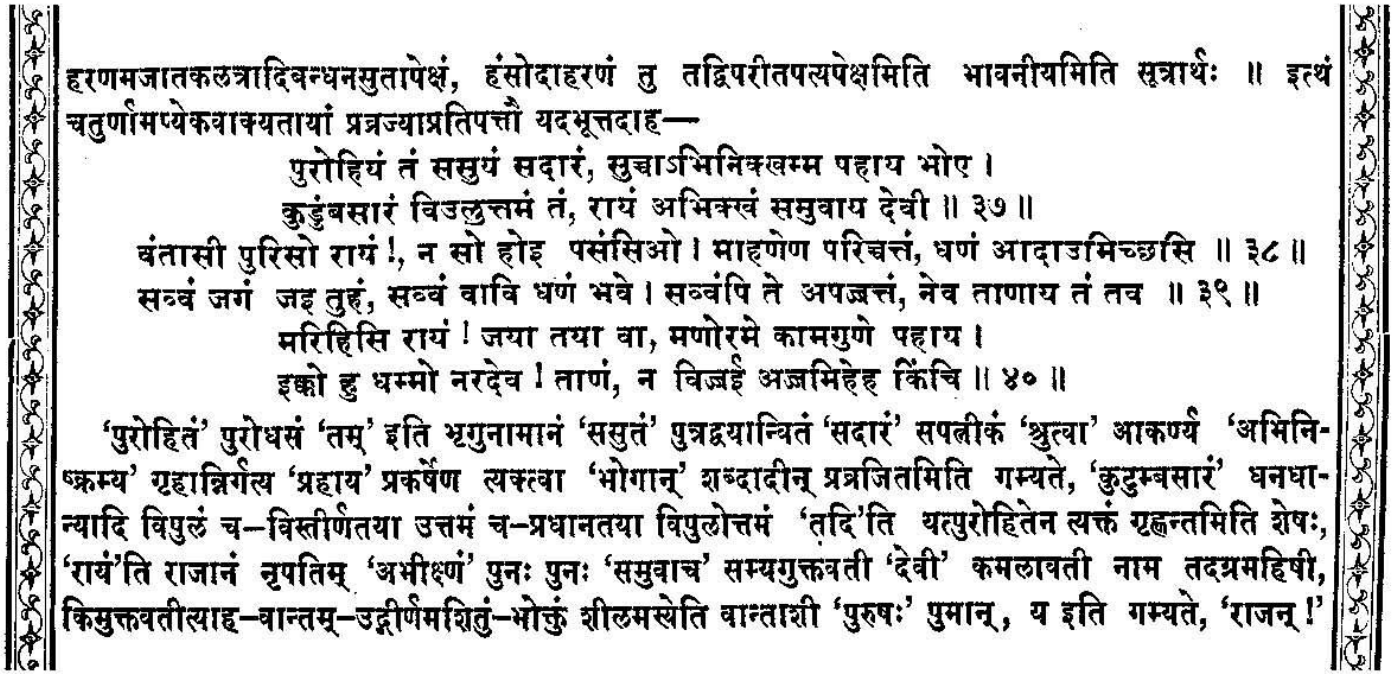
नहेव कुंचा समइक्कमंता, तयाणि जालाणि दलित्तु हंसा।
पलिंति पुत्ता य पई य मज्झं, तेऽहं कहं नाणुगमिस्समिक्का ? ॥ ३६ ॥

'नभसीव' आकाश इव 'क्रौञ्चाः' पक्षिविशेषाः 'समतिक्रामन्तः' तांस्तान् देशानुलङ्घयन्तः 'ततानि' विस्तीर्णानि 'जालानि' बन्धनविशेषरूपाण्यात्मनोऽनर्थहेतुन् 'दलयित्वा' भित्त्वा 'हंस'त्ति चशब्दस्य गम्यमानत्वाद्धंसाश्च 'परिंति'त्ति परियन्ति—समन्ताद्गच्छन्ति 'पुत्रौ च' सुतौ 'पतिश्च' भर्त्ता मम सम्बन्धिनो,गम्यमानत्वादेतत् (नं)जालोपमविषयाभिष्वङ्गं भित्त्वा नभःकल्पे निरुपलेपतया संयमाध्वनि तानि तानि संयमस्थानानि अतिक्रामन्तस्तानहं कथं नानुगमिष्याम्येका सती ?, किन्त्वनुगमिष्याम्येव, एवंविधव्यवसां हि स्त्रीणां भर्त्ता वा पुत्रो वा गतिरिति, यदि–वा जालानि भित्त्वेति हंसानामेव संबध्यते, समतिक्रामन्तः स्वातन्त्र्येण गच्छन्त इति तु क्रौञ्चानां, ततश्च क्रौञ्चोदा-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||३६||

दीप अनुक्रम [४७७]



हरणमजातकलत्रादिबन्धनसुतापेक्षं, हंसोदाहरणं तु तद्विपरीतपत्यपेक्षमिति भावनीयमिति सूत्रार्थः ॥ इत्थं चतुर्णामप्येकवाक्यतायां प्रव्रज्याप्रतिपत्तौ यदभूत्तदाह—

पुरोहियं तं ससुयं सदारं, सुच्चाऽभिनिक्खम्म पहाय भोए ।
कुडुंबसारं विउलुत्तमं तं, रायं अभिक्खं समुवाय देवी ॥ ३७ ॥
वंतासी पुरिसो रायं !, न सो होइ पसंसिओ । माहणेण परिचत्तं, धणं आदाउमिच्छसि ॥ ३८ ॥
सव्वं जगं जइ तुहं, सव्वं वावि धणं भवे । सव्वंपि ते अपज्जत्तं, नेव ताणाय तं तव ॥ ३९ ॥
मरिहिसि रायं ! जया तया वा, मणोरमे कामगुणे पहाय ।
इक्को हु धम्मो नरदेव ! ताणं, न विज्जई अन्नमिहेह किंचि ॥ ४० ॥

'पुरोहितं' पुरोधसं 'तम्' इति भृगुनामानं 'ससुतं' पुत्रद्वयान्वितं 'सदारं' सपत्नीकं 'श्रुत्वा' आकर्ण्य 'अभिनिष्क्रम्य' गृहान्निर्गत्य 'प्रहाय' प्रकर्षेण त्यक्त्वा 'भोगान्' शब्दादीन् प्रव्रजितमिति गम्यते, 'कुटुम्बसारं' धनधान्यादि विपुलं च–विस्तीर्णतया उत्तमं च–प्रधानतया विपुलोत्तमं 'तदि'ति यत्पुरोहितेन त्यक्तं गृह्णन्तमिति शेषः, 'रायं'ति राजानं नृपतिम् 'अभीक्ष्णं' पुनः पुनः 'समुवाच' सम्यगुक्तवती 'देवी' कमलावती नाम तदग्रमहिषी, किमुक्तवतीत्याह–वान्तम्–उद्गीर्णमशितुं–भोक्तुं शीलमस्येति वान्ताशी 'पुरुषः' पुमान्, य इति गम्यते, 'राजन्!'

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३७--४०॥

दीप अनुक्रम [४७८--४८१]

नृप ! न स 'भवति प्रशंसितः' श्लाघितो विद्वद्भिरिति शेषः, स्यादेतत्–कथमहं वान्ताशीत्यत आह–ब्राह्मणेन 'परित्यक्तं' परिहृतं 'धनं' द्रव्यम् 'आदातुं' गृहीतुमिच्छसि, परिहृतधनं हि गृहीतोज्झितत्वाद्वान्तमिव तत्तदादातुमिच्छंस्त्वमपि वान्ताशीव, न चेदमुचितं भवादृशामित्यभिप्रायः । अथवा काक्वा नीयते—राजन् ! वान्ताशी यः स प्रशस्यो न भवत्यतो ब्राह्मणेन परित्यक्तं धनं त्वमादातुमिच्छसि नैवैतद्भवत उचितं, यतस्त्वमप्येवं वान्ताशितयाऽश्लाघ्य एव भविष्यसीति काक्वर्थः ॥ किं ?–'सर्वं' निरवशेषं 'जगद्' भुवनं, भवेदिति सम्बन्धः, 'यदी'त्यस्यायमर्थः–न संभवत्येवैतत्, कथञ्चित्सम्भवे वा 'तुह'न्ति तव सर्वं वाऽपि धनं–रजतरूप्यादिद्रव्यं भवेत् यदि तवेतीहापि योज्यते, तदा सर्वमपि 'ते' तव 'अपर्याप्तम्' अशक्तम्, इच्छापरिपूर्त्तिं प्रतीति शेषः, आकाशसमत्वेन तस्या अपर्यवसितत्वात्, तथा नैव 'त्राणाय' जरामरणाद्यापदपनोदाय 'तदि'ति सर्वं जगद्धनं वा भवति ते, इह च पुनः पुनः सर्वशब्दस्य युष्मदश्चोपादानं भिन्नवाक्यत्वादपुनरुक्तमिति भावनीयं, पूर्वेण गर्हितत्वमनेन चानुपकारितां पुरोहितधनाद्यग्रहणहेतुमादर्श्य सम्प्रत्यनित्यतां तद्धेतुमाह–'मरिष्यसि' प्राणांस्त्यक्ष्यसि 'राजन् !' नृप ! 'यदा तदा वा' यस्मिंस्तस्मिन् वा काले ऽवश्यमेव मर्त्तव्यं, 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु'रिति, उक्तं हि—कश्चिन्नावस्त्वया दृष्टः, श्रुतो वा शङ्कितोऽपि वा । क्षितौ वा यदिवा स्वर्गे, यो जातो न मरिष्यति ॥१॥" तत्रापि च कदाचिदभिलषितवस्त्वादायैव मरिष्यतीत्यत आह–'मनोरमान्' चित्ताह्लादकान् 'कामगुणान्' उक्तरूपान् 'प्रहाय' प्रकर्षेण ॥४०८॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३७--४०॥

दीप अनुक्रम [४७८--४८१]

त्यक्त्वा 'त्वम्' एकाक्येव मरिष्यसि, न किञ्चिदन्यत्त्वया सह यास्यतीत्यभिप्रायः। तथा 'एक्को हु'त्ति एक एव— अद्वितीयः 'धर्म एव' सम्यग्दर्शनादिरूपः 'नरदेव !' नृप ! 'त्राणं' शरणमापत्परिरक्षणे क्षमं 'न विद्यते' नास्ति 'अन्यद्' अपरम् 'इहेहे'ति वीप्साभिधानं सम्भ्रमख्यापनार्थं, 'किञ्चिदि'ति स्वजनधनादिकं,यदिवा 'इहे'ति लोके 'इहे'-त्यस्मिन् मृत्यौ धर्म एवैकस्त्राणं, मुक्तिहेतुत्वेन, नान्यत्किञ्चित्, ततः स एवानुष्ठेय इति भाव, इति सूत्रचतुष्टयार्थः॥ यतश्च धर्मादृते नान्यत्त्राणमतः—

नाहं रमे पक्खिणि पंजरे वा, संताणछिन्ना चरिसामि मोणं।
अकिंचणा उज्जुकडा निरामिसा, परिग्गहारंभनियत्तदोसा ॥ ४१ ॥
दवग्गिणा जहा रण्णे, डज्झमाणेसु जंतुसु। अन्ने सत्ता पमोयंति, रागद्दोसवसं गया ॥ ४२ ॥
एवमेव वयं मूढा, कामभोगेसु मुच्छिया। डज्झमाणं न बुज्झामो, रागद्दोसग्गिणा जगं ॥ ४३ ॥
भोगे भुच्चा वमित्ता य, लहुभूयविहारिणो। आमोअमाणा गच्छंति, दिया कामकमा इव ॥ ४४ ॥
इमे य बद्धा फंदंति, मम हत्थऽज्जमागया। वयं च सत्ता कामेसु, भविस्सामो जहा इमे ॥ ४५ ॥
सामिसं कुललं दिस्सा, बज्झमाणं निरामिसं। आमिसं सव्वमुज्झित्ता, विहरिस्सामो निरामिसा ॥
गिद्धोवमे य नच्चा णं, कामे संसारवड्ढणे। उरगो सुवण्णपासिव्व, संकमाणो तणुं चरे ॥ ४७ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४१--४८॥

दीप अनुक्रम [४८२--४८९]

नागुव्व बंधणं छित्ता, अप्पणो वसहिं वए । इति एत्थं महारायं !, उसुआरित्ति मे सुयं ॥ ४८ ॥

'ने'ति निषेधे, 'अह'मित्यात्मनिर्देशे 'रमे' इति रतिमवाप्नोमि 'पक्खिणि पंजरे व'त्ति वाशब्द औपम्ये भिन्नक्रमश्च ततः 'पक्षिणीव' शकुनिकेव सारिकादिः 'पञ्जरे' प्रतीत एव, किमुक्तं भवति ?–यथाऽसौ दुःखोत्पादिनि पञ्जरे न रतिं प्राप्नोति एवमहमपि जरामरणाद्युपद्रवविद्रुते भवपञ्जरे न रमे, अतश्छिन्नसन्ताना प्रक्रमाद् विनाशितस्नेहसन्ततिः सती, छिन्नशब्दस्य सूत्रे परनिपातः प्राग्वत्, 'चरिष्यामि' अनुष्ठास्यामि 'मौनं' मुनिभावम्, अविद्यमानं किञ्चनं–द्रव्यतो हिरण्यादि भावतः कषायादिरूपमस्या इत्यकिञ्चना, अत एव ऋजु–मायाविरहितं कृतम्–अनुष्ठितमस्या इति ऋजुकृता, कथं चैवंभूतेत्याह–निष्क्रान्ता आमिषाद्–गृद्धिहेतोरभिलषितविषयादेः निर्गतं वा आमिषमस्या इति निरामिषा, 'परिग्गहारंभणियत्तऽदोस'त्ति, प्राकृतत्वात् पूर्वापरनिपातोऽतत्रमिति, परिग्रहारम्भयोर्दोषाः–अभिष्वङ्गनिस्तृंशतादयस्तेभ्यो निवृत्ता–उपरता परिग्रहारम्भदोषनिवृत्ता, यद्वा परिग्रहारम्भनिवृत्ता अत एव चादोषा–विकृतिविरहिता, अनयोर्विशेषणसमासः । अपरं च 'दवाग्निना' दावानलेन यथा 'अरण्ये' वने 'दह्यमानेषु' भस्मसात्क्रियमाणेषु 'जन्तुषु' प्राणिषु 'अन्ये' अपरे 'सत्त्वाः' प्राणिनोऽविवेकिनः 'प्रमोदन्ते' प्रकर्षेण हृष्यन्ति,किमित्येवंविधास्ते इत्याह—रागद्वेषयोर्वशः–आयत्तता रागद्वेषवशत्वं गताः–प्राप्ताः।'एवमेवं'ति बिन्दोरलाक्षणिकत्वादेवमेव वयं 'मूढ'त्ति 'मूढानि' मोहवशगानि 'कामभोगेषु' उक्तरूपेषु 'मुच्छिय'त्ति मूर्छितानि गृद्धानि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४१--४८॥

दीप अनुक्रम [४८२--४८९]

दह्यमानमिव दह्यमानं न 'बुध्यामहे' नावगच्छामो रागद्वेषावग्निरिव रागद्वेषाग्निस्तेन, किं तत् ?–'जगत्' प्राणिसमूहं, यो हि सविवेको रागादिमांश्च न भवति स दावानलेन दह्यमानानन्यसत्त्वानवलोक्य अहमप्येवमनेन दहनीयेति तद्रक्षणोपायतत्पर एव भवति, न तु प्रमादवशगः सन् प्रमोदते, यस्त्वत्यन्तमज्ञो रागादिमांश्च स आयतिमचिन्तयन् हृष्यति न तु तदुपशमनोपाये प्रवर्त्तते, ततो वयमपि भोगापरित्यागादेवंविधान्येवेति भावः। ये त्वेवंविधा न भवन्ति ते किं कुर्वन्तीत्याह—'भोगान्' मनोज्ञशब्दादीन् 'भोच्च'त्ति 'भुक्त्वा' आसेव्य पुनरुत्तरकालं 'वान्त्वा च' अपहाय विपाकदारुणत्वाल्लघुः–वायुस्तद्वद्भूतं–भवनमेषां लघुभूताः, कोऽर्थः ?–वायूपमाः तथाविधाः सन्तो विहरन्तीत्येवंशीलाः लघुभूतविहारिणः–अप्रतिबद्धविहारिण इत्यर्थः, यद्वा लघुभूतः–संयमस्तेन विहर्त्तुं शीलं येषां ते तथाविधाः, आ—समन्तान्मोदमाना हृष्यन्त आमोदमानाः, तथाविधानुष्ठानेनेति गम्यते, गच्छन्ति विवक्षितं स्थानमिति शेषः, क इव ?–'दिया कामकमा इव'त्ति इवशब्दो भिन्नक्रमस्ततो द्विजा इव—पक्षिण इव कामः–अभिलाषस्तेन क्रामन्तीति कामक्रमाः, यथा पक्षिणः स्वेच्छया यत्र यत्रावभासते तत्र तत्रामोदमाना भ्राम्यन्ति एवमेतेऽप्यभिष्वङ्गस्य परतन्त्रताहेतोरभावाद्यत्र यत्र संयमयात्रानिर्वहणं तत्र तत्र यान्तीत्याशयः। पुनर्बहिरास्थां निराकुर्वन्त्याह–'इमे' इत्यनुभूयमानतया प्रत्यक्षाः शब्दादयः, 'चः' समुच्चये 'बद्धाः' नियन्त्रिता अनेकोपायैरक्षिता इत्यर्थः, एते किमित्याह–स्पन्दन्त इव स्पन्दन्ते अस्थितिधर्मतया, ये कीदृश इत्याह–'मम हत्थऽज्जमाग-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४१--४८॥

दीप अनुक्रम [४८२--४८९]

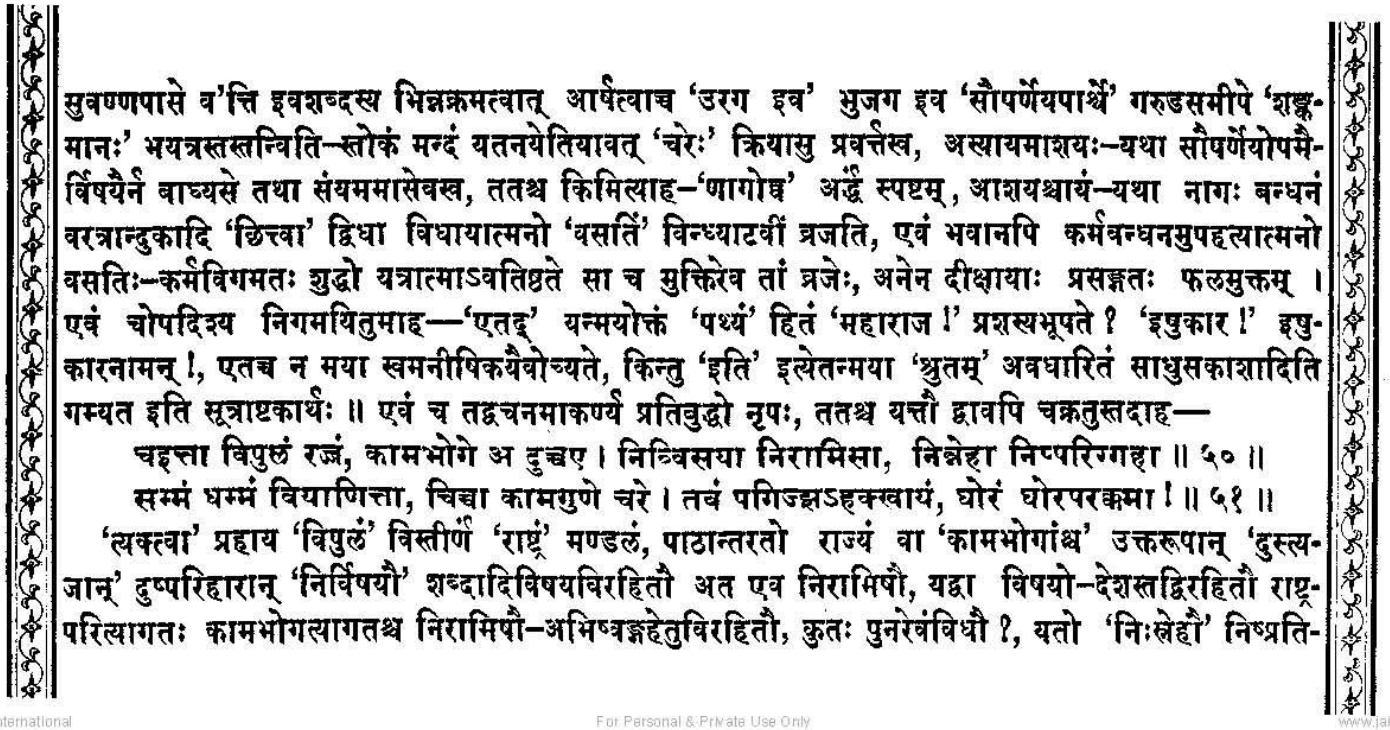
य'त्ति 'ममे' त्यात्मनिर्देशे उपलक्षणत्वात्तव च 'हस्तं' करम्, आर्य ! अद्य वा 'आगताः' प्राप्ताः, कोऽर्थः ?–स्ववशाः, आत्मनोऽज्ञतां दर्शयितुमाह—'वयं च सत्त'त्ति वयं पुनः 'सक्तानि' संबद्धानि अभिष्वङ्गवन्तीत्यर्थः, अबहुत्वेऽप्यस्मदोर्द्वयोश्चेति (पा०-१-२-५९) बहुवचनं, 'कामेषु' अभिलषणीयशब्दादिषु, एवंविधेष्वपि चामीष्वभिष्वङ्ग इति मोहविलसितमिति भावः, यद्वा 'इमे चे'ति चशब्दाद्वयं च स्पन्दामह इव स्पन्दामहे आयुषश्चञ्चलतया परलोकगमनाय, शेषं तथैव, यत एवमतो भविष्यामो यथेमे पुरोहितादयः, किमुक्तं भवति ?–यथाऽमीभिश्चञ्चलत्वमवलोक्यैते परित्यक्तास्तथा वयमपि त्यक्ष्याम इति । स्यादेतद्–अस्थिरत्वेऽपि सुखहेतुत्वात्किमित्यमी त्यज्यन्ते इत्याह—सहामिषेण—पिशितरूपेण वर्तत इति सामिषस्तं कुललमिह गृध्रं शकुनिकां वा 'दृष्ट्वा' अवलोक्य 'बाध्यमानं' पीड्यमानं पक्ष्यन्तरैरिति गम्यते, निरामिषम्—आमिषविरहितमन्यथाभूतं दृष्ट्वेति गम्यते, 'आमिषम्' अभिष्वङ्गहेतुं धनधान्यादि 'सर्वं' निरवशेषम् 'उज्झित्वा' त्यक्त्वा 'विहरिस्सामो'त्ति विहरिष्याम्यप्रतिबद्धविहारितया चरिष्यामीत्यर्थः, 'निरामिषा' परित्यक्ताभिष्वङ्गहेतुः । उक्तानुवादेनोपदेष्टुमाह—गृद्धेणोपमा येषां ते गृद्धोपमास्तानुक्तन्यायेन, 'तुः' समुच्चये भिन्नक्रमश्च योक्ष्यते,'ज्ञात्वा' अवबुध्य, णमिति प्राग्वत्,कान् ?–प्रक्रमाद्विषयामिषवतो लोकान् 'कामाश्च' विषयांश्च 'संसारवर्द्धनान्' संसारवृद्धिहेतून् ज्ञात्वेति सम्बन्धः,अथवा कामयन्त इति कामा इति व्युत्पत्त्या कामयोगाद्वाऽत्यन्तगृद्धिख्यापनार्थं कामा विषयिण एवोक्ता अतस्तान् गृद्धोपमान् संसारवर्द्धनांश्च ज्ञात्वा किमित्याह—'उरगो

॥४१०॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४१--४८॥

दीप अनुक्रम [४८२--४८९]



सुवण्णपासे व'त्ति इवशब्दस्य भिन्नक्रमत्वात् आर्षत्वाच्च 'उरग इव' भुजग इव 'सौपर्णेयपार्श्वे' गरुडसमीपे 'शङ्कमानः' भयत्रस्तस्तन्विति–स्तोकं मन्दं यतनयेतियावत् 'चरेः' क्रियासु प्रवर्त्तस्व, अस्यायमाशयः–यथा सौपर्णेयोपमैर्विषयैर्न बाध्यसे तथा संयममासेवस्व, ततश्च किमित्याह–'णागोव्व' अर्द्धं स्पष्टम्, आशयश्चायं–यथा नागः बन्धनं वरत्रान्दुकादि 'छित्त्वा' द्विधा विधायात्मनो 'वसतिं' विन्ध्याटवीं व्रजति, एवं भवानपि कर्मबन्धनमुपहत्यात्मनो वसतिः–कर्मविगमतः शुद्धो यत्रात्माऽवतिष्ठते सा च मुक्तिरेव तां व्रजेः, अनेन दीक्षायाः प्रसङ्गतः फलमुक्तम् । एवं चोपदिश्य निगमयितुमाह—'एतद्' यन्मयोक्तं 'पथ्यं' हितं 'महाराज!' प्रशस्यभूपते? 'इषुकार!' इषुकारनामन्!, एतच्च न मया स्वमनीषिकयैवोच्यते, किन्तु 'इति' इत्येतन्मया 'श्रुतम्' अवधारितं साधुसकाशादिति गम्यत इति सूत्राष्टकार्थः ॥ एवं च तद्वचनमाकर्ण्य प्रतिबुद्धो नृपः, ततश्च यत्तौ द्वावपि चक्रतुस्तदाह—

चइत्ता विपुलं रज्जं, कामभोगे अ दुच्चए । निव्विसया निरामिसा, निन्नेहा निप्परिग्गहा ॥ ५० ॥
सम्मं धम्मं वियाणित्ता, चिच्चा कामगुणे चरे । तवं पगिज्झऽहक्खायं, घोरं घोरपरक्कमा ! ॥ ५१ ॥

'त्यक्त्वा' प्रहाय 'विपुलं' विस्तीर्णं 'राष्ट्रं' मण्डलं, पाठान्तरतो राज्यं वा 'कामभोगांश्च' उक्तरूपान् 'दुस्त्यजान्' दुष्परिहारान् 'निर्विषयौ' शब्दादिविषयविरहितौ अत एव निरामिषौ, यद्वा विषयो–देशस्तद्विरहितौ राष्ट्रपरित्यागतः कामभोगत्यागतश्च निरामिषौ–अभिष्वङ्गहेतुविरहितौ, कुतः पुनरेवंविधौ?, यतो 'निःस्नेहौ' निष्प्रति-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४३], मूलसूत्र[४] उत्तराध्ययनानि मूलं एवं शान्तिसूरिविरचिता वृत्तिः

अत्र गाथा क्रमांकने मूलसंपादने किञ्चित् स्खलनं अस्ति यत् गाथाक्रम ॥४९॥ स्थाने गाथाक्रम ॥५०॥ इति मुद्रितं

प्रत सूत्रांक ॥५०--५१॥

दीप अनुक्रम [४९०--४९१]

वन्धौ 'निष्परिग्रहौ' क्वचिदविद्यमानस्वीकारौ 'सम्यग्' अविपरीतं 'धर्मं' श्रुतचारित्रात्मकं 'विज्ञाय' विशेषतोऽव-बुद्धय 'चेच्च'त्ति त्यक्त्वा 'कामगुणान्' शब्दादीन् 'वरान्' प्रधानान् पूर्वविशेषणैर्गतार्थत्वेऽपि पुनरभिधानमति-शयख्यापकं, 'तपः' अनशनादि 'प्रगृह्य' अभ्युपगम्य 'यथाख्यातं' येन प्रकारेण तीर्थकरादिभिः कथितं 'घोरम्' अत्यन्तदुरनुचरं घोरकर्मा—वैरिणः प्रति रौद्रः पराक्रमो धर्मानुष्ठानविषयसामर्थ्यात्मको ययोस्तौ तथा देवीनृपौ तथैव च कृतवन्ताविति शेष इति सूत्रद्वयार्थः ॥ सम्प्रति समस्तोपसंहारमाह—

एवं ते कमसो बुद्धा, सव्वे धम्मपरायणा । जम्ममच्चुभउव्विग्गा, दुक्खस्संतगवेसिणो ॥ ५२ ॥
सासणि विगयमोहाणं, पुव्विं भावणभाविया । अचिरेणेव कालेण, दुक्खस्संतमुवागया ॥ ५३ ॥
राया सह देवीए, माहणो उ पुरोहिओ । माहणी दारगा चेव, सव्वे ते परिनिव्वुडे ॥५४॥ त्तिबेमि ॥ १४ ॥

॥ उसुआरिज्जं चउद्दसमं ॥

'एवम्' अमुना प्रकारेण 'तानि' अनन्तरमुक्तरूपाणि षडपि 'क्रमशः' अभिहितपरिपाट्या 'बुद्धानि' अवगत-तत्त्वानि 'सर्वाणि' अशेषाणि 'धर्मपरायणानि' धर्मैकनिष्ठानि, पठ्यते च–'धम्मपरंपर'त्ति परम्परया धर्मो येषां तानि परम्पराधर्माणि, प्राकृतत्वाच्च परम्पराशब्दस्य परनिपातः, तथा हि–साधुदर्शनात्कुमारकयोः कुमारवच-नात्तत्पित्रोस्तदवलोकनात्कमलावत्यास्ततोऽपि च राज्ञ इति परम्परयैव धर्मप्राप्तिः, जन्ममृत्युभयेभ्यः–उक्तरूपेभ्य

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥५२--५४॥

दीप अनुक्रम [४९२--४९४]

एवोद्विग्नानि–त्रस्तानि जन्ममृत्युभयोद्विग्नानि 'दुःखस्य' असातस्यान्तः—पर्यन्तस्तद्वेषकाणि तदन्वेषकाणि सापेक्षस्यापि समासो यथा देवदत्तस्य गुरुकुलमिति। पुनस्तद्वक्तव्यतामेवाह—'शासने' दर्शने विगतमोहानाम्–अर्हतां 'पूर्व'मित्यन्यजन्मनि भावनया–अभ्यासरूपया भावितानि–वासितानि भावनाभावितानि, यद्वा भाविता भावना यैस्तानि भावितभावनानि, पूर्वोत्तरनिपातस्यातन्त्रत्वाद्, अत एवाचिरेणैव–स्वल्पेनैव कालेन 'दुःखस्यान्तं' मोक्षम् 'उपागतानि' प्राप्तानि, सर्वत्र च प्राकृतत्वात्पुँल्लिङ्गनिर्देशः। मन्दमतिस्मरणायाध्ययनार्थमुपसंहर्तुमाह–'राजा' इषुकारः सह 'देव्या' कमलावत्या ब्राह्मणश्च पुरोहितो भृगुनामा ब्राह्मणी तत्पत्नी यसा दारकौ तत्पुत्रौ चैवेति पूर्ववत्सर्वाणि तानि 'परिनिर्वृतानि' कर्माभ्युपशमतः शीतीभूतानि मुक्तिं गतानीतियावदिति सूत्रत्रयार्थः॥ 'इति' परिसमाप्तौ ब्रवीमीति पूर्ववत्। उक्तोऽनुगमः, सम्प्रति नयास्ते च पूर्ववत्॥

इति श्रीशान्त्याचार्यकृतायामुत्तराध्ययनटीकायां शिष्यहितायां चतुर्दशमध्ययनं समाप्तमिति॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्र अध्ययनं- १४ परिसमाप्तं

प्रत सूत्रांक ॥५२--५४॥

दीप अनुक्रम [४९२--४९४]

अथ पञ्चदशं सभिक्षुकमध्ययनम् ।

व्याख्यातं चतुर्दशमध्ययनं, सम्प्रति पञ्चदशमारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः–इहानन्तराध्ययने निर्निदानतागुण उक्तः, स च मुख्यतो भिक्षोरेव, भिक्षुश्च गुणत इति तद्गुणा अनेनोच्यन्त इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्याध्ययनस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि पूर्ववद्व्यावर्ण्यानि तावद्यावन्नामनिष्पन्ननिक्षेपे सभिक्षुकमिति नाम, तत्र च सशब्दो भिक्षुशब्दश्च दशवैकालिक एव निक्षिप्तस्तथाऽपि स्थानाशून्यार्थं भिक्षुनिक्षेपमाह निर्युक्तिकृत्—

निक्खेवो भिक्खुंमी चउव्विहो० ॥ ३७४ ॥

जाणयसरीरभविए तव्वइरित्ते अ निण्हगाईसु । जो भिंदेइ खुहं खलु सो भिक्खू भावओ होइ ३७५

'निक्षेपः' न्यासः भिक्षौ विचार्ये चतुर्विधो नामस्थापनाद्रव्यभावभेदात्, तत्र नामस्थापने क्षुण्णे, द्विविधो भवति द्रव्ये विचार्ये आगमतो नोआगमतः, तत्रागमतो भिक्षुपदार्थज्ञस्तत्र चानुपयुक्तो, नोआगमतश्च स त्रिविधः–'जाणगसरीरभविए'त्ति ज्ञशरीरभव्यशरीरे तद्व्यतिरिक्तश्च, तत्राद्यौ सुगमावेव, तद्व्यतिरिक्तस्तु द्रव्यभिक्षुर्निह्नवादिषु, आदि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ अध्ययनं – १५ "सभिक्षुक" आरभ्यते

प्रत सूत्रांक ॥५२--५४॥

दीप अनुक्रम [४९२--४९४]

शब्दात्सरजस्कादिषु चान्यतरो विवक्षित इति गम्यते, द्रव्यत्वं चास्य रागादिलक्षणक्षुद्भेत्तृत्वाभावात्, भावभिक्षुमाह—यो 'भिनत्ति' विदारयति क्षुधं 'खलुः' अवधारणे भिन्नक्रमश्च, ततः स एव भिक्षुर्भावतो भवतीति गाथाद्वयार्थः ॥ इह च भिनत्तीत्युक्तमतः कर्तृकरणकर्मभिः प्रयोजनं, सकर्मकत्वाद्भिदेः, अत आह—

भेत्ता य भेअणं वा नायव्वं भिंदियव्वयं चेव । इक्किक्कंपि अ दुविहं दव्वे भावे अ नायव्वं ॥ ३७६ ॥
रहकारपरसुमाई दारुगमाई अ दव्वओ हुंति। साहू कम्मऽट्ठविहं तवो अ भावंमि नायव्वो ॥३७७॥
रागद्दोसा दंडा जोगा तह गारवा य सल्ला य। विगहाओ सण्णाओ खुहं कसाया पमाया य ॥३७८॥

भेत्ता च कर्त्ता यो भिनत्ति, भेदनं करणं येन भिनत्ति 'वा' समुच्चये 'ज्ञातव्यं' बोद्धव्यं भेत्तव्यमेव भेत्तव्यकं कर्म यद्विद्यते, 'चः' समुच्चये, 'एव' इति पूरणे, 'एकैकमपि चे'ति भेत्ता भेदनं भेत्तव्यकं च 'द्विविधं' द्विभेदं द्रव्ये भावे च विचार्यमाणे 'ज्ञातव्यम्' अवगन्तव्यं। तत्र द्रव्ये 'रहगारपरसुमाइ'त्ति आदिशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धाद् रथकारः—तक्षकस्तदादिर्द्रव्यतो भेत्ता, आदिशब्दादयस्कारादिपरिग्रहः, परशुः—कुठारस्तदादिर्द्रव्यतो भेदनम्, आदिशब्दाद् घनादयो गृह्यन्ते, 'दारुगमाई य'त्ति दारुकं–काष्ठं तदादि च द्रव्यतो भेद्यम्, आदिशब्दाल्लोहादि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||५२--५४||

दीप अनुक्रम [४९२--४९४]

परिग्रहः, भवन्तीति सर्वापेक्षं बहुवचनम् । 'साधुः' तपस्वी 'कर्म' ज्ञानावरणादि 'अष्टविधम्' अष्टप्रकारं 'तपश्च' अनशनादि भावे विचार्ये भेत्ता भेत्तव्यं भेदनं च क्रमेण ज्ञातव्यम् । इत्थं 'जो भिंदई खुहं खलु' इति ग्रहणकवाक्यं गतं, भिनत्तीति व्याख्याय क्षुधं व्याख्यातुमाह–'रागद्वेषौ' उक्तरूपौ 'दण्डाः' मनोदण्डादयो 'योगाः' करणकारणानुमतिरूपाः, पठन्ति च–'रागद्दोसा छुहं दंडा' अत्र च 'छुहं'ति क्षुधू–बुभुक्षा उच्यते, तथा 'गौरवाणि च' ऋद्धिगौरवादीनि 'शल्यानि च' मायाशल्यादीनि 'विकथाः'स्त्रीकथादयः'सञ्ज्ञाः' आहारसञ्ज्ञादयः,'खुहं'ति एतद्भावभावित्वादष्टविधकर्मरूपायाः क्षुधः एतान्यपि क्षुदित्युच्यन्ते, प्राकृतत्वाच्च नपा निर्देशः, 'कषायाः' क्रोधादयः 'प्रमादाश्च' मद्यादयः क्षुदिति सम्बन्धनीयमिति गाथात्रयार्थः ॥ उपसंहर्तुमाह—

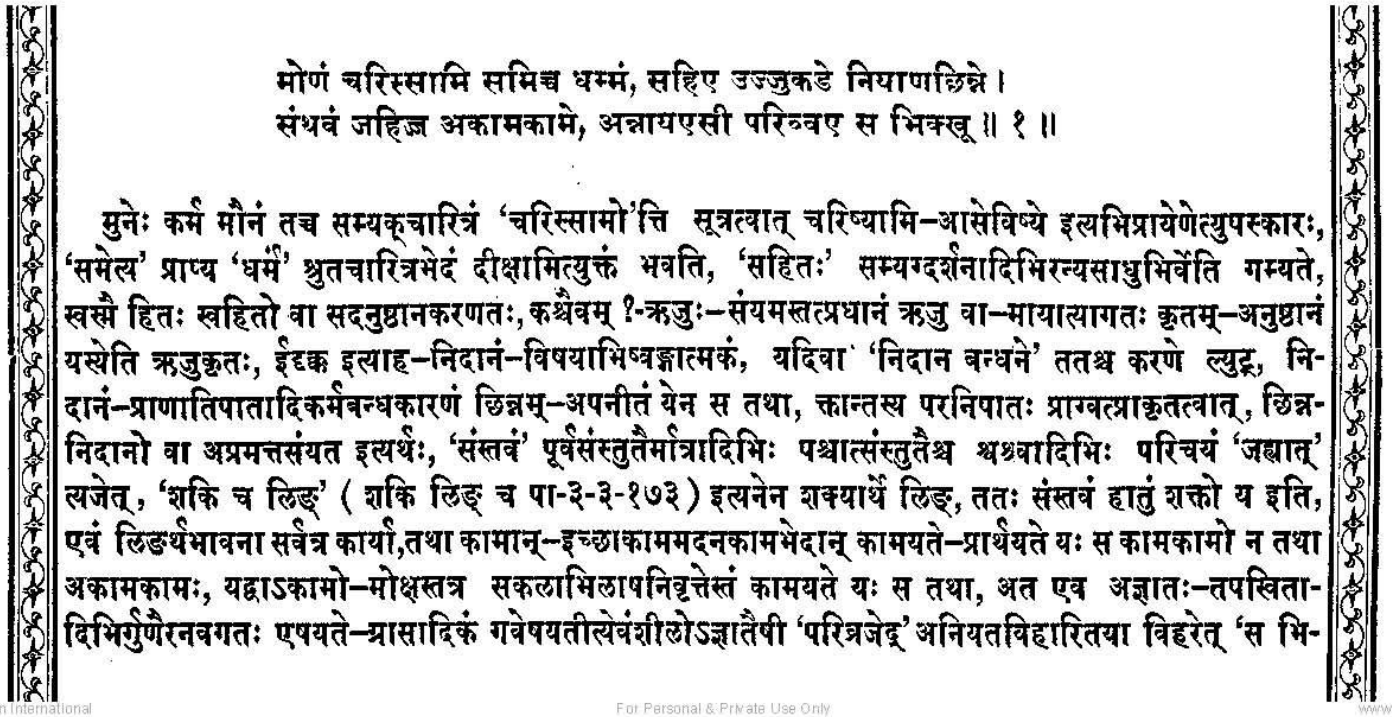
एयाइं तु खुहाइं जे खलु भिंदंति सुव्वया रिसओ । ते भिन्नकम्मगंठी उविंति अयरामरं ठाणं ३७९

'एतानि' रागादीनि 'खुहाइं'ति क्षुच्छब्दवाच्यानि ये खलु 'भिंदंति' विदारयन्ति, खलुशब्द एवकारार्थो भिन्दन्त्येवेति शोभनानि अनतिचारतया व्रतानि–प्राणातिपातविरत्यादीनि येषां ते सुव्रताः 'ऋषयः' मुनयः,ते किमित्याह–भिन्नः कर्मैवातिदुर्भेदतया ग्रन्थिः कर्मग्रन्थियैस्ते तथाविधाः 'उपयान्ति' प्राप्नुवन्ति 'अजरामरं स्थानं' मुक्तिपदमिति गाथार्थः ॥ उक्तो नामनिष्पन्ननिक्षेपः, सम्प्रति सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [४९५]



मोणं चरिस्सामि समिच्च धम्मं, सहिए उज्जुकडे नियाणछिन्ने।
संथवं जहिज्ज अकामकामे, अन्नायएसी परिव्वए स भिक्खू ॥ १ ॥

मुनेः कर्म मौनं तच्च सम्यक्चारित्रं 'चरिस्सामो'त्ति सूत्रत्वात् चरिष्यामि–आसेविष्ये इत्यभिप्रायेणेत्युपस्कारः, 'समेत्य' प्राप्य 'धर्मं' श्रुतचारित्रभेदं दीक्षामित्युक्तं भवति, 'सहितः' सम्यग्दर्शनादिभिरन्यसाधुभिर्वेति गम्यते, स्वस्मै हितः स्वहितो वा सदनुष्ठानकरणतः, कथंचैवम् ?-ऋजुः–संयमस्तत्प्रधानं ऋजु वा–मायात्यागतः कृतम्–अनुष्ठानं यस्येति ऋजुकृतः, ईदृक्च इत्याह–निदानं–विषयाभिष्वङ्गात्मकं, यदिवा 'निदान बन्धने' ततश्च करणे ल्युट्, निदानं–प्राणातिपातादिकर्मबन्धकारणं छिन्नम्–अपनीतं येन स तथा, क्वान्तस्य परनिपातः प्राग्वत्प्राकृतत्वात्, छिन्ननिदानो वा अप्रमत्तसंयत इत्यर्थः, 'संस्तवं' पूर्वसंस्तुतैर्मात्रादिभिः पश्चात्संस्तुतैश्च श्वश्वादिभिः परिचयं 'जह्यात्' त्यजेत्, 'शकि च लिङ्' (शकि लिङ् च पा-३-३-१७३) इत्यनेन शक्यार्थे लिङ्, ततः संस्तवं हातुं शक्तो य इति, एवं लिङर्थभावना सर्वत्र कार्या,तथा कामान्–इच्छाकाममदनकामभेदान् कामयते–प्रार्थयते यः स कामकामो न तथा अकामकामः, यद्वाऽकामो–मोक्षस्तत्र सकलाभिलाषनिवृत्तेस्तं कामयते यः स तथा, अत एव अज्ञातः–तपस्विताद्यभिर्गुणैरनवगतः एषयते–ग्रासादिकं गवेषयतीत्येवंशीलोऽज्ञातैषी 'परिव्रजेद्' अनियतविहारितया विहरेत् 'स भि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२॥

दीप अनुक्रम [४९६]

क्खुत्ति' यत्तदोर्नित्याभिसम्बन्धाद् य एवंविधः स भिक्षुः, अनेन सिंहतयैव विहरणं भिक्षुत्वनिबन्धनमुक्तमिति सूत्रार्थः ॥ तच्च सिंहतया विहरणं यथा स्यात्तथा विशेषत आह—

राओवरयं चरिज्ज लाढे, विरए वेदवियाऽऽयरक्खिए ।
पन्ने अभिभूय सव्वदंसी, जे कम्हिवि न मुच्छिए स भिक्खू ॥ २ ॥

रागः—अभिष्वङ्गः उपरतो—निवृत्तो यस्मिंस्तद्रागोपरतं यथा भवत्येवं 'चरेद्' विहरेत्, क्तान्तस्य परनिपातः प्राग्वत्, अनेन मैथुननिवृत्तिरुक्ता, रागाविनाभावित्वान्मैथुनस्य, यद्वाऽऽवृत्तिन्यायेन 'रातोवरयं'ति रात्र्युपरतं 'चरेत्' भक्षयेदित्यनेनैव रात्रिभोजननिवृत्तिरप्युक्ता, 'लाढे'त्ति सदनुष्ठानतया प्रधानो विरतः–असंयमान्निवृत्तः, अनेन च संयमस्याक्षेपात्प्राणातिपातनिवृत्तिः सावद्यवचननिवृत्तिरूपत्वाद्वाक्संयमस्य मृषावादनिवृत्तिश्चाभिहिता वेदितव्या, वेद्यतेऽनेन तत्त्वमिति वेदः–सिद्धान्तस्तस्य वेदनं वित्तया आत्मा रक्षितो–दुर्गतिपतनात्त्रातोऽनेनेति वेदविदात्मरक्षितः, यद्वा वेदं वेत्तीति वेदवित्, तथा रक्षिता आयाः—सम्यग्दर्शनादिलाभा येनेति रक्षितायः, रक्षितशब्दस्य परनिपातः प्राग्वत्, 'प्राज्ञः' हेयोपादेयबुद्धिमान् 'अभिभूय' पराजित्य परीषहोपसर्गानिति गम्यते, 'सर्वं' समस्तं गम्यमानत्वात्प्राणिगणं पश्यति–आत्मवत्प्रेक्षत इत्येवंशीलः, अथवाऽभिभूय रागद्वेषौ सर्वं वस्तु समतया

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३॥

दीप अनुक्रम [४९७]

पश्यतीत्येवंशीलः सर्वदर्शी, यदिवा सर्वं दशति–भक्षयतीत्येवंशीलः सर्वदंशी, उक्तं हि–"पडिग्गहं संलिहित्ता णं, लेवमायाएँ संजए। दुग्गंधं वा सुगंधं वा, सव्वं भुंजे ण छड्डए ॥ १ ॥" अत एव यः कस्मिंश्चित्सचित्तादिवस्तुनि न मूर्च्छितः–प्रतिबद्धः, एतेन परिग्रहे निवृत्तेरभिधानमप्रतिबद्धश्च कथमदत्तमाददीत ? इत्यदत्तादाननिवृत्तेश्च, तथा च य एवं मूलगुणान्वितः स भिक्षुरित्युक्तं भवतीति सूत्रार्थः ॥ अन्यच्च—

अक्कोसवहं विदित्तु धीरे, मुणी चरे लाढे निच्चमायगुत्ते।
अव्वग्गमणे असंपहिट्ठे, जो कसिणं अहिआसए स भिक्खू ॥ ३ ॥

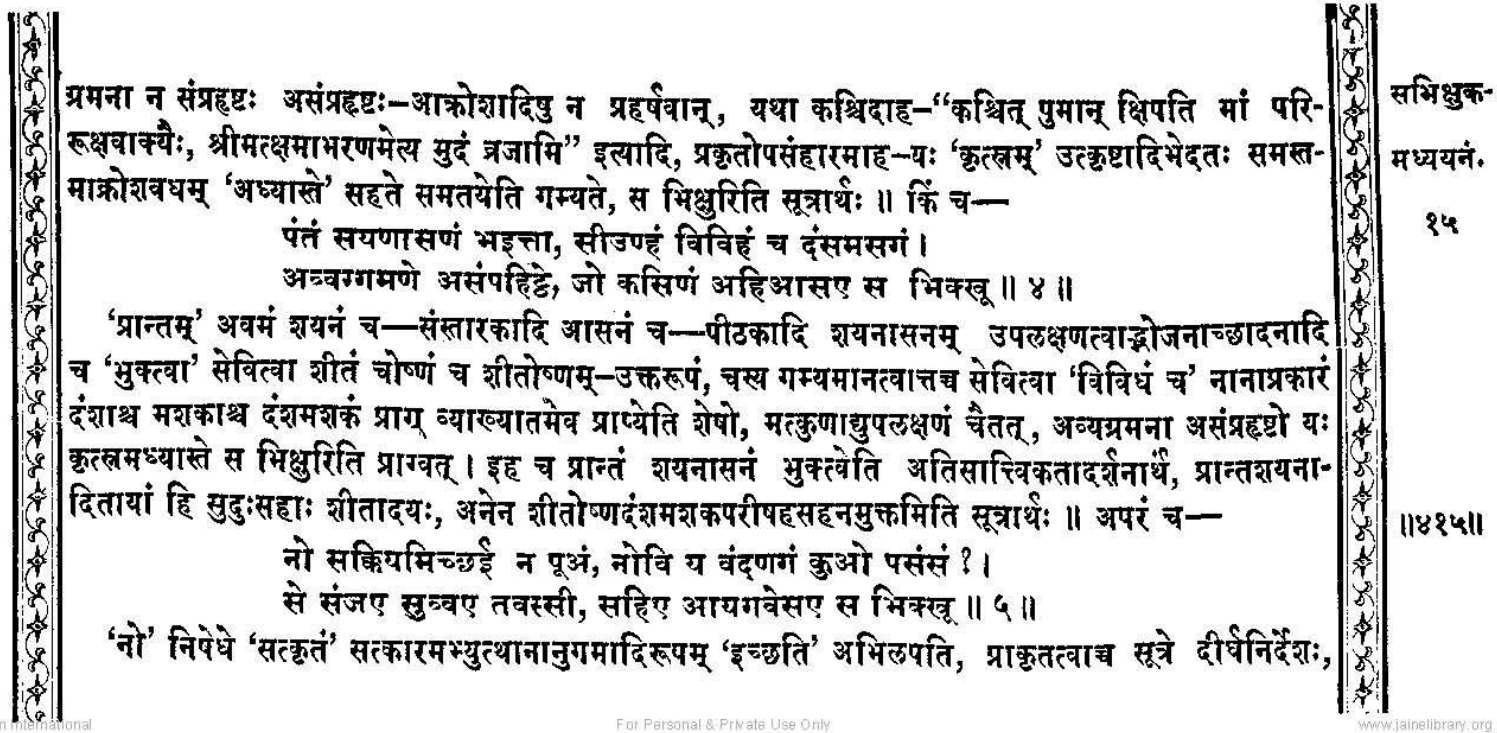
आक्रोशनमाक्रोशः–असभ्यालापो वधो–घातस्ताडनं वा, अनयोः समाहारद्वन्द्वे आक्रोशवधं तद्विदित्वा स्वकृतकर्मफलमेतदिति मत्वा 'धीरः' अक्षोभ्यः सम्यक् सोढेतियावत् 'मुनिः' यतिः 'चरेत्' पर्यटेद् अनियतविहारतयेति गम्यते, ततश्चानेनाक्रोशवधचर्यापरीषहसहनमुक्तं, 'लाढे'त्ति प्राग्वत्, 'नित्यम्' इति सदा 'आत्मा' शरीरम्, आत्मशब्दस्य शरीरवचनस्यापि दर्शनात्, उक्तं हि—"धर्मधूत्यग्निधीन्द्रर्कत्वक्कृतत्त्वस्वार्थदेहिषु । शीलानिलमनोयत्नैकवीर्येष्वात्मनः स्मृतिः ॥ १ ॥" इति, तेन गुप्त आत्मगुप्तो–न यतस्ततः करणचरणादिविक्षेपकृत्, यद्वा गुप्तो—रक्षितोऽसंयमस्थानेभ्य आत्मा येन स तथा, अव्यग्रम्–अनाकुलमसमञ्जसचिन्तोपरमतो मनः—चित्तमस्येत्यव्य-

१ पतद्ग्रहं संलिख्य लेपमात्रया संयतः। दुर्गन्धि वा सुगन्धं वा सर्वं भुङ्क्ते न त्यजति ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४॥

दीप अनुक्रम [४९८]



अप्रमना न संप्रहृष्टः असंप्रहृष्टः—आक्रोशादिषु न प्रहर्षवान्, यथा कश्चिदाह—"कश्चित् पुमान् क्षिपति मां परिरूक्षवाक्यैः, श्रीमत्क्षमाभरणमेत्य मुदं व्रजामि" इत्यादि, प्रकृतोपसंहारमाह—यः 'कृत्स्नम्' उत्कृष्टादिभेदतः समस्तमाक्रोशवधम् 'अध्यास्ते' सहते समतयेति गम्यते, स भिक्षुरिति सूत्रार्थः ॥ किं च—

पंतं सयणासणं भइत्ता, सीउण्हं विविहं च दंसमसगं।
अव्वग्गमणे असंपहिट्ठे, जो कसिणं अहिआसए स भिक्खू ॥ ४ ॥

'प्रान्तम्' अवमं शयनं च—संस्तारकादि आसनं च—पीठकादि शयनासनम् उपलक्षणत्वाद्भोजनाच्छादनादि च 'भुक्त्वा' सेवित्वा शीतं चोष्णं च शीतोष्णम्—उक्तरूपं, चस्य गम्यमानत्वात्तच्च सेवित्वा 'विविधं च' नानाप्रकारं दंशाश्च मशकाश्च दंशमशकं प्राग् व्याख्यातमेव प्राप्येति शेषो, मत्कुणाद्युपलक्षणं चैतत्, अव्यग्रमना असंप्रहृष्टो यः कृत्स्नमध्यास्ते स भिक्षुरिति प्राग्वत्। इह च प्रान्तं शयनासनं भुक्त्वेति अतिसात्त्विकतादर्शनार्थं, प्रान्तशयनादितायां हि सुदुःसहाः शीतादयः, अनेन शीतोष्णदंशमशकपरीषहसहनमुक्तमिति सूत्रार्थः ॥ अपरं च—

नो सक्कियमिच्छई न पूअं, नोवि य वंदणगं कुओ पसंसं ?।
से संजए सुव्वए तवस्सी, सहिए आयगवेसए स भिक्खू ॥ ५ ॥

'नो' निषेधे 'सत्कृतं' सत्कारमभ्युत्थानानुगमादिरूपम् 'इच्छति' अभिलषति, प्राकृतत्वाच्च सूत्रे दीर्घनिर्देशः,

सभिक्षुकमध्ययनं १५ ॥४१५॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥५॥

दीप अनुक्रम [४९९]

न 'पूजां' वस्त्रपात्रादिभिः सपर्यां, 'नो अपि च' इति नैव च 'वन्दनकं' द्वादशावर्त्तादिरूपं, कुतः 'प्रशंसां' निज-गुणोत्कीर्त्तनरूपां ?, नैवेच्छतीत्यभिप्रायः, 'सः' एवंविधः सम्यग् यतते सदनुष्ठानं प्रतीति संयतोऽत एव च सुव्रतः, सुव्रतत्वाच्च 'तपस्वी' प्रशस्ततपाः, तथा च सहितः सम्यग्ज्ञानक्रियाभ्यां, यद्वा सह हितेन–आयतिपथ्येन अर्थादनुष्ठानेन वर्त्तत इति सहितः, तत एव चात्मानं–कर्मविगमाच्छुद्धस्वरूपं गवेषयति–कथमयमित्थंभूतो भवे-दित्यन्वेषयते यः स आत्मगवेषकः, यद्वा आयः–सम्यग्दर्शनादिलाभः सूत्रत्वादायतो वा–मोक्षस्तं गवेषयतीत्याय-गवेषक आयतगवेषको वा यः स भिक्षुरिति सूत्रार्थः ॥ अनेन सत्कारपुरस्कारपरीषहसहनमुक्तं, सम्प्रति स्त्रीपरी-षहसहनमाह—

जेण पुणो जहाइ जीवियं, मोहं वा कसिणं नियच्छई ।
नरनारिं पयहे सया तवस्सी, न य कोऊहलं उवेइ स भिक्खू ॥ ६ ॥

येन हेतुना, पुनःशब्दोऽस्य सर्वथा संयमघातित्वविशेषद्योतकः, 'जहाति' त्यजति 'जीवितं' संयमजीवितं 'मोहं वा' मोहनीयं वा कषायनोकषायादिरूपं 'कृत्स्नं' समस्तं कृष्णं वा शुद्धाशयविनाशकतया 'नियच्छति' बध्नाति तदेवंविधं नरश्च नारी च नरनारि 'प्रजह्यात्' प्रकर्षेण त्यजेत् यः 'सदा' सर्वकालं तपस्वी, न च 'कुतूहलम्' अभु-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥६॥

दीप अनुक्रम [५००]

क्तभोगतायां रूयादिविषयं कौतुकम्, उपलक्षणत्वाद्भुक्तभोगतायाः स्मृतिं च, 'उपैति' गच्छति स भिक्षुरिति सूत्रार्थः॥ इत्थं परीषहसहनेन भिक्षुत्वसमर्थनात् सिंहविहारित्वमुक्त्वा तदेव पिण्डविशुद्धिद्वारेणाह—

छिन्नं सरं भोमं अंतलिक्खं, सुविणं लक्खणं दंड वत्थुविज्जं ।
अंगविगारं सरस्सविजयं, जो विज्जाहिं न जीवई स भिक्खू ॥ ७ ॥

छेदनं छिन्नं वसनदशनदार्वादीनां, तद्विषयशुभाशुभनिरूपिका विद्याऽपि छिन्नमित्युक्ता, एवं सर्वत्र। "देवेसु उत्तमो लाभो" इत्यादि, तथा 'सरं'ति स्वरस्वरूपाभिधानं, "[1]सज्जं रवइ मयूरो, कुक्कुडो रिसभं सरं। हंसो रवति गंधारं, मज्झिमं तु गवेलए ॥१॥" इत्यादि,तथा–"[2]सज्जेण लहइ वित्तिं, कयं च न विणस्सई। गावो पुत्ता य मित्ता य, नारीणं होइ वल्लहो ॥ १ ॥ रिसहेण उ ईसरियं, सेणावच्चं धणाणि य।" इत्यादि। तथा भूमिः–पृथ्वी भूमौ भवं भौमं—भूकम्पादिलक्षणं, यथा–"शब्देन महता भूमिर्यदा रसति कम्पते। सेनापतिरमात्यश्च, राजा राष्ट्रं च पीड्यते ॥ १ ॥" इत्यादि। तथा अन्तरिक्षम्–आकाशं तत्र भवम् आन्तरिक्षं—गन्धर्वनगरादिलक्षणं,यथा—"कपिलं शस्य-

१ देवेपूत्तमो लाभः (कोणेपु) २ षड्जं रौति मयूरः कुर्कुट ऋषभं स्वरम्। हंसो रौति गान्धारं मध्यमं तु गवेलकः ॥ १ ॥ ३ षड्जेन लभते वृत्तिं कृतं च न विनश्यति । गावः पुत्राश्च मित्राणि च नारीणां भवति वल्लभः ॥ १ ॥ ऋषभेण त्वैश्वर्यं सेनापतित्वं धनानि च।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥७॥

दीप अनुक्रम [५०१]

घाताय, माञ्जिष्टे हरणं गवाम् । अव्यक्तवर्णे कुरुते, बलक्षोभं न संशयः ॥ १ ॥ गन्धर्वनगरं स्निग्धं, सप्राकारं सतोरणम् । सौम्या दिशं समाश्रित्य, राज्ञस्तद्विजयङ्करम् ॥ २ ॥" इत्यादि । तथा 'स्वप्नं' स्वप्नगतं शुभाशुभकथनं, यथा–"गायने रोदनं ब्रूयान्नर्त्तने वधबन्धनम् । हसने शोचनं ब्रूयात्पठने कलहं तथा ॥ १ ॥" इत्यादि । तथा 'लक्षणं' स्त्रीपुरुषयोर्यथा–"[1]चक्खुसिणेहे सुहितो दंतसिणेहे य भोयणं मिट्ठं । तयणेहेण य सोक्खं णहणेहे होइ परमधणं ॥ १ ॥" इत्यादि, गजादीनां च यथायथं वालुकौष्ण्यादिविहितम् । तथा 'दंड'त्ति 'दण्डः' यष्टिस्तत्स्वरूपकथनम्, "एकपर्वं पसंसंति, दुपव्वा कलहकारिय"त्ति, इत्यादि । तथा 'वास्तुविद्या' प्रासादादिलक्षणाभिधायिशास्त्रात्मिका "कुटिला भूमिजाश्चैव, वैनीका द्रुन्द्रजास्तथा । लतिनो नागराश्चैव, प्रासादाः क्षितिमण्डनाः ॥ १ ॥ सूक्ताः पदविभागेन, कर्ममार्गेण सुन्दराः । फलावाप्तिकरा लोके, भङ्गभेदयुता विभोः ॥ २ ॥ अण्डकैस्तु विविक्तास्ते, निर्गमैश्चारुरूपकैः । चित्रपत्रैर्विचित्रैश्च, विविधाऽऽकाररूपकैः ॥ ३ ॥" इत्यादि । तथा 'अङ्गविकारः' शिरःस्फुरणादिस्तच्छुभाशुभसूचकं शास्त्रमप्यङ्गविकारो यथा 'दक्षिणाक्षिस्पन्दने प्रियं भविष्यती'त्यादि । तथा स्वरः–पोदकीशिवादिरुतरूपस्तस्य विषयः–तत्सम्बन्धी शुभाशुभनिरूपणाभ्यासः, यथा–"गतिस्तारा स्वरो वामः, पोदक्याः

१ चक्षुःस्नेहेन सुखितो दन्तस्नेहेन च भोजनमिष्टम् । त्वक्स्नेहेन च सौख्यं नखस्नेहेन भवति परमधनम् ॥ १ ॥ *पालकादिविहितं प्र० । २ एकपर्वा प्रशंसन्ति द्विपर्वा क्लेशकारिणी ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥८॥

दीप अनुक्रम [५०२]

शुभदः स्मृतः । विपरीतः प्रवेशे तु, स एवाभीष्टदायकः ॥ १ ॥" तथा–"दुर्गास्वरत्रयं स्याज्ज्ञातव्यं शाकुनेन नैपुणयात् । चिलिचिलिशब्दः सफलः सुसु मध्यश्चलचलो विफलः ॥ १ ॥" इत्यादि । ततो य एताभिर्विद्याभिर्न जीवति नैता एव जीविकाः शुभाशुभाः प्रकल्प्य प्राणान् धारयति स भिक्षुरिति सूत्रार्थः ॥ अनेन निमित्तलक्षणोत्पादनादोषपरिहार उक्तः, सम्प्रति मन्त्रादिरूपतद्दोषपरिहारायाह—

मंतं मूलं विविहं विज्जचिंतं, वमणविरेयणधूमनित्तसिणाणं ।
आउरे सरणं तिगिच्छियं च, तं परिन्नाय परिव्वए स भिक्खू ॥ ८ ॥

'मन्त्रम्' ॐकारादिस्वाहापर्यन्तो ह्रींकारादिवर्णविन्यासात्मकस्तं, 'मूलं' सहदेवीमूलिकाकल्पादि तत्तच्छास्त्रविहितं मूलकर्म वा 'विविधं' नानाप्रकारं 'वैद्यचिन्तां' वैद्यसम्बन्धिनीं नानाविधौषधपथ्यादिव्यापारात्मिकां, विविधामित्यत्रापि डमरुकमणिन्यायेन योज्यते, वमनम्–उद्गिरणं विरेचनं–कोष्ठशुद्धिरूपं धूमं–मनःशिलादिसम्बन्धिनेत्तंति–नेत्रशब्देन नेत्रसंस्कारकमिह समीराञ्जनादि परिगृह्यते, स्नानम्—अपत्यार्थं मन्त्रौषधिसंस्कृतजलाभिषेचनं, वमनादीनां च स्नानावसानानामिह कृतसमाहाराणां निर्देशः, 'आउरे सरणं'ति, सुब्व्यत्ययाद् 'आतुरस्य' रोगादिपीडितस्य 'शरणं' स्मरणं हा तात ! हा मातः ! इत्यादिरूपं 'चिकित्सितं च' आत्मनो रोगप्रतीकाररूपं 'तद्' इति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥९॥

दीप अनुक्रम [५०३]

यदनन्तरमुक्तं 'परिज्ञाय'त्ति ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया च प्रत्याख्याय 'परिव्रजेत्' सर्वप्रकारं संयमाध्वनि यायाद्यः स भिक्षुरिति सूत्रार्थः ॥ अपरं च—

खत्तियगणउग्गरायपुत्ता, माहणभोई य विविहा य सिप्पिणो ।
नो तेसिं वयइ सिलोगपूअं, तं परिन्नाय परिव्वए स भिक्खू ॥ ९ ॥

क्षत्रियाः–हैहेयाद्यन्वयजा गणाः–मल्लादिसमूहाः उग्राः–आरक्षकादयः राजपुत्राः–नृपसुताः, एषां द्वन्द्वः, 'माहनभोगिकाः' तत्र माहना ब्राह्मणास्तथा भोगेन–विशिष्टनेपथ्यादिना चरन्ति भोगिकाः—नृपतिमान्याः प्रधानपुरुषाः, 'विविधाश्च' नानाप्रकाराः 'शिल्पिनः' स्थपतिप्रभृतयः, पठन्ति च–'सिप्पिणोऽण्णे' तत्र चान्ये इति शिल्पिविशेषणमुभयत्र च य इति शेषः, 'नो' नैव 'तेषां' क्षत्रियादीनां 'वदति' प्रतिपादयति, के ?–'श्लोकपूजे' श्लोकं–श्लाघां यथैते शोभना इति, पूजां च–यथैतान् पूजयतेति, उभयत्र पापानुमत्यादिमहादोषसम्भवात्, किंतु 'तदि'ति श्लोकपूजादिकं द्विविधयाऽपि परिज्ञया परिज्ञाय परिव्रजेद्यः स भिक्षुरिति सूत्रार्थः ॥ अनेन वनीपकत्वस्य परिहार उक्तः, साम्प्रतं संस्तवपरिहारमाह—

गिहिणो जे पव्वइएण दिट्ठा, अप्पव्वइएण व संथुया हविज्जा ।
तेसिं इहलोयफलट्ठयाए, जो संथवं न करेइ स भिक्खू ॥ १० ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१०॥

दीप अनुक्रम [५०४]

'गृहिणः' गृहस्था ये 'प्रव्रजितेन' गृहीतदीक्षेण दृष्टा उपलक्षणत्वात्परिचिताश्च 'अप्रव्रजितेन वा' गृहस्थावस्थेन सह 'संस्तुताः' परिचिता भवेयुर्गृहिणो य इति सम्बन्धः 'तेसिं'ति 'तैः' उभयावस्थयोः परिचितैर्गृहिभिः 'इहलौकिकफलार्थं' वस्त्रपात्रादिलाभनिमित्तं यः 'संस्तवं' परिचयं न करोति स भिक्षुरिति सूत्रार्थः ॥ तथा—

सयणासणपाणभोयणं, विविहं खाइमसाइमं परेसिं ।
अदए पडिसेहिए नियंठे, जे तत्थ ण पओसई स भिक्खू ॥ ११ ॥

'शयनासनपानभोजन'मिति शयनादीनि प्रतीतानि 'विविधम्' अनेकप्रकारं 'खादिमस्वादिम'मिति खादिमं-पिण्डखर्जूरादि स्वादिमम्–एलालवङ्गादि, उभयत्र समाहारः, 'परेसिं'ति 'परेभ्यः' गृहस्थादिभ्यः 'अदइ'त्ति अददद्भ्यः 'प्रतिषिद्धः' क्वचित् कारणान्तरे याचमानो निराकृतः सः 'निर्ग्रन्थः' मुक्तद्रव्यभावग्रन्थो यः 'तत्र' इत्यदाने 'न प्रदुष्यति' न प्रद्वेषं याति पुनर्दास्यतीत्यभिधायकक्षपकर्षिवत्स भिक्षुरिति सूत्रार्थः ॥ अनेन क्रोधपिण्डपरिहार उक्तः, उपलक्षणं चैतदशेषभिक्षादोषपरिहारस्य, इदानीं ग्रासैषणादोषपरिहारमाह—

जं किंचाहारपाणगं विविहं, खाइमसाइमं परेसिं लद्धुं ।
जो तं तिविहेण नाणुकंपे, मणवयकायसुसंवुडे जे स भिक्खू ॥ १२ ॥

'यत् किञ्चित्' अल्पमपि 'आहारपानम्' अशनपानीयं विविधं 'खाइमसाइमं'ति चस्य गम्यमानत्वात् खादि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१२॥

दीप अनुक्रम [५०६]

मस्यादिमं च उक्तरूपं 'परेसिं'ति 'परेभ्यः' गृहस्थेभ्यः 'लद्धुं'ति 'लब्ध्वा' प्राप्य यः 'तं'ति सुब्व्यत्ययात्तेनाहारादिना 'त्रिविधेन' मनोवाक्कायलक्षणेन प्रकारत्रयेण नानुकम्पते, कोऽर्थः ?–ग्लानबालादीन्नोपकुरुते न स भिक्षुरिति वाक्यशेषः, यस्तु मनोवाक्कायैः सुष्ठु संवृतो निरुद्धतथाविधाहाराद्यभिलाषः सुसंवृता वा मनोवाक्काया यस्येति सुसंवृतमनोवाक्कायः, तत एव ग्लानादीननुकम्पत इति गम्यते, स भिक्षुः, यदिवा 'नानुकम्पते' इत्यत्र 'ना' पुरुषोऽनुकम्पते [नानुरूपो न कम्पते] मनोवाक्कायसुसंवृतः सन् स भिक्षुरिति सूत्रार्थः ॥ अनेनार्थतो गृद्धयभावाभिधानादङ्गारदोषपरिहार उक्तः, सम्प्रति धूमपरिहारमाह—

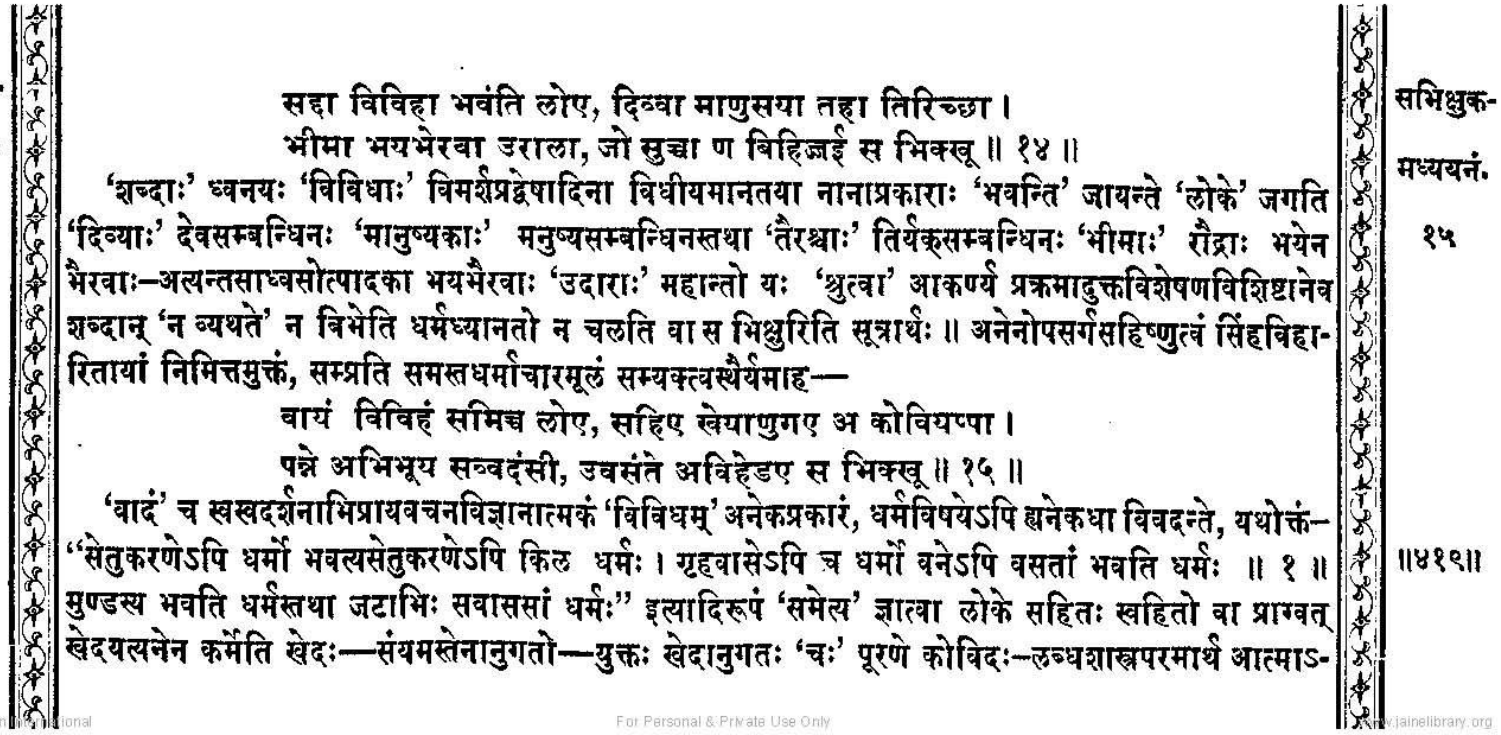
आयामगं चेव जवोदणं च, सीयं सोवीरजवोदगं च ।
नो हीलए पिंडं नीरसं तु, पंतकुलाणि परिव्वए स भिक्खू ॥ १३ ॥

आयाममेव आयामकम्–अवश्रावणं चशब्द उत्तरापेक्षया समुच्चये स्वगतानेकभेदव्यापको वा, 'एव' इति प्राग्वत्, 'यवोदनं च' यवभक्तं 'सीयं'ति शीतं–शीतलमन्तप्रान्तोपलक्षणं चैतत्, सोवीरं–आचाम्लं यवोदकं च–यवप्रक्षालनं पानीयं सोवीरयवोदकं, तच्च 'नो हीलयेत्' धिगिदं किमनेनामनोज्ञेनेति न निन्देत्, पिण्ड्यते—सङ्घात्यते, कोऽर्थः ?—गृहिभ्यः उपलभ्य संमील्यत इति पिण्डस्तमायामकाद्येव 'नीरसं' विगतास्वादं 'तुः' अप्यर्थस्ततो नीरसमपि, अत एव 'प्रान्तकुलानि' तुच्छाशयगृहाणि दरिद्रकुलानि वा यः परिव्रजेत्स भिक्षुरिति सूत्रार्थः ॥ अन्यच्च—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१४॥

दीप अनुक्रम [५०८]



सदा विविहा भवंति लोए, दिव्वा माणुसया तहा तिरिच्छा।
भीमा भयभेरवा उराला, जो सुच्चा ण विहिज्जई स भिक्खू ॥ १४ ॥

'शब्दाः' ध्वनयः 'विविधाः' विमर्शप्रद्वेषादिना विधीयमानतया नानाप्रकाराः 'भवन्ति' जायन्ते 'लोके' जगति 'दिव्याः' देवसम्बन्धिनः 'मानुष्यकाः' मनुष्यसम्बन्धिनस्तथा 'तैरश्चाः' तिर्यक्सम्बन्धिनः 'भीमाः' रौद्राः भयेन भैरवाः—अत्यन्तसाध्वसोत्पादका भयभैरवाः 'उदाराः' महान्तो यः 'श्रुत्वा' आकर्ण्य प्रक्रमादुक्तविशेषणविशिष्टानेव शब्दान् 'न व्यथते' न बिभेति धर्मध्यानतो न चलति वा स भिक्षुरिति सूत्रार्थः ॥ अनेनोपसर्गसहिष्णुत्वं सिंहविहारितायां निमित्तमुक्तं, सम्प्रति समस्तधर्माचारमूलं सम्यक्त्वस्थैर्यमाह—

वायं विविहं समिच्च लोए, सहिए खेयाणुगए अ कोवियप्पा।
पन्ने अभिभूय सव्वदंसी, उवसंते अविहेडए स भिक्खू ॥ १५ ॥

'वादं' च स्वसदर्शनाभिप्रायवचनविज्ञानात्मकं 'विविधम्' अनेकप्रकारं, धर्मविषयेऽपि ह्यनेकधा विवदन्ते, यथोक्तं—"सेतुकरणेऽपि धर्मो भवत्यसेतुकरणेऽपि किल धर्मः। गृहवासेऽपि च धर्मो वनेऽपि वसतां भवति धर्मः ॥ १ ॥ मुण्डस्य भवति धर्मस्तथा जटाभिः सवाससां धर्मः" इत्यादिरूपं 'समेत्य' ज्ञात्वा लोके सहितः स्वहितो वा प्राग्वत् खेदयत्यनेन कर्मेति खेदः—संयमस्तेनानुगतो—युक्तः खेदानुगतः 'चः' पूरणे कोविदः—लब्धशास्त्रपरमार्थे आत्माऽ-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१६॥

दीप अनुक्रम [५१०]

स्येति कोविदात्मा, 'पण्णे अभिभूय सव्वदंसी उवसंते'त्ति प्राग्वत्, 'अविहेठकः' न कस्यचिद्विबाधको यः स भिक्षुरिति सूत्रार्थः ॥ तथा—

असिप्पजीवी अगिहे अमित्ते, जिइंदिओ सव्वओ विप्पमुक्के ।
अणुक्कसाई लहु अप्पभक्खी, चिच्चा गिहं एगचरे स भिक्खू ॥ १६ ॥ त्तिबेमि ॥

॥ सभिक्खूअज्झयणं ॥ १५ ॥

शिल्पेन–चित्रपत्रच्छेदादिविज्ञानेन जीवितुं शीलमस्येति शिल्पजीवी न तथाऽशिल्पजीवी 'अगृहः' गृहविरहितः तथा अविद्यमानानि मित्राणि–अभिष्वङ्गहेतवो वयस्या यस्यासावमित्रः, जितानि–वशीकृतानि 'इन्द्रियाणि' श्रोत्रादीनि येन स तथा, 'सर्वतः' बाह्यादभ्यन्तराच्च ग्रन्थादिति गम्यते, विविधैः प्रकारैः प्रकर्षेण मुक्तो विप्रमुक्तः, तथा अणवः–स्वल्पाः सञ्चलननामान इतियावत् कषायाः–क्रोधादयो यस्येति सर्वधनादित्वादिनि प्रत्ययेऽणुकषायी, प्राकृतत्वात्सूत्रे ककारस्य द्वित्वं, यद्वा उत्कषायी—प्रबलकषायी न तथाऽनुत्कषायी अल्पानि–स्तोकानि लघूनि—निःसाराणि निष्पावादीनि भक्षयितुं शीलमस्येति अल्पलघुभक्षी, सूत्रे तिङ्व्यत्ययः प्राग्वत्, 'त्यक्त्वा' अपहाय गृहं द्रव्यभावभेदभिन्नम्, एको—रागद्वेषविरहितः तथाविधयोग्यतावासावसहायो वा चरति—विहरत्येकचरो यः स भिक्षुः, अनेनैकाकिविहार उपलक्षित इति सूत्रार्थः ॥ 'इति' परिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववदेव, नया अपि पूर्ववदेव ॥

॥ इति श्री शान्त्याचार्यकृतायामुत्तराध्ययनटीकायां शिष्यहितायां पञ्चदशमध्ययनं समाप्तमिति ॥ १५ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्र अध्ययनं- १५ परिसमाप्तं

प्रत सूत्रांक ॥१६॥

दीप अनुक्रम [५१०]

अथ षोडशं ब्रह्मचर्यसमाधिनामकम् ।

उक्त पञ्चदशमध्ययनम्, अधुना षोडशमारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः–इहानन्तराध्ययने भिक्षुगुणा उक्ताः, ते च तत्त्वतो ब्रह्मचर्यव्यवस्थितस्य भवन्ति, तदपि च ब्रह्मगुप्तिपरिज्ञानत इति ता इहाभिधीयन्ते इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्याध्ययनस्य चतुरनुयोगद्वारचर्चा प्राग्वद्यावन्नामनिष्पन्ननिक्षेपे दशब्रह्मचर्यसमाधिस्थानमिति नाम, ततो दशादिपदानां पञ्चानां निक्षेपः कर्त्तव्यः, तत्र च नैककाद्यभावे दशसम्भव इत्येककनिक्षेपमाह निर्युक्तिकृत्—

णामंठवणादविएमाउयपयसंगहेक्कए चेव । पजव भावे अ तहा सत्तेए इक्कगा हुंति ॥ ३७९ ॥

एतदर्थस्तु चतुरङ्गीयाध्ययन एव कथित इति न प्रतन्यते ॥ एतदनुसारतश्च द्रव्यादिनिक्षेपः सुकर एवेति तमुपेक्ष्यैव दशनिक्षेपमाह—

दससु अ छक्को दवे नायव्वो दसपएसिओ खंधो। ओगाहणाठिईए नायव्वो पजवदुगे अ ॥ ३८० ॥

दशसु च निक्षेप्तव्येषु षट्को निक्षेप इति गम्यते, स च नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात्, तत्र नामस्था-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ अध्ययनं – १६ "ब्रह्मचर्यसमाधि" आरभ्यते

प्रत सूत्रांक ॥१६॥

दीप अनुक्रम [५१०]

पने क्षुण्णे, 'दवे'त्ति द्रव्यविषयेषु दशसु विचार्यमाणेषु 'ज्ञातव्यः' अवगन्तव्यः दश प्रदेशाः परिमाणमस्येति दशप्रदेशिकः स्कन्धो दशोच्यते, दशपरमाणुद्रव्यनिष्पन्नत्वात्, तथा 'ओगाहणाट्ठिईए'त्ति स्कन्ध एवावगाहनायां चिन्त्यमानः प्रक्रमाद्दशप्रदेशावगाढः क्षेत्रदशोच्यते, स्थितौ च दशसमयस्थितिकः स एव कालदशोच्यते, उपलक्षणं चैतत्सर्वं, यत आह चूर्णिकृत्–"द्रव्यदश दश सचित्तादीनि द्रव्याणि, क्षेत्रदश दशाकाशप्रदेशाः, कालदश दश समया इति ज्ञातव्याः," 'पज्जव'त्ति पर्याया दशसङ्ख्यत्वेन विवक्षिता भावदश [क्षये] (कये) पर्याया इत्याह—'दुके च' जीवाजीवरूपे 'चः' पूरणे, तत्र जीवपर्याया विवक्षया कषायादयः, अजीवपर्यायाश्च पुद्गलसम्बन्धिनो वर्णादय इति गाथार्थः ॥ इदानीं ब्रह्मनिक्षेपमाह—

बंभंमि(मी) उ चउक्कं ठवणाबंभंमि बंभणुप्पत्ती। दव्वंमि वत्थिनिग्गहु अन्नाणीणं मुणेयव्वो ॥ ३८१ ॥
भावे उ वत्थिनिग्गहु नायव्वो तस्स रक्खणट्ठाए। ठाणाणि ताणि वज्जिज्ज जाणि भणियाणि अज्झयणे ॥

'बंभंमि उ'त्ति ब्रह्मणि पुनर्विचार्ये 'चउक्कं'ति चतुष्को नामस्थापनाद्रव्यभावभेदान्निक्षेप इति गम्यते, तत्र नामब्रह्म यस्य ब्रह्मेति नाम, स्थापनाब्रह्मणि ब्राह्मणोत्पत्तिर्वक्तव्या, यथाऽऽचारनाम्नि प्रथमाङ्गे "एका मणुसजाई रज्जु-

१ एका मनुष्यजातिः राज्योत्पत्तौ च द्वे कृते वृषभस्य । तिस्रश्च शिल्पवाणिज्ये श्रावकधर्मे चतस्रः ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१६॥

दीप अनुक्रम [५१०]

प्पत्तीय दो कया उसभे । तिन्नि य सिप्पवणिए सावगधम्मंमि चत्तारि ॥ १ ॥" इत्यादिना निर्युक्तिकृताऽभिहिता, 'द्रव्ये वस्तिनिग्रहः' उपस्थनिरोधमात्रम् 'अज्ञानिनां' मिथ्यादृशां दशब्रह्मचर्यसमाधिस्थानावगमशून्यानां 'मुणितव्यः' प्रतिज्ञातव्यो ब्रह्मेति प्रक्रमः, 'भावे उ'त्ति भावे पुनर्विचार्ये वस्तिनिग्रहो 'ज्ञातव्यः' अवगन्तव्यः, कस्य सम्बन्धीत्याह—'तस्य' इति ब्रह्मणो 'रक्षणार्थाय' रक्षणप्रयोजनाय 'स्थानानि' विविक्तशयनासनसेवनादीनि तानि 'वर्जयेत्' परिहरेद्यस्तस्येति प्रक्रमः, स च ज्ञान्येव, तानि कानीत्याह—यानि 'भणितानि' उक्तानि 'अध्ययने' इहैव प्रक्रान्त इति गाथाद्वयार्थः ॥ चरणनिक्षेपमाह—

चरणे छक्को दव्वे गइचरणं चेव भक्खणेचरणं । खित्ते काले जंमि उ भावे उ गुणाण आयरणं ॥३८३॥

चरणविषयः 'षट्कः' षट्परिमाण उक्तरूपो निक्षेपः, तत्र नामस्थापने गतार्थे, द्रव्ये गतिरूपं चरणं गतिचरणं ग्रामादिगमनात्मकमित्यर्थः, 'चः' समुच्चये भिन्नक्रमश्च 'एवे'ति पूरणे, 'भक्खणेचरणं'ति एकारोऽलाक्षणिकस्ततो भक्षणचरणं, चरणशब्दस्योभयार्थत्वात्, पठ्यते हि 'चर गतिभक्षणयोः' इति, तथा 'खेत्ते काले जंमि'त्ति यस्मिन् क्षेत्रे काले वा चरणं चर्यते व्यावर्ण्यते वा तत्क्षेत्रचरणं कालचरणं चेति प्रक्रमः, भावे तु 'गुणानां' मूलोत्तरगुणरूपाणाम् 'आचरणम्' आसेवनमिति गाथार्थः ॥ समाधिनिक्षेपमाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||१६||

दीप अनुक्रम [५१०]

समाहीइ चउक्कं दव्वं दव्वेण जेण उ समाही। भावंमि नाणदंसणतवे चरित्ते अ नायव्वं ॥ ३८४ ॥

समाधौ 'चउक्कं'ति प्राग्वच्चतुष्को नामादिनिक्षेपः, तत्र नामस्थापने प्रसिद्धे, 'द्रव्य'मिति द्रव्यसमाधिः 'द्रव्येण' माधुर्यादिगुणान्वितेन 'येन' हेतुना 'तुः' पूरणे 'समाधिः' स्वास्थ्यमुपजायते तदेव समाधिहेतुत्वात्समाधिरिति। 'भावंमि णाणदंसणतवे चरित्ते अ'त्ति सूत्रत्वाद्भावे ज्ञानदर्शनतपांसि चरित्रं च स्वस्वरूपाविरोधेनावस्थानात्समाधिर्ज्ञातव्यः, यद्वा ज्ञानं च दर्शनं च तपश्चेति समाहारः ततो ज्ञानदर्शनतपसि चरित्रे च, प्रक्रमाद्यः समाधिः— अमीषामेव परस्परमविरोधेनावस्थानं स भावसमाधिरिति ज्ञातव्यमिति गाथार्थः ॥ स्थाननिक्षेपमाह—

(१) (२) (३) (४) (५) (६) (७) (८) (९) (१०) (११) (१२) (१३) (१४)
नामंठवणादविए खित्तद्धा उड्ढउवरई वसही। संजमपग्गह जोहे अचलगणणसंधणा भावे ॥ ३८५ ॥

सर्वत्र स्थानमिति योजनीयं, नामस्थानमित्यादि, तत्र नामस्थानं प्रतीतं, स्थापनास्थानं तु यो यद्गुणोपेतो यस्मिन्नाचार्यादिपदे स्थाप्यते स एव तिष्ठत्यस्मिन् स्थान इति स्थापनास्थानमुच्यते, 'द्रव्यस्थानम्' आकाशम्, अत्र हि जीवादिद्रव्याणि तिष्ठन्तीति, क्षेत्रस्थानमप्याकाशमेव, यतः क्षेत्रमाकाशं तच्चाकाश एव तिष्ठति, उक्तं हि–'आकाशं तु स्वप्रतिष्ठित'मिति, अद्धास्थानमर्द्धतृतीयद्वीपसमुद्ररूपं समयक्षेत्रं, तत्रैव समयावलिकाद्युपलक्षितस्याद्धाकालस्य स्थितेः, 'ऊर्द्धस्थानं' यत्रोर्द्धं स्थीयते, तच्च कायोत्सर्गः, 'उपरतिस्थानं' यत्र सर्वसावद्यविरतिरवाप्यते, 'वसतिस्थानं' यत्र

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [५११]

स्त्रीपण्डकादिदोषविकले यतिनिवासः, संयमस्थानं—शुभशुभतराध्यवसायविशेषा येषु संयमस्यावस्थितिः, प्रग्रहस्थानं यद्यस्यायुधस्य ग्रहणस्थानं, योधस्थानम्—आलीढप्रत्यालीढादि, अचलस्थानं यस्मिन्न मनागपि चलनसम्भवः, तच्च मुख्यतो मुक्तिरेव, गणनास्थानं यत्रैककादौ शीर्षप्रहेलिकावसाने गणनाऽवतिष्ठते, 'संधण'त्ति सन्धानस्थानं यत्र देशे त्रुटितमुक्तावल्यादेरेकत्वं विधीयते, 'भावस्थानम्' औदयिकादिभावानां यथास्वमवस्थानविषय इति गाथार्थः ॥ गतो नामनिष्पन्ननिक्षेपः, सम्प्रति सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

सुअं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं—इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं दसबंभचेरसमाहिठाणा पन्नत्ता, जे भिक्खू सुचा निसम्म संजमबहुले संवरबहुले समाहिबहुले गुत्ते गुत्तिंदिए गुत्तबंभयारी सया अप्पमत्ते विहरिज्जा ॥ १ ॥

श्रुतं मयाऽऽयुष्मंस्तेन भगवतैवम् 'आख्यातं' कथितं, कथमित्याह—सोपस्कारत्वात्सूत्रस्य यथेति गम्यते, ततो यथेह क्षेत्रे प्रवचने वा 'खलु' निश्चयेन स्थविरैः—गणधरैः 'भगवद्भिः' परमैश्वर्यादियुक्तैर्दशब्रह्मचर्यसमाधिस्थानानि 'प्रज्ञप्तानि' प्ररूपितानि, कोऽभिप्रायः ?—नैषामियं स्वमनीषिका, किन्तु भगवताऽप्येवमाख्यातं मया श्रुतं ततोऽत्र मा अनास्थां कृथाः, तान्येव विशिनष्टि—'थे' इति यानि ब्रह्मचर्यसमाधिस्थानानि भिक्षुः 'श्रुत्वा' आकर्ण्य शब्दतः 'निशम्य' अवधार्यार्थतः 'संजमबहुले'त्ति संयमम्—आश्रवविरमणादिकं बहु इति—बहुसङ्ख्यं यथाभवत्येवं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [५१२]

लाति—गृह्णाति, कोऽभिप्रायः ?—विशुद्धविशुद्धतरं पुनः पुनः संयमं करोतीति संयमबहुलः, मयूरव्यंसकादित्वात्समासः, यदिवा बहुलः—प्रभूतः संयमोऽस्येति बहुलसंयमः, सूत्रे पूर्वापरनिपातस्यातन्त्रत्वात्, अत एव संवरः—आश्रवद्वारनिरोधः तद्बहुलो बहुलसंवरो वा, तत एव समाधिः—चित्तस्वास्थ्यं तद्बहुलो बहुलसमाधिर्वा, 'गुप्तः' मनोवाक्कायगुप्तिभिः, गुप्तत्वादेव च गुप्तानि विषयप्रवृत्तितो रक्षितानि इन्द्रियाणि—श्रोत्रादीनि येन स तथा, तत एव गुप्तं नवगुप्तिसेवनात् 'ब्रह्मे'ति ब्रह्मचर्यं चरितुम्—आसेवितुं शीलमस्येति गुप्तब्रह्मचारी 'सदा' सर्वकालम् 'अप्रमत्तः' प्रमादविरहितः 'विहरेत्' अप्रतिबद्धविहारितया चरेत् ॥ एतेन संयमबहुलत्वादि दशब्रह्मचर्यसमाधिस्थानफलमुक्तम्, एतदविनाभावित्वात्तस्येति सूत्रार्थः ॥

कयरे खलु थेरेहिं भगवंतेहिं दसबंभचेरसमाहिठाणा पन्नत्ता ?, इमे खलु ते जाव विहरिज्जा, तंजहा—विवित्ताइं सयणासणाइं सेविज्जा से निग्गंथे, नो इत्थीपसुपंडगसंसत्ताइं सयणासणाइं सेवित्ता हवइ से निग्गंथे, तं कहं इति चेदायरियाह—निग्गंथस्स खलु इत्थिपसुपंडगसंसत्ताइं सयणासणाइं सेवमाणस्स बंभयारिस्स बंभचेरे संका वा कंखा वा वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेयं वा लभिज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हविज्जा, केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ वा भंसिज्जा, तम्हा नो इत्थिपसुपंडगसंसत्ताइं सयणासणाइं सेवित्ता हवइ से निग्गंथे ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [५१२]

कतराणीत्यादिप्रश्नसूत्रम् इमानीत्यादि निर्वचनसूत्रं च प्राग्वत्, तान्येवाह—'तं जहे'त्यादि, 'तद्यथे' त्युपन्यासे 'विविक्तानि' स्त्रीपशुपण्डकाकीर्णत्वविरहितानि, शय्यते येषु तानि शयनानि च—फलकसंस्तारकादीनि, आस्यते येषु तानि आसनानि च—पादपीठपुञ्छनादीनि शयनासनानि, उपलक्षणत्वात्स्थानानि च 'सेवेत' भजेत यः सः 'निर्ग्रन्थः' द्रव्यभावग्रन्थान्निष्क्रान्तो भवतीति शेषः। इत्थमन्वयेनाभिधायाव्युत्पन्नविनेयानुग्रहायामुमेवार्थं व्यतिरेकेणाह—'नो' नैव स्त्रियश्च—दिव्या मानुष्यो वा पशवश्च—अजैडकादयः पण्डकाश्च—नपुंसकानि स्त्रीपशुपण्डकास्तैः संसक्तानि—आकीर्णानि स्त्रीपशुपण्डकसंसक्तानि 'शयनासनानि' उक्तरूपाणि 'सेविता' उपभोक्ता भवति,।'तदि'त्यनन्तरोक्तं 'कथं' केनोपपत्तिप्रकारेण?, 'इति चेद्' एवं यदि मन्यसे, अत्रोच्यते—निर्ग्रन्थस्य खलु निश्चितं स्त्रीपशुपण्डकसंसक्तानि शयनासनानि 'सेवमानस्य' उपभुञ्जानस्य 'बंभयारिस्स'त्ति अपिशब्दस्य गम्यमानत्वाद् ब्रह्मचारिणोऽपि सतो ब्रह्मचर्ये 'शङ्का वा' किमेताः सेवे उत नेत्येवंरूपा, यदिवा इहान्येषामिति गम्यते, ततः शङ्का वाऽन्येषां—यथा किमसावेवंविधशयनासनसेवी ब्रह्मचार्युत नेति, 'काङ्क्षा' वा रुयाद्यभिलाषरूपा 'विचिकित्सा' वा धर्मं प्रति चित्तविप्लुतिः 'समुत्पद्यते' जायते, अथवा शङ्का रुयादिभिरत्यन्तापहृतचित्ततया विस्मृतसकलासोपदेशस्य "सत्यं वच्मि हितं वच्मि, सारं वच्मि पुनः पुनः। अस्मिन्नसारे संसारे, सारं सारङ्गलोचनाः ॥१॥" इत्यादिकुविकल्पान् विकल्पयतो मिथ्यात्वोदयतः कदाचिदेतत्परिहार एव न तीर्थकृद्भिरुक्तो भविष्यति, एतदासेवने वा यो दोष उक्तः स दोष एव न

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [५१२]

भवतीत्येवंरूपः संशय उत्पद्यते, काङ्क्षा वा तत एव हेतोः "प्रियादर्शनमेवास्तु, किमन्यैर्दर्शनान्तरैः ? । प्राप्यते येन निर्वाणं, सरागेणापि चेतसा ॥१॥" इत्याद्यभिधायकान्यान्यनीलपटादिदर्शनाग्रहरूपा, विचिकित्सा वा–धर्मं प्रति-किमेतावतः कष्टानुष्ठानस्य फलं भविष्यति न वा ? तद्वरमेतदासेवनमेवास्त्वित्येवंरूपा, 'भेदं' वा विनाशं चारित्रस्येति गम्यते, 'लभेत' प्राप्नुयात्, 'उन्मादं वा' कामग्रहात्मकं प्राप्नुयात् स्त्रीविषयाभिलाषातिरेकतस्तथाविधचित्तविप्लवसं-भवात्, 'दीर्घकालिकं वा' प्रभूतकालभावि रोगश्च—दाहज्वरादिरातङ्कश्च—आशुघाती शूलादि रोगातङ्कं 'भवेत्' स्यात्, संभवति हि रूयाद्यभिलाषातिरेकतोऽरोचकत्वं ततश्च ज्वरादीनि, केवलिप्रज्ञप्तात् 'धर्मात्' श्रुतचारित्ररूपात् समस्ताद् 'भ्रश्येत्' अधः प्रतिपतेत्, कस्यचिदतिक्लिष्टकर्मोदयात्सर्वथा धर्मपरित्यागसम्भवात्, यत एवं तस्मादित्या-दिनिगमनवाक्यं प्रकटार्थमेवेति सूत्रार्थः ॥ उक्तं प्रथमं समाधिस्थानं द्वितीयमाह—

नो इत्थीणं कहं कहित्ता हवइ से निग्गंथे, तं कहमिति चेदायरियाऽऽह—निग्गंथस्स खलु इत्थीणं कहं कहे-माणस्स बंभयारिस्स बंभचेरे संका वा कंखा वा वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा भेयं वा लभिज्जा उम्मायं वा पाउणिज्जा दीहकालियं वा रोगायंकं हविज्जा केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसिज्जा, तम्हा नो इत्थीणं कहं कहिज्जा ॥ २ ॥

नो स्त्रीणामेकाकिनीनामिति गम्यते, 'कथा' वाक्यप्रबन्धरूपा, यदिवा स्त्रीणां कथा,—"कर्णाटी सुरतोपचा-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२]

दीप अनुक्रम [५१३]

रचतुरा लाटी विदग्धप्रिया" इत्यादिका, अथवा जातिकुलरूपनेपथ्यभेदाच्चतुर्धा स्त्रीकथा, तत्र जातिर्ब्राह्मण्यादिः कुलम्—उग्रादि रूपं–महाराष्ट्रिकादि संस्थानं—नेपथ्यं–तत्तद्देशप्रसिद्धं, तां कथयिता भवति 'से निग्गंथे'त्ति य एवंविधः स निर्ग्रन्थः । शेषं प्रश्नप्रतिवचनाभिधायि पूर्ववदिति सूत्रार्थः ॥ तृतीयमाह—

नो इत्थीहिं सद्धिं संनिसिज्जागए विहरित्ता हवइ से निग्गंथे, तं कहं इति चेदायरियाह—निग्गंथस्स खलु इत्थीहिं सद्धिं संनिसिज्जागयस्स बंभयारिस्स बंभचेरे संका वा कंखा वा वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिजा भेयं वा लभिजा उम्मायं वा पाउणिज्जा दीहकालियं वा रोगायंकं हविजा केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसिजा, तम्हा खलु नो निग्गंथे इत्थीहिं सद्धिं संनिसिज्जागए विहरइ ॥ ३ ॥

नो स्त्रीभिः 'सार्द्धं' सह सम्यग् निषीदन्ति–उपविशन्त्यस्यामिति संनिषद्या—पीठाद्यासनं तस्यां गतः—स्थितः संनिषद्यागतः सन् 'विहर्त्ता' अवस्थाता भवति, कोऽर्थः ?—स्त्रीभिः सहैकासने नोपविशेत्, उत्थिताभ्यपि हि तासु मुहूर्त्तं तत्र नोपवेष्टव्यमिति सम्प्रदायः, य एवंविधः स निर्ग्रन्थः, न त्वन्य इत्यभिप्रायः, शेषं प्रश्नप्रतिवचनाभिधायि पूर्ववदिति सूत्रार्थः ॥ चतुर्थमाह—

१ 'निग्गंथित्ति'यः स निग्रन्थो न त्वन्याभिप्रायस्तत्कथमित्यादिप्राग्वदिति सूत्रार्थः ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [४]

दीप अनुक्रम [५१५]

नो इत्थीणं इंदियाइं मणोहराइं मणोरमाइं आलोइत्ता निज्झाइत्ता हवइ से निग्गंथे, तं कहं इति चेदावरियाऽऽह—निग्गंथस्स खलु इत्थीणं इंदियाइं मणोहराइं मणोरमाइं जाव निज्झाएमाणस्स बंभचेरे संका वा कंखा वा वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिजा भेयं वा लभिजा उम्मायं वा पाउणिजा दीहकालियं वा रोगायंकं हविजा केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसिजा, तम्हा खलु निग्गंथे नो इत्थीणं इंदियाइं निज्झाइ ॥ ४ ॥

नो स्त्रीणां 'इन्द्रियाणि' नयननासिकादीनि मनः—चित्तं हरन्ति दृष्टमात्राण्यप्याक्षिपन्तीति मनोहराणि, तथा मनो रमयन्तीति दर्शनानन्तरमनुचिन्त्यमानान्याह्लादयन्तीति मनोरमाणि 'आलोकिता' समन्ताद्रष्टा 'निर्ध्याता' दर्शनानन्तरमतिशयेन चिन्तयिता, यथा–अहो ! सलवणत्वं लोचनयोः, ऋजुत्वं नासावंशस्येत्यादि, यद्वा 'आङीषदर्थे' तत 'आलोकिता' ईषद्रष्टा 'निर्ध्याता' प्रबन्धेन निरीक्षिता भवति यः स निर्ग्रन्थः, अन्यत्प्रतीतमेवेति सूत्रार्थः ॥ पञ्चममाह—

नो निग्गंथे इत्थीणं कुड्डंतरंसि वा दूसंतरंसि वा भित्तिअंतरंसि वा कूइयसद्दं वा रुइयसद्दं वा गीयसद्दं वा हसियसद्दं वा थणियसद्दं वा कंदियसद्दं वा विलवियसद्दं वा सुणित्ता हवइ से निग्गंथे, तं कहं इति चेदायरियाह—इत्थीणं कुड्डंतरंसि वा दूसंतरंसि वा भित्तिअंतरंसि वा जाव विलवियसद्दं वा सुणमाणस्स

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [५]

दीप अनुक्रम [५१६]

बंभयारिस्स बंभचेरे संका वा कंखा वा वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा भेयं वा लभिज्जा उम्मायं वा पाउणिज्जा दीहकालियं वा रोगायंकं हविज्जा केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ जाव भंसिज्जा, तम्हा खलु निग्गंथे नो इत्थीणं कुडुंतरंसि वा जाव सुणेमाणे विहरिज्जा ॥ ५ ॥

नो स्त्रीणां कुड्यं–खटिकादिरचितं तेनान्तरं–व्यवधानं कुड्यान्तरं तस्मिन् वा, दूष्यं–वस्त्रं तदन्तरे वा, यवनिकान्तर इत्यर्थः, भित्तिः—पक्वेष्टकादिरचिता तदन्तरे, वाशब्दः सर्वत्र विकल्पाभिधायी, स्थित्वेति शेषः, 'कूजितशब्दं वा' विविधविहगभाषयाऽव्यक्तशब्दं सुरतसमयभाविनं 'रुदितशब्दं वा' रतिकलहादिकं मानिनीकृतं 'गीतशब्दं वा' पञ्चमादिदुङ्कृतिरूपं 'हसितशब्दं वा' कहकहादिकं 'स्तनितशब्दं वा' रतिसमयकृतं 'क्रन्दितशब्दं वा' प्रोषितभर्तृकादिकृताक्रन्दरूपं 'विलपितशब्दं वा' प्रलापरूपं श्रोता यो न भवति स निर्ग्रन्थः, शेषं स्पष्टमिति सूत्रार्थः ॥ षष्ठमाह—

नो निग्गंथे पुव्वरयं पुव्वकीलियं अणुसरित्ता हवइ, तं कहं इति चेदायरियाह—निग्गंथस्स खलु इत्थीणं पुव्वरयं पुव्वकीलियं अणुसरमाणस्स बंभयारिस्स बंभचेरे संका वा कंखा वा वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा भेयं वा लभिज्जा उम्मायं वा पाउणिज्जा दीहकालियं वा रोगायंकं हविज्जा केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसिज्जा, तम्हा खलु नो निग्गंथे इत्थीणं पुव्वरयं पुव्वकीलियं अणुसरिज्जा ॥ ६ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [६]

दीप अनुक्रम [५१७]

नो निर्ग्रन्थः पूर्वस्मिन्–गृहावस्थालक्षणे काले रतं–रुयादिभिः सह विषयानुभवनं पूर्वरतं, 'पूर्वक्रीडितं वा' रुयादिभिरेव पूर्वकालभावि दुरोदरादिरमणात्मकं वाशब्दस्य गम्यमानत्वात्, 'अनुस्मर्त्ता' अनुचिन्तयिता भवति, शेषं प्राग्वदिति सूत्रार्थः ॥ सप्तममाह—

नो पणीयं आहारं आहारित्ता हवइ से निग्गंथे, तं कहं इति चेदायरियाह—नि० पणीयं पाणभोयणं आहारेमाणस्स बंभयारिस्स बंभचेरे संका वा कंखा वा वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा भेयं वा लभिज्जा उम्मायं वा पाउणिज्जा दीहकालियं वा रोगायंकं हविज्जा केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसिज्जा, तम्हा खलु नो निग्गंथे पणीयं आहारं आहारिज्जा ॥ ७ ॥

'नो' नैव 'प्रणीतं' गलद्बिन्दु, उपलक्षणत्वादन्यमप्यत्यन्तधातूद्रेककारिणम् 'आहारम्' अशनादिकम् 'आहारयिता' भोक्ता भवति यः स निर्ग्रन्थः, शेषं व्याख्यातमेव, नवरं 'प्रणीतं पानभोजनम्' इति पानभोजनयोरेवोपादानम्, एतयोरेव मुख्यतया यतिभिराहार्यमाणत्वात्, अन्यथा खाद्यस्वाद्येऽप्येवंविधे वर्जनीये एवेति सूत्रार्थः ॥ अष्टममाह—

नो अइमायाए पाणभोयणं आहारित्ता हवइ से निग्गंथे, तं कहं इति चेदायरियाह— अइमायाए पाणभोयणं आहारेमाणस्स बंभयारिस्स बंभचेरे संका वा कंखा वा वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा भेयं वा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [८]

दीप अनुक्रम [५१९]

लभिज्जा उम्मायं वा पाउणिज्जा दीहकालियं वा रोगायंकं हविज्जा केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसिज्जा, तम्हा खलु नो निग्गंथे अइमायाए पाणभोयणं भुंजिज्जा ॥ ८ ॥

'नो' नैव 'अतिमात्रया' मात्रातिक्रमेण, तत्र मात्रा–परिमाणं, सा च पुरुषस्य द्वात्रिंशत्कवलाः स्त्रियाः पुनरष्टाविंशतिः, उक्तं हि–"बत्तीसं किर कवला आहारो कुच्छिपूरओ भणिओ। पुरिसस्स महिलियाए अट्ठावीसं भवे कवला ॥ १ ॥" अतिक्रमस्तु तदाधिक्यसेवनं 'पानभोजनं' प्रतीतमेव 'आहारयिता' भोक्ता भवति यः स निर्ग्रन्थः, शेषं तथैवेति सूत्रार्थः ॥ नवममाह—

नो विभूसाणुवाई हवइ से निग्गंथे, तं कहं इति चेदायरियाह—विभूसावत्तिए विभूसियसरीरे इत्थिजणस्स अभिलसणिजे हवइ, तओ णं तस्स इत्थिजणेणं अभिलसिज्जमाणस्स बंभयारिस्स बंभचेरे संका वा कंखा वा वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा भेयं वा लभिज्जा उम्मायं वा पाउणिज्जा दीहकालियं वा रोगायंकं हविज्जा केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसिज्जा, तम्हा खलु नो निग्गंथे विभूसाणुवाई सिया ॥ ९ ॥

'नो' नैव विभूषणं विभूषा—शरीरोपकरणादिषु स्नानधावनादिभिः संस्कारस्तदनुपाती, कोऽर्थः ?–तत्कर्त्ता भवति यः स निर्ग्रन्थः, तत्कथमिति चेदुच्यते–'विभूसावत्तिए'त्ति विभूषां वर्त्तयितुं—विधातुं शीलमस्येति विभूषा-

१ द्वात्रिंशत् किल कवला आहारः कुक्षिपूरको भणितः । पुरुषस्य महेलाया अष्टाविंशतिर्भवेयुः कवलाः ॥ १ ॥

॥४२६॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [९]

दीप अनुक्रम [५२०]

वर्ती, ताच्छीलिको णिन्, स एव विभूषावर्त्तिकः, स किमित्याह—विभूषितम्–अलङ्कृतं स्नानादिना संस्कृतमिति-यावत् शरीरं–देहो यस्य स विभूषितशरीरः, तथा च 'उज्ज्वलवेषं पुरुषं दृष्ट्वा स्त्री कामयते' इति वचनाद्युवतिजनप्रा-र्थनीयो भवति, आह च सूत्रकारः–'इत्थिजणस्स अहिलसणिज्जे हवइ'त्ति, ततः को दोष इत्याह–'ततः' स्त्रीजना-भिलषणीयत्वतः, णमिति प्राग्वत्, 'तस्य' निर्ग्रन्थस्य 'स्त्रीजनेन' युवतिजनेनाभिलष्यमाणस्य–प्रार्थ्यमानस्य ब्रह्मचा-रिणोऽपि ब्रह्मचर्ये शङ्का वा, यथा किमेतास्तावदित्थं प्रार्थयमाना उपभुञ्जे ?, आयतौ तु यद्भावि तद्भवतु, उतश्चि-त्कष्टाः शाल्मलीश्लेष्मादयो नरक एतद्विपाका इति परिहरामीत्येवंरूपः संशयः, शेषं प्राग्वदिति सूत्रार्थः॥ दशममाह—

नो सद्दरूवरसगंधफासाणुवाई हवइ से निग्गंथे, तं कहं इति चेदायरियाह–निग्गंथस्स खलु सद्दरूवरसगं-धफासाणुवाइयस्स बंभयारिस्स बंभचेरे संका वा कंखा वा वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा भेयं वा लभिज्जा उम्मायं वा पाउणिज्जा दीहकालियं वा रोगायंकं हविज्जा केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ जाव भंसिज्जा, तम्हा खलु नो निग्गंथे सद्दरूवरसगंधफासाणुवाई हवइ से निग्गंथे, दसमे बंभचेरसमाहिठाणे हवइ ॥ १० ॥

'नो' नैव शब्दो–मन्मनभाषितादि रूपं—कटाक्षनिरीक्षणादि चित्रादिगतं वा रूपादिसम्बन्धि रसो–मधुरादि-रभिवृंहणीयो गन्धः–सुरभिः स्पर्शः–स्पर्शनानुकूलः कोमलमृणालादेरेतानभिष्वङ्गहेतून् अनुपतति—अनुयातीत्येवं-शीलः शब्दरूपरसगन्धस्पर्शानुपाती भवति यः स निर्ग्रन्थः। तत्कथमिति चेदित्यादि सुगमं, दशमं ब्रह्मचर्यसमा-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१०]

दीप अनुक्रम [५२१]

धिस्थानं भवतीति निगमनम्॥ इह च प्रत्येकं रुयादिसंसक्तशयनादेः शङ्कादिदोषदर्शनं तदत्यन्तदुष्टतादर्शकं प्रत्येकमपायहेतुतां प्रति तुल्यबलत्वख्यापकं चेति सूत्रार्थः ॥

भवन्ति य इत्थ सिलोगा, तंजहा—

'भवन्ति' विद्यन्ते 'अत्रे'ति उक्त एवार्थे, किमुक्तं भवति ?—उक्तार्थाभिधायिनः 'श्लोकाः' पद्यरूपाः, 'तद्यथा' इत्युपप्रदर्शने ।

जं विवित्तमणाइन्नं, रहियं थीजणेण य । बंभचेरस्स रक्खट्ठा, आलयं तु निसेवए ॥ १ ॥ मणपल्हायजणणी, कामरागविवड्ढणी । बंभचेररओ भिक्खू, थीकहं तु विवज्जए ॥ २ ॥ समं च संथवं थीहिं, संकहं च अभिक्खणं । बंभचेररओ भिक्खू, निच्चसो परिवज्जए ॥ ३ ॥ अंगपच्चंगसंठाणं, चारुल्लवियपेहियं । बंभचेररओ थीणं, सोअगिज्झं विवज्जए ॥ ४ ॥ कुइयं रुइअं गीयं, हसियं थणिय कंदियं । बंभचेररओ थीणं, सोअगिज्झं विवज्जए ॥ ५ ॥ हासं खिड्डं रइं दप्पं, सहसावत्तासियाणि य । बंभचेररओ थीणं, नाणुचिंते कयाइवि ॥६॥ पणीयं भत्तपाणं च, खिप्पं मयविवड्ढणं । बंभचेररओ भिक्खू, निच्चसो परिवज्जए ॥ ७ ॥ धम्मलद्धं मियं काले, जत्तत्थं पणिहाणवं । णाइमत्तं तु भुंजिज्जा, बंभचेररओ सया ॥ ८ ॥ विभूसं परिवज्जिज्जा, सरी-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१-१०॥

दीप अनुक्रम [५२२--५३१]

रपरिमंडणं। बंभचेररओ भिक्खू, सिंगारत्थं न धारए ॥ ९ ॥ सद्दे रूवे य गंधे य, रसे फासे तहेव य। पंचविहे कामगुणे, निच्चसो परिवज्जए ॥ १० ॥

जमित्यादिसूत्राणि दश। यः 'विविक्तः' रहस्यभूतस्तत्रैव वास्तव्यरुग्याद्यभावाद् 'अनाकीर्णः' असङ्कुलस्तत्प्रयोजनागतरुग्याद्यनाकुलत्वात्, 'रहितः' परित्यक्तोऽकालचारिणा वन्दनश्रवणादिनिमित्तागतेन स्त्रीजनेन, चशब्दात्पण्डकैः षिड्गादिपुरुषैश्च, प्रक्रमापेक्षया चैवं व्याख्या, अन्यत्रापि चैवं प्रक्रमाद्यपेक्षत्वं भावनीयम्, उक्तं हि– "अर्थात् प्रकरणाल्लिङ्गादौचित्यादेशकालतः। शब्दार्थाः प्रविभज्यन्ते, न शब्दादेव केवलात् ॥ १ ॥" 'ब्रह्मचर्यस्य' उक्तरूपस्य 'रक्षार्थं' पालननिमित्तम् 'आलयः' आश्रयः, सर्वत्र लिङ्गव्यत्ययः प्राग्वत्, यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात्तं 'तुः' पूरणे 'निषेवते' भजते॥१॥मनः–चित्तं तस्य प्रल्हादः अहो! अभिरूपा एता इत्यादिविकल्पज आनन्दस्तं जनयतीति मनःप्रह्लादजननी ताम्, अत एव कामरागो–विषयाभिष्वङ्गस्तस्य विवर्द्धनी–विशेषेण वृद्धिहेतुः कामरागविवर्द्धनी तां, शेषं स्पष्टं, नवरं, 'स्त्रीकथां' "तद्वक्रं यदि मुद्रिता शशिकथा" इत्यादिरूपां ॥२॥ 'समं च' सह 'संस्तवं' परिचयं स्त्रीभिर्निषद्या प्रक्रमादेकासनभोगेनेति गम्यते, 'संकथां च' ताभिरेव समं सन्ततभाषणात्मिकाम् 'अभीक्ष्णं' पुनः पुन 'णिच्चसो'त्ति नित्यमन्यत्स्पष्टम्॥३॥अङ्गानि—शिरःप्रभृतीनि प्रत्यङ्गानि–कुचकक्षादीनि संस्थानं–कटीनिविष्टक-

* वक्षादीनि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१-१०॥

दीप अनुक्रम [५२२--५३१]

रादिसन्निवेशात्मकम्, अमीषां समाहारनिर्देशः, अङ्गप्रत्यङ्गयोर्वा संस्थानम्–आकारविशेषोऽङ्गप्रत्यङ्गसंस्थानं चारु–शोभनम् उल्लपितं च–मन्मनभाषितादि तत्सहगतमुखादिविकारोपलक्षणमेतत् प्रेक्षितं च–अर्द्धकटाक्षनिरीक्षितादि उल्लपितप्रेक्षितं ब्रह्मचर्यरतः स्त्रीणां सम्बन्धि चक्षुषा गृह्यत इति चक्षुर्ग्राह्यं सद्विवर्जयेत्, किमुक्तं भवति ?–चक्षुषि हि सति रूपग्रहणमवश्यंभावि, परं तद्दर्शनेऽपि तत्परिहार एव कर्त्तव्यो न तु रागवशगेन पुनः पुनस्तदेव वीक्षणीयमिति, उक्तं हि–"असक्का रूवमद्दट्ठुं, चक्खुगोयरमागयं । रागद्दोसे उ जे तत्थ, ते बुहो परिवज्जए ॥१॥"॥४॥कुड्यं-सूत्रं प्रायो व्याख्यातमेव, नवरं कुड्यान्तरादिष्विति शेषः ॥ ५ ॥ हाससूत्रमपि तथैव, नवरं 'रतिं' दयिताङ्गसङ्गजनितां प्रीतिं 'दर्पं' मनस्विनीमानदलनोत्थं गर्वं 'सहसाऽवत्रासितानि च' पराङ्मुखदयितादेः सपदि त्रासोत्पादकान्यक्षिस्थगनमर्मघट्टनादीनि, पठ्यते च–'हस्सं दप्पं रइं किड्डं सह भुत्तासियाणि य' अत्र च 'सहे'ति स्त्रीभिः सार्द्धं भुक्तानि च–भोजनानि आसितानि च–स्थितानि भुक्तासितानि, शेषं स्पष्टं, नवरं सर्वत्र पूर्वकृतत्वं प्रक्रमादपेक्षणीयम् ॥ ६ ॥ पणीयंसूत्रं निगदसिद्धमेव, नवरं मदः–कामोद्रेक इह गृह्यते, तस्य विवर्द्धनम्–अतिबृंहकतया विशेषतो वृद्धिहेतुं परिवर्जयेत्॥७॥धर्मादनपेतं धर्म्यमेषणीयमित्यर्थः 'लब्धं' प्राप्तं गृहस्थेभ्य इति गम्यते, न तु स्वयमेवोपस्कृतं,पठ्यते च,–'धम्मलद्धं'ति धर्मेण हेतुनोपलक्षणत्वाद्धर्मलाभेन वा न तु कुण्डलादिकरणेन लब्धं धर्मलब्धं,

१ अशक्यं रूपमद्रष्टुं चक्षुर्गोचरमागतम् । रागद्वेषौ तु यौ तत्र तौ बुधः परिवर्जयेत् ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१-१०॥

दीप अनुक्रम [५२२--५३१]

पठ्यते च–'धर्म्मलद्धुं'ति धर्म्मः–उत्तमः क्षमादिरूपः, यथाऽऽह वाचकः–'उत्तमः क्षमामार्दवार्जवसत्यशौचसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः"(तत्त्वार्थे अ०९ सू०६) इति, तं 'लब्धुं' प्राप्तुं, कथं ममायं निरतिचारः स्यात् इति, 'मितम्' 'अद्धमसणस्स' इत्याद्यागमोक्तमानान्वितमाहारमिति गम्यते, 'काले' प्रस्तावे 'यात्रार्थं' संयमनिर्वाहणार्थं न तु रूपाद्यर्थं 'प्रणिधानवान्' चित्तस्वास्थ्योपेतो न तु रागद्वेषवशगो भुञ्जीत 'न' इति निषेधे मात्रामतिक्रान्तः अतिमात्रः–अतिरिक्त इत्यर्थस्तं, यदिवा 'ईषदर्थे क्रियायोगे, मर्यादायां परिच्छद' इत्यादिना मात्राशब्दस्य मर्यादार्थस्यापि दर्शनाद् 'अतिमात्रम्' अतिक्रान्तमर्यादं, तुशब्दस्यैवकारार्थत्वाद्व्यवहितसम्बन्धत्वाच्च नैव 'भुञ्जीत' अभ्यवहरेद् ब्रह्मचर्ये रतः–आसक्तो ब्रह्मचर्यरतः 'सदा' सर्वकालं, कदाचित्कारणतोऽतिमात्रस्याप्याहारस्यादुष्टत्वात् ॥ ८ ॥ 'विभूषाम्' उपकरणगतामुत्कृष्टवस्त्राद्यात्मिकां 'परिवर्जयेत्' परिहरेत् 'शरीरपरिमण्डनं' केशश्मश्रुसमारचनादि ब्रह्मचर्यरतो भिक्षुः 'शृङ्गारार्थं' विलासार्थं 'न धारयेत्' न स्थापयेत् न कुर्यादितियावत् ॥९॥ 'सद्दे' सूत्रं स्पष्टमेव, नवरं कामः–इच्छामदनरूपस्तस्य द्विविधस्यापि गुणाः–साधनभूता उपकारका इतियावत्, उक्तं हि–'गुणः साधनमुपकारकं' कामगुणास्तानेवंविधान् शब्दादीनिति सूत्रदशकार्थः ॥ १० ॥ सम्प्रति यत्प्राक् प्रत्येकमुक्तं शङ्का वा स्यादित्यादि तद्दृष्टान्ततः स्पष्टयितुमाह–

आलओ थीजणाइन्नो, थीकहा य मणोरमा । संथवो चेव नारीणं, तासिं इंदियदरिसणं ॥ ११ ॥
कुइयं रुइयं गीयं, हसियं भुत्तासियाणि य । पणीयं भत्तपाणं च, अइमायं पाणभोयणं ॥ १२ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥११--१३॥

दीप अनुक्रम [५३२--५३४]

गत्तं भूसणमिट्ठं च, कामभोगा य दुज्जया। नरस्सऽत्तगवेसिस्सा, विसं तालउडं जहा ॥ १३ ॥

नवरं 'संस्तवः' परिचयः, स चेहाप्येकासनभोगेनेति प्रक्रमः, कूजितादीनि हसितपर्यन्तानि कुड्यान्तराद्यवस्थितिनिषेधोपलक्षणानि, भुक्तासितानि च स्मृतानीति शेषः, तत्र भुक्तानि–भोगरूपाणि आसितानि–स्त्र्यादिभिरेव सहावस्थितानि, हास्याद्युपलक्षणं चैतत्, गात्रभूषणमिष्टं चेति, चशब्दोऽपिशब्दार्थः, तत इष्टमप्यास्तां विहितं, तथा काम्यन्त इति कामाः भुज्यन्त इति भोगाः विशेषणसमासस्ते चेष्टाः शब्दादयः, नरस्योपलक्षणत्वात्स्त्र्यादेश्च आत्मगवेषिणः 'विषं' गरलः 'तालपुटं' सद्योघाति यत्रौष्ठपुटान्तर्वर्त्तिनि तालमात्रकालविलम्बतो मृत्युरुपजायते, 'यथे'त्यौपम्ये, ततोऽयमर्थः–यथैतद्विपाकदारुणं तथा स्त्रीजनाकीर्णालयाद्यपि, शङ्कादिकरणतः संयमात्मकभावजीवितस्येतरस्य च नाशहेतुत्वादिति सूत्रत्रयार्थः ॥ सम्प्रति निगमयितुमाह—

दुज्जए कामभोगे य, निच्चसो परिवज्जए। संकाठाणाणि सव्वाणि, वज्जिज्जा पणिहाणवं ॥ १४ ॥
धम्मारामे चरे भिक्खू, धिईमं धम्मसारही। धम्मारामरए दंते, बंभचेरसमाहिए ॥ १५ ॥

दुःखेन जीयन्त इति दुर्जयास्तान् 'कामभोगान्' उक्तरूपान् 'णिच्चसो'त्ति नित्यं 'परिवर्जयेत्' सर्वप्रकारं त्यजेत् 'शङ्कास्थानानि च' अनन्तरोक्तानि, पूर्वत्र चास्य भिन्नक्रमत्वात् 'सर्वाणि' दशापि वर्जयेद्, अन्यथा आज्ञाऽनवस्थामिथ्यात्वविराधनादोषसम्भवः 'प्रणिधानवान्' एकाग्रमनाः। एतद्वर्जकश्च किं कुर्यादित्याह–धर्म आराम इव पाप-

॥४२९॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||१४--१५||

दीप अनुक्रम [५३५--५३६]

सन्तापोपतप्तानां जन्तूनां निर्वृत्तिहेतुतयाऽभिलषितफलप्रदानतश्च धर्मारामस्तस्मिन् 'चरेत्' गच्छेत् प्रवर्त्तेतेतियावत्, यद्वा धर्मे आ–समन्ताद्रमत इति धर्मारामः 'संचरेत्' संयमाध्वनि यायाद् भिक्षुः प्राग्वत् 'धृतिमान्' धृतिः–चित्तस्वास्थ्यं तद्वान्, स चैवं धर्मसारथिः–"ठिओ उ ठावए परं" इति वचनादन्येषामपि धर्मे प्रवर्त्तयिता, ततोऽन्यानपि धर्मे व्यवस्थितानुपलभ्य विशेषतो धर्मारामे रतः–आसक्तिमान् धर्मारामरतः, तथा च 'दान्तः' उपशान्तो ब्रह्मचर्ये समाहितः–समाधानवान् ब्रह्मचर्यसमाहित इति सूत्रद्वयार्थः ॥ ब्रह्मचर्यविशुद्धयर्थोऽयं सर्वोऽप्युपक्रम इति तन्माहात्म्यमाह—

देवदाणवगंधव्वा, जक्खरक्खसकिन्नरा । बंभयारिं नमंसंति, दुक्करं जे करंति तं ॥ १६ ॥

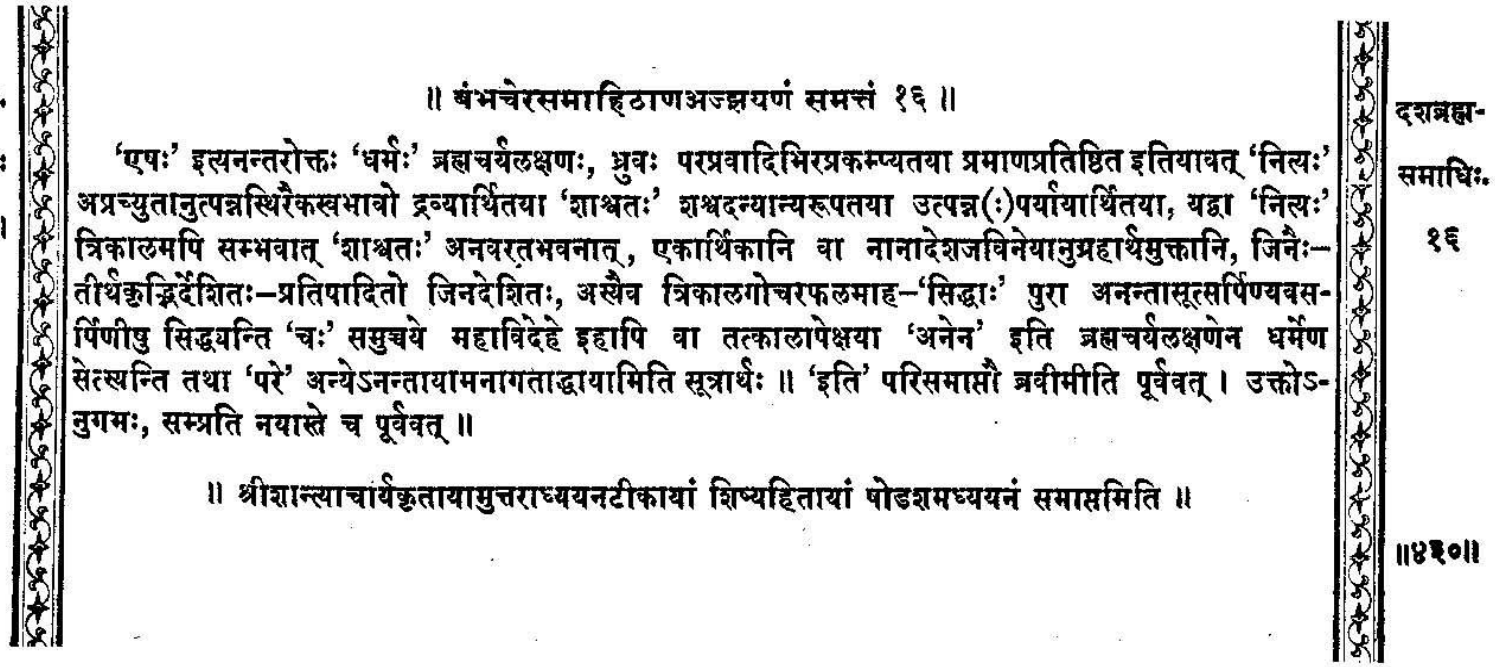
देवाः–ज्योतिष्कवैमानिकाः दानवाः–भुवनपतयः गन्धर्वयक्षराक्षसकिन्नराः–व्यन्तरविशेषाः समासः सुकर एव, उपलक्षणं चैतद्भूतपिशाचमहोरगकिंपुरुषाणाम्, एते सर्वेऽपि 'ब्रह्मचारिणं' ब्रह्मचर्यवन्तं यतिमिति शेषः, 'नमस्यन्ति' नमस्कुर्वन्ति 'दुष्करं' कातरजनदुरनुचरं 'जे' इति यः 'करोति' अनुतिष्ठति 'तदि'ति प्रक्रमाद्ब्रह्मचर्यमिति सूत्रार्थः ॥ सम्प्रति सकलाध्ययनार्थोपसंहारमाह—

एस धम्मे धुवे नियए, सासए जिणदेसिए ।
सिद्धा सिज्झंति चाणेणं, सिज्झिस्संति तहापरे ॥ १७ ॥ त्ति बेमि ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१७॥

दीप अनुक्रम [५३८]



उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥४३०॥

॥ बंभचेरसमाहिठाणअज्झयणं समत्तं १६ ॥

'एषः' इत्यनन्तरोक्तः 'धर्मः' ब्रह्मचर्यलक्षणः, ध्रुवः परप्रवादिभिरप्रकम्प्यतया प्रमाणप्रतिष्ठित इतियावत् 'नित्यः' अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावो द्रव्यार्थितया 'शाश्वतः' शश्वदन्यान्यरूपतया उत्पन्न(:)पर्यायार्थितया, यद्वा 'नित्यः' त्रिकालमपि सम्भवात् 'शाश्वतः' अनवरतभवनात्, एकार्थिकानि वा नानादेशजविनेयानुग्रहार्थमुक्तानि, जिनैः–तीर्थकृद्भिर्देशितः–प्रतिपादितो जिनदेशितः, अस्यैव त्रिकालगोचरफलमाह–'सिद्धाः' पुरा अनन्तासूत्सर्पिण्यवसर्पिणीषु सिद्धयन्ति 'चः' समुच्चये महाविदेहे इहापि वा तत्कालापेक्षया 'अनेन' इति ब्रह्मचर्यलक्षणेन धर्मेण सेत्स्यन्ति तथा 'परे' अन्येऽनन्तायामनागताद्धायामिति सूत्रार्थः ॥ 'इति' परिसमाप्तौ ब्रवीमीति पूर्ववत् । उक्तोऽनुगमः, सम्प्रति नयास्ते च पूर्ववत् ॥

॥ श्रीशान्त्याचार्यकृतायामुत्तराध्ययनटीकायां शिष्यहितायां षोडशमध्ययनं समाप्तमिति ॥

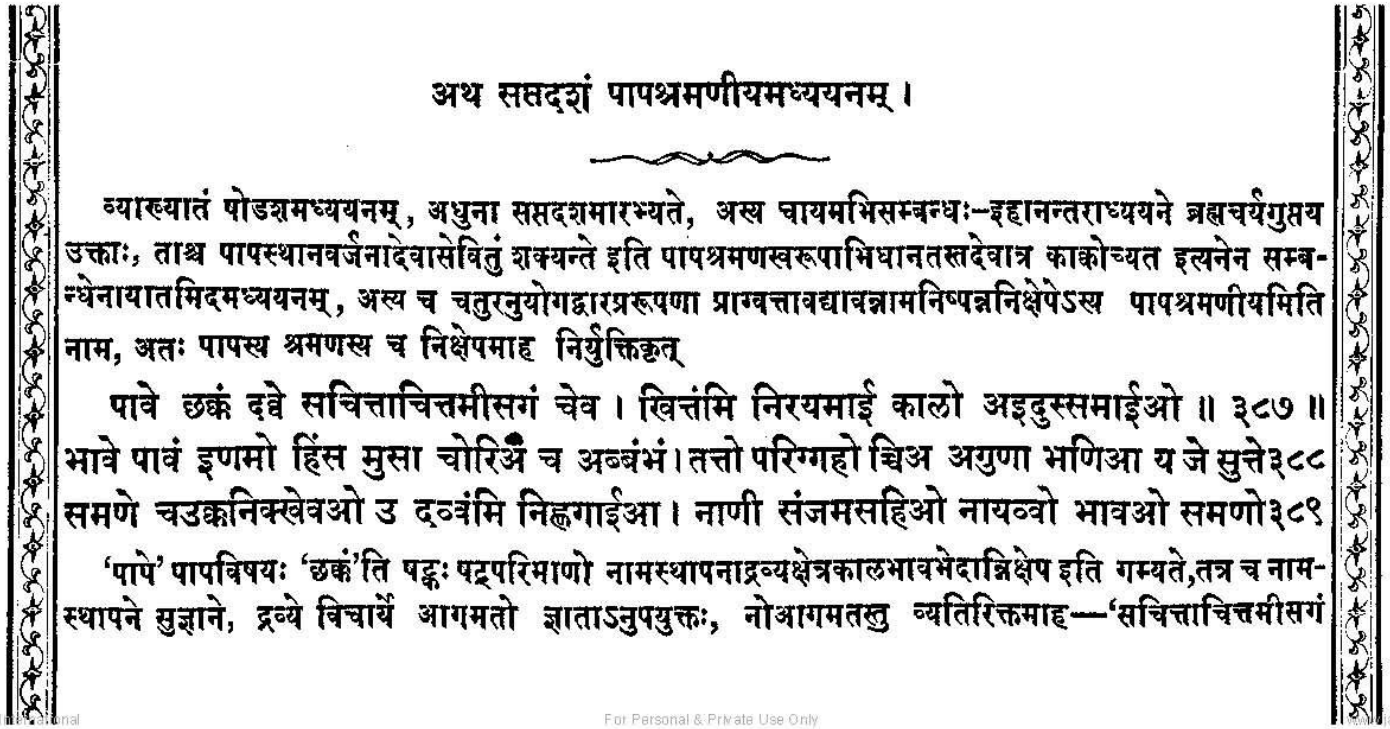
दशब्रह्मसमाधिः. १६ ॥४३०॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्र अध्ययनं- १६ परिसमाप्तं

प्रत सूत्रांक ||१७||

दीप अनुक्रम [५३८]



अथ सप्तदशं पापश्रमणीयमध्ययनम् ।

व्याख्यातं षोडशमध्ययनम्, अधुना सप्तदशमारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः–इहानन्तराध्ययने ब्रह्मचर्यगुप्तय उक्ताः, ताश्च पापस्थानवर्जनादेवासेवितुं शक्यन्ते इति पापश्रमणस्वरूपाभिधानतस्तदेवात्र काक्वोच्यत इत्यनेन सम्बन्धेनायातमिदमध्ययनम्, अस्य च चतुरनुयोगद्वारप्ररूपणा प्राग्वत्तावद्यावन्नामनिष्पन्ननिक्षेपेऽस्य पापश्रमणीयमिति नाम, अतः पापस्य श्रमणस्य च निक्षेपमाह निर्युक्तिकृत्

पावे छक्कं दव्वे सचित्ताचित्तमीसगं चेव । खित्तंमि निरयमाई कालो अइदुस्समाईओ ॥ ३८७ ॥
भावे पावं इणमो हिंस मुसा चोरिअं च अब्बंभं। तत्तो परिग्गहो चिअ अगुणा भणिआ य जे सुत्ते३८८
समणे चउक्कनिक्खेवओ उ दव्वंमि निह्नगाईआ। नाणी संजमसहिओ नायव्वो भावओ समणो३८९

'पापे' पापविषयः 'छक्कं'ति षट्कः षट्परिमाणो नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावभेदान्निक्षेप इति गम्यते,तत्र च नामस्थापने सुज्ञाने, द्रव्ये विचार्ये आगमतो ज्ञाताऽनुपयुक्तः, नोआगमतस्तु व्यतिरिक्तमाह—'सचित्ताचित्तमीसगं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ अध्ययनं – १७ "पापश्रमणीय" आरभ्यते

*** मूल संपादने निर्युक्तिक्रमे किञ्चित् स्खलना संभाव्यते, यत् मया निर्युक्ति ||३८६|| न दृष्टं

प्रत सूत्रांक ॥१७॥

दीप अनुक्रम [५३८]

चेव'त्ति, इह च पापमिति योज्यते, प्राकृतत्वाच्चोभयत्र बिन्दुलोपः, तत्र सचित्तद्रव्यपापं—यद्विपदचतुष्पदापदेषु मनुष्यपशुवृक्षादिष्वसुन्दरम्, अचित्तद्रव्यपापं—तदेव जीवविप्रयुक्तं चतुरशीतिपापप्रकृतयो वा वक्ष्यमाणाः, मिश्रद्रव्यपापं—तथाविधद्विपदाद्येवाशुभवस्त्रादियुक्तं तत्शरीराणि वा जीववियुक्तैकदेशयुक्तानि, सन्ति हि जीवशरीरेष्वपि जीववियुक्ता नखकेशादयस्तदेकदेशाः, उक्तं हि–"[1]तस्सेव देसे चिए तस्सेव देसे अणुवचिए"त्ति, जीवप्रदेशापेक्षमेव हि तत्र चितत्वमनुपचितत्वं च विवक्षितं, पापप्रकृतियुक्तो वा जन्तुरेव मिश्रद्रव्यपापमुच्यते, 'चेवे'ति प्राग्वत्, क्षेत्रे विचार्ये 'पापं' नरकादिपापप्रकृत्युदयविषयभूतं यत्र तदुदयोऽस्ति, 'काल' इति कालपापं—दुष्षमादिको यत्र कालानुभावतः प्रायः पापोदय एव जन्तूनां जायते, आदिशब्दादन्यत्र वा काले यत्र कस्यचिज्जन्तोस्तदुदयः, भावे विचारयितुमुपक्रान्ते पापम् 'इदम्' अनन्तरमेव वक्ष्यमाणं 'हिंस'त्ति हिंसा प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं 'मृषा' असदभिधानं 'चौर्यं च' स्तैन्यम् 'अब्रह्म' मैथुनं ततः 'परिग्रहः' मूर्च्छात्मकः 'अपिः' समुच्चये 'चः' पूरणे 'गुणाः' सम्यग्दर्शनादयस्तद्विपक्षभूताः अगुणाः–मिथ्यात्वादयो दोषाः, नञो विपक्षेऽपि दर्शनादमित्रादिवत्, 'भणिताः' उक्ताः, 'तुः' समुच्चये व्यवहितक्रमश्च, अगुणाश्च ये 'सूत्रे' आगमे अन्यत्र इहैव वा प्रस्तुताध्ययने। 'श्रमणे' श्रमणविषयः 'चतुष्कनिक्षेपकः' नामादिः 'तुः' पूरणे नामस्थापने पूर्ववत्, द्रव्ये निह्नवादय एव निह्नवादिकाः

१ तस्यैव देशश्चितः तस्यैव देशोऽनुपचितः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१७॥

दीप अनुक्रम [५३८]

उक्तरूपाः 'ज्ञानी' प्रशंसायां मत्वर्थीयोत्पत्तेः प्रशस्तज्ञानवान् समिति–सम्यक् सदनुष्ठानप्रवृत्त्या यमनं—पापस्थानेभ्य उपरमणं संयमश्चारित्रमितियावत्तेन सहितः–युक्तः संयमसहितो ज्ञातव्यो भावतः श्रमण इति गाथात्रयार्थः ॥ सम्प्रति प्रस्तुते योजयन्नाह—

जे भावा अकरणिज्जा इहमज्झयणंमि वन्निअ जिणेहिं । ते भावे सेवंतो नायव्वो पावसमणोत्ति ३९०

ये 'भावाः' संसक्तापठनशीलतादयोऽर्थाः 'अकरणीयाः' कर्तुमनुचिताः 'इह' प्रस्तुतेऽध्ययने 'वन्निय'त्ति वर्णिताः प्ररूपिताः 'जिनैः' तीर्थकृद्भिस्तान् भावान् 'सेवमानः' अनुतिष्ठन् 'ज्ञातव्यः' अवबोद्धव्यः पापेन–उक्तरूपेणोपलक्षितः श्रमणः पापश्रमणः, इतिशब्दः पापश्रमणशब्दस्य स्वरूपपरामर्शक इति गाथार्थः ॥ एतद्विपरीतास्तु श्रमणाः, तेषां फलमाह—

एयाइं पावाइं जे खलु वज्जंति सुव्वया रिसओ । ते पावकम्ममुक्का सिद्धिमविग्घेण वच्चंति ॥ ३९१ ॥

'एतानि' एतदध्ययनोक्तानि 'पापानि' पापहेतुभूतानि शयालुतादीनि 'ये' इत्यनिर्दिष्टरूपाः 'खलुः' वाक्यालङ्कारे 'वर्जयन्ति' परिहरन्ति सुव्रता ऋषयः पूर्ववत्, ते पापं च तत्कर्म च पापकर्म तेन उपलक्षणत्वात्पुण्यकर्मणा च मुक्ताः–त्यक्ताः पापकर्ममुक्ताः 'सिद्धिं' सिद्धिगतिम् 'अविघ्नेन' अन्तरायाभावेन 'वच्चंति'त्ति 'व्रजन्ति' गच्छन्तीति गाथार्थः ॥ गतो नामनिष्पन्ननिक्षेपः, सम्प्रति सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१-२॥

दीप अनुक्रम [५३९--५४०]

जे केइ उ पव्वइए नियंठे, धम्मं सुणित्ता विणओववन्ने।
सुदुल्लहं लहिउं बोहिलाभं, विहरिज्ज पच्छा य जहासुहं तु ॥ १ ॥
सिज्जा दढा पाउरणं मि अत्थि, उप्पज्जई भुत्तु तहेव पाउं।
जाणामि जं वट्टइ आउसुत्ति!, किं नाम काहामि? सुएण भंते! ॥ २ ॥

'यः कश्चित्' इत्यविवक्षितविशेषः 'तुः' पूरणे, पठन्ति च—'जे के इम'त्ति, तत्र च 'इमे'त्ति अयं 'प्रव्रजितः' निष्क्रान्तः निर्ग्रन्थः प्राग्वत्, कथं पुनरयं प्रव्रजित इत्याह–'धर्मं' श्रुतचारित्ररूपं 'श्रुत्वा' निशम्य विनयेन–ज्ञानदर्शनचारित्रोपचारात्मकेनोपपन्नो–युक्तो विनयोपपन्नः सन् 'सुदुर्लभम्' अतिशयदुष्प्रापं 'लभिउं'ति लब्ध्वा 'बोधिलाभं' जिनप्रणीतधर्मप्राप्तिरूपम्, अनेन भावप्रतिपत्त्याऽसौ प्रव्रजित इत्युक्तं भवति, स किमित्याह–'विहरेत्' चरेत्, 'पश्चात्' प्रव्रजनोत्तरकालं 'चः' पुनरर्थो विशेषद्योतकस्ततश्च प्रथमं सिंहवृत्त्या प्रव्रज्य पश्चात्पुनः 'यथासुखं' यथा यथा विकथादिकरणलक्षणेन प्रकारेण सुखमात्मनोऽवभासते तुशब्दस्यैवकारार्थत्वाद्यथासुखमेव शृगालवृत्त्यैव विहरेदित्यर्थः, उक्तं हि–"[1]सीहत्ताए णिक्खंतो सीयालत्ताए विहरति"त्ति, स च गुरुणाऽन्येन वा हितैषिणाऽध्ययनं प्रति प्रेरितो यद्वक्ति तदाह—'शय्या' वसतिः 'दृढा' वातातपजलाद्युपद्रवैरनभिभाव्या, तथा 'प्रावरणं' वर्षाकल्पादि

१ सिंहतया निष्क्रान्तः शृगालतया विहरति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१-२॥

दीप अनुक्रम [५३९--५४०]

'मे' ममास्ति, किञ्च—'उत्पद्यते' जायते 'भोक्तुं' भोजनाय तथैव 'पातुं' पानाय यथाक्रममशनं पानं चेति शेषः, तथा 'जानामि' अवगच्छामि 'यद्वर्त्तते' यदिदानीमस्ति 'आयुष्मन्नि'ति प्रेरयितुरामन्त्रणमिति, एतस्माद्धेतोः किं नाम ?, न किञ्चिदित्यर्थः, 'काहामि'त्ति करिष्यामि 'श्रुतेन' आगमेनाधीतेनेत्यध्याहारः, 'भंते'त्ति पूज्यामन्त्रणम्, इह च प्रक्रमात्क्षेपे, अयं हि किलास्याशयो यथा ये भवन्तो भदन्ता अधीयन्ते तेऽपि नातीन्द्रियं वस्तु किञ्चनावबुध्यन्ते, किन्तु ?, साम्प्रतमात्रेक्षिण एव, तच्चैतावदस्माखेवमप्यस्ति, तत्किं हृदयगलतालुशोषविधायिनाऽधीतेनेति ?, एवमध्यवसितो यः स पापश्रमण इत्युच्यत इतीहापि सिंहावलोकितन्यायेन संबध्यत इति सूत्रद्वयार्थः ॥ किंच—

जे केइ उ पव्वईए, निद्दासीले पगामसो। भुचा पिचा सुहं सुअई, पावसमणित्ति वुचई ॥ ३ ॥

यः कश्चित्प्रव्रजितः 'निद्राशीलः' निद्रालुः 'प्रकामशः' बहुशो 'भुक्त्वा' दध्योदनादि 'पीत्वा' तक्रादि 'सुखं' यथा भवत्येवं सकलक्रियानुष्ठाननिरपेक्ष एव 'स्वपिति' शेते, पठ्यते च–'वसइ'त्ति 'वसति' आस्ते ग्रामादिषु, स इत्थम्भूतः किमित्याह–पापश्रमण इति 'उच्यते' प्रतिपाद्यत इति सूत्रार्थः ॥ इत्थं न केवलमनधीयान एव पापश्रमण उच्यते, किन्तु—

आयरियउवज्झाएहिं, सुअं विणयं च गाहिए। ते चेव खिंसई बाले, पावसमणित्ति वुचई ॥ ४ ॥

आचार्योपाध्यायैः 'श्रुतम्' आगममर्थतः शब्दतश्च 'विनयं च' उक्तरूपं 'ग्राहितः' शिक्षितो यैरिति गम्यते

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४॥

दीप अनुक्रम [७४२]

'तानेव' आचार्यादीन् 'खिंसति' निन्दति 'बालः' विवेकविकलो गम्यमानत्वाद्यः स पापश्रमण इत्युच्यत इति सूत्रार्थः ॥ इत्थं ज्ञानाचारनिरपेक्षं पापश्रमणमभिधाय दर्शनाचारनिरपेक्षं तमेवाह—

आयरियउवज्झायाणं, सम्मं नो पडितप्पई। अप्पडिपूअए थद्धे, पावसमणित्ति वुच्चई ॥ ५ ॥

आचार्योपाध्यायानां 'सम्यग्' अवैपरीत्येन 'न परितप्यते' न तत्तस्मिं विधत्ते, दर्शनाचारान्तर्गतवात्सल्यविरहितो न तत्कार्येष्वभियोगं विधत्त इति भावः, 'अप्रतिपूजकः' प्रस्तावादर्हदादिषु यथोचितप्रतिपत्तिपराङ्मुखः 'स्तब्धः' गर्वाध्मातः केनचित्प्रेर्यमाणोऽपि न तद्वचनतः प्रवर्त्तते यः स पापश्रमण इत्युच्यत इति सूत्रार्थः ॥ सम्प्रति चारित्राचारविकलं तमेवाह—

संमद्दमाणे पाणाणि, बीयाणि हरियाणि य। असंजए संजय मन्नमाणे, पावसमणित्ति वुच्चई ॥ ६ ॥ संथारं फलगं पीढं, निसिज्जं पायकंबलं। अप्पमज्जियमारुहई, पावसमणित्ति वुच्चई ॥ ७ ॥ दवदवस्स चरई, पमत्ते अ अभिक्खणं। उल्लंघणे अ चंडे अ, पावसमणित्ति वुच्चई ॥८॥ पडिलेहेइ पमत्तो, अवउज्झइ पायकंबलं। पडिलेहाअणाउत्ते, पावसमणित्ति वुच्चई ॥ ९ ॥ पडिलेहेइ पमत्ते, से किंचि हु निसामिआ। गुरुं परिभावए निच्चं, पावसमणित्ति वुच्चई ॥ १० ॥ बहुमाई पमुहरी, थद्धे लुद्धे अणिग्गहे। असंविभागी अचियत्ते, पावसमणित्ति वुच्चई ॥११॥ विवायं च उदीरेइ, अधम्मे अत्तपण्हहा। वुग्गहे कलहे रत्ते, पावसमणित्ति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||६-१४||

दीप अनुक्रम [५४४--५५२]

वुचई ॥ १२ ॥ अथिरासणे कुक्कुईए, जत्थ तत्थ निसीअई । आसणंमि अणाउत्ते, पावसमणित्ति वुचई॥१३॥ ससरक्खपाओ सुअई, सिज्जं न पडिलेहई । संथारए अणाउत्तो, पावसमणित्ति वुचई ॥ १४ ॥

'संमर्दन्' हिंसन् 'प्राणानि'ति प्राणयोगात् प्राणिनः–द्वीन्द्रियादीन् 'बीजानि' शाल्यादीनि 'हरितानि च' दूर्वाऽङ्कुरादीनि, सकलैकेन्द्रियोपलक्षणमेतत्, स्पष्टतरचैतन्यलिङ्गत्वाच्चैतदुपादानम्, अत एवासंयतस्थाऽपि 'संजय मन्नमाणे'त्ति सोपस्कारत्वात्संयतोऽहमिति मन्यमानः, अनेन च संविग्नपाक्षिकत्वमप्यस्य नास्तीत्युक्तं, पापश्रमण इत्युच्यते ॥ तथा 'संस्तारं' कम्बल्यादि 'फलकं' चम्पकपट्टादि 'पीठम्' आसनं 'निषद्यां' स्वाध्यायभूम्यादिकां यत्र निषद्यते 'पादकम्बलं' पादपुञ्छनम् 'अप्रमृज्य' रजोहरणादिनाऽसंशोध्य उपलक्षणत्वादप्रत्युपेक्ष्य च 'आरोहति' समाक्रामति यः स पापश्रमण इत्युच्यते ॥ तथा 'दवदवस्स'त्ति द्रुतं द्रुतं तथाविधालम्बनं विनाऽपि त्वरितं २ 'चरति' गोचरचर्यादिषु परिभ्राम्यति, 'प्रमत्तश्च' प्रमादवशगश्च भवतीति शेषः 'अभीक्ष्णं' वारं वारम् 'उल्लङ्घनश्च' बालादीनामुचितप्रतिपत्त्यकरणतोऽधःकर्त्ता 'चण्डश्च' क्रोधनः, यद्वा 'प्रमत्तः' अनुपयुक्त ईर्यासमितौ उल्लङ्घनश्च वत्सडिम्भादीनां चण्डश्चारभटवृत्त्याश्रयणतः, शेषं तथैव ॥ तथा 'प्रतिलेखयति' अनेकार्थत्वात्प्रत्युपेक्षते प्रमत्तः सन् 'अवउज्झइ'त्ति 'अपोज्झति' यत्र तत्र निक्षिपति, प्रत्युपेक्षमाणो वा अपोज्झति, न प्रत्युपेक्षत इत्यर्थः, किं तत् ?–पाद-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥६-१४॥

दीप अनुक्रम [५४४--५५२]

कम्बलं पात्रकम्बलं वा प्रतीतमेव, समस्तोपध्युपलक्षणं चैतत्, स एवं 'प्रतिलेखनाऽनायुक्तः' प्रत्युपेक्षानुपयुक्तः, शेषं तथैव ॥ तथा प्रतिलेखयति प्रमत्तः सन् 'किंचि हु'त्ति 'हुः' अपिशब्दार्थः, ततः किञ्चिदपि विकथादीति गम्यते, 'णिसामिअ'त्ति 'निशम्य' आकर्ण्य तत्राक्षिप्तचित्ततयेति भावः, 'गुरुपरिभासय'त्ति गुरुन् परिभाषते—विवदते गुरुपरिभाषकः, पाठान्तरतो गुरुपरिभावकः, 'नित्यं' सदा, किमुक्तं भवति ?–असम्यक्प्रत्युपेक्षमाणोऽन्यद्वा वितथमाचरन् गुरुभिश्चोदितस्तानेव विवदतेऽभिभवति वाऽसभ्यवचनैः, यथा–स्वयमेव प्रत्युपेक्षध्वं, युष्माभिरेव वयमित्थं शिक्षितास्ततो युष्माकमेवैष दोष इत्यादि, शेषं तथैव, गुरुपरिभाषकत्वं प्रमत्तत्वस्य च निशमनहेतुत्वं पूर्वस्माद्विशेष इति न पौनरुक्त्यम् ॥ किञ्च–'बहुमायी' प्रभूतवञ्चनाप्रयोगवान् प्रकर्षेण मुखरः प्रमुखरः स्तब्धो लुब्ध इति च प्राग्वत्, अविद्यमानो निग्रहः–इन्द्रियनोइन्द्रियनियन्त्रणात्मकोऽस्येत्यनिग्रहः, संविभजति–गुरुग्लानबालादिभ्य उचितमशनादि यच्छतीत्येवंशीलः संविभागी न तथा य आत्मपोषकत्वेनैव सोऽसंविभागी, 'अचियत्ते'ति गुर्वादिष्वप्रीतिमान्, शेषं पूर्ववत् ॥ अन्यच्च–विरूपो वादो विवादः–वाक्कलहस्तं 'चः' पूरणे 'उदीरेइ'त्ति कथञ्चिदुपशान्तमप्युत्त्रासनादिना वृद्धिं नयति, 'अधर्मः' अविद्यमानसदाचारः 'अत्तपण्हह'त्ति आत्मनि प्रश्नः आत्मप्रश्नस्तं हन्त्यात्मप्रश्नहाः, यदि कश्चित्परः पृच्छेत्–किं भवान्तरयायी आत्मा उत नेति ?, ततस्तमेव प्रश्नमतिवाचालतया हन्ति, यथा –नास्त्यात्मा प्रत्यक्षादिप्रमाणैरनुपलभ्यमानत्वात्, ततोऽयुक्तोऽयं प्रश्नः, सति हि धर्मिणि धर्माश्चिन्त्यन्त इति, पठ्यते

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥६-१४॥

दीप अनुक्रम [५४४--५५२]

च–'अत्तपण्णह'त्ति तत्र च आत्तां—सिद्धान्तादिश्रवणतो गृहीतामात्तां वा इहपरलोकयोः सद्बोधरूपतया हिता प्रज्ञाम्–आत्मनोऽन्येषां वा बुद्धिं कुतर्कव्याकुलीकरणतो हन्ति यः स आत्तप्रज्ञाहा आत्तप्रज्ञाहा वा, 'वुग्गहे'त्ति व्युद्ग्रहे दण्डादिघातजनिते विरोधे 'कलहे' तस्मिन्नेव वाचिके 'रक्तः' अभिष्वक्तः, शेषं प्राग्वत् ॥ अपरं च अस्थिरासनः, कुकुचः कुक्कुचो वा द्वयमपि पूर्ववत्, 'यत्र तत्र' इति संसक्तसरजस्कादावपीत्यर्थः 'निषीदति' उपविशति 'आसने' पीठादौ 'अनायुक्तः' अनुपयुक्तः सन्, शेषं प्राग्वत् ॥ तथा सह रजसा वर्त्तते इति सरजस्कौ तथाविधौ पादौ यस्य स तथा 'स्वपिति' शेते, किमुक्तं भवति ?–संयमविराधनां प्रत्यभीरुतया पादावप्रमृज्यैव शेते, तथा 'शय्यां' वसतिं न प्रतिलेखयति, उपलक्षणत्वान्न च प्रमार्जयति, 'संस्तारके' फलककम्बलादौ, सुप्त इति शेषः, 'अनायुक्तः' "[1]कुक्कुडिपायपसारण आयामेउं पुणोवि आउंटे" इत्याद्यागमार्थानुपयुक्तः, अन्यत्रतथैवेति सूत्रनवकार्थः ॥ इदानीं तपआचारातिक्रमतः पापश्रमणमाह—

दुद्धदहीविगईओ, आहारेइ अभिक्खणं। अरए अ तवोकम्मे, पावसमणित्ति वुच्चई ॥ १५ ॥ अत्थंतंमि य सूरंमि, आहारेइ अभिक्खणं। चोइओ पडिचोएइ, पावसमणित्ति वुच्चई ॥ १६ ॥ आयरियपरिच्चाई, परपासंडसेवए। गाणंगणिए दुब्भूए, पावसमणित्ति वुच्चई ॥ १७ ॥

१ कुक्कुटीवत्पादप्रसारणं आयम्य (विस्तार्य) पुनरपि आकुञ्चयेत्।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१५--१७॥

दीप अनुक्रम [५५३--५५५]

दुग्धं च–क्षीरं दधि च–तद्विकार एव दधिदुग्धे, सूत्रे च व्यत्ययः प्राग्वद्, विकृतिहेतुत्वाद्विकृती, उपलक्षणत्वाद् घृताद्यशेषविकृतिपरिग्रहः, 'आहारयति' अभ्यवहरति 'अभीक्ष्णं' वारं वारं, तथाविधपुष्टालम्बनं विनाऽपीति भावः, अत एव 'अरतश्च' अप्रीतिमांश्च 'तपःकर्मणि' अनशनादौ, शेषं प्राग्वत् ॥ अपि च–'अत्थंतमि य' त्ति 'अस्तान्ते' अस्तमयपर्यन्ते, 'चः' पूरणे, उदयादारभ्येति गम्यते, 'सूर्ये' भास्वति आहारयत्यभीक्ष्णं, किमुक्तं भवति ?–प्रातरारभ्य सन्ध्यां यावत्पुनः पुनर्भुङ्क्ते, यदिवा 'अत्थंतमयंमि य'त्ति अस्तमयति सूर्ये आहारयति, तिष्ठति तु किमुच्यते ? इति भावः, किमेकदैवेत्याह—'अभीक्ष्णं' पुनः पुनः, दिने दिने इत्युक्तं भवति, यदि चासौ केनचिद्गीतार्थसाधुना चोद्यते, यथा–आयुष्मन् ! किमेवं त्वयाऽऽहारतत्परेणैव स्थीयते ?, दुर्लभा खल्वियं मनुजत्वादिचतुरङ्गसामग्री, तत एनामवाप्य तपस्येवोद्यन्तुमुचितमिति, ततः किमित्याह—'चोइओ पडिचोएइ'त्ति चोदितः सन् प्रतिचोदयति यथा कुशलस्त्वमुपदेशकर्मणि न तु स्वयमनुष्ठाने, अन्यथा किमेवमवगच्छन्नपि भवान्न विकृष्टं तपोऽनुतिष्ठति ?, शेषं तथैव । 'आचार्यपरित्यागी' ते हि तपःकर्मणि विषीदन्तमुद्यमयन्ति, आनीतमपि चान्नादि बालग्लानादिभ्यो दापयन्त्यतोऽतीवाहारलौल्यात्तत्परित्यजनशीलः परान्—अन्यान् पाषण्डान्–सौगतप्रभृतीन् 'मृद्वी शय्या प्रातरुत्थाय पेया' इत्यादिकदभिप्रायतोऽत्यन्तमाहारप्रसक्तांस्तत एव हेतोः सेवते–तथा तथाऽपसर्पतीति परपाषण्डसेवकः, तथा च स्वेच्छाप्रवृत्ततया 'गाणंगणिए'त्ति गणाद्गणं षण्मासाभ्यन्तर एव संक्रामतीति गाणङ्गणिक इत्या-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१५--१७॥

दीप अनुक्रम [५५३--५५५]

गमिकी परिभाषा, तथा चागमः—"छम्मासऽब्भंतरतो गणा गणं संकमं करेमाणो " इत्यादि, अत एव च 'दुर्निन्दायां', ततश्च 'दुः' इति निन्दितं भूतं–भवनमस्येति दुर्भूतः, दुराचारतया निन्द्यो भूत इत्यर्थः, अपरं तथैवेति सूत्रत्रयार्थः ॥ सम्प्रति वीर्याचारविरहितस्तमेवाह—

सयं गेहं परिचज्ज, परगेहंसि वावरे । निमित्तेण य ववहरई, पावसमणित्ति वुच्चई ॥ १८ ॥
संनाइपिंडं जेमेइ, नेच्छई सामुदाणियं । गिहिनिसिज्जं च वाहेइ, पावसमणित्ति वुच्चई ॥ १९ ॥

स्वमेव स्वकं, निजकमित्यर्थः, 'गेहं' गृहं 'परित्यज्य' परिहृत्य प्रव्रज्याङ्गीकरणतः 'परगेहे' अन्यवेश्मनि 'वावरे'त्ति व्याप्रियते–पिण्डार्थी सन् गृहिणामासभावं दर्शयन् स्वतस्तत्कृत्यानि कुरुते, पठ्यते च–'ववहरे'त्ति तत एव हेतोर्व्यवहरति–गृहिनिमित्तं क्रयविक्रयव्यवहारं करोति, 'निमित्तेन च' शुभाशुभसूचकेन 'व्यवहरति' द्रव्यार्जनं करोति, अपरं च पूर्ववत् । अपि च–'सन्नाय'त्ति स्वज्ञातयः–स्वकीयस्वजनास्तैर्निजक इति यथेप्सितो यः स्निग्धमधुरादिराहारो दीयते स स्वज्ञातिपिण्डस्तं 'जेमति' भुङ्क्ते, 'नेच्छति' नाभिलषति समुदानानि—भिक्षास्तेषां समूहः सामुदानिकम्, 'अचित्त हस्तिधेनोष्ठक्' (पा० ४–२–४७) इति ठक्, बहुगृहसम्बन्धिनं भिक्षासमूहमज्ञातोञ्छमितियावत्, गृहिणां निषद्या–पर्यङ्कतूल्यादिका शय्या तां च 'वाहयति'त्ति सुखशीलतयाऽऽरोहति, शेषं तथैवेति सूत्रद्वयार्थः ॥ सम्प्रत्यध्ययनार्थमुपसंहरन्नुक्तरूपदोषासेवनपरिहारयोः फलमाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१९--२१॥

दीप अनुक्रम [५५७--५५९]

एयारिसे पंचकुसीलसंवुडे, रूवंधरे मुणिपवराण हिट्ठिमे। अयंसि लोए विसमेव गरहिए, न से इहं नेव परत्थलोए ॥ २० ॥ जे वज्ज एए उ सदा उ दोसे, से सुव्वए होइ मुणीण मज्झे। अयंसि लोए अमयं व पूइए, आराहए दुहओ लोगमिणं ॥ २१ ॥ तिबेमि ॥

॥ पावसमणिज्जं ॥ १७ ॥

'एतादृशः' यादृश उक्तः 'पञ्चे'ति पञ्चसङ्ख्यः कुत्सितं शीलमेषां कुशीलाः–पार्श्वस्थादयः समाहृताः पञ्चकुशीलं तद्वदसंवृतः–अनिरुद्धाश्रवद्वारः पञ्चकुशीलासंवृतो रूपं–रजोहरणादिकं वेषं धारयति रूपधरः सूत्रे तु प्राकृतत्वाद्विन्दुनिर्देशः, 'मुनिप्रवराणाम्' अतिप्रधानतपस्विनां 'हिट्ठिमो' अधस्ताद्वर्त्ती, अतिजघन्यसंयमस्थानवर्त्तित्वान्निकृष्ट इत्यर्थः। एतत्फलमाह–'अयंसि'त्ति अस्मिन् 'लोके' जगति 'विषमिव'त्ति गर इव 'गर्हितः' निन्दितो, भ्रष्टप्रतिज्ञो हि प्राकृतजनैरपि निन्द्यते धिगेनमिति, अत एव न स 'इह' इतीह लोके 'नैवे'ति नापि परत्र लोके, परमार्थतः सन्निति शेषः, यो हि नैहिकमामुष्मिकं वा कञ्चन गुणमुपार्जयति स तदूणनायामप्रवेशतस्तत्त्वतोऽविद्यमान एवेति। यः 'वर्जयति' परित्यजति 'एतान्' उक्तरूपान् 'सया उ'त्ति सदैव दोषान् यथासुखविहारादिपापानुष्ठानरूपान् स तथाविधः 'सुव्रतः' निरतिचारतया प्रशस्यव्रतो भवति मुनीनां मध्ये, किमुक्तं भवति?–भावमुनित्वेनासौ मुनि-

॥४३६॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१९--२१॥

दीप अनुक्रम [५५७--५५९]

मध्ये गण्यते, तया चाऽस्मिन् लोके 'अमृतमिव' सुरभोज्यमिव 'पूजितः' अभ्यर्हित आराधयति 'दुहतो लोगमिणं'-ति इहलोकपरलोकभेदेन द्विविधं लोकम् 'इणं'ति इममनेन चातिप्रतीततया प्रत्यक्षं निर्दिशतीति, इहलोके च सकल-लोकपूज्यतया परलोके च सुगत्यवाप्तेः, ततः पापवर्जनमेव विधेयमिति भाव इति सूत्रद्वयार्थः ॥ 'इति' परिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत्, नया अपि तथैव ॥ इति श्रीशान्त्याचार्यकृतायामुत्तराध्ययनटीकायां शिष्यहितायां सप्तदशम-ध्ययनं समाप्तमिति ॥

॥ इति श्रीशान्त्याचार्यकृतायां शिष्यहितायामुत्तराध्ययनटी० सप्तदशमध्ययनं समाप्तम् ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्र अध्ययनं- १७ परिसमाप्तं

प्रत सूत्रांक ||१९--२१||

दीप अनुक्रम [५५७--५५९]

अथ संयतीयाख्यमष्टादशमध्ययनम् ।

उक्तं सप्तदशमध्ययनम्, अधुनाऽष्टादशमारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः, इहानन्तराध्ययने पापवर्जनमुक्तं, तच्च संयतस्यैव, स च भोगर्द्धित्यागत एवेति स एव संजयोदाहरणत इहोच्यत इत्यनेन सम्बन्धेनायातमिदमध्ययनम्, अस्य च चतुरनुयोगद्वारप्ररूपणा प्राग्वद्यावन्नामनिष्पन्ननिक्षेपे संजयीयमिति नाम, ततः सञ्जयशब्दनिक्षेपायाह निर्युक्तिकृत्—

निक्खेवो संजइज्जंमि चउ० ॥ ३९२ ॥ जाणगसरीरभविए० ॥ ३९३ ॥

संजयनामं गोयं वेयंतो भावसंजओ होइ । तत्तो समुट्ठियमिणं अज्झयणं संजइज्जंति ॥ ३९४ ॥

गाथात्रयं व्याख्यातप्रायं, नवरं 'णिक्खेवो संजइज्जंमि'त्ति 'निक्षेपः' न्यासः सञ्जयीयाध्ययने अर्थात्सञ्जयस्येति गम्यते । तथा च तृतीयगाथायां 'संजयनामं गोयं वेयंतो' इत्युक्तं 'तत' इति सञ्जयादभिधेयभूतात् 'समुत्थितम्' उत्पन्नम् इदं अध्ययनं सञ्जयीयमिति, तस्माद्धेतोरुच्यत इति गाथात्रयार्थः । इत्युक्तो नामनिष्पन्ननिक्षेपः, सम्प्रति सूत्रालापकनिष्पन्नस्यावसरः, स च सूत्रे सति भवत्यतः सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्— ||४३७||

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ अध्ययनं – १८ "संजयिय" आरभ्यते

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [५६०]

कंपिल्ले नयरे राया, उदिन्नबलवाहणे । नामेणं संजओ नाम, मिगव्वं उवनिग्गए ॥ १ ॥

काम्पिल्ये नगरे 'राजा' नृपतिरुदीर्णम्–उदयप्राप्तं बलं–चतुरङ्गं वाहनं च–गिल्लिथिल्ल्यादिरूपं यस्य सोऽयमुदीर्णबलवाहनः, यद्वा बलं–शरीरसामर्थ्यं वाहनं–गजाश्वादि, पदात्युपलक्षणं चैतत्, स च 'नाम्ना' अभिधानेन सञ्जयः 'नाम' इति प्राकाश्ये, ततोऽयमर्थः–संजय इति नाम्ना प्रसिद्धो, मृगव्यां–मृगयां प्रतीति शेषः, उप—सामीप्येन निर्गतो–निष्क्रान्त उपनिर्गतस्तत एव नगरादिति शेष इति सूत्रार्थः ॥ स च कीदृग् विनिर्गतः किं च कृतवानित्याह–

हयाणीए गयाणीए, रहाणीए तहेव य । पायत्ताणीए महया, सव्वओ परिवारिए ॥ २ ॥

मिए छुभित्ता हयगओ, कंपिल्लुज्जाणकेसरे । भीए संते मिए तत्थ, वहेइ रसमुच्छिए ॥ ३ ॥

पाठसिद्धं, नवरं पदातीनां समूहः पादातं तस्यानीकं–कटकं पादातानीकं तेन, सुब्व्यत्ययः प्राग्वत्, एवं पूर्वेष्वपि, 'महता' बृहत्प्रमाणेन मृगान् क्षिप्त्वा 'कंपिल्लुज्जाणकेसरि'त्ति तस्यैव काम्पील्यस्य नगरस्य सम्बन्धिनि केशरनाम्न्युद्याने 'भीतान्' त्रस्तान् सतो 'मितान्' परिमितान् 'तत्र' तेषु मृगेषु मध्ये 'वहेइ'त्ति व्यथति हन्ति वा, शरैरिति गम्यते, रसः–तत्पिशिताास्वादस्तत्र मूर्च्छितो–गृद्धो रसमूर्छित इति सूत्रद्वयार्थः ॥ अमुमेवार्थं सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्या स्पष्टयितुमाह—

कंपिल्लपुरवरंमि अ नामेणं संजओ नरवरिंदो । सो सेणाए सहिओ नासीरं निग्गओ कयाइ ॥३९५॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३॥

दीप अनुक्रम [५६२]

हयमारूढो राया मिए छुहित्ताण केसरुज्जाणे । ते तत्थ उ उत्तत्थे वहेइ रसमुच्छिओ संतो ॥ ३९६ ॥

गाथाद्वयं प्रतीतमेव, नवरमिह नासीरं—मृगयां प्रति 'उत्रस्तान्' अतिभीतानिति गाथाद्वयार्थः ॥ अत्रान्तरे यदभूत्तदाह सूत्रकृत्—

अह केसरंमि उज्जाणे, अणगारे तवोधणे । सज्झायझाणजुत्तो, धम्मज्झाणं झियायइ ॥ ४ ॥
अप्फोवमंडवंमी, झायई झवियासवे । तस्सागए मिए पासं, वहेइ से नराहिवे ॥ ५ ॥

'अथ' अनन्तरं केशरे उद्यानेऽनगारस्तपोधनः स्वाध्यायः–अनुप्रेक्षणादिर्ध्यानं–धर्मध्यानादि ताभ्यां युक्तो–यथाकालं तदासेवकतया सहितः स्वाध्यायध्यानयुक्तोऽत एव 'धर्मध्यानम्' आज्ञाविजयादि 'झियायइ'त्ति ध्यायति चिन्तयति, क ?—'अप्फोवमंडवंमि'त्ति अप्फोवमण्डवमिति वृक्षाद्याकीर्णे, तथा च वृद्धाः–अप्फोव इति, किमुक्तं भवति ?—आस्तीर्णे, वृक्षगुच्छगुल्मलतासंछन्न इत्यर्थः, 'मण्डपे' नागवल्यादिसम्बन्धिनि ध्यायति धर्मध्यानमिति गम्यते, पुनरभिधानमतिशयख्यापकं, झवियासवे–क्षपिता निर्मूलिता आश्रवाः–कर्मबन्धहेतवो हिंसादयो येन स तथा, 'तस्य' इत्युक्तविशेषणान्वितस्यानगारस्य 'पार्श्वे' समीपमिति सम्बन्धः, 'आगतान्' प्राप्तान् मृगान् 'वहेइ'त्ति विध्यति हन्ति वा 'स' इति सञ्जयनामा 'नराधिपः' राजेति सूत्रद्वयार्थः ॥ अमुमेवार्थं सविशेषमाह निर्युक्तिकृत्—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥५॥

दीप अनुक्रम [५६४]

अह केसरमुज्जाणे नामेणं गद्दभालि अणगारो। अप्फोवमंडवंमि अ झायइ झाणं झविअदोसो ॥ ३९७ ॥

अहेति गाथा व्याख्यातप्रायैव, नवरं 'नाम्ना' अभिधानेन गर्दभालि–गर्दभालिनामेत्यर्थः, 'झविय'त्ति क्षपिता दोषाः—कर्माश्रवहेतुभूता हिंसादयो येन स तथा ॥ पुनस्तत्र यदभूत्तदाह—

अह आसगओ राया, खिप्पमागम्म सो तहिं। हए मिए उ पासित्ता, अणगारं तत्थ पासई ॥ ६ ॥

'अथ' अनन्तरम् 'अश्वगतः' तुरगारूढो राजा 'क्षिप्रं' शीघ्रमागत्य 'स' इति सञ्जयनामा 'तस्मिन्' यत्र मण्डपे स भगवान् ध्यायति, 'हतान्' विनाशितान् मृगान् तुशब्द एवकारार्थस्ततो मृगानेव, न पुनरनगारमित्यर्थः, 'पासित्त'त्ति दृष्ट्वा 'अनगारं' साधुं 'तत्र' इति तस्मिन्नेव स्थाने पश्यतीति सूत्रार्थः ॥ ततः किमसावकार्षीदित्याह—

अह राया तत्थ संभंतो, अणगारो मणाऽऽहओ। मए उ मंदपुण्णेणं, रसगिद्धेण घंतुणा ॥७॥ आसं विसज्जइत्ताणं, अणगारस्स सो निवो। विणएणं वंदई पाए, भगवं! इत्थ मे खमे ॥ ८ ॥ अह मोणेण सो भगवं, अणगारो झाणमस्सिओ। रायाणं न पडिमंतेइ, तओ राया भयदुओ ॥ ९ ॥ संजओ अहमस्सीति, भगवं! वाहिराहि मे। कुद्धे तेएण अणगारे, दहिज्जा नरकोडिओ ॥ १० ॥

अथ राजा 'तत्रे'ति तद्दर्शने सति 'संभ्रान्तः' भयव्याकुलो, यथाऽनगारो–मुनिर्मनागिति–स्तोकेनैव 'आहतः' विनाशितः, तदासन्नमृगहननादित्यभिप्रायः, मया तु मन्दपुण्येन 'रसगृद्धेन' रसमूर्छितेन 'घंतुण'त्ति घातुकेन हनन-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥७-१०॥

दीप अनुक्रम [५६६--५६९]

उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥४३९॥

शीलेनेत्यर्थः ॥ ततश्च 'अश्वं' तुरगं 'विसृज्य' विमुच्य 'णं' प्राग्वत्, 'अनगारस्य' उक्तस्यैव 'सः' सञ्जयनामा नृपः 'विनयेन' उचितप्रतिपत्तिरूपेण 'वन्दते' स्तौति 'पादौ' चरणौ, अत्यादरख्यापकं चैतत्, पादावपि तस्य भगवतः स्तवनीयाविति, वक्ति च–यथा भगवन्! 'अत्र' एतस्मिन् मृगव्ये, मम अपराधमिति शेषः, 'क्षमस्व' सहस्व ॥ 'अथ' इत्यनन्तरं 'मौनेन' वाग्निरोधात्मकेन 'सो'त्ति स गर्दभालिनामा भगवान् अनगारः 'ध्यानं' धर्मध्यानम् 'आश्रितः' स्थितः 'राजानं' नृपं 'न प्रतिमन्त्रयते' न प्रतिवक्ति यथाऽहं क्षमिष्ये न वेति, 'ततः' तत्प्रतिवचनाभावतोऽवश्यमयं क्रुद्ध इति न किमपि मां प्रभाषते इति राजा 'भयद्रुतः' अतीव भयत्रस्तो, यथा न ज्ञायते किमसौ क्रुद्धः करिष्यतीति, उक्तवांश्च यथा– ॥ 'सञ्जयः' सञ्जयनामा राजाऽहमस्मि, मा भून्नीच एवायमिति सुतरां कोप इत्येतदभिधानमिति, 'इति' अस्माद्धेतोर्भगवन्! 'वाहराहि'त्ति व्याहर–संभाषय 'मे' इति सुव्व्यत्ययान्माम्, अथापि स्यात्–किमेवं भवान् भयद्रुत इत्याह–'क्रुद्धः' कुपितः 'तेजसा' तपोमाहात्म्यजनितेन तेजोलेश्यादिना 'अनगारः' मुनिः 'दहेत्' भस्मसात्कुर्यात् नरकोटीः, आस्तां शतं सहस्रं वेति, अतोऽत्यन्तभयद्रुतोऽहमिति सूत्रचतुष्टयार्थः ॥ इदमेव व्यक्तीकर्त्तुमाह निर्युक्तिकृत्—

अह आसगओ राया तं पासिअ संभमागओ तत्थ। भणइ अ हा जह इंपिंह इसिवज्झाए मणा लित्तो ३९८

संयतीया-ध्य. १८ ॥४३९॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥७-१०॥

दीप अनुक्रम [५६६--५६९]

वीसज्जिऊण आसं अह अणगारस्स एइ सो पासं । विणएण वंदिऊणं अवराहं ते खमावेइ ॥ ३९९ ॥ अह मोणमस्सिओ सो अणगारो नरवइं न वाहरइ । तस्स तवतेयभीओ इणमट्ठं सो उदाहरइ ४०० कंपिल्लपुराहिवई नामेणं संजओ अहं राया । तुज्झ सरणागओऽम्हि निद्दहिहा मा मि तेएणं ॥ ४०१ ॥

गाथाचतुष्टयं स्पष्टमेव, नवरं तं पासिय 'संभमागतो'त्ति मुनिरत्र दृश्यत इत्यसावपि मया विद्धो भविष्यतीत्याकुलत्वमापन्नो, 'भणति च' वक्ति च 'हा' इति खेदे यथेदानीं 'इसिवज्झाए'त्ति ऋषिहत्यया मनागपि लिप्तोऽहं–स्वल्पेनैव न स्पृष्टः 'तुब्भ'त्ति तव 'शरणागतोऽस्मि' त्वामेव शरणम्–आश्रयं प्रतिपन्नोऽस्मि, ततश्च निर्दहीः 'मा' निषेधे 'मि' इति मां 'तेजसा' तपोजनितेनेति गम्यते, इति गाथाचतुष्टयार्थः ॥ इत्थं तेनोक्ते यन्मुनिरुक्तवांस्तदाह–

अभओ पत्थिवा ! तुज्झं, अभयदाया भवाहि य । अणिच्चे जीवलोगंमि, किं हिंसाए पसज्जसि ? ॥ ११ ॥ जया सव्वं परिच्चज्ज, गंतव्वमवसस्स ते । अणिच्चे जीवलोगंमि, किं रज्जंमि पसज्जसि ? ॥ १२ ॥ जीवियं चेव रूवं च, विज्जुसंपायचंचलं । जत्थ तं मुज्झसी रायं !, पेच्चत्थं नावबुज्झसी ॥ १३ ॥ दाराणि य सुया चेव, मित्ता य तह बंधवा । जीवंतमणुजीवंति, मयं नाणुव्वयंति य ॥ १४ ॥ नीहरंति मयं पुत्ता, पियरं परमदुक्खिया । पियरो अ तहा पुत्ते, बंधू रायं ! तवं चरे ॥ १५ ॥ तओ तेणऽज्जिए दव्वे, दारे य परिरक्खिए ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥११--१७॥

दीप अनुक्रम [५७०--५७६]

कीलंतऽन्ने नरा रायं !, हट्ठतुट्ठमलंकिया ॥ १६ ॥ तेणावि जं कयं कम्मं, सुहं वा जइ वा दुहं । कम्मुणा तेण संजुत्तो, गच्छई उ परं भवं ॥ १७ ॥

'अभओ'त्ति अभयं–भयाभावः 'पार्थिव !' नृपते ! आकारोऽलाक्षणिकः, कस्य ?–'तुब्भं'ति तव, न कश्चित्त्वां दहतीति भावः, इत्थं समाश्वास्योपदेशमाह–'अभयदाता च' प्राणिनां त्राणकर्त्ता 'भवाहि य'त्ति भव, यथा हि भवतो मृत्युभयमेवमन्येषामपीति भावः, चशब्दो योजित एव, अमुमेवार्थं सहेतुकं व्यतिरेकद्वारेणाह—'अनित्ये' अशाश्वते 'जीवलोके' प्राणिगणे, किमिति परिप्रश्ने 'हिंसायां' प्राणिवधरूपायां 'प्रसजसि' अभिष्वक्तो भवसि ?, जीवलोकस्य ह्यनित्यत्वे भवानप्यनित्यस्तत्किमिति–केन हेतुना स्वल्पदिनकृते पापमित्थमुपार्जयसि ?, नैवेदमुचितमिति भावः ॥ इत्थं हिंसात्यागमुपदिश्य राज्यपरित्यागोपदेशमाह–यदा 'सर्वं' कोशान्तःपुरादि परित्यज्य–इहैव विमुच्य गन्तव्यं भवान्तरमिति शेषः, तदपि न स्ववशस्य किन्तु अवशस्य–अस्वतन्त्रस्य 'ते' तव, क्व सति ?–अनित्ये जीवलोके,ततः किं 'राज्ये' नृपतित्वे प्रसजसि ?, राज्यपरित्याग एव युक्त इति भावः, पाठान्तरतश्च किं हिंसायां प्रसजसि ?, इह च पुनर्वचनमादरातिशयख्यापनार्थमिति न पुनरुक्तता ॥ जीवलोकानित्यत्वमेव भावयितुमाह–'जीवितम्' आयुः 'चः' समुच्चये 'एवे'ति पूरणे 'रूपं च' पिशितादिपुष्टस्य शरीरशोभात्मकं विद्युतः संपातः–चलनचमत्कारो विद्युत्सम्पातस्तद्वच्चञ्चलम्–अतीवास्थिरं विद्युत्सम्पातचञ्चलं 'यत्र' जीविते रूपे च 'तं'ति त्वं 'मुह्यसि' मोहं विधत्से, मूढश्च हिंसादौ प्रस-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥११--१७॥

दीप अनुक्रम [५७०--५७६]

जसीति भावः, 'राजन्' नृपते ! 'प्रेत्यार्थं' परलोकप्रयोजनं नावबुध्यसे, किमुक्तं भवति ?–जानास्यपि न, किं पुनस्तत्करणमिति ॥ तथा 'दाराश्च' कलत्राणि प्राकृतत्वान्नपा निर्देशः, सुताश्चैव 'मित्राणि च' प्रतीतान्येव, तथा 'बान्धवाः' स्वजनाः जीवन्तम् 'अनुजीवन्ति' तदुपार्जितवित्तादुपभोगत उपजीवन्ति, मृतं 'णाणुवयंति य'त्ति चशब्दस्यापिशब्दार्थत्वादनुव्रजन्त्यपि न, किं पुनः सह यास्यन्तीति, तदनेन दारादीनामपि कृतघ्नतया न तेष्वास्थां विधाय धर्मे उदासितव्यमित्युक्तमिति, इदं च सूत्रं चिरन्तनवृत्तिकृता न व्याख्यातं, प्रत्यन्तरेषु च दृश्यत इत्यस्माभिरुन्नीतम् ॥ पुनस्तत्प्रतिबन्धनिराकरणायाह–'नीहरंति'त्ति निस्सारयन्ति 'मृतम्' इति गतायुषं 'पुत्राः' सुताः 'पितरं' जनकं 'परमदुःखिताः' अतिशयसञ्जातदुःखा अपि, किं पुनर्ये न तथा दुःखभाज इति भावः, पितरोऽपि तथा पुत्रान्, 'बंधु'त्ति बन्धवश्च बन्धूनिति शेषः, अतश्च किं कृत्यमित्याह–राजन्! तप उपलक्षणत्वाद्दानादि 'चरेः' आसेवस्वेति ॥ अपरञ्च 'ततो'त्ति मृतनिःसारणादनन्तरं 'तेन' इति मित्रपित्रादिना 'अर्जिते' विढपिते 'द्रव्ये' वित्ते 'दारेषु च' कलत्रेषु च 'परिरक्षितेषु' सर्वापायपरिपालितेषु, उभयत्रार्षत्वादेकवचनं, 'क्रीडन्ति' विलसन्ति तेनैव वित्तेन दारैश्चेति गम्यते 'अन्ये' अपरे राजन् ! 'हट्ठतुट्ठमलंकिय'त्ति हृष्टाः–बहिःपुलकादिमन्तः तुष्टाः–आन्तरप्रीतिभाजः 'अलङ्कृताः' विभूषिताः, यत ईदृशी भवस्थितिस्ततो राजन् ! तपश्चरेरिति मध्यदीपकत्वादनन्तरसूत्रोक्तेन सम्बन्धः ॥ मृतस्य च को वृत्तान्त इत्याह–'तेनापि' मृतेन यत् 'कृतम्' अनुष्ठितं कर्म 'शुभं वा' पुण्यप्रकृतिरूपं, यद्वा 'सुखं वा' सुखहेतुः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१८--१९॥

दीप अनुक्रम [५७७--५७८]

'यदिवे'त्यथवा 'दुःखं' दुःखहेतुः पापप्रकृत्यात्मकमित्यर्थः । कर्मणा तेन सुखहेतुना दुःखहेतुना वा, उत्तरत्र तुशब्दस्यैवकारार्थत्वाद् भिन्नक्रमत्वाच्च तेनैव, न तु दुःखपरिरक्षितेनापि द्रव्यादिना 'संयुक्तः' सहितः 'गच्छति' याति 'परम्' अन्यं 'भवं' जन्म, यतश्च शुभाशुभयोरेवानुयायिता ततः शुभहेतुं तप एव चरेरिति भाव इति सूत्रसप्तकार्थः ॥ ततस्तद्वचः श्रुत्वा राजा किमचेष्टतेत्याह—

सोऊण तस्स सो धम्मं, अणगारस्स अंतिए । महया संवेगनिव्वेयं, समावन्नो नराहिवो ॥ १८ ॥
संजओ चइउं रज्जं, निक्खंतो जिणसासणे । गद्दभालिस्स भगवओ, अणगारस्स अंतिए ॥ १९ ॥

'श्रुत्वा' आकर्ण्य 'तस्य' इत्यनगारस्य 'स' इति सञ्जयाभिधानो राजा 'धर्मम्' उक्तरूपम् 'अनगारस्य' भिक्षोः 'अन्तिके' समीपे 'महय'त्ति महता आदरेणेति शेषः, सुब्व्यत्ययेन वा महत्, 'संवेगनिर्वेदं' तत्र संवेगो–मोक्षाभिलाषो निर्वेदः–संसारोद्विग्नता 'समापन्नः' प्राप्तः 'नराधिपः' राजा 'सञ्जयः' सञ्जयनामा 'चइउं' त्यक्त्वा 'राज्यं' राष्ट्राधिपत्यरूपं 'निष्क्रान्तः' प्रव्रजितः 'जिनशासने' अर्हद्दर्शने, न तु सुगतादिदेशितेऽसद्दर्शने एवेति भावः, 'गर्दभालेः' गर्दभालिनाम्नो भगवतोऽनगारस्यान्तिक इति सूत्रद्वयार्थः ॥ सूत्रनवकोक्तमेवार्थं स्पष्टयितुमाह निर्युक्तिकृत्—

अभयं तुज्झ नरवई ! जलबुब्बुअसंनिभे अ माणुस्से । किं हिंसाइ पसज्जसि जाणंतो अप्पणो दुक्खं ? ४०१

॥४४१॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मूल संपादने स्खलन्त्वात् अत्र निर्युक्तिक्रम ॥४०१॥ द्वीवारान् मुद्रितं

प्रत सूत्रांक ॥१८--१९॥

दीप अनुक्रम [५७७--५७८]

सव्वमिणं चइऊणं अवस्स जया य होइ गंतव्वं। किं भोगेसु पसज्जसि ?, किंपागफलोवमनिभेसुं ॥४०२॥
सोऊण य सो धम्मं तस्सऽणगारस्स अंतिए राया। अणगारो पव्वइओ रज्जं चइउं गुणसमग्गं ॥४०३॥

व्याख्यातप्रायमेव, नवरं 'अप्पणो दुक्खं'ति आत्मनो दुःखमिति–दुःखजनकं मरणमिति शेषः, 'किंपागफलोपमनिभेसु'न्ति किम्पाकफलोपमा निभा–छाया येषां ते तथा आपातमधुरत्वपरिणतिदारुणत्वाभ्यां, तथा 'अनगारः' अविद्यमानगृहो, जात इति शेषः, स च शाक्यादिरपि संभवेदत आह–'पव्वइओ'त्ति प्रकर्षेण–विषयाभिष्वङ्गादिपरिहाररूपेण व्रजितो–निष्क्रान्तः प्रव्रजितो, भावभिक्षुरितियावत्, तथा गुणाः–कामगुणा मनोज्ञशब्दादय आज्ञैश्वर्यादयो वा तैः समग्रं–सम्पूर्णं गुणसमग्रमिति गाथात्रयार्थः ॥ स चैवं गृहीतप्रव्रज्योऽधिगतहेयोपादेयविभागो दशविधचक्रवालसामाचारीरतश्चानियतविहारितया विहरन् तथाविधसन्निवेशमाजगाम, तत्र च तस्य यदभूत्तदाह–

चिच्चा रट्ठं पव्वईओ, खत्तिओ परिभासई। जहा ते दीसई रूवं, पसन्नं ते तहा मणो ॥ २० ॥
किंनामे किंगुत्ते कस्सट्ठाए व माहणे?। कहं पडियरसी बुद्धे?, कहं विणीयत्ति वुच्चसि? ॥ २१ ॥

त्यक्त्वा 'राष्ट्रं' ग्रामनगरादिसमुदायं 'प्रव्रजितः' प्रतिपन्नदीक्षः 'क्षत्रियः' क्षत्रजातिरनिर्दिष्टनामा परिभाषते, सञ्जयमुनिमित्युपस्कारः, स हि पूर्वजन्मनि वैमानिक आसीत्, ततश्च्युतः क्षत्रियकुलेऽजनि, तत्र च कुतश्चित्तथाविध-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२०--२१॥

दीप अनुक्रम [५७९--५८०]

निमित्ततः स्मृतपूर्वजन्मा तत एव चोत्पन्नवैराग्यः प्रव्रज्यां गृहीतवान्, गृहीतप्रव्रज्यश्च विहरन् सञ्जयमुनिं दृष्ट्वा तद्विमर्शार्थमिदमुक्तवान्–यथा ते 'दृश्यते' अवलोक्यते 'रूपम्' आकृतिः 'प्रसन्नं' विकाररहितं 'ते' तव 'तथा' तेनैव प्रकारेण प्रसन्नमिति प्रक्रमः, किं तत् ?–'मनः' चित्तं, न ह्यन्तः कलुषतायां बहिरप्येवं प्रसन्नतासम्भवः, तथा 'किंनामा' किमभिधानः 'किंगोत्रः' किमन्वयः 'कस्सट्ठाए व'त्ति कस्मै वा 'अर्थाय' प्रयोजनाय 'माहणे'त्ति मा वधीत्येवंरूपं मनो वाक् क्रिया च यस्यासौ माहनः, सर्वे धातवः पचादिषु दृश्यन्त इति वचनात्पचादित्वादच्, स चैवंविधः प्रव्रजित एव संभवत्यतः किं वा प्रयोजनमुद्दिश्य प्रव्रजितः, 'कथं' केन प्रकारेण 'प्रतिचरसि' सेवसे, कान् ?–'बुद्धान्' आचार्यादीन्, कथं 'विणीय'त्ति 'विनीतः' विनयवानित्युच्यत इति सूत्रद्वयार्थः ॥ सञ्जयमुनिराह—

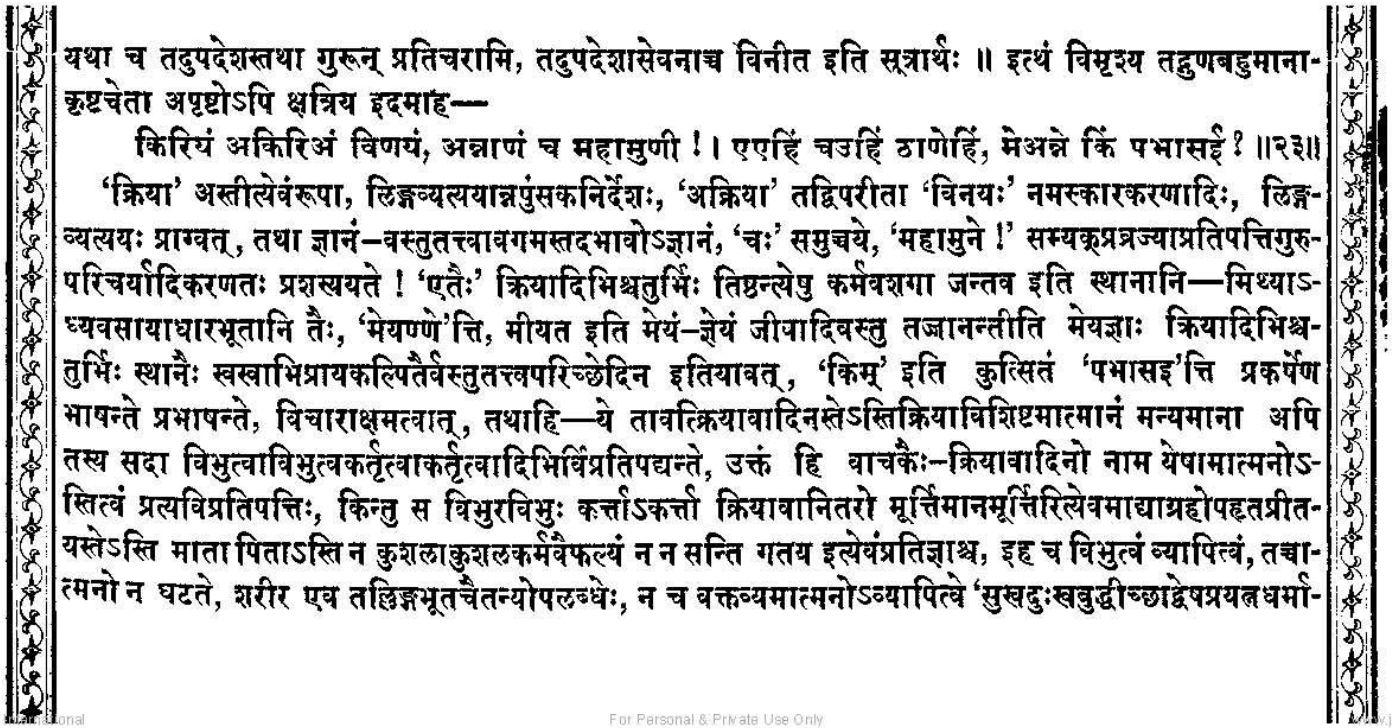
संजओ नाम नामेणं, तहा गुत्तेण गोयमो । गद्दभाली ममायरिया, विज्जाचरणपारगा ॥ २२ ॥

यदुक्तं त्वया–किंनामा त्वमिति, तत्र सञ्जयो नाम नाम्ना । यच्चावोचः–किंगोत्रः ? इति, तत्राह–तथा 'गोत्रेण' अन्वयेन गोतमः, उभयत्राहमिति गम्यते, शेषप्रश्नत्रयप्रतिवचनमाह–'गर्दभालयः' गर्दभाल्यभिधाना मम 'आचार्याः' धर्मोपदेशकत्वादिना, विद्यतेऽनया तत्त्वमिति विद्या—श्रुतज्ञानं तथा चर्यत इति चरणं—चारित्रं विद्या च चरणं च विद्याचरणे तयोः पारगाः—पर्यन्तगामिनो विद्याचरणपारगाः, एवं च वदतोऽयमाशयः—यथा गर्दभालिभिर्धर्माचार्यैर्विद्यातान्निवर्त्तितोऽहं, विद्याचरणपारगत्वाच्च तैस्तन्निवृत्तौ मुक्तिलक्षणं फलमुक्तं, ततस्तदर्थं माहनोऽस्मि,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२२॥

दीप अनुक्रम [५८१]



यथा च तदुपदेशस्तथा गुरून् प्रतिचरामि, तदुपदेशासेवनाच्च विनीत इति सूत्रार्थः ॥ इत्थं विमृश्य तद्गुणबहुमानाकृष्टचेता अपृष्टोऽपि क्षत्रिय इदमाह—

किरियं अकिरिअं विणयं, अन्नाणं च महामुणी ! । एएहिं चउहिं ठाणेहिं, मेअन्ने किं पभासई ? ॥२३॥

'क्रिया' अस्तीत्येवंरूपा, लिङ्गव्यत्ययान्नपुंसकनिर्देशः, 'अक्रिया' तद्विपरीता 'विनयः' नमस्कारकरणादिः, लिङ्गव्यत्ययः प्राग्वत्, तथा ज्ञानं–वस्तुतत्त्वावगमस्तदभावोऽज्ञानं, 'चः' समुच्चये, 'महामुने !' सम्यक्प्रव्रज्याप्रतिपत्तिगुरुपरिचर्यादिकरणतः प्रशस्यते ! 'एतैः' क्रियादिभिश्चतुर्भिः तिष्ठन्त्येषु कर्मवशगा जन्तव इति स्थानानि—मिथ्याऽध्यवसायाधारभूतानि तैः, 'मेयण्णे'त्ति, मीयत इति मेयं–ज्ञेयं जीवादिवस्तु तज्जानन्तीति मेयज्ञाः क्रियादिभिश्चतुर्भिः स्थानैः स्वस्वाभिप्रायकल्पितैर्वस्तुतत्त्वपरिच्छेदिन इतियावत्, 'किम्' इति कुत्सितं 'पभासइ'त्ति प्रकर्षेण भाषन्ते प्रभाषन्ते, विचाराक्षमत्वात्, तथाहि—ये तावत्क्रियावादिनस्तेऽस्तिक्रियाविशिष्टमात्मानं मन्यमाना अपि तस्य सदा विभुत्वाविभुत्वकर्तृत्वाकर्तृत्वादिभिर्विप्रतिपद्यन्ते, उक्तं हि वाचकैः–क्रियावादिनो नाम येषामात्मनोऽस्तित्वं प्रत्यविप्रतिपत्तिः, किन्तु स विभुरविभुः कर्त्ताऽकर्त्ता क्रियावानितरो मूर्त्तिमानमूर्त्तिरित्येवमाद्याग्रहोपहृतप्रीतयस्तेऽस्ति माता पिताऽस्ति न कुशलाकुशलकर्मवैफल्यं न न सन्ति गतय इत्येवंप्रतिज्ञाश्च, इह च विभुत्वं व्यापित्वं, तच्चात्मनो न घटते, शरीर एव तल्लिङ्गभूतचैतन्योपलब्धेः, न च वक्तव्यमात्मनोऽव्यापित्वे 'सुखदुःखबुद्धीच्छाद्वेषप्रयत्नधर्मा-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२३॥

दीप अनुक्रम [५८२]

धर्मसंस्कारा नवात्मगुणा' इतिवचनात्तद्गुणयोर्धर्माधर्मयोरप्यव्यापित्वं, तथा च द्वीपान्तरगतदेवदत्तादृष्टाकृष्टमणिमुक्तादीनां नेहागमनं स्यादिति, विभिन्नदेशस्याप्ययस्कान्तादेरयःप्रभृतिवस्त्वाकर्षणशक्तिदर्शनाद्धर्माधर्मयोरपि शरीरमात्रव्यापित्वेऽपि तद्वद्विप्रकृष्टवस्त्वाकर्षकत्वादिति न तावद्विभुरात्मा युज्यते । तथाऽविभुरप्यङ्गुष्ठपर्वाद्यधिष्ठानो यैरिष्यते तेषां सकलशरीरव्यापिचैतन्यासत्त्वं, तदसत्वाच्च शेषशरीरावयवेषु शस्त्रादिभेदादौ वेदनानुभवासंभवो, न चैतद् दृष्टमिष्टं वा, एवं सर्वदा कर्तृत्वादिकमपि यथा न युज्यते तथा स्वधिया वाच्यं १ । ये त्वक्रियावादिनस्तेऽस्तीतिक्रियाविशिष्टमात्मानं नेच्छन्त्येव, अस्तित्वे वा शरीरेण सहैकत्वान्यत्वाभ्यामवक्तव्यमिच्छन्ति, एकत्वे ह्यविनष्टशरीरावस्थितौ न कदाचिन्मरणप्रशस्तिः, आत्मनः शरीरानन्यत्वेनावस्थितत्वात्, तथा मुक्त्यभावाद्यनेकदोषापत्तिश्च, शरीरान्यत्वे तु शरीरच्छेदादौ तस्य वेदनाऽभावप्रसङ्गः, तस्मादवक्तव्य एवेति, अक्रियावादित्वं चैषां कथञ्चिद्भेदाभेदलक्षणप्रकारान्तराभावेन तदभावस्यैवावशिष्यमाणत्वात्, येऽप्युत्पत्त्यनन्तरमात्मनः प्रलयमिच्छन्ति तेषामपि तदस्तित्वाभ्युपगमेऽप्यनुपचरितपरलोकाद्यसम्भवात् तत्त्वतस्तदसत्त्वमेवेत्यक्रियावादित्वम्, उक्तं हि वाचकैः–"ये पुनरिहाक्रियावादिनस्तेषामात्मैव नास्ति, न चावक्तव्यः शरीरेण सहैकत्वान्यत्वे प्रति, उत्पत्त्यनन्तरप्रलयस्वभावको वा, तस्मिन्ननिर्णिक्ते च कर्तृत्वादिविशेषमूढा एवे"ति, अमीषां तु विचाराक्षमत्वमात्माऽस्तित्वस्य प्राक् प्रत्यक्षानुमानलक्षणप्रमाणद्वयसमधिगम्यत्वेन साधनात्, तस्य च शरीरात्कथञ्चिद्भिन्नाभिन्नरूपतया तत्र तत्र वक्तव्ये (व्यत्वे)न। स्थापितत्वात्,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२३॥

दीप अनुक्रम [५८२]

क्षणिकपक्षस्य तु सामुच्छेदिकनिह्नववक्तव्यतायामेवोन्मूलितत्वादिति २ । विनयवादिनो विनयादेव मुक्तिमिच्छन्ति, यत उक्तं–"वैनयिकवादिनो नाम येषां सुरासुरनृपतपस्विकरितुरगहरिणगोमहिष्यजाविकश्वश्रृगालजलचरकपोतकाकोलूकचटकप्रभृतिभ्यो नमस्कारकरणात् क्लेशनाशोऽभिप्रेतो, विनयाच्छ्रेयो भवति नान्यथेत्यध्यवसिताः" एतेऽपि न विचारसहिष्णवो, न हि विनयमात्रादिहापि विशिष्टानुष्ठानविकलादभिलषितार्थावाप्तिरवलोक्यते, नापि चैषां विनयार्हत्वं, येन पारलौकिकश्रेयोहेतुता भवेत्, तथाहि–लोकसमयवेदेषु गुणाभ्यधिकस्यैव विनयार्हत्वमिति प्रसिद्धिः, गुणास्तु तत्त्वतो ज्ञानध्यानानुष्ठानात्मका एव, न च सुरादीनामज्ञानाश्रवाविरमणादिदोषदूषितानामेतेष्वन्यतरस्यापि गुणस्य सम्भव इति कथं यदृच्छया विधीयमानस्य तस्य श्रेयोहेतुतेति? ३। अज्ञानवादिनस्त्वाहुः–यथेदं जगत् कैश्चिद् ब्रह्मादिविवर्त्त इष्यते, अन्यैः प्रकृतिपुरुषात्मकमपरैर्द्रव्यादिषड्भेदं तदपरैश्चतुरार्यसत्यात्मकमितरैर्विज्ञानमयमन्यैस्तु शून्यमेवेत्यनेकधा भिन्नाः पन्थानः, तथाऽऽत्माऽपि नित्यानित्यादिभेदतोऽनेकधैवोच्यते, तत्को ह्येतद्वेद किं चानेन ज्ञातेन ?, अपवर्गे प्रत्यनुपयोगित्वात् ज्ञानस्य, केवलं कष्टं तप एवानुष्ठेयं, न हि कष्टं विनेष्टसिद्धिः, तथा चाह–'अज्ञानिका नाम येषामियमुपधृतिः, यथेह ज्ञानाधिगमप्रयासोऽपवर्गे प्रति अकिञ्चित्करो, घोरैर्व्रततपोभिरपवर्गोऽवाप्यते' इति । विचारासहत्वं चैषां विज्ञानरहितस्य महतोऽपि कष्टस्य तिर्यग्नारकादीनामिवापवर्गे प्रत्यहेतुत्वात्, तदन्तरेण व्रततपोपसर्गादीनामपि स्वरूपापरिज्ञानतः क्वचित्प्रवृत्त्यसम्भवादिति । एषां च क्रियावादिनामुत्तरोत्तरभेदतोऽने-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२३॥

दीप अनुक्रम [५८२]

कविधत्वं, उक्तं वाचकैः–"एषां मौलेषु चतुर्षु कल्पेष्ववस्थितेषु तद्भेदाः सुबहवोऽवनिरुहशाखाप्रशाखानिकरवदवगन्तव्याः", तत्र तावच्छतमशीतं क्रियावादिनां, अक्रियावादिनश्च चतुरशीतिसङ्ख्याः, अज्ञानिकाः सप्तषष्टिविधाः, वैनयिकवादिनो द्वात्रिंशत्, एवं त्रिषष्ट्यधिकशतत्रयं, सर्वेऽपि चामी विचाराक्षमत्वात्कुत्सितं प्रभापन्ते इति स्थितमिति सूत्रार्थः ॥ न चैतत्स्वाभिप्रायेणैवोच्यते, किन्तु—

इइ पाउकरे बुद्धे, नायए परिनिव्वुडे । विज्जाचरणसंपन्ने, सच्चे सच्चपरक्कमे ॥ २४ ॥

'इती'त्येतत् क्रियादिवादिनः किं प्रभापन्ते ? इत्येवंरूपं 'पाउकरे'त्ति प्रादुरकार्षीत्–प्रकटितवान् 'बुद्धः' अवगततत्त्वः सन् ज्ञात एव ज्ञातकः–जगत्प्रतीतः क्षत्रियो वा, स चेह प्रस्तावान्महावीर एव, 'परिनिर्वृतः' कषायानलविध्यापनात्समन्ताच्छीतीभूतो विद्याचरणाभ्यामर्थात् क्षायिकज्ञानचारित्राभ्यां संपन्नो–युक्तो विद्याचरणसंपन्नोऽत एव 'सत्यः' सत्यवाक्, तथा सत्यः—अवितथस्तात्त्विकत्वेन परे—भावशत्रवस्तेषामाक्रमणं आक्रमः–अभिभवो यस्यासौ सत्यपराक्रम इति सूत्रार्थः ॥ तेषां च फलमाह—

पडंति नरए घोरे, जे नरा पावकारिणो । दिव्वं च गइं गच्छंति, चरित्ता धम्ममारियं ॥ २५ ॥

'पतन्ति' गच्छन्ति 'नरके' सीमन्तकादौ 'घोरे' नित्यान्धकारादिना भयानके ये नराः उपलक्षणत्वात्स्त्र्यादयो वा पातयति नरकादिषु जन्तुमिति पापं तच्च हिंसाद्यनेकधा, इह त्वसत्प्ररूपणैव, तत्कर्तुम्–अनुष्ठातुं शीलमेषामिति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२५॥

दीप अनुक्रम [५८४]

पापकारिणः, ये त्वेवंविधा न भवन्ति ते किमित्याह—'दिव्यां च गतिं' देवलोकगतिं, चशब्दः पुनरर्थे, स च पूर्वेभ्यो विशेषद्योतकः, 'गच्छन्ति' यान्ति 'चरित्वा' आसेव्य धर्मः–श्रुतधर्मादिरनेकविधः, इह च सत्प्ररूपणारूपः श्रुतधर्म एव तं, आर्यं–प्राग्वत्, तदयमभिप्रायः–असत्प्ररूपणापरिहारेण सत्प्ररूपणापरेणैव च भवता भवितव्यमिति सूत्रार्थः ॥ कथं पुनरमी पापकारिण इत्याह—

मायावुइयमेयं तु, मुसा भासा निरत्थिया । संजममाणोऽवि अहं, वसामि इरियामि य ॥ २६ ॥

मायया–शाठ्येन वुइयंति–उक्तं मायोक्तम् 'एतत्' यदनन्तरं क्रियादिवादिभिरुक्तं, 'तुः'एवकारार्थो भिन्नक्रमश्च मायोक्तमेव, अतश्चैतत् 'मृषा' अलीका 'भाषा' उक्तिः 'निरर्थिका' सम्यगभिधेयशून्या, तत एव च 'संजममाणोऽवि'त्ति 'अपिः' एवकारार्थस्ततः संयच्छन्नेव–उपरमन्नेव तदुक्त्याकर्णनादितः 'अहम्' इत्यात्मनिर्देशे विशेषतस्तस्थिरीकरणार्थम्, उक्तं हि–"ठियतो ठावए परं"ति, 'वसामि' तिष्ठामि उपाश्रय इति शेषः, 'इरियामि य'त्ति ईरे च–गच्छामि च गोचरचर्यादिष्विति सूत्रार्थः ॥ इदमपि सूत्रं प्रायो न दृश्यते । कुतः पुनस्त्वं तदुक्त्याकर्णनादिभ्यः संयच्छसीत्याह—अनन्तरसूत्राभावे च यदुक्तं चतुर्भिः स्थानैर्मेयज्ञाः किंप्रभाषन्ते इति, तत्कुत इत्याह—

सव्वे ते विइया मज्झं, मिच्छादिट्ठी अणारिया । विज्जमाणे परे लोए, सम्मं जाणामि अप्पगं ॥ २७ ॥

'सर्वे' निरवशेषाः 'ते' क्रियादिवादिनः 'विदिताः' ज्ञाता मम, यथाऽमी 'मिच्छदिट्ठि'त्ति मिथ्या–विपरीता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२७॥

दीप अनुक्रम [५८६]

परलोकात्माद्यपलापित्वेन दृष्टिः–बुद्धिरेषामिति मिथ्यादृष्टयः तत एव, 'अनार्या' अनार्यकर्मप्रवृत्ताः, कथं पुनस्त एवंविधास्ते विदिता इत्याह–'विद्यमाने' सति 'परलोके' अन्यजन्मनि 'सम्यग्' अविपरीतं 'जानामि' अवगच्छामि 'अप्पगं'ति आत्मानं, ततः परलोकात्मनोः सम्यग्वेदनात् ममैवंविधत्वेन विदितास्ततोऽहं तदुक्त्याकर्णनादितः संयच्छामि किंप्रभाषकाश्चैत इति सूत्रार्थः ॥ कथं पुनस्त्वमात्मानमन्यजन्मनि जानासीत्याह—

अहमासी महापाणे, जुइमं वरिससओवमे। जा सा पाली महापाली, दिव्वा वरिससओवमा ॥ २८ ॥
से चुए बंभलोगाओ, माणुस्सं भवमागए। अप्पणो य परेसिं च, आउं जाणे जहा तहा ॥ २९ ॥

'अहमासि'त्ति अहमभूवं 'महाप्राणे' महाप्राणनाम्नि ब्रह्मलोकविमाने 'द्युतिमान्' दीप्तिमान् 'वरिससतोवमे'त्ति वर्षशतजीविना उपमा–दृष्टान्तो यस्यासौ वर्षशतोपमो मयूरव्यंसकादित्वात्समासः, ततोऽयमर्थः–यथेह वर्षशतजीवी इदानीं परिपूर्णायुरुच्यते, एवमहमपि तत्र परिपूर्णायुरभूवं, तथाहि–या सा पालिरिव पालिः–जीवितजलधारणाद्भवस्थितिः, सा चोत्तरत्र महाशब्दोपादानादिह पल्योपमप्रमाणा, 'महापाली' सागरोपमप्रमाणा, तस्या एव महत्त्वात्, दिवि भवा दिव्या वर्षशतेनोपमा यस्याः सा वर्षशतोपमा, यथा हि वर्षशतमिह परमायुः तथा तत्र महापाली, उत्कृष्टतोऽपि हि तत्र सागरोपमैरेवायुरुपनीयते, न तूत्सर्पिण्यादिभिः, अथवा–"योजनं विस्तृतः पल्यस्तथा योजनमुत्सृतः। सप्तरात्रप्ररूढानां, केशाग्राणां स पूरितः ॥ १ ॥ ततो वर्षशते पूर्णे, एकैकं केशमुद्धरेत्। क्षीयते

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२८--२९॥

दीप अनुक्रम [५८७--५८८]

येन कालेन, तत्पल्योपममुच्यते ॥ २ ॥" इति वचनाद्वर्षशतैः केशोद्धारहेतुभिरुपमा अर्थात्पल्यविषया यस्या सा वर्षशतोपमा, द्विविधाऽपि स्थितिः, सागरोपमस्यापि पल्योपमनिष्पाद्यत्वात्, तत्र मम महापाली दिव्या भवस्थितिरासीदित्युपस्कारः, अतश्चाहं वर्षशतोपमायुरभूवमिति भावः । 'से' इत्थ स्थितिपरिपालनादनन्तरं 'च्युतः' भ्रष्टः 'ब्रह्मलोकात्' पञ्चमकल्पात् 'मानुष्यं' मनुष्यसम्बन्धिनं 'भवं' जन्म 'आगत' आयातः । इत्थमात्मनो जातिस्मरणलक्षणमतिशयमाख्यायातिशयान्तरमाह–आत्मनश्च परेषां वा 'आयुः' जीवितं 'जाने' अवबुध्ये 'यथा' येन प्रकारेण स्थितमिति गम्यते 'तथा' तेनैव प्रकारेण न त्वन्यथेत्यभिप्रायः, इति सूत्रद्वयार्थः ॥ इत्थं प्रसङ्गतः परितोषतश्चापृष्टमपि स्ववृत्तान्तमावेद्योपदेष्टुमाह—

नाणा रुइं च छंदं च, परिवज्जिज्ज संजओ । अणट्ठा जे अ सव्वत्था, इइ विज्जामणुसंचरे ॥ ३० ॥

'नाने' त्यनेकधा 'रुचिं च' प्रक्रमात्क्रियावाद्यादिमतविषयमभिलाषं 'छन्दश्च' स्वमतिकल्पितमभिप्रायम्, इहापि नानेति सम्बन्धादनेकविधं 'परिवर्जयेत्' परित्यजेत् 'संयतः' यतिः । तथा 'अनर्थाः' अनर्थहेतवो ये च 'सर्वार्थाः' अशेषहिंसादयो गम्यमानत्वात्तान् वर्जयेदिति सम्बन्धः, यद्वा 'सव्वत्थे'त्याकारस्यालाक्षणिकत्वात्सर्वत्र क्षेत्रादावनर्था इति–निष्प्रयोजना ये च व्यापारा इति गम्यते, तान् परिवर्जयेत्, 'इती' त्येवंरूपां 'विद्यां' सम्यग्ज्ञानरूपामन्विति—लक्षीकृत्य 'संचरेः' त्वं सम्यक् संयमाध्वनि याया इति सूत्रार्थः ॥ अन्यच्च—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३०--३१॥

दीप अनुक्रम [५८९--५९०]

पडिक्कमामि पसिणाणं, परमंतेहिं वा पुणो। अहो उट्ठिओ अहोरायं, इइ विज्जा तवं चेर ॥ ३१ ॥

प्रतीपं क्रामामि प्रतिक्रामामि–प्रतिनिवर्त्ते, केभ्यः ?–'पसिणाणं'ति सुव्व्यत्ययात् 'प्रश्नेभ्यः' शुभाशुभसूचकेभ्यो-ऽङ्गुष्टप्रश्नादिभ्यः, अन्येभ्यो वा साधिकरणेभ्यः, तथा परे–गृहस्थास्तेषां मन्त्राः परमन्त्राः–तत्कार्यालोचनरूपास्तेभ्यः, 'वा' समुच्चये 'पुनः' विशेषणे, विशेषेण परमन्त्रेभ्यः प्रतिक्रमामि, अतिसावद्यत्वात्तेषां, सोपस्कारत्वात्सूत्रस्यामु-नाऽभिप्रायेण यः संयमं प्रत्युत्थानवान् सः 'अहो' इति विस्मये 'उत्थितः' धर्मं प्रत्युद्यतः, कश्चिदेव हि महात्मैवंविधः संभवति 'अहोरात्रम्' अहर्निशम् 'इति' इत्येतदनन्तरोक्तं 'विज्ज'त्ति विद्वान् जानन् 'तवं'ति अवधारणफलत्वाद्वा-क्यस्य तप एव न तु प्रश्नादि 'चरेः' आसेवस्वेति सूत्रार्थः ॥ पुनस्तत्स्थिरीकरणार्थमाह—

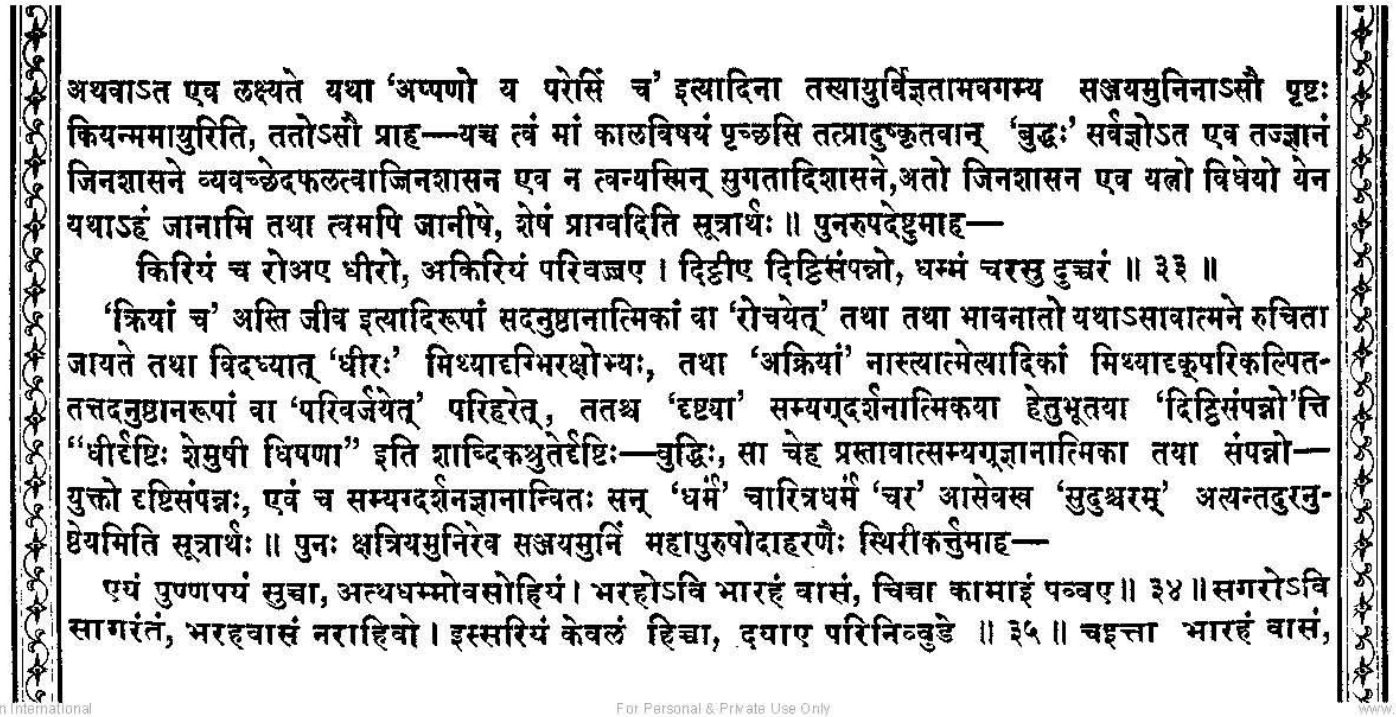
जं च मे पुच्छसी काले, सम्मं सुद्धेण (वुद्धेण) चेयसा। ताइं पाउकरे बुद्धे, तं नाणं जिणसासणे ॥३२॥

यच्च 'मे' इति मां 'पृच्छसि' प्रश्नयसि 'काले' प्रस्तावे 'सम्यग्बुद्धेन' अविपरीतबोधवता 'चेतसा' चित्तेन, लक्षणे तृतीया, 'ता' इति सूत्रत्वात्तत् 'पाउकरे'त्ति 'प्रादुष्करोमि' प्रकटीकरोमि प्रतिपादयामीतियावत्, 'बुद्धः' अवगत-सकलवस्तुतत्त्वः, कुतः पुनर्बुद्धोऽस्म्यत आह–'तदि'ति यत्किञ्चिदिह जगति प्रचरति ज्ञानं–यथाविधवस्त्ववबोध-रूपं तज्जिनशासनेऽस्तीति गम्यते, ततोऽहं तत्र स्थित इति तत्प्रसादाद्बुद्धोऽस्मीत्यभिप्रायः, इह च यतस्त्वं सम्य-ग्बुद्धेन चेतसा पृच्छस्यतः प्रतिक्रान्तप्रश्नादिरप्यहं यत्पृच्छसि तत्प्रादुष्करोमीत्यतः पृच्छ यथेच्छमित्यैदम्पर्यार्थः ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३२॥

दीप अनुक्रम [५९१]



अथवाऽत एव लक्ष्यते यथा 'अप्पणो य परेसिं च' इत्यादिना तस्यायुर्विज्ञतामवगम्य सञ्जयमुनिनाऽसौ पृष्टः कियन्ममायुरिति, ततोऽसौ प्राह—यच्च त्वं मां कालविषयं पृच्छसि तत्प्रादुष्कृतवान् 'बुद्धः' सर्वज्ञोऽत एव तज्ज्ञानं जिनशासने व्यवच्छेदफलत्वाज्जिनशासन एव न त्वन्यस्मिन् सुगतादिशासने,अतो जिनशासन एव यत्नो विधेयो येन यथाऽहं जानामि तथा त्वमपि जानीषे, शेषं प्राग्वदिति सूत्रार्थः ॥ पुनरुपदेष्टुमाह—

किरियं च रोअए धीरो, अकिरियं परिवज्जए । दिट्ठीए दिट्ठिसंपन्नो, धम्मं चरसु दुच्चरं ॥ ३३ ॥

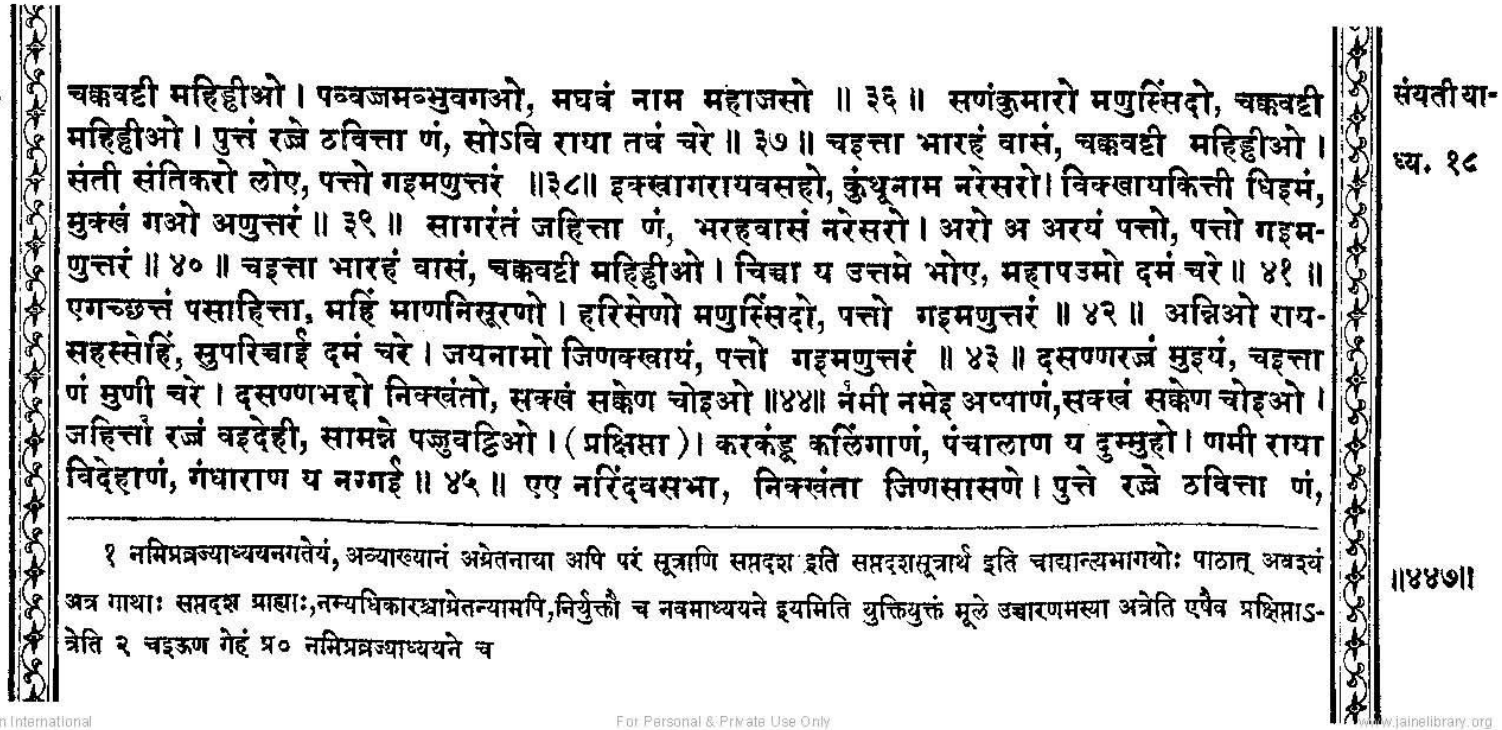
'क्रियां च' अस्ति जीव इत्यादिरूपां सदनुष्ठानात्मिकां वा 'रोचयेत्' तथा तथा भावनातो यथाऽसावात्मने रुचिता जायते तथा विदध्यात् 'धीरः' मिथ्यादृग्भिरक्षोभ्यः, तथा 'अक्रियां' नास्त्यात्मेत्यादिकां मिथ्यादृक्परिकल्पित-तत्तदनुष्ठानरूपां वा 'परिवर्जयेत्' परिहरेत्, ततश्च 'दृष्ट्या' सम्यग्दर्शनात्मिकया हेतुभूतया 'दिट्ठिसंपन्नो'त्ति "धीर्दृष्टिः शेमुषी धिषणा" इति शाब्दिकश्रुतेर्दृष्टिः—बुद्धिः, सा चेह प्रस्तावात्सम्यग्ज्ञानात्मिका तया संपन्नो—युक्तो दृष्टिसंपन्नः, एवं च सम्यग्दर्शनज्ञानान्वितः सन् 'धर्मं' चारित्रधर्मं 'चर' आसेवस्व 'सुदुश्चरम्' अत्यन्तदुरनुष्ठेयमिति सूत्रार्थः ॥ पुनः क्षत्रियमुनिरेव सञ्जयमुनिं महापुरुषोदाहरणैः स्थिरीकर्त्तुमाह—

एयं पुण्णपयं सुच्चा, अत्थधम्मोवसोहियं । भरहोऽवि भारहं वासं, चिच्चा कामाइं पव्वए ॥ ३४ ॥ सगरोऽवि सागरंतं, भरहवासं नराहिवो । इस्सरियं केवलं हिच्चा, दयाए परिनिव्वुडे ॥ ३५ ॥ चइत्ता भारहं वासं,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३४--५०॥

दीप अनुक्रम [५९३--६१०]



उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥४४७॥

चक्कवट्टी महिड्ढीओ। पव्वजमब्भुवगओ, मघवं नाम महाजसो ॥ ३६ ॥ सणंकुमारो मणुस्सिंदो, चक्कवट्टी महिड्ढीओ। पुत्तं रज्जे ठवित्ता णं, सोऽवि राया तवं चरे ॥ ३७ ॥ चइत्ता भारहं वासं, चक्कवट्टी महिड्ढीओ। संती संतिकरो लोए, पत्तो गइमणुत्तरं ॥३८॥ इक्खागरायवसहो, कुंथूनाम नरेसरो। विक्खायकित्ती धिइमं, मुक्खं गओ अणुत्तरं ॥ ३९ ॥ सागरंतं जहित्ता णं, भरहवासं नरेसरो। अरो अ अरयं पत्तो, पत्तो गइमणुत्तरं ॥ ४० ॥ चइत्ता भारहं वासं, चक्कवट्टी महिड्ढीओ। चिचा य उत्तमे भोए, महापउमो दमं चरे ॥ ४१ ॥ एगच्छत्तं पसाहित्ता, महिं माणनिसूरणो। हरिसेणो मणुस्सिंदो, पत्तो गइमणुत्तरं ॥ ४२ ॥ अन्निओ रायसहस्सेहिं, सुपरिचाई दमं चरे। जयनामो जिणक्खायं, पत्तो गइमणुत्तरं ॥ ४३ ॥ दसण्णरज्जं मुइयं, चइत्ता णं मुणी चरे। दसण्णभद्दो निक्खंतो, सक्खं सक्केण चोइओ ॥४४॥ नमी नमेइ अप्पाणं, सक्खं सक्केण चोइओ। जहित्तो रज्जं वइदेही, सामन्ने पज्जुवट्ठिओ। (प्रक्षिप्ता)। करकंडू कलिंगाणं, पंचालाण य दुम्मुहो। णमी राया विदेहाणं, गंधाराण य नग्गई ॥ ४५ ॥ एए नरिंदवसभा, निक्खंता जिणसासणे। पुत्ते रज्जे ठवित्ता णं,

१ नमिप्रव्रज्याध्ययनगतेयं, अव्याख्यानं अग्रेतनाया अपि परं सूत्राणि सप्तदश इति सप्तदशसूत्रार्थ इति चाद्यान्त्यभागयोः पाठात् अवश्यं अत्र गाथाः सप्तदश ग्राह्याः,नम्यधिकारश्चाग्रेतन्यामपि,निर्युक्तौ च नवमाध्ययने इयमिति युक्तियुक्तं मूले उच्चारणमस्या अत्रेति एषैव प्रक्षिप्ताऽत्रेति २ चइऊण गेहं प्र० नमिप्रव्रज्याध्ययने च

संयतीया-ध्य. १८

॥४४७॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३४--५०॥

दीप अनुक्रम [५९३--६१०]

सामन्ने पज्जुवट्ठिआ ॥ ४६ ॥ सोवीररायवसभो, चइत्ता ण मुणीचरे । उदायणो पव्वइओ, पत्तो गइमणुत्तरं ॥ ४७ ॥ तहेव कासिरायावि, सेओ सच्चपरक्कमो । कामभोगे परिचज्ज, पहणे कम्ममहावणं ॥ ४८ ॥ तहेव विजओ राया, अणट्टा कित्तिपव्वए । रज्जं तु गुणसमिद्धं, पयहित्तु महायसो ॥ ४९ ॥ तहेवुग्गं तवं किच्चा, अव्वक्खित्तेण चेयसा । महाबलो रायरिसी, अदाय सिरसा सिरं ॥ ५० ॥

सूत्राणि सप्तदश । 'एतत्' अनन्तरोक्तं पुण्यहेतुत्वात्पुण्यं तच्च तत् पद्यते–गम्यतेऽनेनार्थ इति पदं च पुण्यपदं, पुण्यस्य वा पदं–स्थानं पुण्यपदं–क्रियादिवादिस्वरूपनानारुचिपरिवर्जनाद्यावेदकं शब्दसंदर्भं 'श्रुत्वा' आकर्ण्य, अर्थ्यत इत्यर्थः–स्वर्गापवर्गादिः धर्मः– तदुपायभूतः श्रुतधर्मादिस्ताभ्यामुपशोभितं–विभूषितमर्थधर्मोपशोभितं 'भरतोऽपि' भरतनामा चक्रवर्त्यपि, अपिशब्द उत्तरापेक्षया समुच्चये 'भारहं'ति प्राकृतत्वाद्भारतं 'वर्षं' क्षेत्रं 'त्यक्त्वा' हित्वा 'कामाइं'ति चस्य गम्यमानत्वात् 'कामांश्च' विषयान् प्राकृतत्वान्नपुंसकनिर्देशः, पवए'त्ति प्राव्राजीत् ॥ 'सगरोऽवी'त्यादि सर्वमपि स्पष्टं, नवरं 'सागरान्तं' समुद्रपर्यन्तं दिक्त्रये, अन्यत्र तु हिमवत्पर्यन्तमित्युपस्कारः, तथा 'ऐश्वर्यम्' आज्ञैश्वर्यादि 'केवलं' परिपूर्णमनन्यसाधारणं वा 'दयया' संयमेन 'परिनिर्वृतः' इहैव विध्यातकषायानलत्वाच्छीतीभूतो मुक्तो वा॥ तथा 'अरो य'त्ति अरनामा च तीर्थकृच्चक्रवर्त्ती 'अरयं'ति रतस्य रजसो वाऽभावरूपमरतमरजो वा, पाठान्तरतोऽरसं वा—शृङ्गारादिरसाभावं, प्राप्तः सन् 'प्राप्तः' गतो गतिमनुत्तरां–मुक्तिमित्यर्थः ॥ तथा त्यक्त्वोत्तमान्

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३४--५०॥

दीप अनुक्रम [५९३--६१०]

भोगानिति, पुनस्त्यक्त्वेत्यभिधानं भिन्नवाक्यत्वादपौनरुक्त्यं, 'महापद्मः' महापद्मनामा 'चरे'त्ति आचरत् ॥ तथा एकं छत्रं–नृपतिचिह्नमस्यामित्येकच्छत्रां तां, कोऽर्थः ?—अविद्यमानद्वितीयनृपतिं 'महीं' पृथ्वीं 'प्रसाध्य' वशीकृत्येति सम्बन्धः, 'माणनिसूरणो'त्ति दप्तारात्यहङ्कारविनाशकः 'मनुष्येन्द्रः' इति चक्री । तथा 'अन्नितो'त्ति 'अन्वितः' युक्तः 'सुपरिचाइ'त्ति सुष्ठु–शोभनेन प्रकारेण राज्यादि परित्यजतीत्येवंशीलः सुपरित्यागी दमं जिनाख्यातमिति सम्बन्धः, 'चरि'त्ति अचारीचरित्वा च जयनामा चक्रीति शेषः प्राप्तो गतिमनुत्तराम् ॥ तथा दशार्णो नाम देशस्तद्राज्यं—तदाधिपत्यं 'मुदितं' सकलोपद्रवविरहितं प्रमोदवत् त्यक्त्वा 'णः' प्राग्वत् 'चरे'त्ति अचारीत्, अप्रतिबद्धविहारतया विहृतवानित्यर्थः, साक्षाच्छक्रेण 'चोदितः' अधिकविभूतिदर्शनेन धर्मे प्रति प्रेरितः ॥ तथा 'निष्क्रान्ताः' प्रव्रजिता निष्क्रम्य च 'श्रामण्ये' श्रमणभावे 'पर्युपस्थिताः' तदनुष्ठानं प्रत्युद्यता अभूवन्निति शेषः॥ तथा सौवीरेषु राजवृषभः–तत्कालभाविनृपतिप्रधानत्वात्सौवीरराजवृषभः 'चेच्च'त्ति त्यक्त्वा राज्यमिति शेषः प्राग्वत्,'मुनिः' त्रैकाल्यावस्थावेदी सन् 'चरे'त्ति अचारीत्, कोऽसौ ?—'उदायणो'त्ति उदायननामा प्रव्रजितः, चरित्वा च किमित्याह–प्राप्तो गतिमनुत्तराम् ॥ 'तथैव' तेनैव प्रकारेण 'काशिराजः' काशिमण्डलाधिपतिः श्रेयसि—अतिप्रशस्ये सत्ये—संयमे पराक्रमः–सामर्थ्यं यस्यासौ श्रेयः—सत्यपराक्रमः 'पहणे'त्ति प्राहन्—प्रहतवान् कर्म महावनमिवातिगहनतया कर्ममहावनम् ॥ तथैव 'विजयः' इति विजयनामा 'अणट्टा किंत्ति पवए'त्ति, आर्षत्वाद् अनार्त्तः–आर्त्तध्यानविकलः कीर्त्या–

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||३४--५०||

दीप अनुक्रम [५९३--६१०]

दीनानाथादिदानोत्थया प्रसिद्धयोपलक्षितः सन्, यद्वा अनार्त्ता—सकलदोषविगमतोऽबाधिता कीर्त्तिरस्येत्यनार्त्त-कीर्त्तिः सन्, पठ्यते च 'आणट्ठाकिइपवइ'त्ति, आज्ञा–आगमोऽर्थशब्दस्य हेतुवचनस्यापि दर्शनादर्थो—हेतुरस्याः सा तथाविधा आकृतिरर्थान्मुनिवेषात्मिका यत्र तदाज्ञार्थाकृति यथा भवत्येवं प्रात्राजीद्गुणैः–राज्यगुणैः शब्दादि-भिर्वा समृद्धं–संपन्नं गुणसमृद्धं, पूर्वत्र तुशब्दस्यापिशब्दार्थत्वाद्व्यवहितसम्बन्धत्वाच्च गुणसमृद्धमपि । तथा 'अहाय'त्ति आर्षत्वाद् 'आदित' गृहीतवांस्तद्गमनेन स्वीकृतवान् शिरसेव शिरसा शिरःप्रदानेनेव जीवितनिरपेक्षमिति योऽर्थः, 'शिरं'ति शिर इव शिरः सर्वजगदुपरिवर्त्तितया मोक्षः, पठ्यते च–'आदाय सिरसो सिरिं'ति, अत्र च 'आदाय' गृहीत्वा 'शिरःश्रियं' सर्वोत्तमां केवललक्ष्मीं परिनिर्वृत इति शेषः, इति सप्तदशसूत्रार्थः ॥ इत्थं महापुरुषो-दाहरणैर्ज्ञानपूर्वकक्रियामाहात्म्यमभिधायोपदेष्टुमाह—

कहं धीरो अहेऊहिं, उम्मत्तो व्व महिं चरे ?। एए विसेसमादाय, सूरा दढपरक्कमा ॥ ५१ ॥

'कथं' केन प्रकारेण 'धीरः' उक्तरूपः 'अहेतुभिः' क्रियावाद्यादिपरिकल्पितकुहेतुभिः 'उन्मत्त इव' ग्रहगृहीत इव तात्त्विकवस्त्वपलपनेनालजालभाषितया 'महीं' पृथ्वीं 'चरेत्' भ्रमेत् ?, नैव चरेदित्यर्थः, किमिति ?, ये 'एते' अनन्तरोदिता भरतादयः 'विशेषं' विशिष्टतां गम्यमानत्वान्मिथ्यादर्शनेभ्यो जिनशासनस्य 'आदाय' गृहीत्वा मनसि संप्रधार्येतियावत् शूरा दृढपराक्रमा एतदेवाश्रितवन्त इति शेषः, अयमभिप्रायः—यथैते महात्मानो विशेषमादाय

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥५१॥

दीप अनुक्रम [६११]

कुवादिपरिकल्पितक्रियावाद्यादिदर्शनपरिहारतो जिनशासने एव निश्चितमतयोऽभूवंस्तथा भवताऽपि धीरेण सताऽस्मिन्नेव निश्चितं चेतो विधेयमिति सूत्रार्थः ॥ किञ्च—

अचंतनियाणखमा, एसा मे भासिया वई । अतरिंसु तरंतेगे, तरिस्संति अणागया ॥ ५२ ॥

अत्यन्तम्–अतिशयेन निदानैः–कारणैः, कोऽर्थः ?–हेतुभिर्न तु परप्रत्ययेनैव, क्षमा–युक्ताऽत्यन्तनिदानक्षमा, यद्वा निदानं–कर्ममलशोधनं तस्मिन् क्षमा–समर्था 'एषा' अनन्तरोक्ता पाठान्तरतः 'सर्वा' अशेषा सत्या वा 'मे' मया 'भाषिता' उक्ता 'वाग्' वाणी जिनशासनमेवाश्रयणीयमित्येवंरूपा, अनयाऽङ्गीकृतया 'अतीर्षुः' तीर्णवन्तः तरन्ति 'एके' अपरे, पाठान्तरतोऽन्ये, सम्प्रत्यपि तत्कालापेक्षया क्षेत्रान्तरापेक्षया वेत्थमभिधानमिति, तथा तरिष्यन्ति 'अनागताः' भाविनो, भवोदधिमिति सर्वत्र शेष इति सूत्रार्थः ॥ यतश्चैवमतः—

कहं धीरे अहेऊहिं, अदायं परियावसे । सव्वसंगविणिम्मुक्को, सिद्धे भवइ नीरए ॥ ५३ ॥ त्तिबेमि ॥

॥ संजइज्जं १८ ॥

कथं धीरोऽहेतुभिः 'आदाय' गृहीत्वा, क्रियादिवादिमतमिति शेषः 'पर्यावसेत्' परीति–सर्वप्रकारमावसेत्–तत्रैव निलीयेत, नैव तत्राभिनिविष्टो भवेदिति भावः, पठ्यते च–'अत्ताणं परियावसि'त्ति आत्मानं पर्यावासयेद्, अहेतुभिः कथमात्मानमहेत्वावासं कुर्यात् ?, नैव कुर्यादित्यर्थः । किं पुनरित्थमकरणे फलमित्याह—सर्वे–निरवशेषाः सज्जन्ति–

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥५३॥

दीप अनुक्रम [६१३]

कर्मणा संबध्यन्ते जन्तव एभिरिति सङ्गाः–द्रव्यतो द्रविणादयो भावतस्तु मिथ्यात्वरूपत्वादेत एव क्रियादिवादास्तै-र्विनिर्मुक्तो–विरहितः सर्वसङ्गविनिर्मुक्तः सन् सिद्धो भवति नीरजाः, तदनेनाहेतुपरिहारस्य सम्यग्ज्ञानहेतुत्वेन सिद्धत्वं फलमुक्तमिति सूत्रार्थः ॥ इत्थं तमनुशास्य गतो विवक्षितं स्थानं क्षत्रियः, शेषसञ्जयवक्तव्यतां त्वाह निर्युक्तिकृत्—

काऊण तवच्चरणं बहूणि वासाणि सो धुयकिलेसो । तं ठाणं संपत्तो जं संपत्ता न सोयंति ॥४०४॥

सुगमैव, नवरं धुताः–अपनीताः क्लिश्यन्त्येषु सत्सु जन्तव इति क्लेशाः–रागादयो येन स धुतक्लेशो, यत्संप्राप्ता न शोचन्ते, शोकहेतुशारीरमानसदुःखाभावादिति गाथार्थः ॥ 'इतिः' परिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् नयाश्च ॥ इति श्रीशान्त्याचार्यकृतायां शिष्यहितायामुत्तराध्ययनटीकायां सञ्जयीयनामाष्टादशमध्ययनं समाप्तमिति ॥

इति श्रीशान्त्याचार्यकृतायामुत्तराध्ययनटीकायां शिष्यहितायां अष्टादशमध्ययनं समाप्तमिति ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्र अध्ययनं- १८ परिसमाप्तं

प्रत सूत्रांक ॥५३॥

दीप अनुक्रम [६१३]

अथ एकोनविंशं मृगापुत्रीयमध्ययनम् ।

व्याख्यातमष्टादशमध्ययनम्, अधुनैकोनविंशमारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः—इहानन्तराध्ययने भोगर्द्धित्याग उक्तः, तस्माच्च श्रामण्यमुपजायते, तच्चाप्रतिकर्मतया प्रशस्ततरं भवतीत्यप्रतिकर्मतोच्यत इत्यनेन सम्बन्धेनायातमिदमध्ययनम्, अस्य तु चतुरनुयोगद्वारचर्चा प्राग्वद्यावन्नामनिष्पन्ननिक्षेपे मृगापुत्रीयमिति नामातो मृगायाः पुत्रस्य च निक्षेपमाह निर्युक्तिकृत्—

निक्खेवो अ मिआए चउक्कओ दुविहो० ॥ ४०५ ॥ जाण० ॥ ४०६ ॥

मिअआउनामगोयं वेयंतो भावओ मिओ होइ । एमेव य पुत्तस्सवि चउक्कओ होइ निक्खेवो ॥४०७॥

गाथात्रयं प्राग्वत्, नवरं मृगाभिलापेन नेयम् ॥ नामनिरुक्तिमाह—

मिगदेवीपुत्ताओ बलसिरिनामा समुट्ठियं जम्हा । तम्हा मिगपुत्तिज्जं अज्झयणं होइ नायव्वं ॥४०८॥

मृगा—नाम्ना देवी–अग्रमहिषी तस्याः पुत्रः—सुतो मृगादेवीपुत्रस्तस्माद्बलश्रीनाम्नः 'समुत्थितं' समुत्पन्नं यस्मात्तस्मान्मृगापुत्रीयं–मृगापुत्रीयनामकं मृगाशब्देन मृगादेव्युक्तेरध्ययनमिदमिति शेषः, भवति 'ज्ञातव्यम्' अवबोद्धव्य-

॥४५०॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ अध्ययनं – १९ "मृगापुत्रीय" आरभ्यते

प्रत सूत्रांक ॥१-४॥

दीप अनुक्रम [६१४--६१७]

मिति गाथार्थः ॥ गतो नामनिष्पन्ननिक्षेपः, सम्प्रति सूत्रालापकनिष्पन्ननिक्षेपस्यावसरः, स च सूत्रे सति भवति, अतः सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

सुग्गीवे नयरे रम्मे, काणणुज्जाणसोहिए। राया बलभद्दुत्ति, मिया तस्सग्गमाहिसी ॥ १ ॥ तेसिं पुत्ते बलसिरी, मियापुत्तत्ति विस्सुए। अम्मापिऊहिं दइए, जुवराया दमीसरे ॥ २ ॥ नंदणे सो उ पासाए, कीलए सह इत्थिहिं। देवो दोगुंदगो चेव, निच्चं मुइयमाणसो ॥ ३ ॥ मणिरयणकुट्टिमतले, पासायालोअणे ठिओ। आलोएइ नगरस्स, चउक्कतियचच्चरे ॥ ४ ॥

'सुग्रीवे' सुग्रीवनाम्नि नगरे 'रम्ये' रमणीये काननैः–वृहद्वृक्षाश्रयैर्वनैरुद्यानैः–आरामैः क्रीडावनैर्वा शोभिते—राजिते काननोद्यानशोभिते 'राजा' नृपो बलभद्र इति नाम्नेति शेषः, 'मृगा' मृगानाम्नी 'तस्य' इति बलभद्रस्य राज्ञः 'अग्गमहिसि'त्ति 'अग्रमहिषी' प्रधानपत्नी ॥ 'तयोः' राज्ञोः पुत्रः 'बलश्रीः' बलश्रीनामा मातापितृविहितनाम्ना लोके च मृगापुत्र इति 'विश्रुतः' विख्यातः, 'अम्मापिऊणं'ति अम्मा(म्बा)पित्रोः 'दयितः' वल्लभः 'युवराजः' कृतयौवराज्याभिषेको दमिनः–उद्धतदमनशीलास्ते च राजानस्तेषामीश्वरः—प्रभुर्दमीश्वरः, यद्वा दमिनः—उपशमिनस्तेषां सहजोपशमभावत ईश्वरो दमीश्वरः, भाविकालापेक्षं चैतत् ॥ 'नन्दने' लक्षणोपेततया समृद्धिजनके 'सः' मृगापुत्रः 'तुः' वाक्यान्तरोपन्यासार्थः प्रासादे 'क्रीडति' विलसति 'सह' समं 'स्त्रीभिः' प्रमदाभिः, क इव ?–'देवः'

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१-४॥

दीप अनुक्रम [६१४--६१७]

सुरः 'दोगुंदगो चेव'त्ति 'चः' पूरणे दोगुन्दग इव, दोगुन्दगाश्च त्रायस्त्रिंशाः, तथा च वृद्धाः–"त्रायस्त्रिंशा देवा नित्यं भोगपरायणा दोगुंदुगा इति भण्णंति", 'नित्यं' सदा 'मुदितमानसः' हृष्टचित्तः ॥ स चैवं क्रीडन् कदाचिन्मणयश्च—विशिष्टमाहात्म्याश्चन्द्रकान्तादयो रत्नानि च—गोमेयकादीनि मणिरत्नानि तैरुपलक्षितं कुट्टिमतलं यस्मिन्नसौ मणिरत्नकुट्टिमतलः, गमकत्वाद्बहुव्रीहिः, तस्मिन्, आलोक्यन्ते दिशोऽस्मिन् स्थितैरित्यालोकनं प्रासादे प्रासादस्य वाऽऽलोकनं प्रासादालोकनं तस्मिन्-सर्वोपरिवर्त्तिचतुरिकारूपे गवाक्षे वा स्थितः–उपविष्टः 'आलोकते' कुतूहलतः पश्यति, कानि?–'नगरस्य' तस्यैव सुग्रीवनाम्नः सम्बन्धीनि 'चतुष्कत्रिकचत्वराणि' प्रतीतान्येवेति सूत्रचतुष्टयार्थः ॥ ततः किमित्याह—

अह तत्थ अइच्छंतं, पासई समणसंजयं । तवनियमसंजमधरं, सीलड्ढं गुणआगरं ॥५॥ तं पेहई मियापुत्ते, दिट्ठीए अणिमिसाइ उ । कहिं मन्नेरिसं रूवं, दिट्ठपुव्वं मए पुरा ? ॥ ६ ॥ साहुस्स दरिसणे तस्स, अज्झवसाणंमि सोहणे । मोहं गयस्स संतस्स, जाईसरणं समुप्पन्नं ॥ ७ ॥ देवलोगचुओ संतो, माणुसं भवमागओ । सन्निनाणसमुप्पन्ने, जाइं सरइ पुराणयं ॥ (प्र०)॥ जाईसरणे समुप्पण्णे, मियापुत्ते महिड्ढिए । सरइ पोराणिअं जाइं, सामण्णं च पुराकयं ॥ ८ ॥

'अथ' अनन्तरं 'तत्र' इति तेषु चतुष्कत्रिकचत्वरेषु 'अतिच्छंत'न्ति अतिक्रामन्तं पश्यति श्रमणसंयतमिति श्रमणस्य शाक्यादेरपि सम्भवात्तद्व्यवच्छेदार्थं संयतग्रहणं, तपश्च—अनशनादि नियमश्च—द्रव्याद्यभि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥५-८॥

दीप अनुक्रम [६१८--६२१]

ग्रहात्मकः संयमश्च–उक्तरूपस्तान् धारयति तपोनियमसंयमधरस्तम्, अत एव शीलम्—अष्टादशशीलाङ्गसहस्ररूपं तेनाढ्यं–परिपूर्णं शीलाढ्यं, तत एव च गुणानां–ज्ञानादीनामाकर इव गुणाकरस्तं ॥ 'तमि'ति श्रमणसंयतं 'पेहइ'त्ति पश्यति 'मृगापुत्रः' युवराजः 'दृष्ट्वा' दृशा 'अणमिसाइ उ'त्ति तुशब्दस्यैवकारार्थत्वादविद्यमाननिमेषयैव, क्व 'मन्ये' जाने 'ईदृशम्' एवंविधं 'रूपम्' आकारो दृष्टपूर्वम्-अवलोकितं मया 'पुरा' इति पूर्वजन्मनि ?, शेषं प्रतीतमेव, नवरम् 'अध्यवसाने' इत्यन्तःकरणपरिणामे 'शोभने' प्रधाने क्षायोपशमिकभाववर्त्तिनीतियावत् 'मोहं' केदं मया दृष्टं केदमित्यतिचिन्तातश्चित्तसङ्घट्टजमूर्च्छात्मकं 'गतस्य' प्राप्तस्य सतः ॥ तथा 'सरति'त्ति स्मरति पौराणिकीं 'जातिं' जन्म 'श्रामण्यं च' श्रमणभावं 'पुराकृतं' जन्मान्तरानुष्ठितमिति सूत्रचतुष्टयार्थः ॥ एतदेवातिस्पष्टताहेतोरनुगदितुमाह निर्युक्तिकृत्—

सुग्गीवे नयरंमि अ राया नामेण आसि बलभद्दो। तस्सासि अग्गमहिसी देवी उ मिगावई नामं ॥४०७॥
तेसिं दुण्हवि पुत्तो आसी नामेण बलसिरी धीमं। वयरोसभसंघयणो जुवराया चरमभवधारी ॥४०८॥
उन्नंदमाणहिअओ पासाए नंदणंमि सो रम्मे। किलई पमदासहिओ देवो दुगुंदगो चेव ॥ ४०९ ॥
अह अन्नया कयाई पासायतलंमि सो ठिओ संतो। आलोएइ पुरवरे रुंदे मग्गे गुणसमग्गे ॥ ४१० ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मूल संपादने अत्र निर्युक्तिगाथा: क्रमांकने किञ्चित् स्खलना दृश्यते, यत् क्रमांक ॥४०७॥, ॥४०८॥ द्वीवारान् लिखितं

प्रत सूत्रांक ॥५-८॥

दीप अनुक्रम [६१८--६२१]

अह पिच्छइ रायपहे वोलंतं समणसंजयं तत्थ । तवनियमसंजमधरं सुअसागरपारगं धीरं ॥ ४११ ॥
अह देहइ रायसुओ तं समणं अणमिसाइ दिट्ठीए । कहि एरिसयं रूवं दिट्ठं मन्ने मए पुवं ? ॥४१२॥
एवमणुचिंतयंतस्स सन्नीनाणं तहिं समुप्पन्नं । पुव्वभवे सामन्नं मएवि एवं कयं आसि ॥ ४१३ ॥

गाथासप्तकं स्पष्टमेव, नवरं 'धृतिमान्' चित्तस्वास्थ्यवान् 'वज्रऋषभ'मिति अर्थाद्वज्रऋषभनाराचं संहननं यस्य स तथा 'चरमभवधारी' पर्यन्तजन्मवर्त्ती, तथा 'उण्णंदमाणहियओ'त्ति, उत्—प्राबल्येन नन्दद्—आनन्दं गच्छत् हृदयं—मनो यस्य स तथा, प्राकृतत्वाच्छतृविषये शानच्, तथा 'रुन्दान्' विस्तीर्णान् 'मार्गान्' विपणिमार्गादीन् गुणैः—ऋजुत्वसमत्वादिभिः समग्राः–परिपूर्णा गुणसमग्रास्तान्, तथा श्रुतसागरपारगं धीरमिति तपोनियमसंयमधरमित्यस्य सूत्रपदस्य हेतुदर्शनद्वारतस्तात्पर्यव्याख्यानम्, अनेनैव च भावभिक्षुत्वमुपदर्शितम्, अत एवान्यस्यैवं विशेषणायोगाच्छ्रमणसंयतमित्याह, सञ्ज्ञिज्ञानं चेह सम्यग्दृशः स्मृतिरूपमतिभेदात्मकमिति गाथासप्तकावयवार्थः ॥ सम्प्रति यदसावुत्पन्नजातिस्मरणः कृतवांस्तदाह—

विसएसु अरज्जंतो, रज्जंतो संजमंमि य । अम्मापियरं उवागम्म, इमं वयणमब्बवी ॥ ९ ॥

'विसएहिं'त्ति सुव्यत्ययाद् 'विषयेषु' मनोज्ञशब्दादिषु 'अरजन्' अभिष्वङ्गमकुर्वन्, क्व ?—'संयमे' उक्तरूपे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥९॥

दीप अनुक्रम [६२३]

'चः' पुनरर्थः 'अम्मापियरं'ति अम्मा(म्बा)पितरौ 'उपागम्य' उपसृत्य 'इदम्' अनन्तरवक्ष्यमाणं वचनम् 'अब्रवीत्' इत्याह, इति सूत्रार्थः ॥ किं तदब्रवीदित्याह—

सुआणि मे पंच महव्वयाणि, नरएसु दुक्खं च तिरिक्खजोणिसु ।
निव्विण्णकामो मि महण्णवाओ, अणुजाणह पव्वइस्सामि अम्मो ! ॥ १० ॥

'श्रुतानि' आकर्णितानि, अन्यजन्मनीत्यभिप्रायः, 'मे' मया 'पञ्च' इति पञ्चसङ्ख्यानि 'महाव्रतानि' हिंसाविरमणादीनि, तथा नरकेषु 'दुःखं च' असातमिहैव वक्ष्यमाणं 'तिरिक्खजोणिसु'त्ति चशब्दस्याप्रयुज्यमानस्यापि "अहरहर्नयमानो गामश्वं पुरुषं पशुम्" इत्यादाविव गम्यमानत्वात् तिर्यग्योनिषु च, सर्वत्र चायं न्यायो द्रष्टव्यः, उपलक्षणं चैतद् देवमनुष्यभवयोः, ततः किमित्याह—'णिविण्णकामोमि'त्ति 'निर्विण्णकामः' प्रतिनिवृत्ताभिलाषोऽस्म्यहं, कुतः ?–महार्णव इव महार्णवः—संसारस्तस्माद्, यतश्चैवमतः 'अनुजानीत' अनुमन्यध्वं, मामिति शेषः, 'पवइस्सामी'ति प्रव्रजिष्यामि 'अम्मो'त्ति पूज्यतरत्वाद्विशिष्टप्रतिबन्धास्पदत्वाच्च मातुरामन्त्रणं, यो हि भविष्यद्दुःखं नावैति तत्प्रतिकारहेतुं वा स कदाचिदित्थमेवासीत, अहं तूभयत्रापि विज्ञ इति कथं न दुःखप्रतीकारोपायभूतां महाव्रतात्मिकां प्रव्रज्यां प्रतिपत्स्य इति सूत्रगर्भार्थः ॥ अमुमेवार्थमनुवादतः स्पष्टयितुमाह निर्युक्तिकृत्—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१०॥

दीप अनुक्रम [६२४]

सो लद्धबोहिलाभो चलणे जणगाण वंदिउं भणइ। वीसज्जिउमिच्छामो काहं समणत्तणं ताया ! ॥४१४॥

'सः' इति मृगापुत्रो लब्धः–प्राप्तो बोधिलाभो—जिनधर्मप्राप्तिरूपो येन स तथा, 'चरणान्' पादान् 'जनकयोः' मात्रापित्रोर्वन्दित्वा भणति, यथा 'विसर्जयितुम्' मुत्कलयितुं वयमात्मानमिति गम्यते 'इच्छामः' अभिलषामः, किमिति ?, यतः 'काहं'ति वचनव्यत्ययात्करिष्यामः 'श्रमणत्वं' प्रव्रज्यां 'तात !' इति पितः !, उपलक्षणत्वान्मातश्चेति गाथार्थः ॥ इदानीं तौ कदाचिद्भोगैरुपनिमन्त्रयेयातामित्यभिप्रायतो यत्तेनोक्तं तत्सूत्रकृदाह—

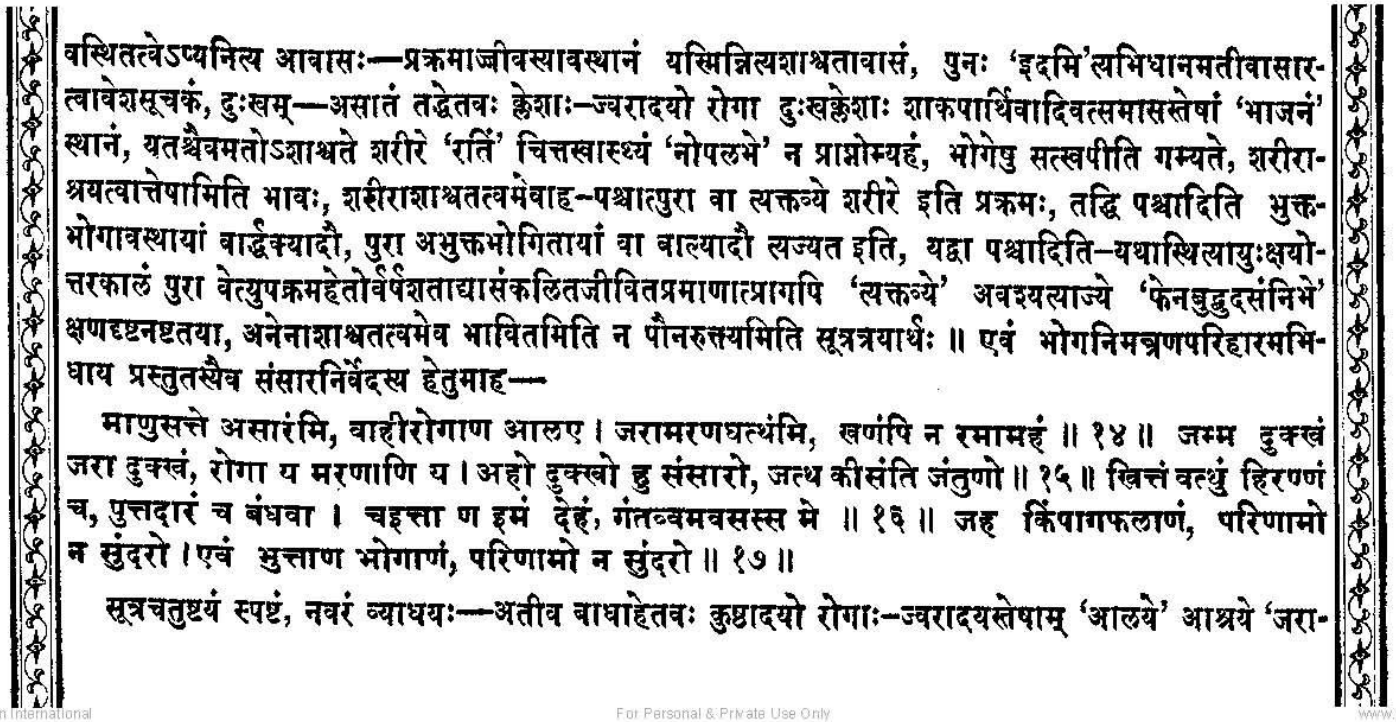
अम्मताय ! मए भोगा, भुत्ता विसफलोवमा। पच्छा कडुयविवागा, अणुबंधदुहावहा ॥ ११ ॥ इमं सरीरं अणिचं, असुइं असुइसंभवं। असासयावासमिणं, दुक्खकेसाण भायणं ॥ १२ ॥ असासए सरीरंमि, रइं नोवलभामहं। पच्छा पुरा व चइयव्वे, फेणबुब्बुयसंनिभे ॥ १३ ॥

सूत्रत्रयं प्रतीतार्थमेव, नवरं विषमिति—विषवृक्षस्तस्य फलं विषफलं तदुपमाः, तदुपमत्वमेव भावयितुमाह—पश्चात्कटुक इव कटुकोऽनिष्टत्वेन विपाको येषां ते तथा, आपात एव मधुरा इति भावः, 'अनुबन्धदुःखावहाः' अनवच्छिन्नदुःखदायिनः, यथा हि विषफलमास्वाद्यमानमादौ मधुरमुत्तरकालं च कटुकविपाकं सातत्येन च दुःखोपनेतृ एवमेतेऽपीति, किञ्च—अमी कामाः स्पर्शप्रधानाः, स्पर्शश्च शरीराश्रयः, तच्चेदं शरीरम् 'अनित्यम्' अशाश्वतम् 'अशुचि' स्वाभाविकशौचरहितम् 'अशुचिसंभवम्' अशुचिरूपशुक्रशोणितोत्पन्नम्, अशाश्वतः—कथञ्चिद-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥११--१३॥

दीप अनुक्रम [६२५-६२७]



वस्थितत्वेऽप्यनित्य आवासः—प्रक्रमाज्जीवस्यावस्थानं यस्मिन्नित्यशाश्वतावासं, पुनः 'इदमि'त्यभिधानमतीवासारत्वावेशसूचकं, दुःखम्—असातं तद्धेतवः क्लेशाः—ज्वरादयो रोगा दुःखक्लेशाः शाकपार्थिवादिवत्समासस्तेषां 'भाजनं' स्थानं, यतश्चैवमतोऽशाश्वते शरीरे 'रतिं' चित्तस्वास्थ्यं 'नोपलभे' न प्राप्नोम्यहं, भोगेषु सत्स्वपीति गम्यते, शरीराश्रयत्वात्तेषामिति भावः, शरीराशाश्वतत्वमेवाह–पश्चात्पुरा वा त्यक्तव्ये शरीरे इति प्रक्रमः, तद्धि पश्चादिति भुक्तभोगावस्थायां वार्द्धक्यादौ, पुरा अभुक्तभोगितायां वा बाल्यादौ त्यज्यत इति, यद्वा पश्चादिति–यथास्थित्यायुःक्षयोत्तरकालं पुरा वेत्युपक्रमहेतोर्वर्षशताद्यासंकलितजीवितप्रमाणात्प्रागपि 'त्यक्तव्ये' अवश्यत्याज्ये 'फेनबुद्बुदसंनिभे' क्षणदृष्टनष्टतया, अनेनाशाश्वतत्वमेव भावितमिति न पौनरुक्त्यमिति सूत्रत्रयार्थः ॥ एवं भोगनिमन्त्रणपरिहारमभिधाय प्रस्तुतस्यैव संसारनिर्वेदस्य हेतुमाह—

माणुसत्ते असारंमि, वाहीरोगाण आलए । जरामरणघत्थंमि, खणंपि न रमामहं ॥ १४ ॥ जम्म दुक्खं जरा दुक्खं, रोगा य मरणाणि य । अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसंति जंतुणो ॥ १५ ॥ खित्तं वत्थुं हिरण्णं च, पुत्तदारं च बंधवा । चइत्ता ण इमं देहं, गंतव्वमवसस्स मे ॥ १६ ॥ जह किंपागफलाणं, परिणामो न सुंदरो । एवं भुत्ताण भोगाणं, परिणामो न सुंदरो ॥ १७ ॥

सूत्रचतुष्टयं स्पष्टं, नवरं व्याधयः—अतीव बाधाहेतवः कुष्ठादयो रोगाः–ज्वरादयस्तेषाम् 'आलये' आश्रये 'जरा-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१४--१७॥

दीप अनुक्रम [६२८-६२९]

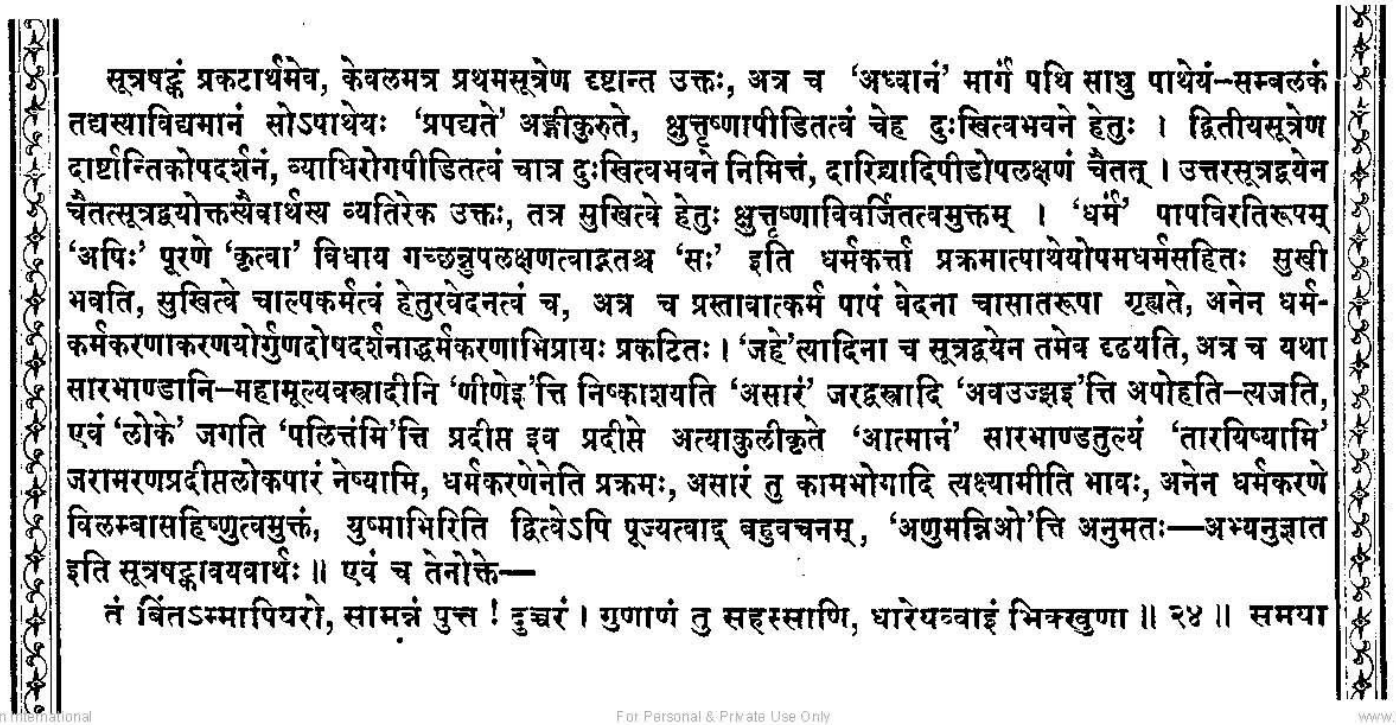
मरणग्रस्ते' वार्द्धक्यमृत्युक्रोडीकृते, अनेन मानुषत्वासारत्वमेव भावितं, क्षणमपि 'न रमे' नाभिरतिं लभेऽहमिति। इत्थं मनुष्यभवस्यानुभूयमानत्वेन निर्वेदहेतुत्वमभिधाय सम्प्रति चतुर्गतिकस्यापि संसारस्य तदाह–'जम्म'मित्यादिना, अत्र च अहो इति सम्बोधने 'दुक्खो हु'त्ति दुःखहेतुरेव संसारो जन्मादिनिबन्धनत्वात्तस्य 'यत्र' यस्मिन् गतिचतुष्टयात्मके संसारे 'क्लिश्यन्ति' बाधामनुभवन्ति, जन्मादिदुःखैरेवेति गम्यते, 'जन्तवः' प्राणिनः, इह च दुःखानुभवाधारत्वेन संसारस्य दुःखहेतुत्वमिति भावः। तथा 'खेत्त'मित्यादिनेष्टवियोगोऽशरणत्वं च संसारान्निर्वेदहेतुरुक्तः, तथा किम्पाको—वृक्षविशेषस्तस्य फलान्यतीव सुस्वादानि, अनेन चोपसंहारसूत्रेणोदाहरणान्तरद्वारेण भोगदुरन्ततैव निर्वेदहेतुरुक्ता इति सूत्रचतुष्टयावयवार्थः॥ इत्थं निर्वेदहेतुमभिधाय दृष्टान्तद्वयोपन्यासतः स्वाभिप्रायमेव प्रकटयितुमाह–

अद्धाणं जो महंतं तु, अपाहेज्जो पवज्जई। गच्छंतो से दुही होइ, छुहातण्हाइपीडिओ ॥ १८ ॥ एवं धम्मं अकाऊणं, जो गच्छइ परं भवं। गच्छंतो से दुही होई, वाहिरोगेहिं पीडिओ ॥ १९ ॥ अद्धाणं जो महंतं तु, सपाहेज्जो पवज्जई। गच्छंतो से सुही होइ, छुहातण्हाविवज्जिओ ॥ २० ॥ एवं धम्मंपि काऊणं, जो गच्छइ परं भवं। गच्छंते से सुही होइ, अप्पकम्मे अवेयणे ॥ २१ ॥ जहा गेहे पलित्तंमि, तस्स गेहस्स जो पहू। सारभंडाणि नीणेइ, असारं अवउज्झइ ॥ २२ ॥ एवं लोए पलित्तंमि, जराए मरणेण य। अप्पाणं तारइस्सामि, तुब्भेहिं अणुमन्निओ ॥ २३ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१८--२३॥

दीप अनुक्रम [६३०--६३७]



सूत्रषट्कं प्रकटार्थमेव, केवलमत्र प्रथमसूत्रेण दृष्टान्त उक्तः, अत्र च 'अध्वानं' मार्गं पथि साधु पाथेयं–सम्बलकं तद्यस्याविद्यमानं सोऽपाथेयः 'प्रपद्यते' अङ्गीकुरुते, क्षुत्तृष्णापीडितत्वं चेह दुःखित्वभवने हेतुः । द्वितीयसूत्रेण दार्ष्टान्तिकोपदर्शनं, व्याधिरोगपीडितत्वं चात्र दुःखित्वभवने निमित्तं, दारिद्र्यादिपीडोपलक्षणं चैतत् । उत्तरसूत्रद्वयेन चैतत्सूत्रद्वयोक्तस्यैवार्थस्य व्यतिरेक उक्तः, तत्र सुखित्वे हेतुः क्षुत्तृष्णाविवर्जितत्वमुक्तम् । 'धर्मं' पापविरतिरूपम् 'अपिः' पूरणे 'कृत्वा' विधाय गच्छन्नुपलक्षणत्वाद्गतश्च 'सः' इति धर्मकर्त्ता प्रक्रमात्पाथेयोपमधर्मसहितः सुखी भवति, सुखित्वे चाल्पकर्मत्वं हेतुरवेदनत्वं च, अत्र च प्रस्तावात्कर्म पापं वेदना चासातरूपा गृह्यते, अनेन धर्म-कर्मकरणाकरणयोर्गुणदोषदर्शनाद्धर्मकरणाभिप्रायः प्रकटितः । 'जहे'त्यादिना च सूत्रद्वयेन तमेव दृढयति, अत्र च यथा सारभाण्डानि–महामूल्यवस्त्रादीनि 'णीणेइ'त्ति निष्काशयति 'असारं' जरद्वस्त्रादि 'अवउज्झइ'त्ति अपोहति–त्यजति, एवं 'लोके' जगति 'पलित्तंमि'त्ति प्रदीप्त इव प्रदीप्ते अत्याकुलीकृते 'आत्मानं' सारभाण्डतुल्यं 'तारयिष्यामि' जरामरणप्रदीप्तलोकपारं नेष्यामि, धर्मकरणेनेति प्रक्रमः, असारं तु कामभोगादि त्यक्ष्यामीति भावः, अनेन धर्मकरणे विलम्बासहिष्णुत्वमुक्तं, युष्माभिरिति द्वित्वेऽपि पूज्यत्वाद् बहुवचनम्, 'अणुमन्निओ'त्ति अनुमतः—अभ्यनुज्ञात इति सूत्रषट्कावयवार्थः ॥ एवं च तेनोक्ते—

तं बिंतऽम्मापियरो, सामन्नं पुत्त ! दुच्चरं । गुणाणं तु सहस्साणि, धारेयव्वाइं भिक्खुणा ॥ २४ ॥ समया

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२४--४३॥

दीप अनुक्रम [६३०--६५७]

सव्वभूएसुं, सत्तुमित्तेसु वा जगे। पाणाइवायविरई, जावज्जीवाय दुक्करं॥ २५ ॥ निच्चकालऽप्पमत्तेणं, मुसावायविवज्जणं। भासियव्वं हियं सच्चं, निच्चाउत्तेण दुक्करं ॥ २६ ॥ दंतसोहणमाइस्स, अदत्तस्स विवज्जणं। अणवज्जेसणिज्जस्स, गिण्हणा अवि दुक्करं ॥२७॥ विरई अबंभचेरस्स, कामभोगरसन्नुणा। उग्गं महव्वयं बंभं, धारेयव्वं सुदुक्करं ॥२८॥ धणधन्नपेसवग्गेसु, परिग्गहविवज्जणं। सव्वारंभपरिच्चागो, निम्ममत्तं सुदुक्करं ॥२९॥ चउव्विहेऽवि आहारे, राईभोयणवज्जणा। संनिहीसंचओ चेव, वज्जेयव्वो सुदुक्करं ॥ ३० ॥ छुहा तण्हा य सीउण्हं, दंसमसगा य वेयणा। अक्कोसा दुक्खसिज्जा य, तणफासा जल्लमेव य ॥ ३१ ॥ तालणा तज्जणा चेव, वहबंधपरीसहा। दुक्खं भिक्खायरिया, जायणा य अलाभया ॥ ३२ ॥ कावोया जा इमा वित्ती, केसलोओ अ दारुणो। दुक्खं बंभव्वयं घोरं, धारेउं अमहप्पणो ॥ ३३ ॥ सुहोइओ तुमं पुत्ता!, सुकुमालो सुमज्जिओ। न हुसी पभू तुमं पुत्ता!, सामन्नमणुपालिया ॥ ३४ ॥ जावज्जीवमविस्सामो, गुणाणं तु महब्भरो। गरुओ लोहभारु व्व, जो पुत्ता! होइ दुव्वहो ॥ ३५ ॥ आगासे गंगसोउ व्व, पडिसोउव्व दुत्तरो। बाहाहिं सागरो चेव,तरियव्वो य गुणोयही ॥३६॥ वालुयाकवले चेव,निरस्साए उ संजमे। असिधारागमणं चेव, दुक्करं चरिउं तवो ॥ ३७ ॥ अहीवेगंतदिट्ठीए, चरित्ते पुत्त! दुच्चरे। जवा लोहमया चेव, चावेयव्वा सुदुक्करं ॥ ३८ ॥ जहा अग्गिसिहा दित्ता, पाउं होइ सुदुकरं। तह दुक्करं करेउं जे, तारुण्णे समणत्तणं ॥ ३९ ॥ जहा दुक्खं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२४--४३॥

दीप अनुक्रम [६३०--६५७]

भरेउं जे, होइ वायस्स कुत्थलो । तहा दुक्खं करेउं जे, कीवेणं समणत्तणं ॥ ४० ॥ जहा तुलाए तोलेउं, दुक्करं मंदरो गिरी । तहा णिहुअणीसंकं, दुक्करं समणत्तणं ॥ ४१ ॥ जहा भुयाहिं तरिउं, दुक्करं रयणायरो । तहा अणुवसंतेणं, दुक्करं दमसायरो ॥ ४२ ॥ भुंज माणुस्सए भोए, पंचलक्खणए तुमं । भुत्तभोगी तओ जाया !, पच्छा धम्मं चरिस्ससि ॥ ४३ ॥

सूत्रविंशतिः सुगमैव, नवरं 'त'मिति बलश्रियं मृगापुत्रापरनामकं युवराजं 'विंति'ति ब्रूतः–अभिधत्तः 'अम्मापियरो'त्ति अम्बापितरौ श्रामण्यं पुत्र! दुश्चरं, यतस्तत्र 'गुणानां' श्रामण्योपकारकाणां शीलाङ्गरूपाणां सहस्राणि 'धारयितव्यानि' आत्मनि स्थापयितव्यानि, प्राकृतशब्दस्यैवकारार्थस्येह सम्बन्धाद्धारयितव्यान्येव व्रतग्रहण इति गम्यते 'भिक्षुणा' भिक्षणशीलेन सता, पठ्यते च–'भिक्खुणो'त्ति भिक्षोः सम्बन्धिनां गुणानामिति योगः । तथा 'समता' रागद्वेषाविधानतस्तुल्यता 'सर्वभूतेषु' समस्तजन्तुषु, उदासीनेष्विति गम्यते, 'शत्रुमित्रेषु वा' अपकार्युपकारिषु, 'जगति' लोके, अनेन सामायिकमुक्तं, तथा 'प्राणातिपातविरतिः' प्रथमव्रतरूपा 'जावज्जीव(वा य)'त्ति यावज्जीवं 'दुष्करं' दुरनुचरमेतदिति शेषः । नित्यकालाप्रमत्तेनेत्यप्रमत्तग्रहणं निद्रादिप्रमादवशगो हि मृषाऽपि भाषेतेति, नित्यायुक्तेन–सततोपयुक्तेन अनुपयुक्तस्यान्यथाऽपि भाषणसंभवाद्, एतच्च दुष्करं, यच्चान्वयव्यतिरेकाभ्यामेकस्याप्यर्थस्याभिधानं तत्स्पष्टतार्थमदुष्टमेवेत्येवं सर्वत्र भावनीयम्, अनेन द्वितीयव्रतदुष्करत्वमभिहितम्। 'दंतसोहणमादिस्स'त्ति, मकारो-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२४--४३॥

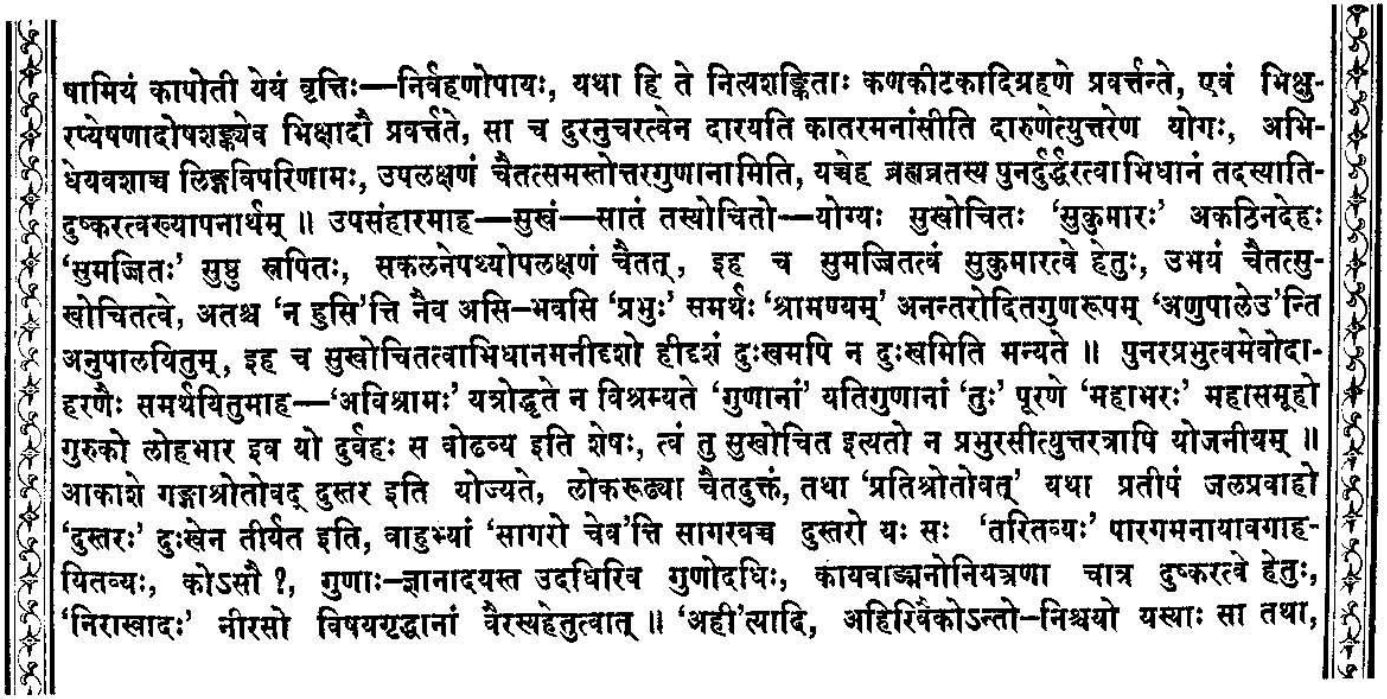
दीप अनुक्रम [६३०--६५७]

ऽलाक्षणिकः, अपिशब्दस्य गम्यमानत्वात् 'दन्तशोधनादेरपि' अतितुच्छस्यास्तामन्यस्य, तथाऽनवद्यैषणीयस्य दत्तस्यापीति गम्यते 'गिण्हण'त्ति ग्रहणमिति तृतीयव्रतदुष्करत्वोक्तिः । 'कामभोगरसण्णुण'त्ति कामभोगाः–उक्तरूपास्तेषां रसः–आस्वादः कामभोगरसः यद्वा रसाः–शृङ्गारादयस्ततः कामभोगाश्च रसाश्च कामभोगरसास्तज्ज्ञेन, तदज्ञस्य हि तदनवगमात्तद्विषयोऽभिलाष एव न भवेत् तथा च सुकरत्वमपि स्यादित्याशयेनैवमभिधानम्, अनेन चतुर्थव्रतदुष्करत्वमुक्तम् । परिग्रहः–सत्सु स्वीकारस्तद्विवर्जनं, तथा सर्वे–निरवशेषा ये आरम्भाः–द्रव्योत्पादनव्यापारास्तत्परित्यागः, अनेन निराकाङ्क्षत्वमुक्तं निर्ममत्वं च, गम्यमानत्वाच्चस्य, सर्वत्र ममेति बुद्धिपरिहारः, अनेन पञ्चमहाव्रतदुष्करतोक्ता । संनिधीयते नरकादिष्वनेनात्मेति संनिधिः–घृतादेरुचितकालातिक्रमेण स्थापनं स चासौ सञ्चयश्च संनिधिसञ्चयः स चैव वर्जयितव्य इत्येतत्सुदुष्करम्, अनेन षष्ठव्रतदुष्करत्वमुक्तं, दिवागृहीतदिवाभुक्तादिभङ्गचतुष्टयरूपत्वात्तस्य । 'छुहे'त्यादिना परीषहाभिधानम्, अत्र च 'दंशमशकवेदना' तद्भक्षणोत्थदुःखानुभवरूपा 'दुःखशय्या च' विषमोन्नतत्वादिना दुःखहेतुर्वसतिः, 'ताडना' करादिभिराहननं 'तर्जना' अङ्गुलिभ्रमणभ्रूत्क्षेपादिरूपा वधश्च—लकुटादिप्रहारो बन्धश्च—मयूरबन्धादिस्तावेव परीषहौ वधबन्धपरीषहौ, 'याञ्चा' प्रार्थना चकारोऽनुक्ताशेषपरीषहसमुच्चयार्थः, दुःखशब्दश्चेह क्षुदुःखमित्यादि प्रत्येकं योजनीयः, इह च बन्धताडने वधपरीषहेऽन्तर्भवतः, तर्जना आक्रोशे, भिक्षाचर्या च याञ्चायां, भेदोपादानं च व्युत्पत्त्यर्थमिति भावनीयं, कपोताः—पक्षिविशेषास्ते- ॥४५६॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||२४--४३||

दीप अनुक्रम [६३०--६५७]



षामियं कापोती येयं वृत्तिः—निर्वहणोपायः, यथा हि ते नित्यशङ्किताः कणकीटकादिग्रहणे प्रवर्त्तन्ते, एवं भिक्षुरप्येषणादोषशङ्क्येव भिक्षादौ प्रवर्त्तते, सा च दुरनुचरत्वेन दारयति कातरमनांसीति दारुणेत्युत्तरेण योगः, अभिधेयवशाच्च लिङ्गविपरिणामः, उपलक्षणं चैतत्समस्तोत्तरगुणानामिति, यच्चेह ब्रह्मव्रतस्य पुनर्दुर्द्धरत्वाभिधानं तदस्यातिदुष्करत्वख्यापनार्थम् ॥ उपसंहारमाह—सुखं—सातं तस्योचितो—योग्यः सुखोचितः 'सुकुमारः' अकठिनदेहः 'सुमज्जितः' सुष्ठु स्नपितः, सकलनेपथ्योपलक्षणं चैतत्, इह च सुमज्जितत्वं सुकुमारत्वे हेतुः, उभयं चैतत्सुखोचितत्वे, अतश्च 'न हुसि'त्ति नैव असि–भवसि 'प्रभुः' समर्थः 'श्रामण्यम्' अनन्तरोदितगुणरूपम् 'अणुपालेउ'न्ति अनुपालयितुम्, इह च सुखोचितत्वाभिधानमनीदृशो हीदृशं दुःखमपि न दुःखमिति मन्यते ॥ पुनरप्रभुत्वमेवोदाहरणैः समर्थयितुमाह—'अविश्रामः' यत्रोद्धृते न विश्रम्यते 'गुणानां' यतिगुणानां 'तुः' पूरणे 'महाभरः' महासमूहो गुरुको लोहभार इव यो दुर्वहः स वोढव्य इति शेषः, त्वं तु सुखोचित इत्यतो न प्रभुरसीत्युत्तरत्रापि योजनीयम् ॥ आकाशे गङ्गाश्रोतोवद् दुस्तर इति योज्यते, लोकरूढ्या चैतदुक्तं, तथा 'प्रतिश्रोतोवत्' यथा प्रतीपं जलप्रवाहो 'दुस्तरः' दुःखेन तीर्यत इति, बाहुभ्यां 'सागरो चेव'त्ति सागरवच्च दुस्तरो यः सः 'तरितव्यः' पारगमनायावगाहयितव्यः, कोऽसौ ?, गुणाः–ज्ञानादयस्त उदधिरिव गुणोदधिः, कायवाङ्मनोनियत्रणा चात्र दुष्करत्वे हेतुः, 'निरास्वादः' नीरसो विषयगृद्धानां वैरस्यहेतुत्वात् ॥ 'अही'त्यादि, अहिरिवैकोऽन्तो–निश्चयो यस्याः सा तथा,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२४--४३॥

दीप अनुक्रम [६३०--६५७]

उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥४५७॥

सा चासौ दृष्टिश्चैकान्तदृष्टिस्तया—अनन्याक्षिप्तया, अहिपक्षे दृशा, अन्यत्र तु बुद्ध्योपलक्षितम्, एकान्तदृष्टिकं वा चारित्रं दुश्चरं, विषयेभ्यो मनसो दुर्निवारत्वादिति भावः, 'जवा लोहमया चेव'त्ति एवकारस्योपमार्थत्वाद्यवा लोहमया इव चर्वयितव्याः, किमुक्तं भवति ?–लोहमययवचर्वणवत्सुदुष्करं चारित्रम् ॥ 'अग्गिसिहा' अग्निज्वाला 'दीसे' त्युज्ज्वला ज्वालाकराला वा, द्वितीयार्थे चात्र प्रथमा, ततो यथाऽग्निशिखां दीप्तां पातुं सुदुष्करं, नृभिरिति गम्यते, यदिवा लिङ्गव्यत्ययात् सर्वधात्वर्थत्वाच्च करोतेः 'सुदुक्करा' सुदुःशका यथाऽग्निशिखा दीप्ता पातुं भवतीति योगः, एवमुत्तरत्रापि भावना, 'जे' इति निपातः सर्वत्र पूरणे, कोत्थल इह वस्त्रकम्बलादिमयो गृह्यते, चर्ममयो हि सुखेनैव भ्रियेतेति, 'क्लीबेन' निःसत्त्वेन 'निभृतं निःशङ्क' मित्यत्र निभृतं–निश्चलं विषयाभिलाषादिभिरक्षोभ्यं 'निःशङ्कं' शरीरादिनिरपेक्षं शङ्काख्यसम्यक्त्वातिचारविरहितं वा ॥ १८ 'अनुपशान्तेन' उत्कटकषायेण, इह च दमसागर इत्यनेन प्राधान्यख्यापनार्थं केवलस्यैवोपशमस्य समुद्रोपमाभिधानं, पूर्वत्र तु गुणोदधिरित्यनेन निःशेषगुणानामिति न पौनरुक्त्यं ॥ यतश्चैवं तारुण्ये दुष्करा प्रव्रज्याऽतो भुक्त्वेत्यादिना पितरौ कृत्योपदेशं ब्रूतः, भुज्यन्त इति भोगास्तान् 'पञ्चलक्षणकान्' शब्दादिपञ्चकस्वरूपान् 'ततः' इति भोगभुक्तेरनन्तरं 'जाय'त्ति जातपुत्रः 'पश्चादि'ति वार्द्धक्ये 'चरिस्ससि'त्ति चरेरिति विंशतिसूत्रावयवार्थः ॥ २४–४३ ॥ सम्प्रति तद्वचनानन्तरं यन्मृगापुत्र उक्तवांस्तदाह—

मृगापुत्रीया० १९

॥४५७॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४४--७४॥

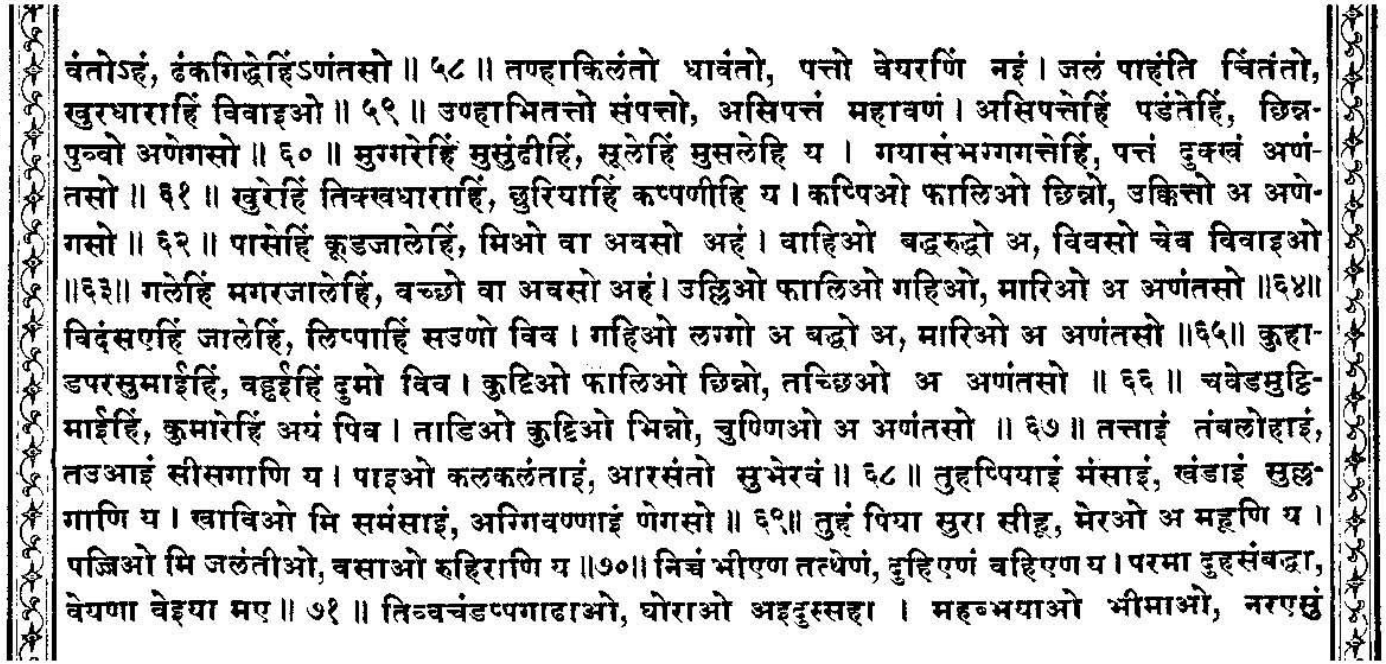
दीप अनुक्रम [६५८--६८८]

तं बिंतऽम्मापियरो,एवमेयं जहाफुडं। इहलोगे निप्पिवासस्स,नत्थि किंचिवि दुक्करं ॥४४॥ सारीरमाणसा चेव, वेयणा उ अणंतसो। मए सोढाओ[इं] भीमाओ[इं], असइं दुक्खभयाणि य ॥ ४५ ॥ जरामरणकंतारे, चाउरंते भयागरे। मया सोढाणि भीमाइं, जम्माइं मरणाणि य ॥४६॥ जहा इहं अगणी उण्हो, इत्तोऽणंतगुणो तहिं। नरएसु वेयणा उण्हा, अस्साया वेइया मए ॥४७॥ जहा इहं इमं सीयं, इत्तोऽणंतगुणं तहिं। नरएसु वेयणा सीया, अस्साया वेइया मए ॥ ४८ ॥ कंदंतो कंदुकुंभीसु, उद्धपाओ अहोसिरो। हुयासणे जलंतंमि, पक्कपुव्वो अणंतसो ॥४९॥ महादवग्गिसंकासे, मरुंमि वइरवालुए। कालंबवालुआए उ, दड्ढपुव्वो अणंतसो ॥ ५० ॥ रसंतो कंदुकुंभीसु, उड्ढं बद्धो अबंधवो। करवत्तकरकयाईहिं, छिन्नपुव्वो अणंतसो ॥ ५१ ॥ अइतिक्खकंटगाइण्णे, तुंगे सिंबलिपायवे। खेवियं पासबद्धेणं, कड्ढोकड्ढाहि दुक्करं ॥ ५२ ॥ महाजंतेसु उच्छूवा, आरसंतो सुभेरवं। पीलिओमि सकम्मेहिं, पावकम्मो अणंतसो ॥ ५३ ॥ कूवंतो कोलसुणएहिं, सामेहिं सबलेहि य। पाडिओ फालिओ छिन्नो, विप्फुरंतो अणेगसो ॥५४॥ असीहिं अयसिवण्णेहिं, भल्लीहिं पट्टिसेहि य। छिन्नो भिन्नो विभिन्नो य, उववन्नो पावकम्मुणा ॥ ५५ ॥ अवसो लोहरहे जुत्तो, जलंते समिलाजुए। चोइओ तुत्तजुत्तेहिं, रुज्झो वा जह पाडिओ ॥ ५६ ॥ हुआसणे जलंतंमि, चिआसु महिसो विव। दड्ढो एक्को अ अवसो, पावकम्मेहिं पाविओ ॥ ५७ ॥ बला संडासतुंडेहिं, लोहतुंडेहिं पक्खिहिं। विलुत्तो विल-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४४--७४॥

दीप अनुक्रम [६५८--६८८]



उत्तराध्. बृहद्वृत्तिः ॥४५८॥

वंतोऽहं, ढंकगिद्धेहिंऽणंतसो ॥ ५८ ॥ तण्हाकिलंतो धावंतो, पत्तो वेयरणिं नइं । जलं पाहंति चिंतंतो, खुरधाराहिं विवाइओ ॥ ५९ ॥ उण्हाभितत्तो संपत्तो, असिपत्तं महावणं । असिपत्तेहिं पडंतेहिं, छिन्नपुव्वो अणेगसो ॥ ६० ॥ मुग्गरेहिं मुसुंढीहिं, सूलेहिं मुसलेहि य । गयासंभग्गगत्तेहिं, पत्तं दुक्खं अणंतसो ॥ ६१ ॥ खुरेहिं तिक्खधाराहिं, छुरियाहिं कप्पणीहि य । कप्पिओ फालिओ छिन्नो, उक्कित्तो अ अणेगसो ॥ ६२ ॥ पासेहिं कूडजालेहिं, मिओ वा अवसो अहं । वाहिओ बद्धरुद्धो अ, विवसो चेव विवाइओ ॥६३॥ गलेहिं मगरजालेहिं, वच्छो वा अवसो अहं । उल्लिओ फालिओ गहिओ, मारिओ अ अणंतसो ॥६४॥ विदंसएहिं जालेहिं, लिप्पाहिं सउणो विव । गहिओ लग्गो अ बद्धो अ, मारिओ अ अणंतसो ॥६५॥ कुहाडपरसुमाईहिं, वड्ढईहिं दुमो विव । कुट्टिओ फालिओ छिन्नो, तच्छिओ अ अणंतसो ॥ ६६ ॥ चवेडमुट्ठिमाईहिं, कुमारेहिं अयं पिव । ताडिओ कुट्टिओ भिन्नो, चुण्णिओ अ अणंतसो ॥ ६७ ॥ तत्ताइं तंबलोहाइं, तउआइं सीसगाणि य । पाइओ कलकलंताइं, आरसंतो सुभेरवं ॥ ६८ ॥ तुहप्पियाइं मंसाइं, खंडाइं सोल्लगाणि य । खाविओ मि समंसाइं, अग्गिवण्णाइं णेगसो ॥ ६९॥ तुहं पिया सुरा सीहू, मेरओ अ महूणि य । पज्जिओ मि जलंतीओ, वसाओ रुहिराणि य ॥७०॥ निच्चं भीएण तत्थेणं, दुहिएणं वहिएण य । परमा दुहसंबद्धा, वेयणा वेइया मए ॥ ७१ ॥ तिव्वचंडप्पगाढाओ, घोराओ अइदुस्सहा । महब्भयाओ भीमाओ, नरएसुं

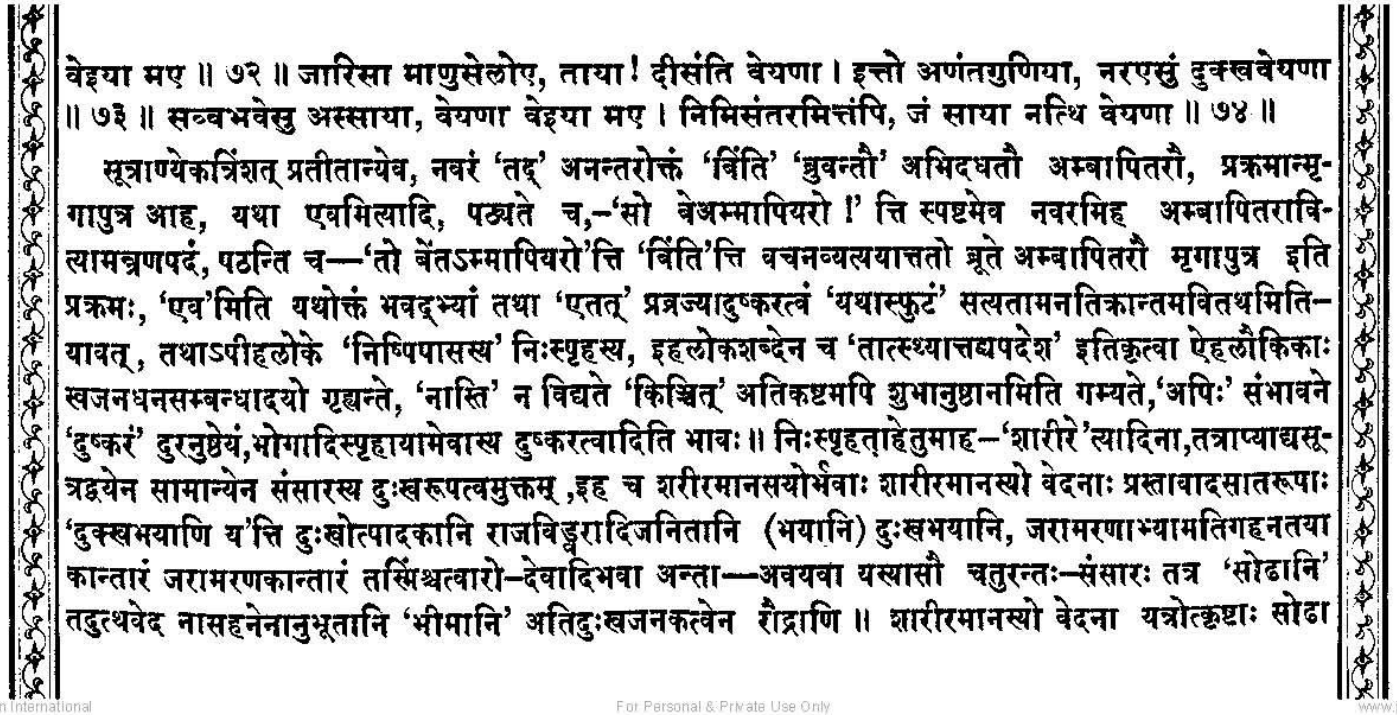
मृगापुत्रीया० १९

॥४५८॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४४--७४॥

दीप अनुक्रम [६५८--६८८]



वेइया मए ॥ ७२ ॥ जारिसा माणुसेलोए, ताया! दीसंति वेयणा। इत्तो अणंतगुणिया, नरएसुं दुक्खवेयणा ॥ ७३ ॥ सव्वभवेसु अस्साया, वेयणा वेइया मए। निमिसंतरमित्तंपि, जं साया नत्थि वेयणा ॥ ७४ ॥

सूत्राण्येकत्रिंशत् प्रतीतान्येव, नवरं 'तद्' अनन्तरोक्तं 'विंति' 'ब्रुवन्तौ' अभिदधतौ अम्बापितरौ, प्रक्रमान्मृगापुत्र आह, यथा एवमित्यादि, पठ्यते च,–'सो वेअम्मापियरो!' त्ति स्पष्टमेव नवरमिह अम्बापितरावित्यामन्त्रणपदं, पठन्ति च—'तो वेंतऽम्मापियरो'त्ति 'विंति'त्ति वचनव्यत्ययात्ततो ब्रूते अम्बापितरौ मृगापुत्र इति प्रक्रमः, 'एव'मिति यथोक्तं भवद्भ्यां तथा 'एतत्' प्रव्रज्यादुष्करत्वं 'यथास्फुटं' सत्यतामनतिक्रान्तमवितथमिति–यावत्, तथाऽपीहलोके 'निष्पिपासस्य' निःस्पृहस्य, इहलोकशब्देन च 'तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेश' इतिकृत्वा ऐहलौकिकाः स्वजनधनसम्बन्धादयो गृह्यन्ते, 'नास्ति' न विद्यते 'किञ्चित्' अतिकष्टमपि शुभानुष्ठानमिति गम्यते,'अपिः' संभावने 'दुष्करं' दुरनुष्ठेयं,भोगादिस्पृहायामेवास्य दुष्करत्वादिति भावः॥ निःस्पृहत्वहेतुमाह–'शारीरे'त्यादिना,तत्राप्याद्यसूत्रद्वयेन सामान्येन संसारस्य दुःखरूपत्वमुक्तम् ,इह च शरीरमानसयोर्भेदाः शारीरमानसो वेदनाः प्रस्तावादसातरूपाः 'दुक्खभयाणि य'त्ति दुःखोत्पादकानि राजविद्वरादिजनितानि (भयानि) दुःखभयानि, जरामरणाभ्यामतिगहनतया कान्तारं जरामरणकान्तारं तस्मिंश्चत्वारो–देवादिभवा अन्ता—अवयवा यस्यासौ चतुरन्तः–संसारः तत्र 'सोढानि' तदुत्थवेद नासहनेनानुभूतानि 'भीमानि' अतिदुःखजनकत्वेन रौद्राणि ॥ शारीरमानसो वेदना यत्रोत्कृष्टाः सोढा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४४--७४॥

दीप अनुक्रम [६५८--६८८]

उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥४५९॥

यथेत्यादिभिः सूत्रैस्तदाह–यथा 'इह' मनुष्यलोकेऽग्निरुष्णोऽनुभूयते 'अत' इत्येवमनुभूयमानादनन्तगुणः 'तहिं'ति तेषु,येष्वहमुत्पन्न इति भावः,तत्र च बादराग्नेरभावात्पृथिव्या एव तथाविधः स्पर्श इति गम्यते,ततश्चोष्णानुभवात्मकत्वेन 'असातः' दुःखरूपा वेदिता मया,पठन्ति च–'इत्तोऽणंतगुणा तहिं'ति, अत्र चातः–इहत्याग्नेरनन्तगुणा नरकेषूष्णा वेदना वेदिता मयेति योज्यम् ॥ तथा 'इदं' यदनुभूयते 'इह' मनुष्यलोके 'शीतं' तच्च माघादिसंभवं हिमकणानुषक्तमात्यन्तिकं परिगृह्यते, इहापि पठन्ति–'एत्तोऽणंतगुणा तहिं'ति प्राग्वत्, 'कंदुकुम्भीषु' पाकभाजनविशेषरूपासु लोहादिमयीषु 'हुताशने' अग्नौ देवमायाकृते, महादवाग्निना संकाशः–सदृशोऽतिदाहकतया महादवाग्निसङ्काशस्तस्मिन्, इह चान्यस्य दाहकतरस्यासंभवादित्थमुपमाभिधानम्, अन्यथेहत्याग्नेरनन्तगुण एव तत्रोष्णपृथिव्यनुभाव उक्तः, 'मरौ' इति मरुवालुकानिवह इव तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेशसंभवादन्तर्भूतेवार्थत्वाद्वाचात एव वज्रवालुकानदीसम्बन्धिपुलिनमपि वज्रवालुका तत्र, यद्वा वज्रवद्वालुका यस्मिंस्त (स्मिन् स त) था तस्मिन्नरकप्रदेश इति गम्यते, 'कदम्बवालुकायां च' तथैव कदम्बवालुकानदीपुलिने च महादवाग्निसङ्काश इति योज्यते । 'ऊर्द्धम्' उपरि वृक्षशाखादौ 'बद्धः' नियन्त्रितो माऽयमितो नङ्क्षीदित्यबान्धव इति च तत्राशरणतामाह, करपत्रं–प्रतीतं क्रकचमपि तद्विशेष एव 'खेदियं'ति खिन्नं खेदः क्लेशोऽनुभूतः क्षिपितं वा पापमिति गम्यते, 'कहोकहाहिं'ति कर्षणापकर्षणैः परमाधार्मिककृतैः 'दुष्करम्' इति दुस्सहम्॥ 'उच्छू व'त्ति वाशब्द उपमार्थे,तत इक्षुरिव 'आरसन्' आक्रन्दन् 'स्वकर्मभिः' हिंसाद्युपार्जितै-

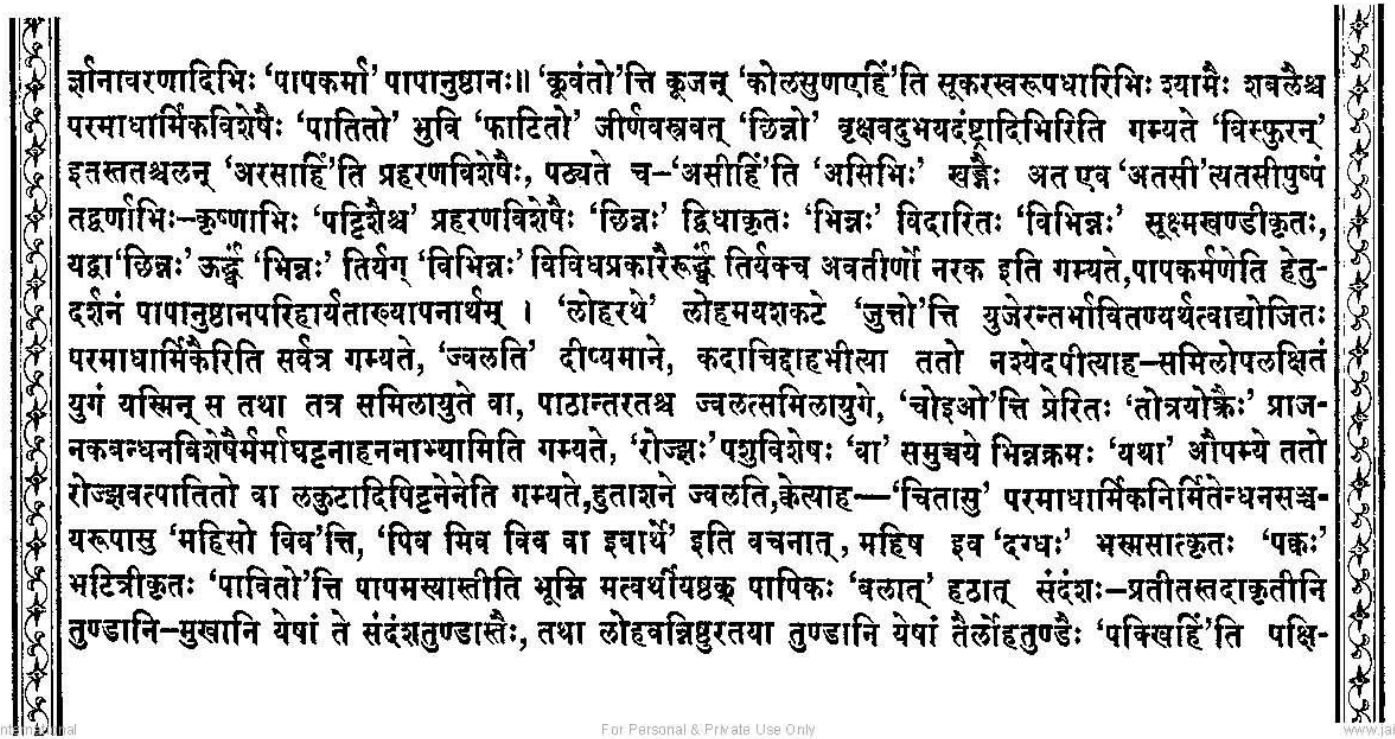
मृगापुत्रीया० १९

॥४५९॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४४--७४॥

दीप अनुक्रम [६५८--६८८]



ज्ञानावरणादिभिः 'पापकर्मा' पापानुष्ठानः॥ 'कूवंतो'त्ति कूजन् 'कोलसुणएहिं'ति सूकरस्वरूपधारिभिः श्यामैः शबलैश्च परमाधार्मिकविशेषैः 'पातितो' भुवि 'फाटितो' जीर्णवस्त्रवत् 'छिन्नो' वृक्षवदुभयदंष्ट्रादिभिरिति गम्यते 'विस्फुरन्' इतस्ततश्चलन् 'अरसाहिं'ति प्रहरणविशेषैः, पठ्यते च–'असीहिं'ति 'असिभिः' खड्गैः अत एव 'अतसी'त्यतसीपुष्पं तद्वर्णाभिः–कृष्णाभिः 'पट्टिशैश्च' प्रहरणविशेषैः 'छिन्नः' द्विधाकृतः 'भिन्नः' विदारितः 'विभिन्नः' सूक्ष्मखण्डीकृतः, यद्वा 'छिन्नः' ऊर्द्धं 'भिन्नः' तिर्यग् 'विभिन्नः' विविधप्रकारैरूर्द्धं तिर्यक्च अवतीर्णो नरक इति गम्यते,पापकर्मणेति हेतुदर्शनं पापानुष्ठानपरिहार्यतारख्यापनार्थम् । 'लोहरथे' लोहमयशकटे 'जुत्तो'त्ति युजेरन्तर्भावितण्यर्थत्वाद्योजितः परमाधार्मिकैरिति सर्वत्र गम्यते, 'ज्वलति' दीप्यमाने, कदाचिद्दाहभीत्या ततो नश्येदपीत्याह–समिलोपलक्षितं युगं यस्मिन् स तथा तत्र समिलायुते वा, पाठान्तरतश्च ज्वलत्समिलायुगे, 'चोइओ'त्ति प्रेरितः 'तोत्रयोक्त्रैः' प्राजनकबन्धनविशेषैर्मर्माघट्टनाहननाभ्यामिति गम्यते, 'रोज्झः'पशुविशेषः 'वा' समुच्चये भिन्नक्रमः 'यथा' औपम्ये ततो रोज्झवत्पातितो वा लकुटादिपिट्टनेनेति गम्यते,हुताशने ज्वलति,केत्याह—'चितासु' परमाधार्मिकनिर्मितेन्धनसञ्चयरूपासु 'महिसो विव'त्ति, 'पिव मिव विव वा इवार्थे' इति वचनात्, महिष इव 'दग्धः' भस्मसात्कृतः 'पक्वः' भट्टित्रीकृतः 'पावितो'त्ति पापमस्यास्तीति भूम्नि मत्वर्थीयष्ठक् पापिकः 'बलात्' हठात् संदंशः–प्रतीतस्तदाकृतीनि तुण्डानि–मुखानि येषां ते संदंशतुण्डास्तैः, तथा लोहवन्निष्ठुरतया तुण्डानि येषां तैर्लोहतुण्डैः 'पक्खिहिं'ति पक्षि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४४--७४॥

दीप अनुक्रम [६५८--६८८]

भिर्दङ्कगृद्धैरिति योगः, एते च वैक्रिया एव, तत्र तिरश्चामभावात्, 'विलुप्तः' विविधं छिन्नः॥ तस्य चैवं कदर्थ्यमानस्य तृड्डुत्पत्तौ का वार्त्तेत्याह—तृष्णया क्लान्तो–ग्लानिमुपगतस्तृष्णाक्लान्तः 'पाहंती'ति पास्यामीति चिन्तयन् 'खुरधाराहि'न्ति क्षुरधाराभिरतिच्छेदकतया वैतरणीजलोर्म्मिभिरिति शेषः, विपाटितः, पाठान्तरतश्च विपादितः–व्यापादित इत्यर्थः, उष्णेन–वज्रवालुकादिसम्बन्धिना तापेनाभि–आभिमुख्येन तप्त उष्णाभितप्तः संप्राप्तोऽसयः–खड्गास्तद्वद्भेदकतया पत्राणि–पर्णानि यस्मिंस्तदसिपत्रं, 'मुद्गरादिभिः' आयुधविशेषैर्गता—नष्टा आशा—परित्राणगोचरमनोरथात्मिका यत्र तद्गताशं यथा भवत्येवं 'भग्गगत्तेहिं'ति भग्नगात्रेण सता प्राप्तं दुःखमिति योगः, कल्पितः वस्त्रवत् खण्डितः कल्पनीभिः पाटितः द्विधाकृतः ऊर्द्ध छुरिकाभिश्छिन्नः खण्डितः क्षुरैरिति पश्चानुपूर्व्या सम्बन्धः, इत्थं च 'उक्कंतो य'ति उत्क्रान्तश्चायुःक्षये मृतश्चेत्यर्थः, पाठान्तरतो वोत्कृतः—त्वगपनयनेन प्रत्येकं वा क्षुरादिभिः कल्पितादीनां सम्बन्धः ॥ 'पाशैः कूटजालैः' प्रतीतैरेव बन्धनविशेषैः 'अवशः' परवशः 'वाहितः' विप्रलब्धः, पठ्यते च—'गहितो'त्ति गृहीतो बद्धो बन्धनेन रुद्धो बहिःप्रचारनिषेधनेन, अनयोर्विशेषणसमासः, 'विवाइतो'त्ति विपादितो विनाशित इत्यर्थः, तथा 'गलैः' बडिशैर्मकरैः—मकराकारानुकारिभिः परमाधार्मिकैर्जालैश्च–तद्विरचितैर्विक्रियैरनयोर्द्वन्द्वः, समूहवाची वा जालशब्दस्तत्पुरुषश्च समासः, तथा 'उल्लिउ'त्ति आर्षत्वाद् उल्लिखितो गलैः पाटितो मकरैर्गृहीतश्च जालैः, यद्वा गृहीतोऽपि मकरजालैरेव मारितश्च सर्वैरपि, विशेषेण दशन्तीति विदंशकाः—

॥४६०॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४४--७४॥

दीप अनुक्रम [६५८--६८८]

श्येनादयस्तैर्जालैः—तथाविधबन्धनैः 'लेप्पाहिं'ति लेपैर्वज्रलेपादिभिः श्लेषद्रव्यैः 'सउणोविव'त्ति 'शकुन इव' पक्षीव गृहीतो विदंशकैर्जालैश्च लग्नश्च 'श्लिष्टो' लेपद्रव्यैर्बद्धः, तैर्जालैश्च, मारितश्च सर्वैरपि, 'कुट्टितः' सूक्ष्मखण्डीकृतः पाटितश्छिन्नश्च प्राग्वत् ,तक्षितश्च त्वगपनयनतो द्रुम इवेति सर्वत्र योज्यं॥'चवेडमुट्ठिमाईहिं' ति चपेटामुष्ट्यादिभिः प्रतीतैरेव 'कुमारैः' अयस्कारैः 'अयं पिव'त्ति अय इव घनादिभिरिति गम्यते 'ताडितः' आहतः 'कुट्टितः' इह छिन्नः 'भिन्नः' खण्डीकृतः 'चूर्णितः' श्लक्ष्णीकृतः प्रक्रमात्परमाधार्मिकैः तप्ततास्त्रादीनि वैक्रियाणि पृथग्व्यनुभावभूतानि वा 'कलकलंत'त्ति अतिकाथतः कलकलशब्दं कुर्वन्ति॥ तव प्रियाणि मांसानि खण्डरूपाणि 'सोल्लगाणि'त्ति भर्जित्रीकृतानि स्मारयित्वेति शेषः,स्वमांसानि मच्छरीरादेवोत्कृत्योत्कृत्य ढौकितानि 'अग्निवर्णानि' अतितप्ततयाऽग्निच्छायानि सुरादीनि मद्यविशेषणरूपाणि, इहापि स्मारयित्वेति शेषः, 'पज्जितोमि'त्ति पायितोऽस्मि 'जलंतीओ'त्ति ज्वलन्तीरिव ज्वलन्तीरत्युष्णतया वशा रुधिराणि च,ज्वलन्तीति लिङ्गविपरिणामेन सम्बन्धनीयम् ॥'णिच' मित्यादि, नरकवक्तव्यतोपसंहर्तृ सूत्रत्रयम् ,अत्र च 'भीतेन' उत्पन्नसाध्वसेन तथा 'त्रसी उद्वेगे' 'त्रस्तेन' उद्विग्नेनात एव 'दुःखितेन' संजातविविधदुःखेन 'व्यथितेन च' कम्पमानसकलाङ्गोपाङ्गतया चलितेन,दुःखसंबद्धेति वेदनाविशेषणं सुखसम्बन्धिन्या अपि वेदनायाः सम्भवाद् , 'वेदिते'ति चानुभूता, तीव्रा अनुभागतोऽत एव चण्डाः—उत्कटाः प्रगाढाः—गुरुस्थितिकास्तत एव 'घोराः' रौद्राः 'अतिदुस्सहाः' अत्यन्तदुरध्यासास्तत एव च महद्भयं यकाभ्यस्ता महाभयाः,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४४--७४॥

दीप अनुक्रम [६५८--६८८]

पठ्यते च–महालयाः–महत्यः, 'भीमाः' श्रूयमाणा अपि भयप्रदाः, एकार्थिकानि वैतान्यत्यन्तभयोत्पादनायोक्तानि, इह च वेदना इति प्रक्रमः ॥ कथं पुनस्तस्यास्तीव्रादिरूपत्वमित्याशङ्क्य 'जारिसे' त्यादिना इहत्यवेदनापेक्षया नरकदुःखवेदनाया अनन्तगुणत्वमाह,'वेयण'त्ति प्रक्रमाद् दुःखवेदना ॥ न केवलं नरक एव दुःखवेदना मयाऽनुभूता किन्तु सर्वास्वपि गतिष्विति पुनर्निर्गमनद्वारेणाह–'सव्वे' त्यादिना, इह च 'असाता' दुःखरूपा निमेषः—अक्षिनिमीलनं तस्यान्तरं–व्यवधानं यावता कालेनासौ भूत्वा पुनर्भवति तन्मात्रमपि–तत्परिमाणमपि कालमिति शेषः 'यद्' इति यस्मात् 'साता' सुखरूपा नास्ति वेदना, तत्त्वतो वैषयिकसुखमसुखमेव, ईर्ष्याद्यनेकदुःखानुविद्धत्वाद्विपाकदारुणत्वाच्च ॥ सर्वस्य चास्य प्रकरणस्यायमाशयः–य एवमहं निमेषान्तरमात्रमपि कालं न सुखं लब्धवान् स कथं तत्त्वतः सुखोचितः सुकुमारो वेति शक्यते वक्तुं ?, येन च नरकेष्वत्युष्णशीतादयो महावेदना अनेकशः सोढास्तस्य महाव्रतपालनं क्षुदादिसहनं वा कथमिव बाधाविधायि ?, तत्त्वतस्तस्य परमानन्दहेतुत्वात् ,तत्प्रव्रज्यैव मया प्रतिपत्तव्येत्येकत्रिंशत्सूत्रावयवार्थः ॥ तत्रैवमुक्त्वोपरते—

तं बिंतऽम्मापियरो, छंदेणं पुत्त ! पव्वया । नवरं पुण सामण्णे, दुक्खं निप्पडिकम्मया ॥ ७५ ॥

'तं' मृगापुत्रं ब्रूतोऽम्बापितरौ छन्दः–अभिप्रायस्तेन स्वकीयेनेति गम्यते, किमुक्तं भवति ?–यथाऽभिरुचितं पुत्र !

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥७५॥

दीप अनुक्रम [६८९]

'प्रव्रज' प्रव्रजितो भव, 'नवरम्' इति केवलं 'पुनः' विशेषणे 'श्रामण्ये' श्रमणभावे 'दुःखं' दुःखहेतुः 'निष्प्रतिकर्मता' कथञ्चिद्रोगोत्पत्तौ चिकित्साऽकरणरूपेति सूत्रार्थः ॥ इत्थं जनकाभ्यामुक्ते—

सो बिंतऽम्मापियरो !, एवमेयं जहाफुडं । परिकम्मं को कुणई, अरन्ने मिगपक्खिणं ? ॥ ७६ ॥ एगभूओ अरन्ने वा, जहा ऊ चरई मिगो । एवं धम्मं चरिस्सामि, संजमेण तवेण य ॥ ७७ ॥ जया मिगस्स आयंको, महारण्णंमि जायई । अच्छंतं रुक्खमूलंमि, को णं ताहे चिगिच्छई ? ॥७८॥ को वा से ओसहं देइ, को वा से पुच्छई सुहं । को से भत्तं व पाणं वा, आहरित्तु पणामई ? ॥ ७९ ॥ जया य से सुही होइ, तया गच्छइ गोअरं । भत्तपाणस्स अट्ठाए, वल्लराणि सराणि य ॥८०॥ खाइत्ता पाणियं पाउं, वल्लरेहिं सरेहि य । मिगचारियं चरित्ता णं, गच्छई मिगचारियं ॥ ८१ ॥ एवं समुट्ठिए भिक्खू, एवमेव अणेगए । मिगचारियं चरित्ता णं, उड्ढं पक्कमई दिसं ॥८२॥ जहा मिए एग अणेगचारी, अणेगवासे धुवगोअरे अ । एवं मुणी गोयरियं पविट्ठे, नो हीलए नोवि य खिंसइज्जा ॥ ८३ ॥

'स' इति युवराजः 'बिन्ति'त्ति आर्षत्वाद् ब्रूतेऽम्बापितरौ, यथैतन्निष्प्रतिकर्मताया दुःखरूपत्वं युवाभ्यामुक्तं यथास्फुटमिति प्राग्वत्, परं परिभाव्यतामिदं–परिकर्म रोगोत्पत्तौ चिकित्सारूपं कः करोति ?, न कश्चिदित्यर्थः, क्व ?–अरण्ये, केषां ?–मृगपक्षिणाम्, अथचैतेऽपि जीवन्ति विचरन्ति च, ततः किमस्या दुःखरूपत्वमिति भावः,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥७६--८३॥

दीप अनुक्रम [६९०--६९७]

उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥४६२॥

यतश्चैवमतः 'एगे'त्यादि सर्वं स्पष्टमेव, नवरम् 'एकभूतः' एकत्वं प्राप्तोऽरण्ये, 'वे'ति वा पूरणे 'जहा उ'त्ति यथैव एवमित्येकभूतः संयमेन तपसा चेति धर्मचरणहेतुः, यदा 'आतङ्कः' आशुघाती रोगो, 'महारण्य' इति महाग्रहणम-महति ह्यरण्येऽपि कश्चित्कदाचित्पश्येत् दृष्ट्वा च कृपातश्चिकित्सेदपि, श्रूयते हि केनचिद्विषजा व्याघ्रस्य चक्षुरुद्-घाटितमटव्यामिति, वृक्षमूल इति तथाविधावासाभावदर्शनं, 'को णं'ति 'अचां सन्धिलोपौ बहुल'मितिवचनादज्-लोपे क एनं 'तदा' आतङ्कोत्पत्तिकाले चिकित्सति–औषधाद्युपदेशेन नीरोगं कुरुते ?, न कश्चिदित्यर्थः, चिकित्सके चासति को वेति वाशब्दः समुच्चये औषधं ददातीत्येवमुत्तरोत्तराप्राप्तिरुपदर्शनीया ॥'आहरित्तु'त्ति आहृत्य 'प्रणामयेत्' अर्पयेत्,'अर्पेः पणाम' इति वचनात् ॥ कथं तर्हि तस्य निर्वहणमित्याह–यदा स सुखी भवति,स्वत एव रोगाभाव इति गम्यते, 'गच्छति' याति गौरिव परिचितेतरभूभागपरिभावनारहितत्वेन चरणं–भ्रमणमस्मिन्निति गोचरस्तं भक्तमिव भक्तं तद्भक्ष्यं–तृणादि तच्च पानं च भक्तपानं तस्य 'अर्थाय' प्रयोजनाय, गोचरमेव विशेषत आह–'वल्लराणि' गह-नानि, उक्तञ्च–"गहणमवाणियदेसं रण्णे छेत्तं च वल्लरं जाण" 'सरांसि च' जलस्थानानि । खादित्वा निजभक्ष्य-मिति गम्यते, वल्लरेषु सरःसु वेति सुब्व्यत्ययेन नेयं, तथा मृगाणां चर्या–इतश्चेतश्चोत्प्लवनात्मकं चरणं मृगचर्या तां, 'मितचारितां' वा परिमितभक्षणात्मिकां 'चरित्वा' आसेव्य परिमिताहारा एव हि स्वरूपेणैव मृगा भवन्ति, विशे-षाभिधायित्वाच्च न पौनरुक्त्यं, ततश्च 'गच्छति' याति मृगाणां चर्या–चेष्टा स्वातन्त्र्योपवेशनादिका यस्यां सा मृगच-

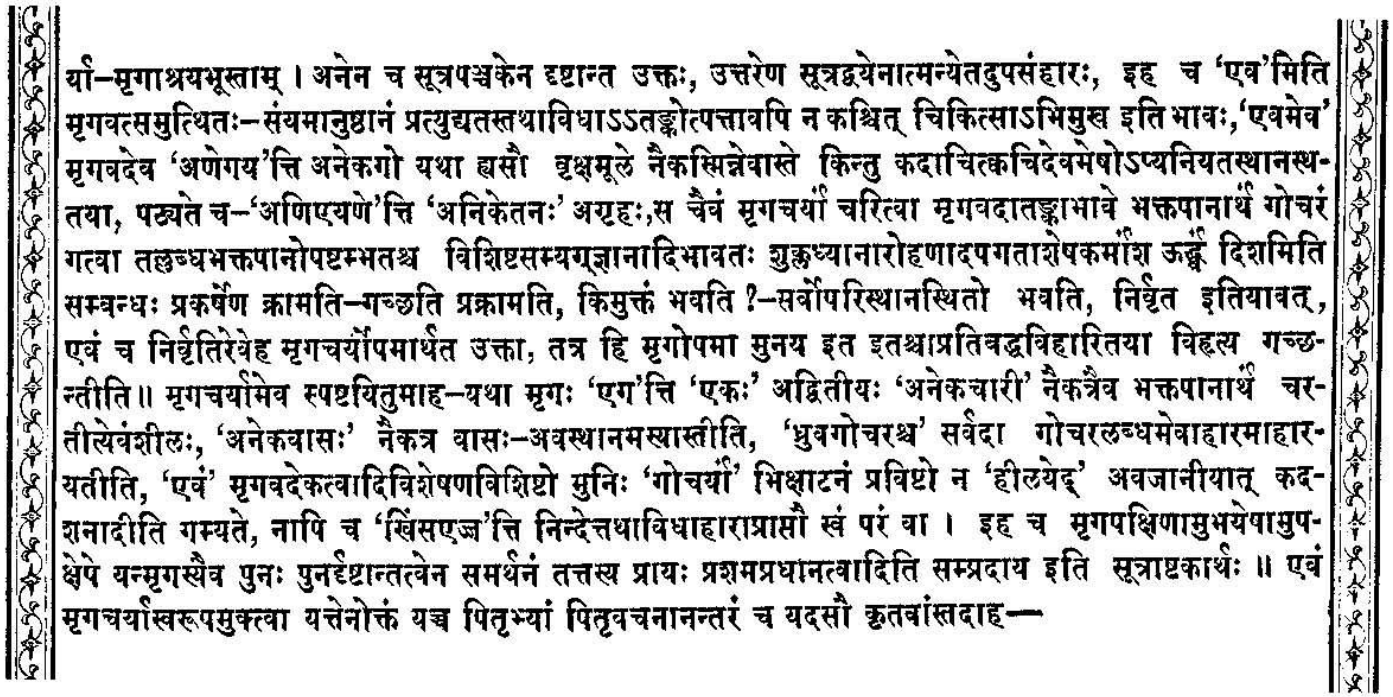
मृगापुत्री-या० १९

॥४६२॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥७६--८३॥

दीप अनुक्रम [६९०--६९७]



र्या–मृगाश्रयभूस्ताम् । अनेन च सूत्रपञ्चकेन दृष्टान्त उक्तः, उत्तरेण सूत्रद्वयेनात्मन्येतदुपसंहारः, इह च 'एव'मिति मृगवत्समुत्थितः–संयमानुष्ठानं प्रत्युद्यतस्तथाविधाऽऽतङ्कोत्पत्तावपि न कश्चित् चिकित्साऽभिमुख इति भावः,'एवमेव' मृगवदेव 'अणेगय'त्ति अनेकगो यथा ह्यसौ वृक्षमूले नैकस्मिन्नेवास्ते किन्तु कदाचित्कचिदेवमेषोऽप्यनियतस्थानस्थतया, पठ्यते च–'अणिएयणे'त्ति 'अनिकेतनः' अगृहः,स चैवं मृगचर्यां चरित्वा मृगवदातङ्काभावे भक्तपानार्थं गोचरं गत्वा तल्लब्धभक्तपानोपष्टम्भतश्च विशिष्टसम्यग्ज्ञानादिभावतः शुक्लध्यानारोहणादपगताशेषकर्मांश ऊर्द्धं दिशमिति सम्बन्धः प्रकर्षेण क्रामति–गच्छति प्रक्रामति, किमुक्तं भवति ?–सर्वोपरिस्थानस्थितो भवति, निर्वृत इतियावत्, एवं च निर्वृतिरेवेह मृगचर्योपमार्थत उक्ता, तत्र हि मृगोपमा मुनय इत इतश्चाप्रतिबद्धविहारितया विहृत्य गच्छन्तीति॥ मृगचर्यामेव स्पष्टयितुमाह–यथा मृगः 'एग'त्ति 'एकः' अद्वितीयः 'अनेकचारी' नैकत्रैव भक्तपानार्थं चरतीत्येवंशीलः, 'अनेकवासः' नैकत्र वासः–अवस्थानमस्यास्तीति, 'ध्रुवगोचरश्च' सर्वदा गोचरलब्धमेवाहारमाहारयतीति, 'एवं' मृगवदेकत्वादिविशेषणविशिष्टो मुनिः 'गोचर्यां' भिक्षाटनं प्रविष्टो न 'हीलयेद्' अवजानीयात् कदशनादीति गम्यते, नापि च 'खिंसएज्ज'त्ति निन्देत्तथाविधाहाराप्राप्तौ स्वं परं वा । इह च मृगपक्षिणामुभयेषामुपक्षेपे यन्मृगस्यैव पुनः पुनर्दृष्टान्तत्वेन समर्थनं तत्तस्य प्रायः प्रशमप्रधानत्वादिति सम्प्रदाय इति सूत्राष्टकार्थः ॥ एवं मृगचर्यास्वरूपमुक्त्वा यत्तेनोक्तं यच्च पितृभ्यां पितृवचनानन्तरं च यदसौ कृतवांस्तदाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥८४--८७॥

दीप अनुक्रम [६९८--७०१]

मिगचारियं चरिस्सामि, एवं पुत्ता ! जहासुहं । अम्मापिऊहिंऽणुण्णाओ, जहाइ उवहिं तओ ॥ ८४ ॥
मिगचारियं चरिस्सामो, सव्वदुक्खविमुक्खणिं। तुब्भेहिं अम्ब ! ऽणुण्णाओ,गच्छ पुत्त ! जहासुहं ॥८५॥ एवं सो अम्मापियरं,अणुमाणित्ता ण बहुविहं। ममत्तं छिंदई ताहे,महानागुव्व कंचुयं॥८६॥ इड्ढी वित्तं च मित्ते य, पुत्तदारं च नायओ। रेणुअं व पडे लग्गं, निद्धुणित्ता ण निग्गओ ॥ ८७ ॥

गाथा चतुष्टयं स्पष्टमेव,नवरं मृगस्येव चर्या–चेष्टा मृगचर्या तां निष्प्रतिकर्मतादिरूपां चरिष्यामीति बलश्रिया युवराजेनोक्ते पितृभ्यामभाणि—एवं यथा भवतोऽभिरुचितं तथा यथासुखं तेऽस्त्विति शेषः, एवं चानुज्ञातः सन् 'जहाति' त्यजति उपधिम्—उपकरणमाभरणादि द्रव्यतो भावतस्तु छद्मादि येनात्मा नरक उपधीयते, ततश्च प्रव्रजतीत्युक्तं भवति । उक्तमेवार्थं सविस्तरमाह–'सव्वदुक्खविमोक्खणिं' सकलासातविमुक्तिहेतुं 'तुब्भेहिं'ति युवाभ्यामम्ब ! उपलक्षणत्वात्पितश्च 'अनुज्ञातः' अनुमतः सन्, तावाहतुः–गच्छ मृगचर्ययेति प्रक्रमः पुत्र ! 'यथासुखं' सुखानतिक्रमेण । 'अनुमन्य' अनुज्ञाप्य 'ममत्वं' प्रतिबन्धं 'छिनत्ति' अपनयति महानाग इव कञ्चुकं, यथाऽसावतिजरठतया चिरप्ररूढमपि कञ्चुकमपनयति, एवमसावपि ममत्वमनादिभवाभ्यस्तमुपलक्षणत्वात् मायादींश्च ॥ अनेनान्तरोपधित्याग उक्तः, बहिरुपधित्यागमाह–'ऋद्धिं' करितुरगादिसम्पदं 'वित्तं' द्रव्यं 'णायओ'त्ति 'ज्ञातीन्' सोदरादीन् 'णिद्धुणित्त'त्ति निर्द्धूयेव निर्द्धूय त्यक्त्वेतियावत् 'निर्गतः' निष्क्रान्तो गृहादिति गम्यते, प्रव्रजित इति योऽर्थः ॥ इति सूत्रचतुष्टयार्थः । एनमेवार्थं स्पष्टयितुमाह निर्युक्तिकृत्—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||८४--८७||

दीप अनुक्रम [६९८--७०१]

नाऊण निच्छयमई एव करेहित्ति तेहिँ सो भणिओ । धन्नोऽसि तुमं पुत्ता ! जंसि विरत्तो सुहसएसु ४१५
सीहत्ता निक्खमिउं सीहत्ता चेव विहरसू पुत्ता ! । जह नवरि धम्मकामा विरत्तकामा उ विहरन्ति४१६
नाणेण दंसणेण य चरित्ततवनियमसंजमगुणेहिं । खंतीए मुत्तीए होहि तुमं वड्ढमाणो उ ॥ ४१७ ॥
संवेगजणिअहासो मुक्खगमणवद्धचिंधसन्नाहो । अम्मापिऊण वयणं सो पंजलिओ पडिच्छीय ॥४१८॥

गाथाचतुष्टयं पाठसिद्धमेव, नवरमाद्यगाथात्रयेण 'एवं पुत्र ! यथासुख'मित्येतत्सूचितार्थाभिधानतो व्याख्यातं, चतुर्थगाथया त्ववशिष्टसूत्रं भावार्थाभिधानतः, 'सुखशतेभ्य' इति बहुत्वोपलक्षणं शतग्रहणं, 'सीहत्ता' इति सिंहतया 'निष्क्रम्य' प्रव्रज्य सिंहतयैव विहर 'पुत्र !' इति जात !, किमुक्तं भवति ?–यथा सिंहः स्वस्थानादिनिरपेक्ष एव निष्क्रामति, निष्क्रम्य च तथैव निरपेक्षवृत्त्या विहरति, एवं त्वमपि विहरेति, 'नवरं'ति परं धर्म एव कामः—अभिलाषो येषां ते धर्मकामाः, 'विरत्तकामे'त्ति प्राग्वत् 'कामविरक्ताः' विषयपराङ्मुखाः, 'चरित्रतपोनियमसंयमगुणै'रित्यत्र चारित्रान्तर्गतत्वेऽपि तपःप्रभृतीनामुपदेशात्सामान्यविशेषयोश्च कथञ्चिद्भिन्नत्वाच्च न पौनरुक्त्यं, तथा संवेगो–मोक्षाभिलाषस्तेन जनितो हासो–मुखविकाशात्मकोऽस्येति संवेगजनितहासः–मुक्त्युपायोऽयं दीक्षेत्युत्सव-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||८४--८७||

दीप अनुक्रम [६९८--७०१]

मिव तां मन्यमानः प्रहसितमुख इत्यर्थः, पठन्ति च–'संवेगजणियसद्धो'त्ति स्पष्टमेव, तथा मोक्षो—मुक्तिस्तद्गमनाय बद्धमिति–धृतं चिह्नं–धर्मध्वजादि तदेव सन्नाहो–दुर्वचनशरप्रसरनिवारकः क्षान्त्यादिर्वा येन स तथा, 'पडिच्छीय'त्ति 'प्रत्यैषीत्' प्रतिपन्नवानिति गाथाचतुष्टयार्थः ॥ ततोऽसौ कीदृक् सञ्जात इत्याह—

पंचमहव्वयजुत्तो पंचसमिओ तिगुत्तिगुत्तो अ। सब्भिंतरबाहिरिए, तवोकम्मंमि उज्जुओ ॥८८॥ निम्ममो निरहंकारो, निस्संगो चत्तगारवो। समो अ सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु अ ॥ ८९ ॥ लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा। समो निंदापसंसासु, तहा माणावमाणओ ॥ ९० ॥ गारवेसु कसाएसु, दंडसल्लभएसु अ। नियत्तो हाससोगाओ, अनियाणो अबंधणो ॥ ९१ ॥ अणिस्सिओ इहं लोए, परलोए अणिस्सिओ। वासीचंदणकप्पो अ, असणे अणसणे तहा ॥ ९२ ॥ अप्पसत्थेहिं दारेहिं, सव्वओ पिहियासवो। अज्झप्पझाणजोगेहिं, पसत्थदमसासणो ॥ ९३ ॥

सूत्रपङ्कं निगदसिद्धमेव, नवरं 'सब्भिंतरबाहिरिए'त्ति सहाभ्यन्तरैः–प्रायश्चित्तादिभिर्बाह्यैश्च–अनशनादिभिर्भेदैर्वर्त्तत इति सबाह्याभ्यन्तरं तस्मिन्, प्रधानत्वाच्च प्रथममभ्यन्तरोपादानं ॥ 'निर्ममः' ममत्वबुद्धिपरिहारतः 'निस्सङ्गः' सङ्गहेतुधनादित्यागतः 'समश्च' न रागद्वेषवान्निर्ममत्वादेरेव ॥ लाभेत्यादिना समत्वमेव प्रकारान्तरेणाह, अत्र च 'समः' न लाभादौ चित्तोत्कर्षभाग् नाप्यलाभादौ दैन्यवान्, जीविते मरणे समो, नैकत्राप्याकाङ्क्षावान्, 'माणावमाणओ'त्ति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||८८--९३||

दीप अनुक्रम [७०२--७०७]

मानापमानयोः, गौरवादीनि सूत्रे सुव्व्यत्ययेन सप्तम्यन्ततया निर्दिष्टानि पञ्चम्यन्ततया व्याख्येयानि, निर्वृत्त इति च सर्वत्र सम्बन्धनीयम्, 'अबन्धनः' रागद्वेषबन्धनरहितः ॥ अत एव 'अनिश्रितः' इहलोके परलोके वाऽनिश्रितो नेहलोकार्थं परलोकार्थं वाऽनुष्ठानवान् 'णो इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा' इत्याद्यागमात् पुनरनिश्रिताभिधानं च मन्दमतिविनेयानुग्रहार्थमदुष्टमेव, वासीचन्दनकल्प इत्यनेन समत्वमेव विशेषत आह, वासीचन्दनशब्दाभ्यां च तद्व्यापारकपुरुषावुपलक्षितौ, ततश्च यदि किलैको वास्या तक्ष्णोति, अन्यश्च गोशीर्षादिना चन्दनेनालिम्पति, तथाऽपि रागद्वेषाभावतो द्वयोरपि तुल्यः, कल्पशब्दस्येह सदृशपर्यायत्वात्, 'अनशने' इति च नञाऽभावे कुत्सायां वा, ततश्चाशनस्य–भोजनस्याभावे कुत्सिताशनभावे वा कल्पः, इह चेष्टितोऽधिकाराणां प्रवृत्तिरिति पूर्वत्र समस्तमपि कल्प इत्यनुवर्त्तते, 'अप्रशस्तेभ्यः' प्रशंसाऽनास्पदेभ्यः 'द्वारेभ्यः' कर्मोपार्जनोपायेभ्यो हिंसादिभ्यः 'सर्वतः' सर्वेभ्यो य आश्रवः–कर्मसंलगनात्मकः स पिहितः—तद्द्वारस्थगनतो निरुद्धो येनासौ पिहिताश्रवः, सापेक्षस्यापि गमकत्वात्समासः, यद्वाऽप्रशस्तेभ्यो द्वारेभ्यः सर्वेभ्यो निर्वृत्त इति गम्यते, अत एव पिहिताश्रवः, कैः पुनरयमेवंविधः ?–अध्यात्मेत्यात्मनि ध्यानयोगाः–शुभध्यानव्यापारा अध्यात्मध्यानयोगास्तैः, अध्यात्मग्रहणं तु परस्थानां तेषामकिञ्चित्करत्वाद्, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात्, प्रशस्तः प्रशंसास्पदो दमश्च—उपशमः शासनं च–सर्वज्ञागमात्मकं यस्य स प्रशस्तदमशासन इति सूत्रपदार्थः ॥ सम्प्रति तत्फलोपदर्शनायाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥९४--९५॥

दीप अनुक्रम [७०८--७०९]

एवं नाणेण चरणेण, दंसणेण तवेण य । भावणाहिं विसुद्धाहिं, सम्मं भावित्तु अप्पयं ॥ ९४ ॥ बहुयाणि उ वासाणि, सामन्नमणुपालिया । मासिएण उ भत्तेणं, सिद्धिं पत्तो अणुत्तरं ॥ ९५ ॥

सूत्रद्वयमुत्तानार्थमेव, नवरं 'भावनाभिः' महाव्रतसम्बन्धिनीभिर्वक्ष्यमाणाभिरनित्यत्वादिविषयाभिर्वा 'विशुद्धाभिः' निदानादिदोषरहिताभिर्भावयित्वा–तन्मयतां नीत्वा 'अप्पयं'ति आत्मानं,'मासिएण उ भत्तेणं'ति मासे भवं मासिकं तेन तुः पूरणे 'भक्तेन' भोजनेन मासोपवासोपलक्षकत्वादस्य मासोपवासेनेतियावत् 'सिद्धिं' निष्ठितार्थतां सकलकर्मक्षयेणेति गम्यते, 'अनुत्तरां' सकलसिद्धिप्रधानाम्, अनेनाऽजनसिद्धयादिव्यवच्छेदमाहेति सूत्रद्वयार्थः ॥ इड्ढीत्यादिसूत्रकदम्बकस्य तात्पर्यार्थमाह निर्युक्तिकृत्—

इड्ढीए निक्खंतो काऊं समणत्तणं परमघोरं । तत्थ गओ सो धीरो जत्थ गया खीणसंसारा ॥४१९॥

सुगमैव, नवरम्, 'ऋद्धया' दीनानाथदानादिकया विभूत्या निष्क्रान्तः सन् 'परमघोरं' कातरजनातिशयदुरनुचरं यत्र गताः क्षीणसंसारा इति मोक्ष इत्यभिप्राय इति गाथाऽवयवार्थः ॥ साम्प्रतं सकलाध्ययनार्थोपसंहारद्वारेणोपदिशन्नाह सूत्रकृत्—

एवं करंति संबुद्धा (संपन्ना), पंडिया पवियक्खणा । विणियट्टंति भोगेसु, मियापुत्ते जहामिसी ॥ ९६ ॥

व्याख्यातप्रायमेव, संगता प्रज्ञा येषां ते संप्रज्ञाः संपन्ना वा ज्ञानादिभिः 'जहामिसि'त्ति, मकारोऽलाक्षणिको यथेत्यौपम्याभिधायी 'ऋषिः' मुनिरिति सूत्रावयवार्थः । इत्थमन्योक्त्योपदिश्य पुनर्भङ्ग्यन्तरेणोपदिशन्नाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥९७--९८॥

दीप अनुक्रम [७११--७१२]

महप्पभावस्स महाजसस्स, मियाइपुत्तस्स निसम्म भासियं। तवप्पहाणं चरियं च उत्तमं, गइप्पहाणं च तिलोअविस्सुतं ॥ ९७ ॥ वियाणिया दुक्खविवड्ढणं धणं, ममत्तबंधं च महाभयावहं। सुहावहं धम्मधुरं अणुत्तरं, धारेह निव्वाणगुणावहं महं ॥ ९८ ॥ तिबेमि ॥

॥ मियापुत्तीज्झं ॥ १७ ॥

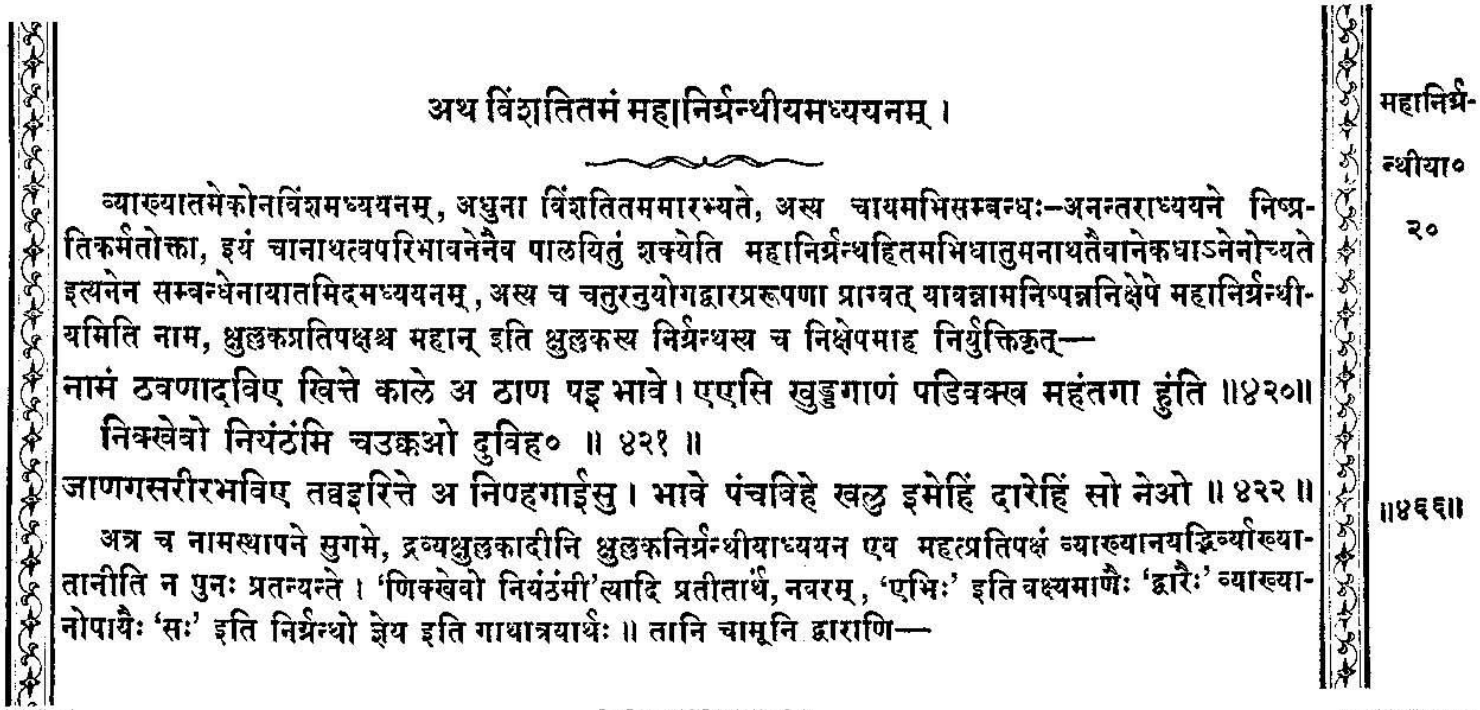
सूत्रद्वयं निगदसिद्धमेव, नवरं मृगापुत्रस्य 'भाषितं' संसारदुःखरूपतावेदकं यत्तेन पित्रोः पुरत उक्तं, प्रधानं तपो यत्र चरिते तत्प्रधानतपो, व्यत्ययनिर्देशश्च प्राग्वत्, 'चरितं' च चेष्टितं 'गतिप्पहाणं च'इति प्रधानगतिं च मुक्तिमिति योऽर्थः, 'त्रिलोकविश्रुतां' जगत्त्रितयप्रतीताम्, अनेन च फललिप्सवो हि प्रेक्षावन्तः प्रवर्त्तन्त इति काका फलमाह। एतन्निशमनाच्च ममत्वं बन्ध इव सत्प्रवृत्तिविघातितया ममत्वबन्धस्तं च, महाभयावहं तत एव चौरादिभ्यो महाभयावासेः, धर्मो धूरिव महासच्चैरुह्यमानतया धर्मधुरा–महाव्रतपञ्चकात्मिका तां, तथा निर्वाणगुणा—अनन्तज्ञानदर्शनवीर्यसुखादयस्तदावहां—तत्प्रापिकां धर्मधुरां धारयतेति सम्बन्धः। इह च निर्वाणगुणावहत्वं सुखावहत्वे हेतुः 'महंति' अपरिमितमाहात्म्यतया महतीं, सूत्रत्वाच्चैवं निर्देश इति सूत्रद्वयार्थः ॥ 'इति' परिसमाप्तौ ब्रवीमीति पूर्ववत्, उक्तोऽनुगमः, सम्प्रति नयास्तेऽपि प्राग्वदेव ॥ इति श्रीशान्त्याचार्यकृतायां शिष्यहितायामुत्तराध्ययनटीकायामेकोनविंशमध्ययनं समाप्तम् ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्र अध्ययनं- १९ परिसमाप्तं

प्रत सूत्रांक ॥९८॥

दीप अनुक्रम [७१२]



उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥४६६॥

अथ विंशतितमं महानिर्ग्रन्थीयमध्ययनम् ।

व्याख्यातमेकोनविंशमध्ययनम्, अधुना विंशतितममारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः–अनन्तराध्ययने निष्प्रतिकर्मतोक्ता, इयं चानाथत्वपरिभावनेनैव पालयितुं शक्येति महानिर्ग्रन्थहितमभिधातुमनाथतैवानेकधाऽनेनोच्यते इत्यनेन सम्बन्धेनायातमिदमध्ययनम्, अस्य च चतुरनुयोगद्वारप्ररूपणा प्राग्वत् यावन्नामनिष्पन्ननिक्षेपे महानिर्ग्रन्थीयमिति नाम, क्षुल्लकप्रतिपक्षश्च महान् इति क्षुल्लकस्य निर्ग्रन्थस्य च निक्षेपमाह निर्युक्तिकृत्—

नामं ठवणादविए खित्ते काले अ ठाण पइ भावे। एएसि खुड्डगाणं पडिवक्ख महंतगा हुंति ॥४२०॥

निक्खेवो नियंठंमि चउक्कओ दुविह० ॥ ४२१ ॥

जाणगसरीरभविए तव्वइरित्ते अ निण्हगाईसु। भावे पंचविहे खलु इमेहिं दारेहिं सो नेओ ॥ ४२२ ॥

अत्र च नामस्थापने सुगमे, द्रव्यक्षुल्लकादीनि क्षुल्लकनिर्ग्रन्थीयाध्ययन एव महत्प्रतिपक्षं व्याख्यानयद्भिर्व्याख्यातानीति न पुनः प्रतन्यन्ते। 'णिक्खेवो नियंठंमी'त्यादि प्रतीतार्थं, नवरम्, 'एभिः' इति वक्ष्यमाणैः 'द्वारैः' व्याख्यानोपायैः 'सः' इति निर्ग्रन्थो ज्ञेय इति गाथात्रयार्थः ॥ तानि चामूनि द्वाराणि—

महानिर्ग्रन्थीया० २० ॥४६६॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ अध्ययनं – २० "महानिर्ग्रन्थीय" आरभ्यते

प्रत सूत्रांक ॥९८॥

दीप अनुक्रम [७१२]

पण्णवण १ वेय २ रागे ३ कप्प ४ चरित्त ५ पडिसेवणा ६ नाणे ७ । तित्थ ८ लिंग ९ सरिर १० खित्ते ११ काल १२ गइ १३ ठिइ १४ संजम १५ निगासे १६ ॥ ४२३ ॥ जोगु १७ वओग १८ कसाए १९ लेसा २० परिणाम २१ बंधणे २२ उदए २३ । कम्मोदीरण २४ उवसंपजहण २५ सण्णा २६ य आहारे २७ ॥ ४२४ ॥ भावा २८ ऽऽगरिसे २९ कालं ३० तरे ३१ समुग्घाय ३२ खित्त ३३ फुसणा य ३४ । भावे ३५ परिणामे ३६ खलु महानियंठाण अप्पबहू ३७ ॥ ४२५ ॥

तत्र प्रज्ञापना–स्वरूपनिरूपणं, तचैषां क्षुल्लकनिर्ग्रन्थीयाध्ययन एवाभिहितमिति नेहाभिधीयते १ द्वारं। 'वेद'त्ति वेदः—स्त्रीपुंनपुंसकभेदः, तत्र पुलाकः पुंनपुंसकवेदयोर्न तु स्त्रीवेदे, तत्र तथाविधलब्धेरभावात्, बकुशः स्त्रीपुंनपुंसकवेदस्तेषु त्रिष्वपि, एवं प्रतिसेवनाकुशीलोऽपि, कषायकुशीलः सवेदो वा स्यादवेदो वा, यदि सवेदस्त्रिष्वपि वेदेषु, अथावेद उपशान्तवेदः क्षीणवेदो वा, निर्ग्रन्थस्त्ववेद एव, सोऽप्युपशान्तवेदः क्षीणवेदो वा, एवं स्नातकोऽपि, न त्वसावुपशान्तवेदः, क्षीणमोहत्वात् २ । द्वारं। 'राग' इति पुलाकबकुशप्रतिसेवककषायकुशीलाः सरागा एव, कषायोदयवर्त्तित्वात्तेषां, निर्ग्रन्थो वीतरागः, स चोपशान्तकषायवीतरागः क्षीणकषायो वा वीतरागः, एवं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥९८॥

दीप अनुक्रम [७१२]

स्नातकोऽपि, नवरमयं क्षीणकषायवीतराग एव ३। द्वारं। 'कप्पो'त्ति 'कल्पः' स्थितास्थितकल्पो जिनकल्पादिर्वा, तत एव पुलाकादयः किं स्थितकल्पेऽस्थितकल्पे वा?, द्वयोरपि स्युः, स्थविरकल्पादिरूपकल्पापेक्षया तु पुलाकः स्थविरकल्पे जिनकल्पे वा, न तु कल्पातीतः, तथा चागमः–"पुलाए णं भंते ! किं जिणकप्पे होज्जा ? थेरकप्पे होज्जा ? कप्पाईए होज्जा ?, गोयमा ! जिणकप्पे वा होज्जा थेरकप्पे वा होज्जा णो कप्पातीते होज्ज"त्ति, अन्ये त्वाहुः–स्थविरकल्प एवेति, बकुशप्रतिसेवनाकुशीलावपि जिनकल्पे स्थविरकल्पे वा, न तु कल्पातीतौ, कषायकुशीलस्त्रिष्वपि स्यात्, निर्ग्रन्थस्नातकौ कल्पातीतावपि ४। द्वारं। 'चरित्त'मिति पुलाकबकुशप्रतिसेवनाकुशीलाः सामायिकच्छेदोपस्थापनीययोः, कषायकुशीलश्चैतयोः परिहारविशुद्धिसूक्ष्मसंपराययोश्च, निर्ग्रन्थो यथाख्यात एव, एवं स्नातकोऽपि ५। द्वारं। 'पडिसेवण'त्ति, पुलाकः प्रतिसेवको नाप्रतिसेवकः, स हि मूलगुणोत्तरगुणानामन्यतमविराधनात एव भवति, बकुशोऽपि प्रतिसेवक एव, नवरमुत्तरगुणविराधनातः, प्रतिसेवनाकुशीलः पुलाकवत्, कषायकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातका अप्रतिसेवका एव ६। द्वारं। 'णाण'त्ति, पुलाकबकुशप्रतिसेवका द्वयो ज्ञानयोस्त्रिषु वा, तत्र द्वयोर्मतिश्रुतयोस्त्रिषु मतिश्रुतावधिषु, इह च पुलाकस्य श्रुतं नवमपूर्वतृतीयाचारवस्तुन आरभ्य यावन्नव पूर्वाणि पूर्णानि, उक्तं हि—"आरतो परओ वा न लद्धी लभइ" कषायकुशीलो द्वयोस्त्रिषु चतुर्षु वा, तत्र द्वयोर्मतिश्रुतयोस्त्रिषु मतिश्रुतावधिषु मतिश्रुतमनःपर्यायेषु (वा चतुर्षु) मतिश्रुतावधिमनःपर्यायेषु, निर्ग्रन्थोऽप्येवमेव, स्नातकस्तु केवलज्ञान एव, श्रुतज्ञाने

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||९८||

दीप अनुक्रम [७१२]

तु कः कुत्र वर्त्तते इति क्षुल्लकनिर्ग्रन्थीय एवोक्तत्वान्न पुनरुच्यते ७। द्वारं। 'तित्थ'त्ति इह च 'तीर्थे' यत्तीर्थकरेण क्रियते, पुलाको वकुशप्रतिसेवकौ च तीर्थे, कषायकुशीलस्तु तीर्थेऽतीर्थे वा, अतीर्थे च भवन् तीर्थकरो वा स्यात् प्रत्येकबुद्धो वा, एवं निर्ग्रन्थस्नातकावपि ८। द्वारं। 'लिंगि'त्ति लिङ्गं द्विधा–द्रव्यभावभेदात्, तत्रामी द्रव्यतः स्वलिङ्गे अन्यलिङ्गे गृहिलिङ्गे वा स्युः, भावतस्तु स्वलिङ्ग एव ९। द्वारं। 'सरीरे'त्ति पुलाकस्त्रिष्वौदारिकतैजसकार्मणेषु, वकुशप्रतिसेवनाकुशीलौ त्रिषु चतुर्षु वा, वैक्रियस्यापि तयोः संभवात्, कषायकुशीलोऽप्येवं पञ्चसु च, तस्याहारकेऽपि सम्भवात्, निर्ग्रन्थः स्नातकश्च पुलाकवत् १०। द्वारं। 'खेत्त'त्ति 'क्षेत्रं' कर्मभूम्यादि, तत्र जन्म सद्भावं च प्रतीत्य पञ्चाप्यमी कर्मभूमावेव स्युः, यथासम्भवं च संहरणं प्रतीत्य कर्मभूमावकर्मभूमौ वा ११। द्वारं। 'कालोत्ति कालतः पञ्चापि पुलाकादयो जन्मतः सद्भावतश्चावसर्पिण्यां सुषमदुष्षमादुष्षमसुषमादुष्षमाभिधानेषु कालेषु स्युः, उत्सर्पिण्यां दुष्षमसुषमासुषमदुष्षमयोः, इदं च भरतैरावतदशके, विदेहपञ्चकेषु चतुर्थकालप्रतिभागे यथासम्भवं संहरणं प्रतीत्य यथोक्तादन्यत्रापि काले स्युः, प्रज्ञत्यभिप्रायस्त्वयं–जन्मतः सद्भावतश्च पुलाकोऽवसर्पिण्यां सुषमदुष्षमदुष्षमसुषमाकाले च, न तु शेषेषु, उत्सर्पिण्यां जन्मतो दुष्षमायां दुष्षमासुषमायां सुषमादुष्षमायां, सद्भावतश्च दुष्षमासुषमायां सुषमादुष्षमायां चेति भरतैरावतयोः, महाविदेहे तु चतुर्थप्रतिभागे पञ्चापि सर्वदैव स्युः, यथासम्भवं संहरणतो न कदाचिन्निषिध्यन्ते, नवरं तत्पुलाकस्य नास्ति,स्नातकादीनां तु पूर्वसंहृतत्वेन तत्संभवः, उक्तं हि–"पुलागलद्धीए वट्टमाणो ण सक्कि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥९८॥

दीप अनुक्रम [७१२]

जइ उवसंहरिउं, तहा सिणाइयाणं जो संहरणादिसंभवो सो पुवोवसंहरियाणं, जओ केवलियादिणो नोवसंहरिज्जंति"त्ति १२। द्वारं। 'गति'त्ति 'गतिः' प्रागुक्तैव नवरमिहाराधनाविराधनाकृतो विशेष उच्यते–तत्र पुलाकोऽविराधनाद् इन्द्रेषूत्पद्यते, विराधनातस्त्विन्द्रसामानिकत्रयस्त्रिंशलोकपालानामन्यतमेषु, एवं बकुशप्रतिसेवनाकुशीलावपि, कषायकुशीलः पुनरविराधनया इन्द्रेष्वहमिन्द्रेषु वा जायते, विराधनयेन्द्रादीनामन्यतमेषु, निर्ग्रन्थस्त्वहमिन्द्रेष्वेवोत्पद्यते १३। द्वारं । 'ठिति'त्ति, पुलाकस्य जघन्येन पल्योपमपृथक्त्वं स्थितिरुत्कृष्टतोऽष्टादश सागरोपमाणि, बकुशप्रतिसेवनाकषायकुशीलानामपि जघन्यतः पल्योपमपृथक्त्वमुत्कृष्टतो बकुशप्रतिसेवकयोर्द्वाविंशतिसागरोपमाणि, कषायकुशीलस्य तु त्रयस्त्रिंशत्, निर्ग्रन्थस्याजघन्योत्कृष्टा त्रयस्त्रिंशदेवेति १४। द्वारं। 'संजमे'त्ति पुलाकबकुशप्रतिसेवककषायकुशीलानामसङ्ख्येयानि संयमस्थानानि, निर्ग्रन्थस्नातकयोरजघन्योत्कृष्टमेकमेव संयमस्थानं १५ । द्वारं। 'णिगासि'त्ति, आर्षत्वात्समा(मो)लोपे सन्निकर्षः–स्वस्थानपरस्थानापेक्षया तुल्याधिकहीनत्वचिन्तनं, तत्र च संयमस्थानापेक्षया सर्वस्तोकं निर्ग्रन्थस्य, स्नातकस्य चैकमजघन्योत्कृष्टं संयमस्थानं ततः पुलाकस्यासङ्ख्येयगुणानि, एवं बकुशप्रतिसेवककषायकुशीलानामपि पूर्वपूर्वापेक्षयाऽसङ्ख्येयगुणत्वं भावनीयम्, अमीषां च पञ्चानामपि प्रत्येकमनन्ताश्चारित्रपर्यायाः, यत उक्तम्–"पुलाकस्स णं भंते ! केवतिया चरित्तपज्जवा पण्णत्ता ?, गोयमा ! अणंता चरित्तपज्जवा पण्णत्ता, एवं जाव सिणायस्सत्ति " तथा च–चारित्रपर्यायापेक्षया स्वस्थानं सन्निकर्षचिन्तायां

॥४६८॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥९८॥

दीप अनुक्रम [७१२]

पुलाकः पुलाकस्य चरित्रपर्यायैः स्याद्धीनस्तुल्योऽधिको वा, तत्र हीनोऽधिको वा भवन्ननन्तासङ्ख्यसङ्ख्येयभागसङ्ख्यातासङ्ख्यातानन्तगुणलक्षणेन षट्स्थानकेन स्यात्,एवं बकुशप्रतिसेवककषायकुशीला अपि स्वस्थानहीनाधिकचिन्तायां षट्स्थानपतिता एव,निर्ग्रन्थस्नातकौ तु स्वस्थानचिन्तायां तुल्यावेव, परस्थानसन्निकर्षचिन्तायां पुलाको बकुशप्रतिसेवकनिर्ग्रन्थस्नातकेभ्यश्चरित्रपर्यायैरनन्तगुणहीनो न तु तुल्योऽधिको वा, कषायकुशीलापेक्षया षट्स्थानपतितः, तथा चागमः–"पुलाए णं भंते! बउसस्स परट्ठाणसन्निगासेणं चरित्तपज्जवेहिं किं हीणे तुल्ले अब्भहिए?, गोयमा! हीणे णो तुल्ले णो अब्भहिए, अणंतगुणहीणे, एवं पडिसेवणाकुसीलस्सवि, कसायकुसीलेण समं छट्ठाणवडिए, जहेव सट्ठाणणियंठस्स, जहा बउसस्स एवं सिणायस्सवि" केचित्तु प्रतिसेवनाकुशीलापेक्षयापि षट्स्थानपतित इत्याहुः, बकुशः पुलाकापेक्षया चरित्रपर्यायैरनन्तगुणाधिकः प्रतिसेवककषायकुशीलौ तु प्रति षट्स्थानपतितः निर्ग्रन्थस्नातकाभ्यामनन्तगुणहीनः, एवं प्रतिसेवककषायकुशीलयोरपि परस्थानसंनिकर्षो वाच्यो नवरं कषायकुशीलः पुलाकापेक्षया षट्स्थानपतितः, निर्ग्रन्थस्नातकौ पुलाकाद्यपेक्षयाऽनन्तगुणाधिकाविति १६। द्वारं। 'जोग'त्ति पुलाकादीनां निर्ग्रन्थावसानानां मनोवाक्कायास्त्रयोऽपि योगाः स्युः, स्नातकः सयोगोऽयोगो वा स्यात् १७। द्वारं। 'उवओग'त्ति, पुलाकादयश्चत्वारो मतिश्रुतावधिमनःपर्यायभेदतश्चतुर्भेदे साकारोपयोगे चक्षुरचक्षुरवधिविकल्पतस्त्रिविधे चानाकारोपयोगे स्युः, स्नातकः केवलज्ञानदर्शनाख्ययोर्द्वयोरेव १८। द्वारं। 'कसाय'त्ति पुलाकबकुशप्रतिसेवकाः संज्वलनकषायैश्चतुःकषायाः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||९८||

दीप अनुक्रम [७१२]

कषायकुशीलश्चतुर्षु संज्वलनक्रोधादिषु त्रिषु द्वयोरेकस्मिन् वा स्यात्, निर्ग्रन्थोऽकषायः, स चोपशमतः क्षयतो वा, एवं स्नातको,नवरमसौ क्षीणकषाय एव १९। द्वारं। 'लेस'त्ति पुलाकबकुशप्रतिसेवकाः पीतपद्मशुक्लाभिधानासु तिसृषु लेश्यासु, कषायकुशीलः षट्स्वपि, निर्ग्रन्थः शुक्ललेश्यायां, स्नातकस्त्वयोगेवातिशुद्धायाम् २० । द्वारं। 'परिणामे य'त्ति पुलाकबकुशप्रतिसेवककषायकुशीला वर्द्धमाने हीयमानेऽवस्थिते वा परिणामे स्युः, निर्ग्रन्थस्नातकौ वर्द्धमानावस्थितपरिणामावेव, तत्र च पुलाकादयस्त्रयो वर्द्धमाने परिणामे, अवस्थिते तु जघन्येनैकं समयं, समयानन्तरं कषायकुशीलत्वादिगमनेन मरणेन वा, नवरं पुलाकस्य मरणं नास्ति, उक्तं च–"पुलाके तत्थ णो मरति"त्ति । उत्कृष्टेनान्तर्मुहूर्त्तम्, एवं हीयमानेऽपि, अवस्थिते तु जघन्यतः समयमुत्कृष्टेन सप्त समयान्, निर्ग्रन्थो जघन्यत उत्कृष्टश्चान्तर्मुहूर्त्तं वर्द्धमाने परिणामे, अवस्थिते तु जघन्येनैकं समयम् उत्कृष्टेनान्तर्मुहूर्त्तं, तथा चागमः—"णियंठे णं भंते ! केवतियं कालं वद्धमाणपरिणामे होज्जा ?, गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणंपि अंतोमुहुत्तं । केवइयं कालं अवट्ठियपरिणामे होज्जा ?, गोयमा ! जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं"ति । अपरे त्वयमुत्कृष्टतोऽवस्थितपरिणामे सप्त समयानित्याहुः, स्नातको जघन्येन उत्कृष्टेन च वर्द्धमानपरिणामेऽन्तर्मुहूर्त्तमवस्थितपरिणामे जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कृष्टेन देशोनां पूर्वकोटीम् २१। द्वारं। 'बंधण'त्ति कर्मबन्धनं, तत्रायुर्वर्जाः सप्त कर्मप्रकृतीः पुलाको बध्नाति, बकुशप्रतिसेवकौ तु सप्त अष्टौ वा, आयुषोऽपि तयोर्बन्धसम्भवात्, कषायकुशीलोऽष्टौ सप्त षड् वाऽऽ-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||९८||

दीप अनुक्रम [७१२]

युर्मोहवर्जाः, निर्ग्रन्थस्त्वेकमेव सातं,स्नातकोऽप्येवमबन्धको वा २२ । द्वारं । 'उदय'त्ति कर्मोदयः, पुलाकबकुशप्रतिसेवककषायकुशीला अष्टविधमपि कर्म वेदयन्ते,निर्ग्रन्थो मोहवर्जाः सप्त, स्नातको वेद्यायुर्नामगोत्राख्याश्चतस्रः२३। द्वारं। 'कम्मोदीरण'त्ति पुलाक आयुर्वेदनीयवर्जाः षट् कर्मप्रकृतीरुदीरयति, बकुशप्रतिसेवकावष्टावायुर्वर्जाः सप्त षड् आयुर्वेदनीयवर्जाः, कषायकुशीलोऽप्येवमष्टौ सप्त षड् वेद्यायुर्मोहनीयवर्जाः पञ्च वा, निर्ग्रन्थोऽप्येता एव पञ्च द्वे वा नामगोत्राख्ये, स्नातकस्त्वेते एव द्वे अनुदीरको वा २४ । द्वारं । 'उवसंपजहण'त्ति उवसंपदनम्—उपसम्पद्—अन्यरूपप्रतिपत्तिः, सा च हानं च–स्वरूपपरित्याग उपसम्पद्धानं, तत्र पुलाकः पुलाकतां त्यजंस्तां परित्यजति कषायकुशीलत्वमसंयमं वोपसम्पद्यते, कोऽभिप्रायः?–न रूपान्तरापत्तिं विना पूर्वरूपपरित्यागो नापि तत्परित्यागं विना तदापत्तिः, कथञ्चिन्नित्यानित्यरूपत्वाद्वस्तुनः, एवं सर्वत्र भावनीयं, बकुशोऽपि बकुशतां त्यजन् तां परित्यजति प्रतिसेवकत्वं कषायकुशीलत्वमसंयमं संयमासंयमं वोपसंपद्यते, प्रतिसेवनाकुशीलः प्रतिसेवनाकुशीलत्वं त्यजंस्तत्परित्यजति बकुशत्वं कषायकुशीलत्वमसंयमं संयमासंयमं वोपसम्पद्यते, कषायकुशीलः कषायकुशीलत्वं त्यजंस्तत्परित्यजति पुलाकादित्रयं निर्ग्रन्थत्वमसंयमं संयमासंयमं वोपसम्पद्यते, निर्ग्रन्थो निर्ग्रन्थत्वं त्यजंस्तत्परित्यजति कषायकुशीलत्वं स्नातकत्वमसंयमं वोपसम्पद्यते, स्नातकः स्नातकत्वं त्यजंस्तत्परित्यजति सिद्धिगतिमुपसम्पद्यते २५ । द्वारं। 'सन्न'त्ति सञ्ज्ञा, तत्र पुलाकनिर्ग्रन्थस्नातका नोसञ्ज्ञोपयुक्ताः, बकुशप्रतिसेवककषायकुशीलाः सञ्ज्ञोपयुक्ता नो-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥९८॥

दीप अनुक्रम [७१२]

सञ्ज्ञोपयुक्ताश्च, २६। द्वारम्। 'आहार'त्ति पुलाकादयो निर्ग्रन्थावसाना आहारका एव, स्नातकस्तु आहारकोऽनाहारको वा २७। द्वारं। तथा 'भव'त्ति पुलाकादयश्चत्वारो जघन्यत एकं भवग्रहणमुत्कृष्टतस्तु पुलाकनिर्ग्रन्थयोस्त्रीणि, बकुशप्रतिसेवककषायकुशीलानामष्टौ स्नातकस्याजघन्योत्कृष्टमेकमेव २८। द्वारं। 'आगरिस'त्ति आकर्षणमाकर्षः, स चेह सर्वविरतेर्ग्रहणमोक्षौ, पुलाकादीनां चतुर्णां जघन्येनैकभविक एक एवाकर्षः, उत्कृष्टेन पुलाकस्य त्रयो बकुशप्रतिसेवककषायकुशीलानां शतशो, निर्ग्रन्थस्य द्वौ, स्नातकस्याजघन्योत्कृष्ट एकः, नानाभवाकर्षापेक्षया पुलाकादीनां चतुर्णां जघन्येन द्वौ उत्कृष्टेन पुलाकस्य सप्त, बकुशस्य कुशीलद्वयस्य च सहस्रशो, निर्ग्रन्थस्य पञ्च, स्नातकस्य तु नास्त्येव २९। द्वारं। 'काले'त्ति पुलाको जघन्यत उत्कृष्टतश्चान्तर्मुहूर्तं यावद्भवति, बकुशप्रतिसेवककषायकुशीलास्तु जघन्येनैकसमयमुत्कृष्टेन देशोनां पूर्वकोटिं, निर्ग्रन्थोऽपि जघन्यत एकं समयमुत्कृष्टेनान्तर्मुहूर्तं, तथा च भगवत्याम्–"णियंठे पुच्छा, गोयमा ! जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं" अन्ये तु निर्ग्रन्थोऽपि जघन्यत उत्कृष्टश्चान्तर्मुहूर्त्तमेवेति मन्यन्ते, स्नातको जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कृष्टतो देशोनां पूर्वकोटिम्, एवमेकजीवापेक्षया, बहुजीवापेक्षया तु पुलाकनिर्ग्रन्थौ जघन्यत एकं समयमुत्कृष्टेनान्तर्मुहूर्तं, बकुशः सर्वाद्धम्, एवं प्रतिसेवककषायकुशीलस्नातका अपि ३०। द्वारम्। 'अंतरे य'त्ति पुलाकादीनां चतुर्णामन्तरं जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कृष्टतोऽनन्तं कालं, स च कालतोऽनन्ता उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः, क्षेत्रत उपार्द्धपुद्गलपरावर्त्तो देशोनः, स्नातकस्य नास्त्य-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥९८॥

दीप अनुक्रम [७१२]

न्तरम्, इत्थमेकं प्रति, बहूनां तु पुलाकनिर्ग्रन्थानां जघन्येनैकसमय उत्कृष्टेन पुलाकस्य सङ्ख्येयानि वर्षाणि निर्ग्रन्थस्य षण्मासाः, उक्तं हि—"सेढिं नियमा छम्मासाउ पडिवज्जंतित्ति" शेषाणां नास्त्येव ३१। द्वारं। 'समुग्घाय'त्ति पुलाकस्य वेदनाकषायमारणान्तिकसमुद्घातास्त्रयो, बकुशप्रतिसेवकयोस्त एव वैक्रियतैजसान्विताः पञ्च, कषायकुशीलस्य तु त एवाहारकसहिताः षड्,निर्ग्रन्थस्यैकोऽपि नास्ति, स्नातकस्य केवलिसमुद्घात एकः३२। द्वारं। 'खेत्त'त्ति पुलाकादयश्चत्वारो लोकस्यासङ्ख्येयभागे नो सङ्ख्येयभागे न सङ्ख्येयेष्वसङ्ख्येयेषु वा भागेषु नापि सर्वलोके, स्नातकोऽसङ्ख्येयभागेऽसङ्ख्येयेषु भागेषु सर्वलोके वा, न शेषेषु, तथा च प्रज्ञप्तिः—"सिणाए पुच्छा, गोयमा ! नो संखिज्जे भागे हुज्जा असंखिज्जे भागे हुज्जा णो संखेज्जेसु भागेसु होज्जा असंखिज्जेसु भागेसु हुज्जा सव्वलोए वा होज्जत्ति" चूर्णिकारस्त्वाह—सङ्ख्येयभागादिषु सर्वेषु भवति ३३। द्वारं। 'फुसणा उ'त्ति स्पर्शना च क्षेत्रवद्वाच्या ३५। द्वारं। 'भावे'त्ति पुलाकादयस्त्रयः क्षायोपशमिके भावे, निर्ग्रन्थ औपशमिके क्षायिके वा,स्नातकः क्षायिके, इह तु पुलाकादयो निर्ग्रन्थाः, निर्ग्रन्थत्वं तु चारित्रनिमित्तमिति तद्धेतुभूतस्यैव भावस्य विवक्षितत्वादित्थमभिधानम्, अन्यथा मनुष्यत्वादेरौदयिकादेरपि भावस्य सम्भवात् ३५। द्वारं। 'परिमाण'त्ति पुलाकाः प्रतिपद्यमानकाः कदाचित्सन्ति कदाचिन्नेति, यदा सन्ति तदा जघन्येनैको द्वौ वा त्रयो वा, उत्कृष्टतः शतपृथक्त्वं, पूर्वप्रतिपन्ना अपि यदि स्युस्तदा जघन्येन तथैवोत्कृष्टेन सहस्रपृथक्त्वं, बकुशाः प्रतिपद्यमानका यदा स्युस्तदा जघन्येनोत्कृष्टेन च पुला-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥९८॥

दीप अनुक्रम [७१२]

कवद्वाच्या, पूर्वप्रतिपन्नकास्तु जघन्येन कोटिशतपृथक्त्वमुत्कृष्टेनापि तदेव, एवं प्रतिसेवका अपि, कषायकुशीलाः प्रतिपद्यमानका जघन्येन तथैव उत्कृष्टेन सहस्रपृथक्त्वं, पूर्वप्रतिपन्ना जघन्येनोत्कृष्टेन च कोटिसहस्रपृथक्त्वं, निर्ग्रन्थाः प्रतिपद्यमानका जघन्येन तथैव उत्कृष्टेन द्विषष्ट्यधिकं शतं, तत्राष्टोत्तरं शतं क्षपकाणां चतुष्पञ्चाशदुपशमकानां, पूर्वप्रतिपन्नका अपि यदा स्युस्तदा जघन्येन तथैव उत्कृष्टेन शतपृथक्त्वं, स्नातकाः प्रतिपद्यमानका जघन्येन तथैव उत्कृष्टेनाष्टोत्तरं शतं, पूर्वप्रतिपन्नकास्तु जघन्येनोत्कृष्टेन च कोटिपृथक्त्वम्, इह च जघन्यत उत्कृष्टतस्तु पृथक्त्वमेवोच्यते, तत्र तज्जघन्यं लघुतरमुत्कृष्टं बृहत्तरमिति भावनीयं ३६ । द्वारं । 'खलु महानिग्गंथाण अप्पबहुं'ति 'खलुः'वाक्यालङ्कारे महानिर्ग्रन्थानां द्रव्यनिर्ग्रन्थापेक्षयाऽमीषामेव प्रशस्यमुनीनामल्पबहुत्वं वाच्यमिति शेषः, तत्र सर्वस्तोका निर्ग्रन्थास्ततः पुलाकाः सङ्ख्येयगुणाः, पुलाकेभ्यः स्नातकाः, स्नातकेभ्यो बकुशाः, बकुशेभ्यः प्रतिसेवकाः, प्रतिसेवकेभ्यः कषायकुशीला इति ३७ द्वारगाथात्रयार्थः॥ साम्प्रतं निर्ग्रन्थनिरुक्तिद्वारेणोपसंहरन्नाह—

सावज्जगंथमुक्का अब्भंतरबाहिरेण गंथेण । एसा खलु निज्जुत्ती महानियंठस्स सुत्तस्स ॥ ४२२ ॥

प्राग्वत् । गतो नामनिष्पन्ननिक्षेपः, सम्प्रति सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

सिद्धाण नमो किच्चा संजयाणं च भावओ । अत्थधम्मगइं तच्चं, अणुसिट्ठिं सुणेह मे ॥१॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मूल संपादने अत्र निर्युक्तिगाथा क्रमांकने किञ्चित् स्खलनासंभाव्यते, यत् गाथाक्रम ४२२ पुनः दृष्टम्

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [७१३]

सितं–बद्धमिहाष्टविधं कर्म तद् ध्मातं–भस्मसाद्भूतमेषामिति सिद्धाः–ध्यानानलनिर्दग्धाष्टकर्मेन्धनाः, उक्तं हि–"सियं धंतन्ति सिद्धस्स, सिद्धत्तमुवजायति"त्ति, तेभ्यः, कोऽभिप्रायः ?—तीर्थकरसिद्धेभ्य इतरेभ्यश्च 'नमो' नमस्कारं 'कृत्वा'–विधाय 'संयतेभ्यश्च' सकलसावद्यव्यापारोपरतेभ्य आचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यः इतियावत् 'भावतः' परमार्थतो न तु संवृत्त्यैव, इत्थं पञ्चपरमेष्ठिरूपेष्टदेवतास्तवमभिधायाभिधेयादित्रयमेवाह—अर्थश्च धर्मश्चार्थधर्मौ यदिवाऽर्थ्यते–हितार्थिभिरभिलष्यते इत्यर्थः, स चासौ धर्मश्चार्थधर्मस्ततस्तयोस्तस्य वा गतिः–गत्यर्थानां ज्ञानार्थतया हिताहितलक्षणा स्वरूपपरिच्छित्तिर्यया यस्यां वा साऽर्थधर्मगतिस्तां, पाठान्तरतोऽर्थधर्मवतीं वा 'तच्चं'ति तथ्याम्—अविपरीताम् 'अनुशिष्टिं' हितोपदेशरूपां शिक्षां 'शृणुत' आकर्णयत 'मे' इति मम मया वा कथयतः कथ्यमानां वेति शेषः, स्थविरवचनमेतत्, अनेन च पूर्वोत्तरकालभाविक्रियाद्वयानुगतैककर्तृप्रतिपादनेनात्मनो नित्यानित्यत्वमाह, एकान्तनित्यत्वे ह्यविचलितरूपत्वान्न पूर्वक्रियाकर्तृत्वस्वरूपपरिहारेणोत्तरक्रियाकर्तृत्वाख्यस्वरूपान्तरसम्भवः, एकान्तानित्यत्वपक्षे तु क्षणध्वंसित्वादुत्तरक्रियाकाल आत्मनोऽसत्त्वमेवेति नैकान्तनित्यानित्यपक्षयोः पूर्वोत्तरक्रियानुगतैककर्तृसम्भव इति भावनीयम्, इह चानुशिष्टिरभिधेया, अर्थधर्मगतिः प्रयोजनम्, अनयोश्च परस्परमुपायोपेयभावलक्षणः सम्बन्धः सामर्थ्यादुक्त इति सूत्रार्थः ॥ सम्प्रति धर्मकथानुयोगत्वादस्य धर्मकथाकथनव्याजेन प्रतिज्ञातमुपक्रमितुमाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२-८॥

दीप अनुक्रम [७१४--७२०]

पभूयरयणो राया, सेणिओ मगहाहिवो । विहारजत्तं निज्जाओ,मंडिकुच्छिंसि चेइए ॥२॥ नाणादुमलया-इन्नं, नाणापक्खिनिसेवियं । नाणाकुसुमसंछण्णं, उज्जाणं नंदणोवमं ॥ ३ ॥ तत्थ सो पासए साहुं, संजयं सुसमाहियं । निसन्नं रुक्खमूलंमि, सुकुमालं सुहोइयं ॥ ४ ॥ तस्स रूवं तु पासित्ता, राइणो तंमि संजए। अचंतपरमो आसी, अउलो रूवविम्हओ ॥ ५ ॥ अहो वन्नो अहो रूवं, अहो अज्जस्स सोमया । अहो खंती अहो मुत्ती, अहो भोगे असंगया ॥ ६ ॥ तस्स पाए उ वंदित्ता, काऊण य पयाहिणं । नाइदूरमणासन्ने, पंजली पडिपुच्छई ॥ ७ ॥ तरुणोऽसि अज्जो ! पव्वइओ, भोगकालंमि संजया ! । उवट्ठिओऽसि सामन्ने, एअमट्ठं सुणेमु ता ॥८॥

सूत्रसप्तकं पाठसिद्धमेव, नवरं प्रभूतानि रत्नानि—मरकतादीनि प्रवरगजाश्वादिरूपाणि वा यस्यासौ प्रभूतरत्नः 'विहारजत्त'न्ति सुब्व्यत्ययाद् विहारयात्रया क्रीडार्थमश्ववाहनिकादिरूपया 'निर्यातः' निर्गतो नगरादिति गम्यते, 'मंडिकुच्छिंसि'त्ति मण्डिकुक्षौ मण्डिकुक्षिनाम्नि 'चैत्ये' इत्युद्याने । तदेव नानेत्यादिना विशिनष्टि–'साहुं संजयं सुसमाहियं'ति,साधुः सर्वोऽपि शिष्ट उच्यते तद्व्यवच्छेदार्थं संयतमित्युक्तं, सोऽपि च बहिःसंयमवान्निह्नवादिरपि स्यादिति सुष्ठु समाहितो–मनःसमाधानवान् सुसमाहितस्तमित्युक्तं, 'सुहोइयं'ति सुखोचितं शुभोचितं वा । 'अत्यन्तपरमः' अतिशयप्रधानः 'अतुलः' अनन्यसदृशो रूपविषयो विस्मयो रूपविस्मयः 'अहो !' इत्यादिना विस्मयस्वरूपमुक्तम् , इह

॥४७२॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२-८॥

दीप अनुक्रम [७१४--७२०]

च 'अहो ?' इत्याश्चर्ये 'वर्णः' सुस्निग्धो गौरतादिः 'रूपम्' आकारः 'सौम्यता' चन्द्रस्येव द्रष्टुरानन्ददायिता 'असङ्गता' निःस्पृहता, पादवन्दनानन्तरं प्रदक्षिणाऽभिधानं पूज्यानामालोक एव प्रणामः क्रियत इति ख्यापनार्थं, तथा चागमः–"आलोए जिणपडिमाणं पणामं करेति"त्ति। 'प्रतिपृच्छति' प्रश्नयति, तरुणेत्यादिना प्रश्नस्वरूपमुक्तम्, इह च यत एव तरुणोऽत एव प्रव्रजितो भोगकाल इत्युच्यते, तारुण्यस्य भोगकालत्वात्, यद्वा तारुण्येऽपि रोगादिपीडायां न भोगकालः स्यादित्येवमभिधानं, सोऽपि कदाचित्संयमेऽनुद्यत एव स्यात् त्वं पुनरुपस्थितश्च–कृतोद्यमश्च श्रामण्ये, पठन्ति च 'उवहितोऽसि'त्ति, एनम् 'अर्थ'निमित्तं येनार्थेन त्वमीदृश्यामप्यवस्थायां प्रव्रजितः शृणोमि 'ता' इति तावत्, पश्चात्तु यत्त्वं भणिष्यसि तदपि श्रोष्यामीति भाव इति श्लोकसप्तकार्थः ॥ इत्थं राज्ञोक्ते मुनिराह—

अणाहो मि महारायं!, नाहो मज्झ न विज्जई। अणुकंपयं सुहिं वावि, कंची नाहि तुमे महं ॥ ९ ॥

'अनाथः' अस्वामिकोऽस्मीत्यहं 'महाराज!' प्रशस्यनृपते!, किमित्येवं ? यतो 'नाथः' योगक्षेमविधाता मम न विद्यते, तथा 'अणुकंपगं'ति आर्षत्वादनुकम्पको यो मामनुकम्पते, 'सुहिं'ति तत एव सुहृद् 'वावि'त्ति प्राग्वदेव 'कंचि'त्ति कश्चिन्न विद्यते, ममेति सम्बन्धः, 'नाहि'त्ति प्रक्रमादनन्तरोक्तमर्थं जानीहि 'तुमि'त्ति त्वं, पठ्यते च– 'कंची नाभिसमेमहं' कञ्चिदनुकम्पकं सुहृदं वाऽपि 'नाभिसमेमि' नाभिसंगच्छामि, न केनचिदनुकम्पेन सुहृदा वा सङ्गतोऽहमित्यादिनाऽर्थेन तारुण्येऽपि प्रव्रजित इति भाव इति सूत्रार्थः ॥ एवं च मुनिनोक्ते—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१०--११॥

दीप अनुक्रम [७२२--७२३]

तो सो पहसिओ राया, सेणिओ मगहाहिवो। एवं ते इड्ढिमंतस्स, कहं नाहो न विज्जई? ॥ १० ॥
होमि नाहो भयंताणं, भोगे भुंजाहि संजया!। मित्तनाईपरिवुडो, माणुस्सं खु सुदुल्लहं ॥ ११ ॥

सूत्रद्वयं प्रतीतार्थमेव, नवरम् 'एव'मिति दृश्यमानप्रकारेण 'ऋद्धिमतः' विस्मयनीयवर्णादिसम्पत्तिमतः 'कथम्' इति केन प्रकारेण नाथो न विद्यते?, तत्कालापेक्षया सर्वत्र वर्त्तमाननिर्देशः, "यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति", तथा 'गुणवति धनं ततः श्रीः श्रीमत्याज्ञा ततो राज्य'मिति हि लोकप्रवादः, तथा च न कथञ्चिदनाथत्वं भवतः संभवतीति भावः, यदि चानाथतैव भवतः प्रव्रज्याप्रतिपत्तिहेतुस्ततः 'होमि'त्ति भवाम्यहं 'भदन्तानां' पूज्यानां, ततश्च मयि नाथे मित्राणि ज्ञातयो भोगाश्च तव सुलभा एवेत्यभिप्रायेण भोगेत्याद्युक्तवान्, मानुष्यं खलु सुदुर्लभमिति च हेत्वभिधानमिति सूत्रद्वयार्थः ॥ मुनिराह—

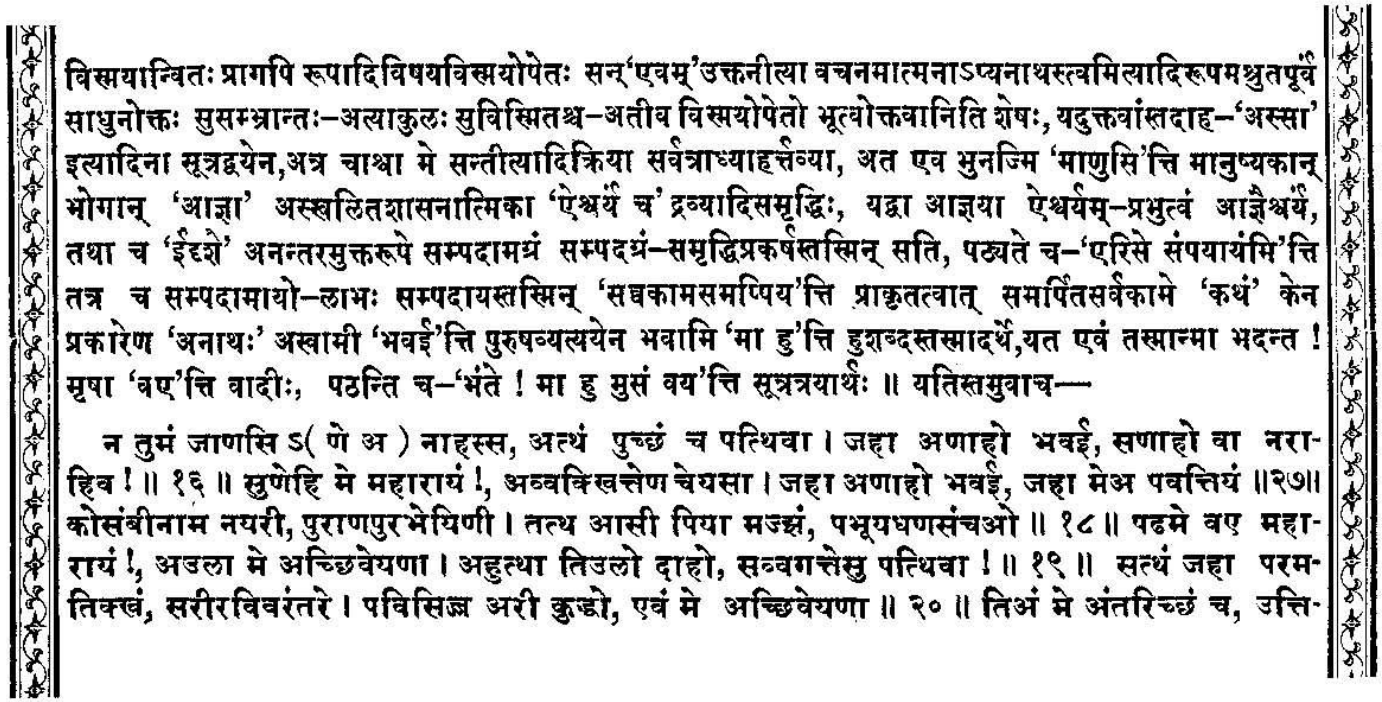
अप्पणावि अणाहोऽसि, सेणिया! मगहाहिवा। अप्पणा अणाहो संतो, कहं नाहो भविस्ससि? ॥१२॥
एवं वुत्तो नरिंदो सो, सुसंभंतो सुविम्हिओ। वयणं अस्सुअपुव्वं, साहुणा विम्हयं निओ ॥ १३ ॥ अस्सा हत्थी मणुस्सा मे, पुरं अंतेउरं च मे। भुंजामि माणुसे भोए, आणा इस्सरियं च मे ॥ १४ ॥ एरिसे संपयग्गंमि, सव्वकामसमप्पिओ। कहं अणाहो भवई?, मा हु भंते! मुसं वए ॥ १५ ॥

'अप्पणावि' सूत्रं सुगममेव, एवं च मुनिनोक्ते एवं सूत्रत्रयं स्पष्टमेव, नवरमाद्यस्य घटनैवं—स श्रेणिकनामा नरेन्द्रो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१२--१५॥

दीप अनुक्रम [७२४--७२७]



विस्मयान्वितः प्रागपि रूपादिविषयविस्मयोपेतः सन्'एवम्'उक्तनीत्या वचनमात्मनाऽप्यनाथस्त्वमित्यादिरूपमश्रुतपूर्वं साधुनोक्तः सुसम्भ्रान्तः–अत्याकुलः सुविस्मितश्च–अतीव विस्मयोपेतो भूत्वोक्तवानिति शेषः, यदुक्तवांस्तदाह–'अस्सा' इत्यादिना सूत्रद्वयेन,अत्र चाश्वा मे सन्तीत्यादिक्रिया सर्वत्राध्याहर्त्तव्या, अत एव भुनज्मि 'माणुसि'त्ति मानुष्यकान् भोगान् 'आज्ञा' अस्खलितशासनात्मिका 'ऐश्वर्यं च' द्रव्यादिसमृद्धिः, यद्वा आज्ञया ऐश्वर्यम्–प्रभुत्वं आज्ञैश्वर्यं, तथा च 'ईदृशे' अनन्तरमुक्तरूपे सम्पदामग्रं सम्पदग्रं–समृद्धिप्रकर्षस्तस्मिन् सति, पठ्यते च–'एरिसे संपयायंमि'त्ति तत्र च सम्पदामायो–लाभः सम्पदायस्तस्मिन् 'सव्वकामसमप्पिय'त्ति प्राकृतत्वात् समर्पितसर्वकामे 'कथं' केन प्रकारेण 'अनाथः' अस्वामी 'भवई'त्ति पुरुषव्यत्ययेन भवामि 'मा हु'त्ति हुशब्दस्तस्मादर्थे,यत एवं तस्मान्मा भदन्त ! मृषा 'वए'त्ति वादीः, पठन्ति च–'भंते ! मा हु मुसं वय'त्ति सूत्रत्रयार्थः ॥ यतिस्तमुवाच—

न तुमं जाणसि ऽ(णे अ) नाहस्स, अत्थं पुच्छं च पत्थिवा । जहा अणाहो भवई, सणाहो वा नराहिव ! ॥ १६ ॥ सुणेहि मे महारायं !, अव्वक्खित्तेण चेयसा । जहा अणाहो भवई, जहा मेअ पवत्तियं ॥२७॥ कोसंबीनाम नयरी, पुराणपुरभेयिणी । तत्थ आसी पिया मज्झं, पभूयधणसंचओ ॥ १८ ॥ पढमे वए महारायं !, अउला मे अच्छिवेयणा । अहुत्था तिउलो दाहो, सव्वगत्तेसु पत्थिवा ! ॥ १९ ॥ सत्थं जहा परमतिक्खं, सरीरविवरंतरे । पविसिज्ज अरी कुद्धो, एवं मे अच्छिवेयणा ॥ २० ॥ तिअं मे अंतरिच्छं च, उत्ति-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१६--३५॥

दीप अनुक्रम [७२८--७४७]

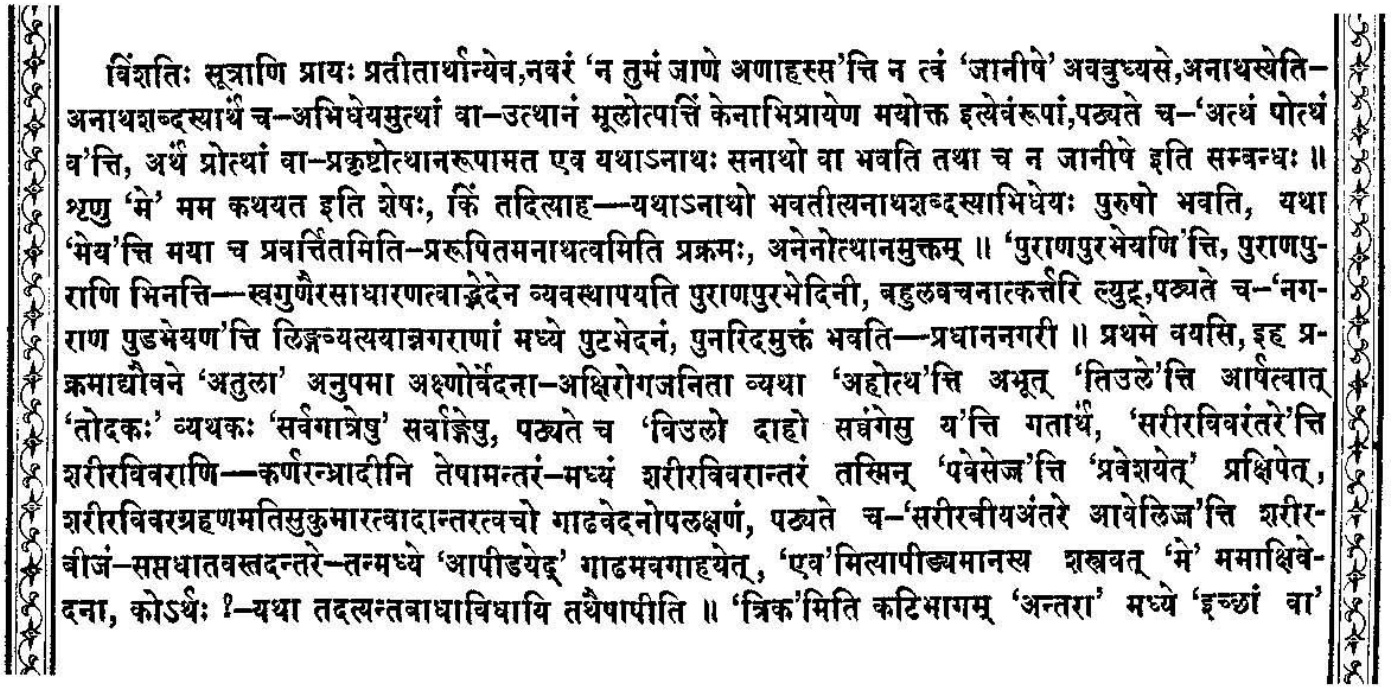
मंगं च पीडई । इंदासणिसमा घोरा, वेयणा परमदारुणा ॥ २१ ॥ उवट्ठिया मे आयरिया, विज्जामंतचिगिच्छगा । अबीआ सत्थकुसला, मंतमूलविसारया ॥ २२ ॥ ते मे तिगिच्छं कुव्वंति, चाउप्पायं जहाहियं । न य मे दुक्खा विमोयंति, एसा मज्झ अणाहया ॥ २३ ॥ पिया मे सव्वसारंपि, दिज्जाहि मम कारणा । न य दुक्खा विमोयंति, एसा मज्झ अणाहया ॥२४॥ माया (वि) मे महाराय !, पुत्तसोगदुहदिया । न य दुक्खा विमोयंति, एसा मज्झ अणाहया ॥ २५ ॥ भायरा मे महाराय!, सगा जिट्ठकणिट्ठगा । न य दुक्खा विमोयंति, एसा मज्झ अणाहया ॥ २६ ॥ भइणीओ मे महाराय!, सगा जिट्ठकणिट्ठगा । न य दुक्खा विमोयंति, एसा मज्झ अणाहया ॥ २७ ॥ भारिया मे महाराय!, अणुरत्तमणुव्वया । अंसुपुन्नेहिं नयणेहिं, उरं मे परिसिंचई ॥ २८ ॥ अन्नं पाणं च पहाणं च, गंधमल्लविलेवणं । मए नायमनायं वा, सा बाला नोवभुंजई ॥ २९ ॥ खणंपि मे महाराय !, पासाओवि न फिट्टई । न य दुक्खा विमोएइ, एसा मज्झ अणाहया ॥ ३० ॥ तओऽहं एवमाहंसु, दुक्खमा हु पुणो पुणो । वेयणा अणुहविउं जे, संसारंमि अणंतए ॥ ३१ ॥ सयं च जइ मुंचिज्जा, वेयणा विउला इओ । खंतो दंतो निरारंभो, पव्वइए अणगारियं ॥ ३२ ॥ एवं च चिंतइत्ता णं, पासुत्तो मि नराहिवा ! । परियत्तंतीइ राईए, वेयणा मे खयं गया ॥ ३३ ॥ तओ कल्ले पभायंमि, आउच्छित्ता ण बंधवे । खंतो दंतो निरारंभो, पव्वईओ अणगारियं ॥ ३४ ॥ तोऽहं नाहो जाओ, अप्पणो अ परस्स य । सव्वेसिं चेव भूयाणं, तसाणं थावराण य ॥ ३५ ॥

॥४७४॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१६--३५॥

दीप अनुक्रम [७२८--७४७]



विंशतिः सूत्राणि प्रायः प्रतीतार्थान्येव,नवरं 'न तुमं जाणे अणाहस्स'त्ति न त्वं 'जानीषे' अवबुध्यसे,अनाथस्येति–अनाथशब्दस्यार्थं च–अभिधेयमुत्थां वा–उत्थानं मूलोत्पत्तिं केनाभिप्रायेण मयोक्त इत्येवंरूपां,पठ्यते च–'अत्थं पोत्थं व'त्ति, अर्थं प्रोत्थां वा–प्रकृष्टोत्थानरूपामत एव यथाऽनाथः सनाथो वा भवति तथा च न जानीषे इति सम्बन्धः ॥ शृणु 'मे' मम कथयत इति शेषः, किं तदित्याह—यथाऽनाथो भवतीत्यनाथशब्दस्याभिधेयः पुरुषो भवति, यथा 'मेय'त्ति मया च प्रवर्त्तितमिति–प्ररूपितमनाथत्वमिति प्रक्रमः, अनेनोत्थानमुक्तम् ॥ 'पुराणपुरभेयणि'त्ति, पुराणपुराणि भिनत्ति—स्वगुणैरसाधारणत्वाद्भेदेन व्यवस्थापयति पुराणपुरभेदिनी, बहुलवचनात्कर्त्तरि ल्युट्,पठ्यते च–'नगराण पुडभेयण'त्ति लिङ्गव्यत्ययान्नगराणां मध्ये पुटभेदनं, पुनरिदमुक्तं भवति—प्रधाननगरी ॥ प्रथमे वयसि, इह प्रक्रमाद्यौवने 'अतुला' अनुपमा अक्ष्णोर्वेदना–अक्षिरोगजनिता व्यथा 'अहोत्थ'त्ति अभूत् 'तिउले'त्ति आर्षत्वात् 'तोदकः' व्यथकः 'सर्वगात्रेषु' सर्वाङ्गेषु, पठ्यते च 'विउलो दाहो सव्वंगेसु य'त्ति गतार्थं, 'सरीरविवरंतरे'त्ति शरीरविवराणि—कर्णरन्ध्रादीनि तेषामन्तरं–मध्यं शरीरविवरान्तरं तस्मिन् 'पवेसेज्ज'त्ति 'प्रवेशयेत्' प्रक्षिपेत्, शरीरविवरग्रहणमतिसुकुमारत्वादान्तरत्वचो गाढवेदनोपलक्षणं, पठ्यते च–'सरीरवीयअंतरे आवेलिज्ज'त्ति शरीरबीजं–सप्तधातवस्तदन्तरे–तन्मध्ये 'आपीडयेद्' गाढमवगाहयेत्, 'एव'मित्यापीड्यमानस्य शस्त्रवत् 'मे' ममाक्षिवेदना, कोऽर्थः ?–यथा तदत्यन्तबाधाविधायि तथैषापीति ॥ 'त्रिक'मिति कटिभागम् 'अन्तरा' मध्ये 'इच्छां वा'

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१६--३५॥

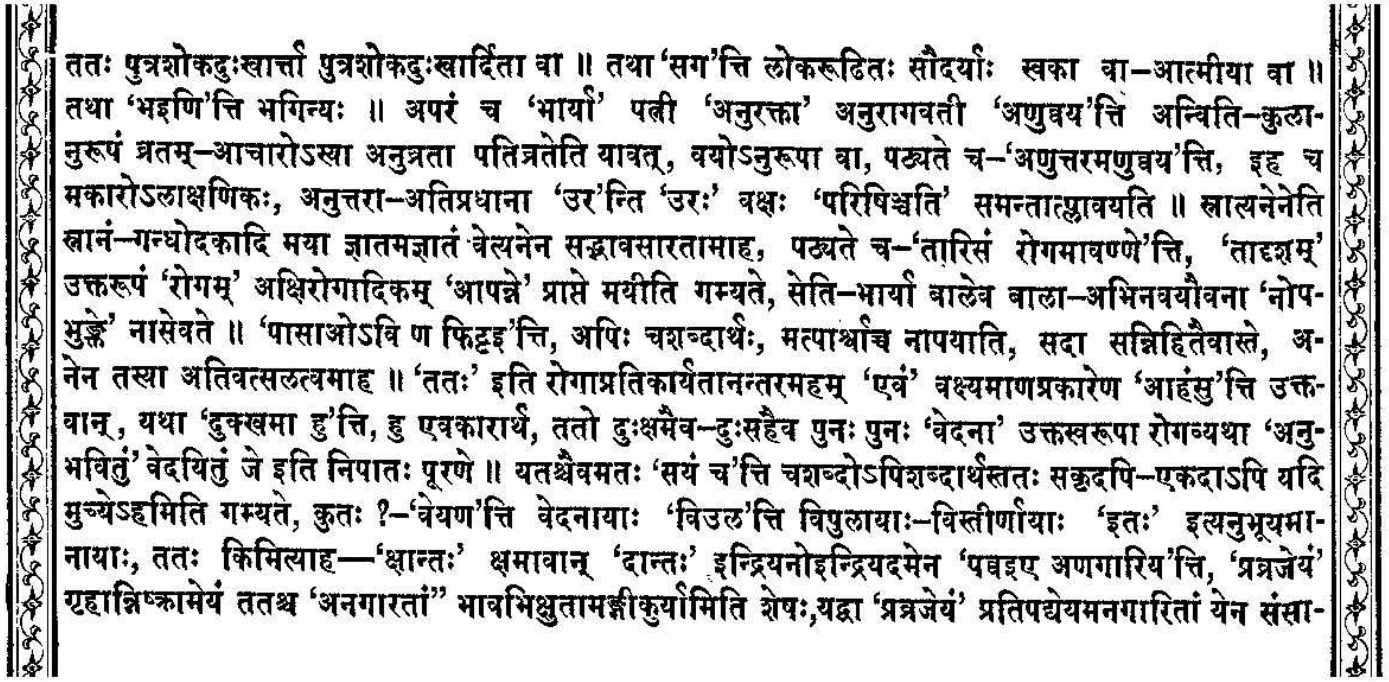
दीप अनुक्रम [७२८--७४७]

अभिमतवस्त्वभिलाषं न केवलं बहिस्त्रिकाद्येवेति भावः 'पीडयति' बाधते, वेदनेति सम्बन्धः, तत्कालापेक्षया च वर्त्तमाननिर्देशः, एवमन्यत्रापि, इन्द्राशनिः–इन्द्रवज्रं तत्समाना–तुल्या अतिदाहोत्पादकत्वादिति भावः 'घोरा' परेषामपि दृश्यमाना भयोत्पादनी 'परमदारुणा' अतीवदुःखोत्पादिका ॥ किं न कश्चित्तां प्रतिकृतवानित्याह–'उपस्थिताः' वेदनाप्रतीकारं प्रत्युद्यताः 'मे' मम 'आचार्याः' इति प्राणाचार्या वैद्या इतियावत्, 'विद्यामन्त्रचिकित्सकाः' विद्यामन्त्राभ्याम्––उक्तरूपाभ्यां व्याधिप्रतिकर्त्तारः 'अद्वितीयाः' अनन्यसाधारणतया तथाविधद्वितीयाभावात्, 'सत्थकुसल'त्ति शस्त्रेषु शास्त्रेषु वा कुशलाः शस्त्रकुशला शास्त्रकुशला वा, पठ्यते च 'नानासत्थत्थकुसल'त्ति सुगमं,मन्त्राणि च–उक्तरूपाणि मूलानि च–ओषधयस्तेषु विशारदाः–विज्ञा मन्त्रमूलविशारदाः ॥ नैवोपस्थानमात्रेणैव ते स्थिताः किन्तु ते मे चिकित्सां कुर्वन्ति 'चाउप्पायं'ति 'चतुष्पदां' भिषग्भैषजातुरप्रतिचारकात्मकचतुर्भा(त्मकभा)गचतुष्टयात्मिकां 'जहाहियं'ति 'यथाहितं' हितानतिक्रमेण यथाऽधीतं वा–गुरुसम्प्रदायागतवमनविरेचकादिरूपां,ततः किमित्याह–न चैवं कुर्वन्तोऽपि 'दुःखाद्' एवंविधरोगजनितादसाताद् 'विमोचयन्ति' विशेषेण मुत्कलयन्ति, एषा दुःखाविमोचनात्मिका ममानाथता ॥ अन्यच्च–'सर्वसारमपि' निःशेषप्रधानं वस्तुरूपं 'दिज्जाहि'त्ति दद्यात् न त्वेवमादरवानपि दुःखात् 'विमोचयंति'त्ति वचनव्यत्ययाद्विमोचयति, एवं सर्वत्र ॥ तथा पुत्रविषयः शोकः पुत्रशोकः, हा ! कथमित्थं दुःखी मत्सुतो जात इत्यादिरूपस्ततो दुःखं तेन 'अट्टिय'त्ति आर्त्ता 'अहिय'त्ति वा 'अर्दिता' उभयत्र पीडितेत्यर्थः,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||१६--३५||

दीप अनुक्रम [७२८--७४७]



ततः पुत्रशोकदुःखार्त्ता पुत्रशोकदुःखार्दिता वा ॥ तथा 'सग'त्ति लोकरूढितः सौदर्याः स्वका वा–आत्मीया वा ॥ तथा 'भइणि'त्ति भगिन्यः ॥ अपरं च 'भार्या' पत्नी 'अनुरक्ता' अनुरागवती 'अणुवय'त्ति अन्विति–कुलानुरूपं व्रतम्–आचारोऽस्या अनुव्रता पतिव्रतेति यावत्, वयोऽनुरूपा वा, पठ्यते च–'अणुत्तरमणुवय'त्ति, इह च मकारोऽलाक्षणिकः, अनुत्तरा–अतिप्रधाना 'उर'न्ति 'उरः' वक्षः 'परिषिञ्चति' समन्तात्प्लावयति ॥ स्नात्यनेनेति स्नानं–गन्धोदकादि मया ज्ञातमज्ञातं वेत्यनेन सद्भावसारतामाह, पठ्यते च–'तारिसं रोगमावण्णे'त्ति, 'तादृशम्' उक्तरूपं 'रोगम्' अक्षिरोगादिकम् 'आपन्ने' प्राप्ते मयीति गम्यते, सेति–भार्या बालेव बाला–अभिनवयौवना 'नोपभुङ्क्ते' नासेवते ॥ 'पासाओऽवि ण फिट्टइ'त्ति, अपिः चशब्दार्थः, मत्पार्श्वाच्च नापयाति, सदा सन्निहितैवास्ते, अनेन तस्या अतिवत्सलत्वमाह ॥ 'ततः' इति रोगाप्रतिकार्यतानन्तरमहम् 'एवं' वक्ष्यमाणप्रकारेण 'आहंसु'त्ति उक्तवान्, यथा 'दुक्खमा हु'त्ति, हु एवकारार्थं, ततो दुःक्षमैव–दुःसहैव पुनः पुनः 'वेदना' उक्तस्वरूपा रोगव्यथा 'अनुभवितुं' वेदयितुं जे इति निपातः पूरणे ॥ यतश्चैवमतः 'सयं च'त्ति चशब्दोऽपिशब्दार्थस्ततः सकृदपि–एकदाऽपि यदि मुच्येऽहमिति गम्यते, कुतः ?–'वेयण'त्ति वेदनायाः 'विउल'त्ति विपुलायाः–विस्तीर्णायाः 'इतः' इत्यनुभूयमानायाः, ततः किमित्याह—'क्षान्तः' क्षमावान् 'दान्तः' इन्द्रियनोइन्द्रियदमेन 'पवइए अणगारिय'त्ति, 'प्रव्रजेयं' गृहान्निष्क्रामेयं ततश्च 'अनगारतां" भावभिक्षुतामङ्गीकुर्यामिति शेषः,यद्वा 'प्रव्रजेयं' प्रतिपद्येयमनगारितां येन संसा-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१६--३५॥

दीप अनुक्रम [७२८--७४७]

रोच्छित्तितो मूलत एव न वेदनासम्भवः स्यादिति भावः ॥ 'एवं च चिंतइत्ता णं'ति न केवलमुक्त्वा चिन्तयित्वा चैवं 'पासुत्तोमि'त्ति प्रसुप्तोऽस्मि 'परियट्टंतिय'त्ति परिवर्त्तमानायाम्–अतिक्रामन्त्यां 'ततः' वेदनोपशमानन्तरं 'कल्ल'त्ति कल्यो नीरोगः सन् 'प्रभाते' प्रातः, यद्वा 'कल्ल' इति चिन्तादिनापेक्षया द्वितीयदिने प्रकर्षेण व्रजितो–गतः प्रव्रजितः, कोऽर्थः ?–प्रतिपन्नवाननगारिताम् ॥ तत इति प्रव्रज्याप्रतिपत्तेरहं नाथो जातः–संवृत्तो, योगक्षेमकरणक्षम इति भावः, 'आत्मनः' स्वस्य 'परस्य वा' अन्यस्य पुरुषादेः सर्वेषां भूतानां–जीवानां त्रसानां स्थावराणां चेति-त्रसस्थावरभेदभिन्नानामिति विंशतिसूत्रावयवार्थः ॥ किमिति प्रव्रज्याप्रतिपत्त्यनन्तरं नाथस्त्वं जातः पुरा तु न इत्याह—

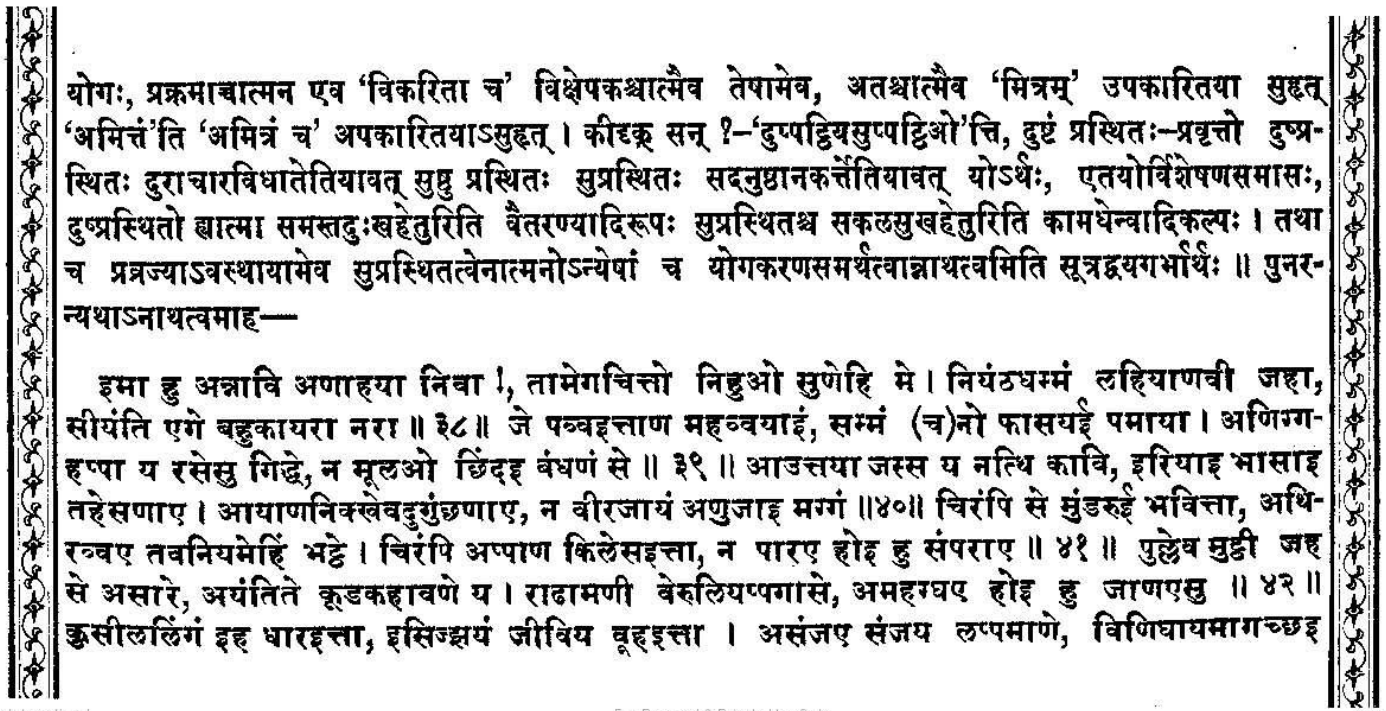
अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली । अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा मे नंदणं वणं ॥ ३६ ॥
अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य । अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठियसुपट्ठिओ ॥ ३७ ॥

'आत्मे'ति व्यवच्छेदफलत्वाद्वाक्यस्यात्मैव नान्यः कश्चित्, किमित्याह—'नदी' सरित् 'वैतरणी' नरकनद्या नाम, ततो महाऽनर्थहेतुतया नरकनदीव, अत एवात्मैव कूटमिव जन्तुयातनाहेतुत्वाच्छाल्मली कूटशाल्मली नरकोद्भवा। तथाऽऽत्मैव कामान्–अभिलाषान् दोग्धि–कामितार्थप्रापकतया प्रपूरयति कामदुघा धेनुरिवधेनुः,इयं च रूढित उक्ता, एतदुपमत्वं चाभिलाषितस्वर्गापवर्गावाप्तिहेतुतया, आत्मैव 'मे' मम 'नन्दनं' नन्दननामकं 'वनम्' उद्यानम्, एतदौपम्यं चास्य चित्तप्रल्हत्तिहेतुतया ॥ यथा चैतदेवं तथाऽऽह–आत्मैव 'कर्त्ता' विधायको दुःखानां सुखानां चेति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३६--३७॥

दीप अनुक्रम [७४८--७४९]



योगः, प्रक्रमाच्चात्मन एव 'विकरिता च' विक्षेपकश्चात्मैव तेषामेव, अतश्चात्मैव 'मित्रम्' उपकारितया सुहृत् 'अमित्तं'ति 'अमित्रं च' अपकारितयाऽसुहृत् । कीदृक् सन् ?–'दुप्पट्ठियसुप्पट्ठिओ'त्ति, दुष्टं प्रस्थितः–प्रवृत्तो दुष्प्रस्थितः दुराचारविधातेतियावत् सुष्ठु प्रस्थितः सुप्रस्थितः सदनुष्ठानकर्त्तेतियावत् योऽर्थः, एतयोर्विशेषणसमासः, दुष्प्रस्थितो ह्यात्मा समस्तदुःखहेतुरिति वैतरण्यादिरूपः सुप्रस्थितश्च सकलसुखहेतुरिति कामधेन्वादिकल्पः । तथा च प्रव्रज्याऽवस्थायामेव सुप्रस्थितत्वेनात्मनोऽन्येषां च योगकरणसमर्थत्वान्नाथत्वमिति सूत्रद्वयगर्भार्थः ॥ पुनरन्यथाऽनाथत्वमाह—

इमा हु अन्नावि अणाहया निवा !, तामेगचित्तो निहुओ सुणेहि मे । नियंठधम्मं लहियाणवी जहा, सीयंति एगे बहुकायरा नरा ॥ ३८ ॥ जे पव्वइत्ताण महव्वयाइं, सम्मं (च)नो फासयई पमाया । अणिग्गहप्पा य रसेसु गिद्धे, न मूलओ छिंदइ बंधणं से ॥ ३९ ॥ आउत्तया जस्स य नत्थि कावि, इरियाइ भासाइ तहेसणाए । आयाणनिक्खेवदुगुंछणाए, न वीरजायं अणुजाइ मग्गं ॥४०॥ चिरंपि से मुंडरुई भवित्ता, अथिरव्वए तवनियमेहिं भट्ठे । चिरंपि अप्पाण किलेसइत्ता, न पारए होइ हु संपराए ॥ ४१ ॥ पुल्लेव मुट्ठी जह से असारे, अयंतिते कूडकहावणे य । राढामणी वेरुलियप्पगासे, अमहग्घए होइ हु जाणएसु ॥ ४२ ॥ कुसीललिंगं इह धारइत्ता, इसिज्झयं जीविय बूहइत्ता । असंजए संजय लप्पमाणे, विणिघायमागच्छइ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३८--५०॥

दीप अनुक्रम [७५०--७६२]

से चिरंपि ॥ ४३ ॥ विसं तु पीयं जह कालकूडं, हणाइ सत्थं जह कुग्गहीअं । एसेव धम्मो विसओववन्नो, हणाइ वेयाल इवाविवन्नो ॥ ४४ ॥ जो लक्खणं सुविण पउंजमाणो, निमित्तकोऊहलसंपगाढे । कुहेडविज्जासवदारजीवी, न गच्छई सरणं तंमि काले ॥ ४५ ॥ तमंतमेणेव उ से असीले, सया दुही विप्परियासुवेइ । संधावई नरगतिरिक्खजोणी, मोणं विराहित्तु असाहुरूवे ॥ ४६ ॥ उद्देसियं कीयगडं नियागं, न मुचई किंचि अणेसणिज्जं । अग्गीविवा सव्वभक्खी भवित्ता, इओ चुओ गच्छइ कट्टु पावं ॥ ४७ ॥ न तं अरी कंठ छित्ता करेइ, जं से करे अप्पणिया दुरप्पा । से नाहिई मच्चुमुहं तु पत्ते, पच्छाणुतावेण दयाविहूणो ॥४८॥ निरत्थया नग्गरुई उ तस्स, जे उत्तमट्ठे विवयासमेइ । इमेवि से नत्थि परेवि लोए, दुहओऽवि से झिज्झइ तत्थ लोए ॥ ४९ ॥ एमेवऽहाछंदकुसीलरूवे, मग्गं विराहित्तु जिणुत्तमाणं । कुररी विवा भोगरसाणुगिद्धा, निरट्ठसोया परितावमेइ ॥ ५० ॥

'इयम्' अनन्तरमेव वक्ष्यमाणा 'हुः' पूरणे 'अन्या' अपरा 'अपिः' समुच्चये 'अनाथता' अस्वामिता, यदभावतोऽहं नाथो जात इत्याशयः, 'णिव'त्ति नृप 'ता'मित्यनाथताम् 'एकचित्तः' एकाग्रमनाः 'निभृतः' स्थिरः शृणु, का पुनरसावित्याह–निर्ग्रन्थानां धर्मः–आचारो निर्ग्रन्थधर्मस्तं 'लभियाणवि'त्ति लब्ध्वाऽपि 'यथा' इत्युपप्रदर्शने 'सीदन्ति' तदनुष्ठानं प्रति शिथिलीभवन्ति 'एके' केचन ईषदपरिसमाप्ताः कातराः–निःसत्त्वाः बहुकातराः 'विभाषा सुपो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३८--५०॥

दीप अनुक्रम [७५०--७६२]

बहु च पुरस्तात्त्वि'ति प्राग्बहुच्प्रत्ययः, ये हि सर्वथा निःसत्त्वास्ते मूलत एव न निर्ग्रन्थमार्गं प्रतिपद्यन्त इत्येवमुच्यते, यदिवा कातरा एव बहवः संभवन्तीति बहुशब्दो विशेषणं, 'नराः' पुरुषाः' सीदन्तश्च नात्मानमन्यांश्च रक्षयितुं क्षमा इतीयं सीदनलक्षणाऽपराऽनाथतेति भावः ॥ 'जो पव्वइत्ताणं' त्यादि सूत्राणि सीदनस्यैवानेकधा स्वरूपानुवादतः फलदर्शकानि स्पष्टान्येव नवरं 'नो स्पृशति' इति नासेवते 'प्रमादात्' निद्रादेरनिगृहीतः—अविद्यमानविषयनियन्त्रण आत्माऽस्येत्यनिग्रहात्मा, अत एव 'रसेषु' मधुरादिषु 'गृद्धः' गृद्धिमान् बध्यतेऽनेन कर्मेति बन्धनं—रागद्वेषात्मकं 'से'इति सः॥ 'आयुक्तता' दत्तावधानता 'काचिदि'ति स्वल्पाऽपि 'आयाणणिक्खेवदुगुंछणा ए'त्ति आदाननिक्षेपयोः—उपकरणग्रहणन्यासयोर्जुगुप्सनायाम्, इह चोच्चारादीनां संयमानुपयोगितया जुगुप्सनीयत्वेनैव परिस्थापना जुगुप्सनोक्ता, स ईदृक् किमित्याह—वीरैर्यातो—गतो वीरयातस्तम् 'अनुयाति' अनुगच्छति, नेति सम्बन्धः, अल्पसत्त्वतयेति भावः, कं ?—'मार्गं' सम्यग्दर्शनादिकं मुक्तिपथम् ॥ तथा च 'चिरमपि' प्रभूतकालमपि मुण्ड एव—मुण्डन एव केशापनयनात्मनि शेषानुष्ठानपराङ्मुखतया रुचिर्यस्यासौ मुण्डरुचिः, अस्थिराणि—गृहीतमुक्ततया चलानि व्रतान्यस्येत्यस्थिरव्रतः 'तपोनियमेभ्यः' उक्तरूपेभ्यः 'भ्रष्टः' च्युतश्चिरमपि 'अप्पाण'त्ति आत्मानं 'क्लेशयित्वा' लोचादिना बाधयित्वा, आत्मनैवेति गम्यते, न 'पारगः' पर्यन्तगामी भवति 'हुः' वाक्यालङ्कारे 'संपराए'त्ति संपरायन्ति—भृशं पर्यटन्त्यस्मिन् जन्तव इति सम्परायः—संसारस्तस्य, सूत्रे च सुव्व्यत्ययात्सप्तमी ४ ॥ स चैवं-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३८--५०॥

दीप अनुक्रम [७५०--७६२]

विधः पोल्लेत्यन्तःशुषिरा 'एव' इत्यवधारणे तेन पोल्लैव, न मनागपि निबिडा 'मुष्टिः' अङ्गुलिसन्निवेशविशेषात्मिका 'यथा' इति सादृश्ये, पठ्यते वा–'पोल्लारमुट्ठी जह'त्ति इहापि 'पोल्लर'त्ति शुषिरा, असारत्वं चोभयोरपि सदर्थशून्यतया 'अयंतिय'त्ति 'अयन्त्रितः' अनियमितः कूटकार्षापणवत्, वाशब्दस्येहोपमार्थत्वात्, यथा ह्यसौ न केनचित्कूटतया नियन्त्र्यते, तथैषोऽपि गुरूणामप्यविनीततयोपेक्षणीयत्वात्, 'राढामणि'त्ति काचमणिर्वैडूर्यवत्प्रकाशते–प्रतिभासत इति वेडूर्यप्रकाशः–वैडूर्यमणिसदृशः 'अमहार्घकः' इत्यमहामूल्यो भवति, 'चः' समुच्चये भिन्नक्रमस्ततोऽमहार्घकश्च 'जाणएसु'त्ति ज्ञेषु मुग्धजनविप्रतारकत्वात्तस्य ॥ 'कुशीललिङ्गं' पार्श्वस्थादिवेषम् 'इह' अस्मिन् जन्मनि धारयित्वा 'ऋषिध्वजं' मुनिचिह्नं रजोहरणादि 'जीविय'त्ति आर्षत्वाज्जीविकायै 'बृंहयित्वा' इदमेव प्रधानमितिख्यापनेनोपबृंह्य यद्वा 'इसिज्झयंमि' सुव्यत्ययाद् ऋषिध्वजेन 'जीविय'त्ति विन्दुलोपात् 'जीवितम्' असंयमजीवितं जीविकां वा-निर्वहणोपायरूपां बृंहयित्वेति–पोषयित्वाऽत एवासंयतः सन् 'संजय लप्पमाणे'त्ति प्राकृतत्वात्सोपस्कारत्वाच्च संयतमात्मानं लपन्, पठ्यते च–'संजयलाभमाणे'त्ति आर्षत्वात् संयतलाभः–स्वर्गापवर्गप्राप्तिरूपस्तं मन्यमानो ममायं भविष्यतीति गणयन् 'विनिघातं' विविधाभिघातरूपम् 'आगच्छति' आयाति स 'चिरमपि' प्रभूतकालमप्यास्तामल्पं नरकगत्यादाविति भावः ॥ इहैव हेतुमाह–विषं पिबन्तीति आर्षत्वात्पीतं यथा 'कालकूटं' कालकूटनामकं 'हणाइ'त्ति हन्ति, चस्य च गम्यमानत्वात् शस्त्रं च, यथा कुत्सितं गृहीतं कुगृहीतम् 'एसेव'त्ति एष एवं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३८--५०॥

दीप अनुक्रम [७५०--७६२]

विषादिवत् 'धम्मो'त्तिधर्मो–यतिधर्मः 'विषयोपपन्नः' शब्दादिविषययुक्तो हन्ति, दुर्गतिपातहेतुत्वेन द्रव्ययतिमिति शेषः 'वेताल इवाविवण्ण'त्ति अविपन्नः अप्राप्तविपत् मन्त्रादिभिरनियन्त्रित इत्यर्थः,पठ्यते च–'वेयाल इवाविबंधणो'त्ति इह च 'अविबन्धनः' अविद्यमानमन्त्रादिनियन्त्रणः, उभयत्र साधकमिति गम्यते ॥ यो लक्षणं 'सुविणो'त्ति स्वप्नं चोक्तरूपं 'प्रयुञ्जानः' व्यापारयन् निमित्तं च–भौमादि कौतुकं च–अपत्याद्यर्थं स्नपनादि तयोः संप्रगाढः–अतिशयासक्तो निमित्तकौतुकसंप्रगाढः 'कुहेडविज्ज'त्ति कुहेटकविद्या–अलीकाश्चर्यविधायिमन्त्रतन्त्रज्ञानात्मिकास्ता एव कर्मबन्धहेतुतयाऽऽश्रवद्वाराणि तैर्जीवितुं शीलमस्येति कुहेटकविद्याऽऽश्रवद्वारजीवी 'न गच्छति' न प्राप्नोति 'शरणं' त्राणं दुष्कृतरक्षाक्षमं 'तस्मिन्' फलोपभोगोपलक्षिते 'काले' समये ॥ अमुमेवार्थं भावयितुमाह–'तमंतमेणेव उ'त्ति अतिमिथ्यात्वोपहततया 'तमस्तमसैव' प्रकृष्टाज्ञाननैव 'तुः' पूरणे' सः' द्रव्ययतिः अशीलः सदा दुःखी विराधनाजनितदुःखेनैव 'विप्परियासुवेइ'त्ति विपर्यासं तत्त्वादिषु वैपरीत्यम् 'उपैति' उपगच्छति, ततश्च 'संधावति' सततं गच्छति नरकतिर्यग्योनीः 'मौनं' चारित्रं विराध्य 'असाधुरूपः' तत्त्वतोऽयतिस्वभावः सन्, अनेन विराधनाया अनुबन्धवत्फलमुक्तम् ॥ कथं पुनर्मौनं विराध्य कथं वा नारकतिर्यग्गतीः संधावतीत्याह–'उद्देसिय'मित्यादि, क्रयणं–क्रीतं तेन कृतं—निर्वर्त्तितं क्रीतकृतं 'नित्यागं' नित्यपिण्डम् 'अग्गीविव'त्ति अग्निरिव प्राकृतत्वादाकारः सर्वम्–अप्राशुकमपि भक्षयतीत्येवंशीलः सर्वभक्षी भूत्वा कृत्वा च पापमिति योगः,'गच्छति' याति कुगतिमिति शेषः॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३८--५०॥

दीप अनुक्रम [७५०--७६२]

उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥४७९॥

यतश्चैवं दुश्चरितैरेव दुर्गतिप्राप्तिरतः 'न' नैव 'तम्' इति प्रस्तावादनर्थं 'कण्ठछेत्ता' प्राणहर्त्ता 'से' तस्य 'दुरप्प'त्ति प्राकृतत्वात् 'दुरात्मता' दुष्टाचारप्रवृत्तिरूपा, न चैनामाचरन्नपि जन्तुरत्यन्तमूढतया वेत्ति, ततः किमुत्तरकालमपि न वेत्स्यतीत्याह—'सः' दुरात्मताकर्त्ता ज्ञास्यति प्रक्रमाद् दुरात्मतां 'मृत्युमुखं तु' मरणसमयं पुनः प्राप्तः पश्चादनुतापेन–हा दुष्ठु मयाऽनुष्ठितमित्येवंरूपेण, दया—संयमः सत्याद्युपलक्षणमहिंसा वा तद्विहीनः सन्, मरणसमये हि प्रायोऽतिमन्दधर्मस्यापि धर्माभिप्रायोत्पत्तिरित्येवमभिधानं, यतश्चैवं महाऽनर्थहेतुः पश्चात्तापहेतुश्च दुरात्मता तत आदित एव मूढतामपहाय परिहर्त्तव्येयमिति भावः॥ यस्तु मृत्युमुखप्राप्तोऽपि न तां वेत्स्यति तस्य का वार्त्तेत्याह— 'णिरट्ठिए' इत्यादि, निरर्थिका तुशब्दस्यैवकारार्थस्येह सम्बन्धात् 'निरर्थकैव' निष्फलैव नाऽस्ये—श्रामण्ये रुचिः— इच्छा नाऽस्यरुचिस्तस्य 'जे उत्तमट्ठे'ति सुव्व्यत्ययादपेश्च गम्यमानत्वाद् 'उत्तमार्थेऽपि' पर्यन्तसमयाराधनारूपेऽपि आस्तां पूर्वमित्यपिशब्दार्थः 'विपर्यासं' दुरात्मतायामपि सुन्दरात्मतापरिज्ञानरूपम् 'एति' गच्छति, इतरस्य तु कथञ्चित्स्यादपि किञ्चित्फलमिति भावः, किमेवमुच्यते ?, यतः 'इमेवि'त्ति अयमपि प्रत्यक्षो लोक इति सम्बन्धः, 'से' इति तस्य 'नास्ति' न विद्यते, न केवलमयमेव परोऽपि लोको–जन्मान्तरलक्षणः, तत्रेहलोकाभावः शरीरक्लेशहेतुलोचादिसेवनात् परलोकाभावश्च कुगतिगमनतः शारीरमानसदुःखसम्भवात्,तथा च'दुहतोऽवि'त्ति द्विधाऽपि ऐहिकपारत्रिकार्थाभावेन 'स झिज्झइ' त्ति, स ऐहिकपारत्रिकार्थसम्पत्तिमतो जनान् विलोक्य धिग् मामपुण्यभाजनमुभयभ्रष्टतयेति चिन्तया

महानिर्ग्रन्थीया० २० ॥४७९॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३८--५०॥

दीप अनुक्रम [७५०--७६२]

क्षीयते, 'तत्र' इत्युभयलोकाभावे सति 'लोके' जगति ॥ यदुक्तं स ज्ञास्यति पश्चादनुतापेनेति,तत्र यथाऽसौ परितप्यते तथा दर्शयन्नुपसंहारमाह–'एवमेव' उक्तरूपेणैव महाव्रतास्पर्शादिना प्रकारेण 'यथाच्छन्दाः' स्वरुचिविरचिताचाराः कुशीलाः–कुत्सितशीलास्तद्रूपः–तत्स्वभावः 'कुररीव' पक्षिणीव 'णिरट्ठसोय'त्ति निरर्थो–निष्प्रयोजनः शोको यस्याः सा निरर्थशोका 'परितापं' पश्चात्तापरूपम् 'एति' गच्छति, यथा चैषाऽऽमिषगृद्धा पक्ष्यन्तरेभ्यो विपत्प्राप्तौ शोचते न च ततः कश्चिद् विपत्प्रतीकार इति,एवमसावपि भोगरसगृद्ध ऐहिकामुष्मिकानर्थप्राप्तौ, ततोऽस्य स्वपरपरित्राणासमर्थत्वेनानाथत्वमिति भाव इति त्रयोदशसूत्रार्थः ॥ एतत् श्रुत्वा यत्कृत्यं तदुपदेष्टुमाह—

सुचाण मेहावि सुभासियं इमं, अणुसासणं नाणगुणोववेयं ।
मग्गं कुसीलाण जहाय सव्वं, महानियंठाण वए पहेणं ॥ ५१ ॥

सुगमं, नवरं 'मेहावि'त्ति मेधाविन् ! सुष्ठु—शोभनप्रकारेण भाषितं सुभाषितम् 'इमम्' इत्यनन्तरोक्तम् 'अनुशासनं' विषदनदोषदर्शनेनार्थावृत्त्या शिक्षणं ज्ञानस्य गुणो ज्ञात्वा विरमणात्मकस्तेन, ज्ञानगुणाभ्यां वोपपेतं–युक्तं ज्ञानगुणोपपेतं 'वये'त्ति व्रजेस्त्वं'पहेणं'ति 'पथा' मार्गेण महानिर्ग्रन्थानामिति सम्बन्धः ॥ ततः किं फलमित्याह–

चरित्तमायारगुणन्निए तओ, अणुत्तरं संजम पालिया णं ।
निरासवे संखविया ण कम्मं, उवेइ ठाणं विउलुत्तमं धुवं ॥ ५२ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥५२॥

दीप अनुक्रम [७६४]

'चरित्तमायारगुणन्निए'त्ति मकारोऽलाक्षणिकः, चरित्रस्याचरणम् आचारः–आसेवनं स एव गुणः, यद्वा गुणो–ज्ञानं ततस्तेन ताभ्यां वाऽन्वितश्चारित्राचारगुणान्वितः 'ततः' महानिर्ग्रन्थमार्गगमनाद् 'अनुत्तरं' प्रधानं 'संजम पालिया णं'ति 'संयमं' यथाख्यातचारित्रात्मकं 'पालयित्वा' आसेव्य 'निराश्रवः' हिंसाद्याश्रवरहितः सन् क्षपयित्वा यदिवा 'संखविया णं'ति 'सङ्क्षपय्य' संक्षयं नीत्वा 'कर्म' ज्ञानावरणीयादि 'उपैति' उपगच्छति 'स्थानं' पदं विपुलं च तदनन्तानामपि तत्रावस्थितेरुत्तमं च प्रधानत्वाद् विपुलोत्तमं 'ध्रुवं' नित्यं मुक्तिपदमितियावदिति सूत्रार्थः ॥ सर्वोपसंहारमाह—

एवुग्गदंतेऽवि महातवोधणे, महासुणी महापइण्णे महायसे ।
महानियंठिज्जमिणं महासुअं, से काहए महया वित्थरेणं ॥ ५३ ॥

'एवम्' उक्तप्रकारेण 'से काहए'त्ति स श्रेणिकपृष्टो मुनिरकथयत्, तत्कालापेक्षया कथयति वेति सम्बन्धः, उग्रः–उत्कटः कर्मशत्रुजये प्रति स एव 'दान्तः' प्राग्वत् उग्रदान्तः अपिः पूरणे 'महाप्रतिज्ञः' अतिदृढव्रताभ्युपगमोऽत एव महायशा महानिर्ग्रन्थेभ्यो हितं महानिर्ग्रन्थीयम् 'इदम्' अनन्तरोक्तं, शेषं स्पष्टमिति सूत्रार्थः ॥ ततश्च—

तुट्ठो अ सेणिओ राया, इणमुदाहु कयंजली । अनाहयं जहाभूयं, सुट्ठु मे उवदंसियं ॥ ५४ ॥ तुज्झं सुलद्धं खु मणुस्सजम्मं, लाभा सुलद्धा य तुमे महेसी! । तुब्भे सणाहा य सबंधवा य, जं भे ठिया मग्गि जिणु-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥५४--५७॥

दीप अनुक्रम [७६६--७६९]

त्तमाणं ॥ ५५ ॥ तंसि नाहो अणाहाणं, सव्वभूयाण संजया !। खामेमि ते महाभाग !, इच्छामि अणुसासिउं ॥५६॥ पुच्छिऊण मए तुब्भं, झाणविग्घो य जं कओ। निमंतिया य भोगेहिं,तं सव्वं मरिसेहि मे॥५७॥

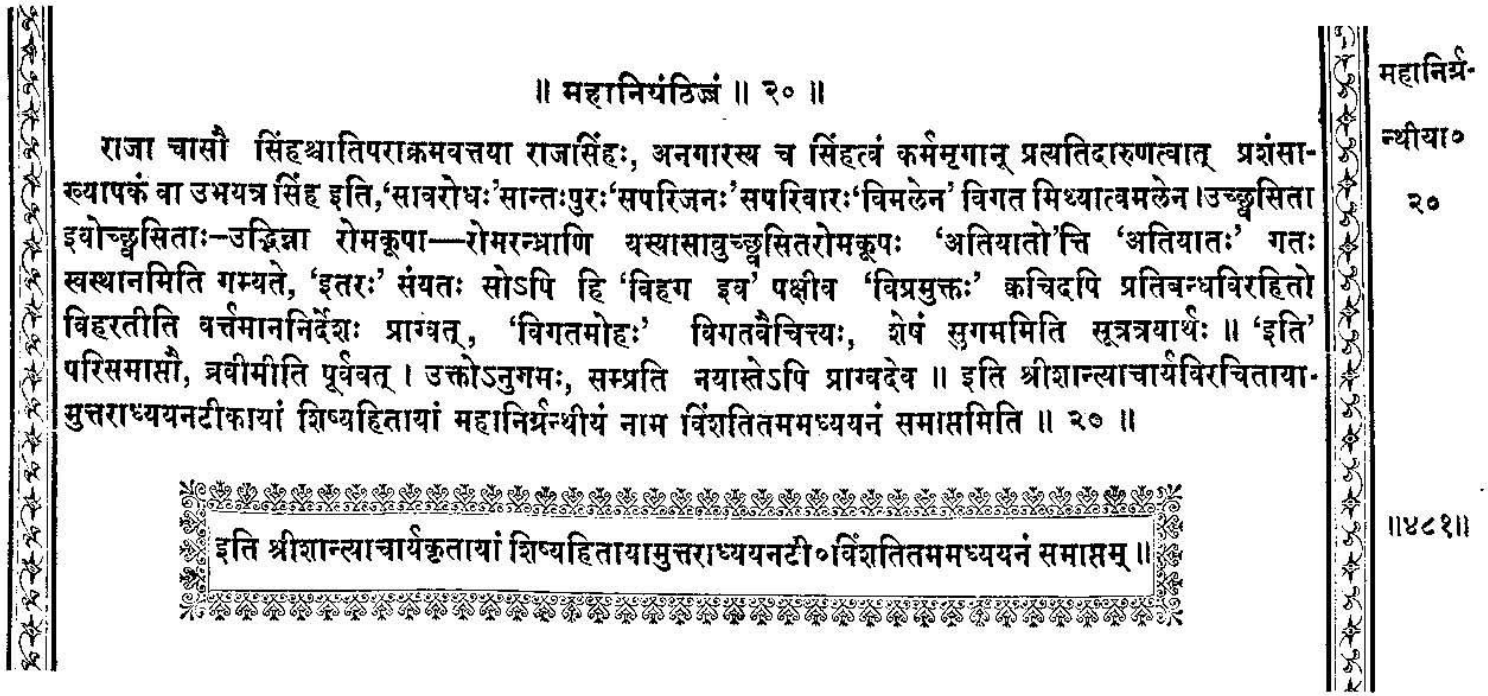
सूत्रचतुष्टयं स्पष्टमेव, नवरं तुष्टश्चेति 'चः' पुनरर्थे भिन्नक्रमश्च, ततः श्रेणिकः पुनरिदमाह—'यथाभूतं' यथाऽवस्थितम् उपदर्शितं त्वयेति प्रक्रमः, 'सुलद्धं खु'त्ति सुलब्धमेव 'लाभाः' वर्णरूपाद्यवाप्तिरूपा धर्मविशेषोपलम्भात्मका वा सुलब्धा उत्तरोत्तरगुणप्रकर्षहेतुत्वात्, सनाथाश्च सबान्धवाश्च तत्त्वत इति गम्यते, 'यद्' यस्माद् 'भे' इति भवन्तो, जिनोत्तममार्गस्थितत्वं सुलब्धजन्मत्वादौ हेतुः 'तंसी'ति पूर्वार्द्धेन पुनरुपबृंहणा कृता, उत्तरार्द्धेन तु क्षमणोपसंपन्नते दर्शिते, इह तु 'ते'त्ति त्वां। 'अणुसासिउं'ति 'अनुशासयितुं' शिक्षयितुमात्मानं भवतेति गम्यते, पुनः क्षमणामेव विशेषत आह–पृष्ट्वा 'कथं त्वं प्रथमवयसि प्रव्रजित' इत्यादि पर्युनुयुज्य निमन्त्रिताश्च भोगैर्यदिति सम्बन्ध इति सूत्रचतुष्टयार्थः ॥ सकलाध्ययनार्थोपसंहारमाह—

एवं थुणित्ताण स रायसीहो, अणगारसीहं परमाइ भत्तिए । सओरोहो य सपरियणो [सबंधवो य], धम्माणुरत्तो विमलेण चेयसा ॥ ५८ ॥ ऊससियरोमकूवो, काऊण य पयाहिणं। अभिवंदिऊण सिरसा, अइयाओ नराहिवो ॥ ५९ ॥ इयरोऽवि गुणसमिद्धो तिगुत्तिगुत्तो तिदंडविरओ य। विहग इव विप्पमुक्को विहरइ वसुहं विगयमोहु ॥ ६० ॥ त्तिबेमि ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥५८--६०॥

दीप अनुक्रम [७७०--७७२]



उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥४८१॥

॥ महानियंठिज्जं ॥ २० ॥

राजा चासौ सिंहश्चातिपराक्रमवत्तया राजसिंहः, अनगारस्य च सिंहत्वं कर्ममृगान् प्रत्यतिदारुणत्वात् प्रशंसा-ख्यापकं वा उभयत्र सिंह इति,'सावरोधः'सान्तःपुरः'सपरिजनः'सपरिवारः'विमलेन' विगत मिथ्यात्वमलेन।उच्छ्वसिता इयोच्छ्वसिताः–उद्भिन्ना रोमकूपा—रोमरन्ध्राणि यस्यासावुच्छ्वसितरोमकूपः 'अतियातो'त्ति 'अतियातः' गतः स्वस्थानमिति गम्यते, 'इतरः' संयतः सोऽपि हि 'विहग इव' पक्षीव 'विप्रमुक्तः' क्वचिदपि प्रतिबन्धविरहितो विहरतीति वर्त्तमाननिर्देशः प्राग्वत्, 'विगतमोहः' विगतवैचित्त्यः, शेषं सुगममिति सूत्रत्रयार्थः ॥ 'इति' परिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् । उक्तोऽनुगमः, सम्प्रति नयास्तेऽपि प्राग्वदेव ॥ इति श्रीशान्त्याचार्यविरचितायामुत्तराध्ययनटीकायां शिष्यहितायां महानिर्ग्रन्थीयं नाम विंशतितममध्ययनं समाप्तमिति ॥ २० ॥

इति श्रीशान्त्याचार्यकृतायां शिष्यहितायामुत्तराध्ययनटी०विंशतितममध्ययनं समाप्तम् ॥

महानिर्ग्रन्थीया० २० ॥४८१॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्र अध्ययनं- २० परिसमाप्तं

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [७७३]

अथ समुद्रपालीयं एकविंशमध्ययनम्।

व्याख्यातं महानिर्ग्रन्थीयं नाम विंशतितममध्ययनम्, इदानीमेकविंशमारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः— अनन्तराध्ययनेऽनाथत्वमनेकधोक्तम्, इह तु तदालोचनाद्विविक्तचर्ययैव चरितव्यमित्यभिप्रायेण सैवोच्यत इत्यने-नाभिसम्बन्धेनायातस्याध्ययनस्य प्राग्वदनुयोगद्वारचतुष्टयं प्ररूप्यं तावद् यावन्नामनिष्पन्ननिक्षेपे समुद्रपालीयमिति नामातः समुद्रपालनिक्षेपाभिधानायाह निर्युक्तिकृत्—

समुद्देण पालिअंमि अ निक्खेवु चउक्कओ दुविह दव्व । आग० ॥ ४२३ ॥

समुद्दपालिआऊ वेयंतो भावओ य नायव्वो । तत्तो समुट्ठिअमिणं समुद्दपालिज्जमज्झयणं ॥ ४२४ ॥

गाथाद्वयं प्रतीतार्थमेव,नवरं समुद्रपालनिक्षेपप्रस्तावे यत्समुद्रेण पालित इत्युक्तं तत्समुद्रपाल इत्यत्र समुद्रेण पाल्यते स्मेति समुद्रपाल इति व्युत्पत्तिख्यापनार्थमिति गाथाद्वयार्थः ॥ गतो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, सम्प्रति सूत्रालापकनि-ष्पन्ननिक्षेपावसरः, स च सति सूत्र इति सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

चंपाए पालिए नाम, सावए आसि वाणिए । महावीरस्स भगवओ, सीसो सो उ महप्पणो ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ अध्ययनं – २१ "समुद्रपालीय" आरभ्यते

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [७७३]

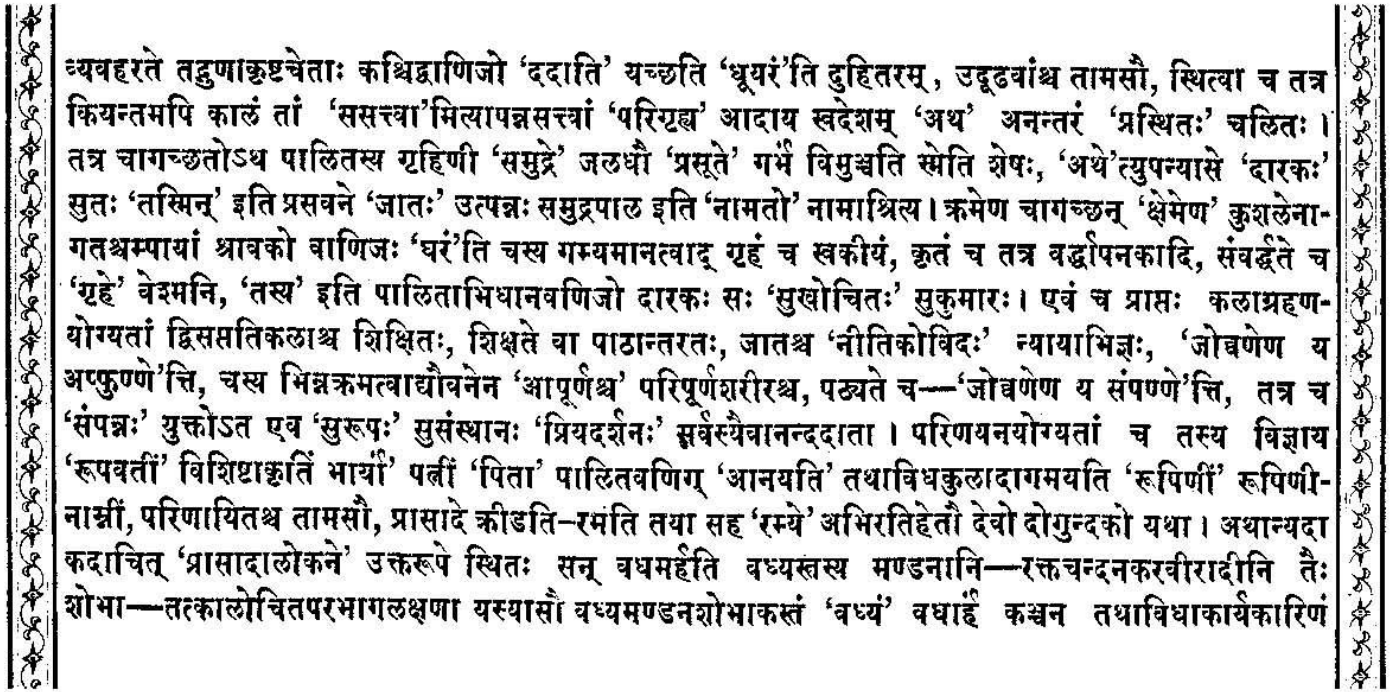
निग्गंथे पावयणे, सावए से विकोविए । पोएण ववहरंते, पिहुंडं नयरमागए ॥ २ ॥ पिहुंडे ववहरंतस्स, वाणिओ देइ धूअरं । तं ससत्तं पइगिज्झ, सदेसमह पत्थिओ ॥ ३ ॥ अह पालियस्स घरणी, समुद्दंमि पसवई । अह दारए तहिं जाए, समुद्दपालित्ति नामए ॥४॥ खेमेण आगए चंपं, सावए वाणिए घरं । संवड्ढई घरे तस्स, दारए से सुहोइए ॥ ५ ॥ बावत्तरीकलाओ अ, सिक्खिए नीइकोविए । जुव्वणेण य अप्फुण्णे, सुरूवे पियदंसणे ॥ ६ ॥ तस्स रूववइं भज्जं, पिया आणेइ रूविणिं । पासाए कीलए रम्मे, देवो दोगुंदगो जहा ॥ ७ ॥ अह अन्नया कयाई, पासायालोअणे ठिओ । वज्झमंडनसोभागं, वज्झं पासइ वज्झगं ॥ ८ ॥ तं पासिऊण संविग्गो, समुद्दपालो इणमब्बवी । अहो असुहाण कम्माणं, निज्जाणं पावगं इमं ॥ ९ ॥ संबुद्धो सो तहिं भयवं परमं संवेगमागओ । आपुच्छऽम्मापियरो, पव्वए अणगारियं ॥ १० ॥

सूत्राणि दश । इदमुत्तरं चाध्ययनं क्वचित्सोपस्कारतया व्याख्यास्यते—'चम्पायां' चम्पाऽभिधानायां पुरि पालितो नाम सार्थवाहः 'श्रावकः' श्रमणोपासकः 'आसीत्' अभूद् वणिगेव वणिजः—वणिग्जातिः महावीरस्य भगवतः 'शिष्यः' विनेयः स इति, सतुः विशेषणे 'महात्मनः' प्रशस्यात्मनः । स च कीदृगित्याह—'नैर्ग्रन्थे' निर्ग्रन्थसम्बन्धिनि 'पावयणे'त्ति प्रवचने श्रावकः सः इति पालितो विशेषेण कोविदः—पण्डितो विकोविदः, कोऽर्थः ?—विदितजीवादिपदार्थः 'पोतेन व्यवहरन्' प्रवहणवाणिज्यं कुर्वन् 'पिहुण्डं' पिहुण्डनामकं नगरम् 'आगतः' प्राप्तः । तत्र च पिहुण्डे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२-१०॥

दीप अनुक्रम [७७४--७८२]



व्यवहरते तद्गुणाकृष्टचेताः कश्चिद्वाणिजो 'ददाति' यच्छति 'धूयरं'ति दुहितरम्, उद्ढवांश्च तामसौ, स्थित्वा च तत्र कियन्तमपि कालं तां 'ससत्त्वा'मित्यापन्नसत्त्वां 'परिगृह्य' आदाय स्वदेशम् 'अथ' अनन्तरं 'प्रस्थितः' चलितः। तत्र चागच्छतोऽथ पालितस्य गृहिणी 'समुद्रे' जलधौ 'प्रसूते' गर्भं विमुञ्चति स्मेति शेषः, 'अथे'त्युपन्यासे 'दारकः' सुतः 'तस्मिन्' इति प्रसवने 'जातः' उत्पन्नः समुद्रपाल इति 'नामतो' नामाश्रित्य। क्रमेण चागच्छन् 'क्षेमेण' कुशलेनागतश्चम्पायां श्रावको वाणिजः 'घरं'ति चस्य गम्यमानत्वाद् गृहं च स्वकीयं, कृतं च तत्र वर्द्धापनकादि, संवर्द्धते च 'गृहे' वेश्मनि, 'तस्य' इति पालिताभिधानवणिजो दारकः सः 'सुखोचितः' सुकुमारः। एवं च प्राप्तः कलाग्रहणयोग्यतां द्विसप्ततिकलाश्च शिक्षितः, शिक्षते वा पाठान्तरतः, जातश्च 'नीतिकोविदः' न्यायाभिज्ञः, 'जोव्वणेण य अप्फुण्णे'त्ति, चस्य भिन्नक्रमत्वाद्यौवनेन 'आपूर्णश्च' परिपूर्णशरीरश्च, पठ्यते च—'जोव्वणेण य संपण्णे'त्ति, तत्र च 'संपन्नः' युक्तोऽत एव 'सुरूपः' सुसंस्थानः 'प्रियदर्शनः' सर्वस्यैवानन्ददाता। परिणयनयोग्यतां च तस्य विज्ञाय 'रूपवतीं' विशिष्टाकृतिं भार्यां' पत्नीं 'पिता' पालितवणिग् 'आनयति' तथाविधकुलादागमयति 'रूपिणीं' रूपिणीनाम्नीं, परिणायितश्च तामसौ, प्रासादे क्रीडति–रमति तया सह 'रम्ये' अभिरतिहेतौ देवो दोगुन्दको यथा। अथान्यदा कदाचित् 'प्रासादालोकने' उक्तरूपे स्थितः सन् वधमर्हति वध्यस्तस्य मण्डनानि—रक्तचन्दनकरवीरादीनि तैः शोभा—तत्कालोचितपरभागलक्षणा यस्यासौ वध्यमण्डनशोभाकस्तं 'वध्यं' वधार्हं कञ्चन तथाविधाकार्यकारिणं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२-१०॥

दीप अनुक्रम [७७४--७८२]

पश्यति बाह्यं–नगरबहिर्वर्त्तिप्रदेशं गच्छतीति बाह्यगस्तं, कोऽर्थः ?–बहिर्निष्क्रामन्तं, यद्वा 'वध्यगम्' इह वध्यशब्देनोपचाराद्वध्यभूमिरुक्ता। तथाविधं वध्यं दृष्ट्वा संवेगः-संसारवैमुख्यतो मुक्त्यभिलाषस्तद्धेतुत्वात्सोऽपि संवेगस्तं समुद्रपालः 'इदं' वक्ष्यमाणमब्रवीत्, यथा—अहो ! 'अशुभानां कर्मणां' पापानामनुष्ठानानां 'निर्याणम्' अवसानं 'पापकम्' अशुभम् 'इदं' प्रत्यक्षं यदसौ वराको वधार्थमित्थं नीयत इति भावः। एवं परिभावयन् 'संबुद्धः' अवगततत्त्वः 'सः' वणिक्पुत्रः 'तत्रे'ति तस्मिन्नेव प्रासादालोकने 'भगवान्' माहात्म्यवान्, माहात्म्येऽपि भगवच्छब्दस्य दर्शनात्, परं–प्रकृष्टं संवेगमागतः, ततश्चापृच्छय मातापितरौ 'पव्वये'त्ति 'प्राव्राजीत्' प्रकर्षेण गतवान्, कोऽर्थः ?–प्रतिपन्नवान्, 'अनगारितां' निस्सङ्गतामिति सूत्रदशकार्थः ॥ सम्प्रति अनुवादोऽपि स्पष्टताहेतुर्व्याख्याङ्गमिति ख्यापनायैवोक्तमेवार्थमनुवदन् विशेषं च वदन्नाह निर्युक्तिकारः—

चंपाए सत्थवाहो नामेणं आसि पालिओ नामं। वीरवरस्स भगवओ सो सीसो खीणमोहस्स ॥ ४२५॥
अह अन्नया कयाई पोएणं गणिमधरिमभरिएणं। तो नगरं संपत्तो पिहुंडं नाम नामेणं ॥ ४२६ ॥
ववहरमाणस्स तहिं पिहुंडे देइ वाणिओ धूअं। तंपि अ पत्तिं घित्तूण निग्गओ सो सदेसस्स ॥४२७॥
अह सा सत्थाहसुआ समुद्दमज्झंमि पसवई पुत्तं। पिअदंसणसव्वंगं नामेण समुद्दपालित्ति ॥ ४२८ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२-१०॥

दीप अनुक्रम [७७४--७८२]

खेमेणं संपत्तो सो पालिअ सावगो घरं नियय। धाईदसद्धपरिवुडो अह वड्ढइ सो उदहिनामो ॥४२९॥
बावत्तरिं कलाओ अ सिक्खिओ नीइकोविओ जाहे। तो जुव्वणमप्फुन्नो जाओ पिअदंसणो अहिअं॥४३०॥
अह तस्स पिआ पत्तिं आणेई रूविणित्ति नामेणं । चउसट्ठिगुणोवेयं अमरवहूणं सरिसरूवं ॥ ४३१ ॥
अह रूविणीइ सहिओ कीलइ सो भवणपुंडरीअंमि। दोगुंदगुव देवो किंकरपरिवारिओ निच्चं ॥ ४३२ ॥
अह अन्नया कयाई ओलोअणसंठिओ सदेवीओ । वज्झं नीणिज्जंतं अन्निज्जंतं जणसएहिं ॥ ४३३ ॥
अह भणइ सन्निनाणी भीओ संसारिआण दुक्खाणं। नीआण पावकम्माण हा जहा पावगं इणमो ४३४
संबुद्धो सो भयवं संवेगमणुत्तरं च संपत्तो । आपुच्छिऊण जणए निक्खंतो स्वायजसकित्ती ॥ ४३५ ॥

व्याख्यातप्राया एव, नवरं 'वीरवरस्स'त्ति नामतोऽन्येऽपि वीराः संभवन्ति स तु भगवान् भावतोऽपि वीर इति प्राधान्यख्यापकं वरग्रहणम्, अनेन भगवत्समकालतामप्यस्य दर्शयति, 'गणिमधरिमभरिएणं'ति गणिमं–पूगफलादि धरिमं—सुवर्णकादि । प्रियदर्शनानि—सकलजनाभिमतावलोकनानि सर्वाण्यङ्गानि–शिरउरःप्रभृतीन्यस्येति प्रियदर्शनसर्वाङ्गस्तम् । 'धाईदसद्धपरिवुडे'त्ति दशार्द्धधात्रीपरिवृतो, दशार्द्धं च पञ्च ताश्च क्षीरमज्जनमण्डन-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२-१०॥

दीप अनुक्रम [७७४--७८२]

क्रीडनाङ्कधात्र्यः, 'उदधिनामा' उदधिसमानार्थसमुद्रपदोपलक्षिताभिधानः समुद्रपालनामेति यावत् । 'जोव्वणमप्फुण्ण'त्ति मकारोऽलाक्षणिको जातः प्रियदर्शनः 'अधिक'मित्यतिशयेन सविशेषलावण्यहेतुत्वाद् यौवनस्य, चतुःषष्टिगुणा अश्वशिक्षादिकलाष्टकरहिताः कला एव विज्ञानापरनामिका उच्यन्ते, 'भवनपुण्डरीके' भवनप्रधाने, पुण्डरीकशब्दस्येह प्रशंसावचनत्वात् । वध्यं पश्यतीति शेषः, 'नीणिज्जंत'न्ति नीयमानम् ('अणिज्जंत'न्ति) 'अन्वीयमानम्' अनुगम्यमानं जनशतैरविवेकिभिरिति गम्यते, पठन्ति च–'वज्झं णीणीज्जंतं पेच्छइ तो सो जणवएहिं'ति स्पष्टं, सञ्ज्ञी–सम्यग्दृष्टिः स चासौ ज्ञानी च सञ्ज्ञिज्ञानी 'भीतः' त्रस्तः सन् सांसारिकेभ्यो दुःखेभ्य इति, आर्षत्वाच्च सुव्व्यत्ययः, किं भणतीत्याह—'नीचानां' निकृष्टानां 'पापकर्मणां' पापहेत्वनुष्ठानानां चौर्यादीनां 'हा' इति खेदे यथा पापकं फलमिति गम्यते, 'इणमो'त्ति 'इदं' प्रत्यक्षं, किमुक्तं भवति ?—यथाऽस्य चौरस्यानिष्टं फलं पापकर्मणां तथाऽस्मादृशामपीति निर्युक्तिगाथैकादशकार्थः ॥ प्रव्रज्य च यदसौ कृतवांस्तदाह सूत्रकृत्–

जहिज्ज सग्गंथ महाकिलेसं, महंतमोहं कसिणं भयाणगं। परियायधम्मं चऽभिरोअइज्जा, वयाणि सीलाणि परीसहे य ॥ १५ ॥ अहिंस सच्चं च अतेणगं च, तत्तो अ बंभं अपरिग्गहं च। पडिवज्जिया पंच महव्वयाणि, चरिज्ज धम्मं जिणदेसियं विऊ ॥ १६ ॥ सव्वेहिं भूएहिं दयाणुकंपी, खंतिक्खमे संजयबंभयारी । सावज्जजोगे परिवज्जयंतो, चरिज्ज भिक्खू सुसमाहिइंदिए ॥ १७ ॥ कालेण कालं विहरिज्ज रट्ठे, बलाबलं जाणिय

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्र गाथा क्रम ॥११,१२,.....॥एव वर्तते, परन्तु मूल संपादने मुद्रण अशुद्धित्वात् क्रमांकने ॥१५.१६...॥इति मुद्रितं

प्रत सूत्रांक ॥११--२३॥

दीप अनुक्रम [७८३--७९५]

अप्पणो अ। सीहो व सद्देण न संतसिज्जा, वइजोग सुच्चा न असब्भमाहू ॥ १८ ॥ उवेहमाणो उ परिव्वइज्जा, पियमप्पियं सव्व तितिक्खइज्जा। न सव्व सव्वत्थऽभिरोअइज्जा, न यावि पूयं गरिहं च संजए ॥१९॥ अणेग छंदा मिह माणवेहिं, जे भावओ से पकरेइ भिक्खू। भयभेरवा तत्थ उइंति भीमा, दिव्वा मणुस्सा अदुवा तिरिच्छा ॥२०॥ परीसहा दुव्विसहा अणेगे, सीयंति जत्था बहुकायरा नरा। से तत्थ पत्ते न वहिज्ज पंडिए, संगामसीसे इव नागराया ॥ २१ ॥ सीओसिणा दंसमसगा य फासा, आयंका विविहा फुसंति देहं। अकुक्कुओ तत्थऽहियासइज्जा, रयाइं खेविज्ज पुराकडाइं ॥ २२ ॥ पहाय रागं च तहेव दोसं, मोहं च भिक्खू सययं वियक्खणे। मेरुव्व वाएण अकंपमाणे, परीसहे आयगुत्ते सहिज्जा ॥ २३ ॥ अणुन्नए नावणए महेसी, न यावि पूयं गरिहं च संजए। से उज्जुभावं पडिवज्ज संजए, निव्वाणमग्गं विरए उवेइ ॥ २४ ॥ अरइरइसहे पहीणसंथवे, विरए आयहिए पहाणवं। परमट्ठपएहिं चिट्ठई, छिन्नसोए अममे अकिंचणे ॥ २५ ॥ विवित्तलयणाइं भइज्ज ताई, निरोवलेवाइं असंथडाइं। इसीहिं चिन्नाइं महायसेहिं, काएण फासिज्ज परीसहाइं ॥ २६ ॥ सण्णाणनाणोवगए महेसी, अणुत्तरं चरियं धम्मसंचयं। अणुत्तरेनाणधरे जसंसी, ओभासई सूरिए वंऽतलिक्खे ॥ २७ ॥

त्रयोदश सूत्राणि प्रायः सुगमान्येव, नवरं 'हित्वा' त्यक्त्वा संश्वासौ ग्रन्थश्च सङ्ग्रन्थः, प्राकृतत्वाद्बिन्दुलोपस्तं,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्र गाथा क्रम ॥११,१२,.....॥एव वर्तते, परन्तु मूल संपादने मुद्रण अशुद्धित्वात् क्रमांकने ॥१५.१६...॥इति मुद्रितं

प्रत सूत्रांक ॥११--२३॥

दीप अनुक्रम [७८३--७९५]

पठन्ति च—'जहित्तु संगं चत्ति जहाय संगं च'त्ति वा उभयत्र हित्वा 'सङ्गं' स्वजनादिप्रतिबन्धं 'चः' पूरणे निपातः, महान् क्लेशो यस्माद्यस्मिन् वा तं महाक्लेशं, 'महंतमोहं'ति महान् मोहः—अभिष्वङ्गो यस्मिन् यतो वा तं तथाविधं, 'कसिणं'ति कृत्स्नं कृष्णं वा कृष्णलेश्यापरिणामहेतुत्वेन 'भयानकं' महाक्लेशादिरूपत्वादेव विवेकिनां भयावहं 'परियाय'त्ति प्रक्रमात् प्रव्रज्यापर्यायस्तत्र धर्मः पर्यायधर्मस्तं, चशब्दः पादपूरणे, 'अभिरोयएज्ज'त्ति आर्षत्वाद् ह्यस्तन्यर्थे सप्तमी, ततः 'अभ्यरोचत' अभिरोचितवान् तदनुष्ठानविषयां प्रीतिं कृतवान्, उपदेशरूपतां च तन्त्रन्यायेन ख्यापयितुमित्थं प्रयोगः, यद्वाऽऽत्मानमेवायमनुशास्ति—यथा हे आत्मन्! सङ्गं त्यक्त्वा प्रव्रज्याधर्ममभिरोचयेद् भवान्, एवमुत्तरक्रियास्वपि यथासम्भवं भावनीयं, प्रव्रज्यापर्यायधर्ममेव विशेषत आह—'व्रतानि' महाव्रतानि 'शीलानि'पिण्डविशुद्ध्याद्युत्तरगुणरूपाणि 'परीषहान्' इति भीमसेनन्यायेन परीषहसहनानि च। एतदभिरुच्य तदनन्तरं च यत् कृतवांस्तदाह—अहिंसां सत्यमस्तैन्यकं च 'तत्तो अ बंभं अपरिग्गहं च'त्ति ततश्च ब्रह्मचर्यमपरिग्रहं च 'प्रतिपद्य' अङ्गीकृत्य 'अब्बंभपरिग्गहं च' इति तु पाठे परिवर्ज्य चेत्यध्याहार्यं 'पञ्च महाव्रतानि' उक्तरूपाणि 'चरेज्ज'त्ति प्राग्वदचरत्, नाङ्गीकृत्यैव तिष्ठेदिति भावः, 'धर्मं' श्रुतचारित्ररूपं जिनदेशितं 'विऊ'त्ति विद्वान्—जानानः। 'सव्वेहिं भूएहिं' सुब्व्यत्ययात् 'सर्वेषु' अशेषेषु प्राणिषु दयया—हितोपदेशादिदानात्मिकया रक्षणरूपया वाऽनुकम्पनशीलो दयानुकम्पी पाठान्तरतो दयानुकम्पो वा, क्षान्त्या न त्वशक्त्या क्षमते—प्रत्यनीकाद्युदीरितदु-

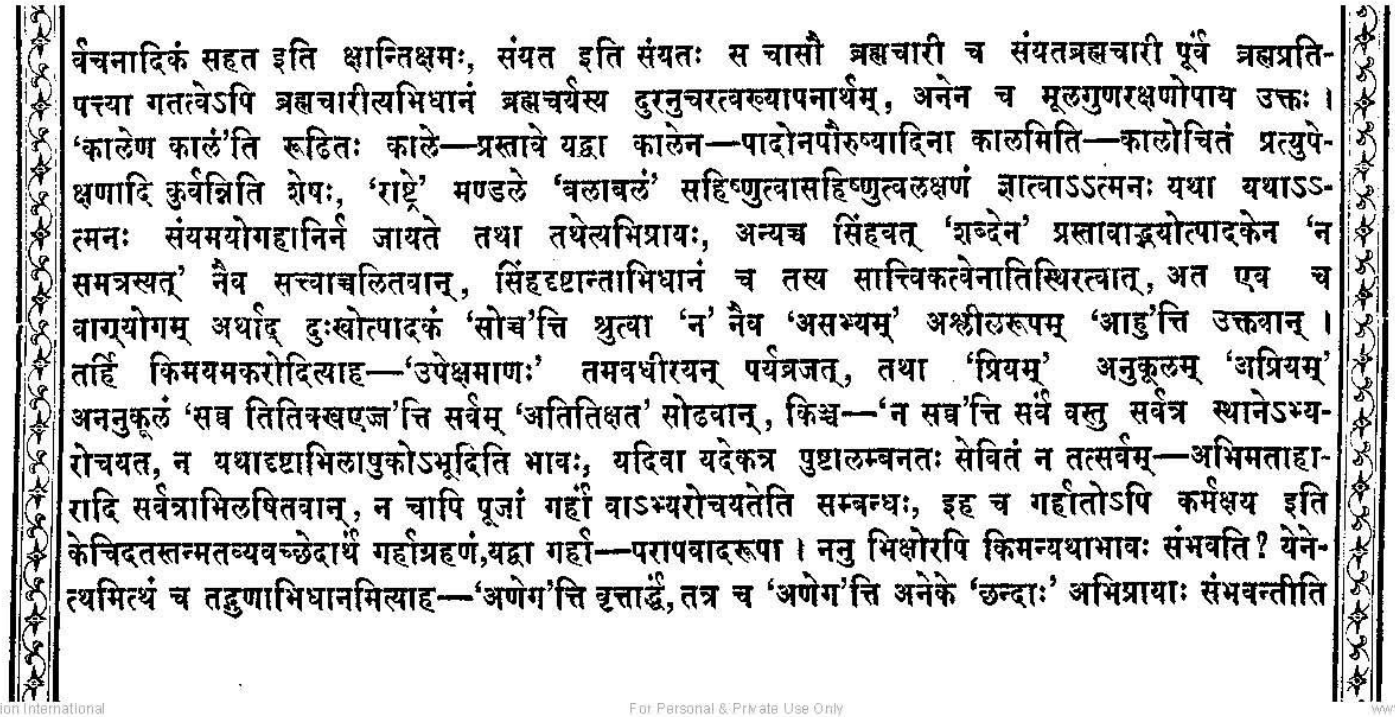
Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४३], मूलसूत्र[४] उत्तराध्ययनानि मूलं एवं शान्तिसूरिविरचिता वृत्तिः

अत्र गाथा क्रम ॥११,१२,.....॥एव वर्तते, परन्तु मूल संपादने मुद्रण अशुद्धित्वात् क्रमांकने ॥१५.१६...॥इति मुद्रितं

प्रत सूत्रांक ॥११--२३॥

दीप अनुक्रम [७८३--७९५]



वंचनादिकं सहत इति क्षान्तिक्षमः, संयत इति संयतः स चासौ ब्रह्मचारी च संयतब्रह्मचारी पूर्वं ब्रह्मप्रतिपत्त्या गतत्वेऽपि ब्रह्मचारीत्यभिधानं ब्रह्मचर्यस्य दुरनुचरत्वख्यापनार्थम्, अनेन च मूलगुणरक्षणोपाय उक्तः। 'कालेण कालं'ति रूढितः काले—प्रस्तावे यद्वा कालेन—पादोनपौरुष्यादिना कालमिति—कालोचितं प्रत्युपेक्षणादि कुर्वन्निति शेषः, 'राष्ट्रे' मण्डले 'बलाबलं' सहिष्णुत्वासहिष्णुत्वलक्षणं ज्ञात्वाऽऽत्मनः यथा यथाऽऽत्मनः संयमयोगहानिर्न जायते तथा तथेत्यभिप्रायः, अन्यच्च सिंहवत् 'शब्देन' प्रस्तावाद्भयोत्पादकेन 'न समत्रस्यत्' नैव सत्त्वाच्चलितवान्, सिंहदृष्टान्ताभिधानं च तस्य सात्त्विकत्वेनातिस्थिरत्वात्, अत एव च वाग्योगम् अर्थाद् दुःखोत्पादकं 'सोच्च'त्ति श्रुत्वा 'न' नैव 'असभ्यम्' अश्लीलरूपम् 'आहु'त्ति उक्तवान्। तर्हि किमयमकरोदित्याह—'उपेक्षमाणः' तमवधीरयन् पर्यव्रजत्, तथा 'प्रियम्' अनुकूलम् 'अप्रियम्' अननुकूलं 'सव्व तितिक्खएज्ज'त्ति सर्वम् 'अतितिक्षत' सोढवान्, किञ्च—'न सव्व'त्ति सर्वं वस्तु सर्वत्र स्थानेऽभ्यरोचयत, न यथादृष्टाभिलाषुकोऽभूदिति भावः, यदिवा यदेकत्र पुष्टालम्बनतः सेवितं न तत्सर्वम्—अभिमताहारादि सर्वत्राभिलषितवान्, न चापि पूजां गर्हां वाऽभ्यरोचयतेति सम्बन्धः, इह च गर्हातोऽपि कर्मक्षय इति केचिदतस्तन्मतव्यवच्छेदार्थं गर्हाग्रहणं,यद्वा गर्हा—परापवादरूपा। ननु भिक्षोरपि किमन्यथाभावः संभवति? येनेत्थमित्थं च तद्गुणाभिधानमित्याह—'अणेग'त्ति वृत्तार्द्धं, तत्र च 'अणेग'त्ति अनेके 'छन्दाः' अभिप्रायाः संभवन्तीति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥११--२३॥

दीप अनुक्रम [७८३--७९५]

गम्यते, 'मिह'त्ति मकारोऽलाक्षणिकः 'इह' जगति 'माणवेहिं'ति सुव्व्यत्ययान्मानवेषु 'जे' इति याननेकान् छन्दान् 'भावतः' तत्त्ववृत्त्यौदयिकादिभावतो वा सः 'प्रकरोति' भृशं विधत्ते 'भिक्खु'त्ति अपिशब्दस्य गम्यमानत्वाद् भिक्षुरपि–अनगारोऽपि सन्, अत इत्थमित्थं च तद्गुणाभिधानमिति भावः । अपरञ्च–'भयभैरवाः' भयोत्पादकत्वेन भीषणाः 'तत्र' इति ब्रह्मप्रतिपत्तौ 'उईति'त्ति 'उद्यन्ति' उदयं यान्ति, पठ्यते च—'उवेंति'त्ति, उपयन्ति भयभैरवा इत्यनेनापि गते भीमा इति पुनरभिधानमतिरौद्रताख्यापनायोक्तं, 'दिव्या' इत्यादावुपसर्गा इति गम्यते, 'तिरिच्छ'त्ति तैरश्चाः। तथा 'परिसह'त्ति परीषहाश्च उद्यन्तीति सम्बन्धः, 'सीदन्ति' संयमं प्रति शिथिलीभवन्ति 'जत्थ'त्ति यत्र—येषूपसर्गेषु परीषहेषु च सत्सु 'से' इति सः 'तत्र' तेषु 'पत्ते'त्ति वचनव्यत्ययात्प्राप्तेषु प्राप्तो वा–अनुभवनद्वारेणायातो न ('व्यथेत' स्यात्) व्यथाभीतश्चलितो वा सत्त्वाद् भिक्षुः सन् 'सङ्ग्रामशीर्ष इव' युद्धप्रकर्ष इव 'नागराजः' हस्तिराजः। 'स्पर्शाः' तृणस्पर्शादयः 'आतङ्काः' रोगाः 'स्पृशन्ति' उपतापयन्ति 'अकुकुय'त्ति आर्षत्वात् कुत्सितं कूजति—पीडितः सन्नाक्रन्दति कुकूजो न तथेत्यकुकूजः, पठ्यते च–'अककरे'त्ति कदाचिद्वेदनाऽऽकुलितो न कर्करायितकारी, अनेन चानन्तरसूत्रोक्त एवार्थो विस्पष्टतार्थमन्वयेनोक्तः, एवंविधश्च स रजांसीव रजांसि–जीवमालिन्यहेतुतया कर्माणि 'खेविज्जे'ति अक्षिपत् परीषहसहनादिभिः क्षिसवान्। 'मोह(म्)' इति मिथ्यात्वहास्यादिरूपोऽज्ञानं वा गृह्यते, आत्मना गुप्तः आत्मगुप्तः–कूर्मवत्सङ्कुचितसर्वाङ्गः, अनेन परीषहसहनोपाय उक्तः । किञ्च—'नयावि पूयं गरिहं च

समुद्रपालीया. २१ ॥४८६॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||११--२३||

दीप अनुक्रम [७८३--७९५]

संजये'त्ति न चापि पूजां गर्हां च प्रतीति शेषः 'असजत्' सङ्गं विहितवान्,तत्र च अनुन्नतत्वमनवनतत्वं च हेतुभावतः, उन्नतो हि पूजां प्रति अवनतश्च गर्हां प्रति सङ्गं कुर्यान्न त्वन्यथेति भावः, पूर्वत्राभिरुचिनिषेध उक्तः, इह तु सङ्गस्येति पूर्वस्माद्विशेषः, 'स' इति' सः' एवंगुणः 'ऋजुभावम्' आर्जवं 'प्रतिपद्य' अङ्गीकृत्य संयतो 'निर्वाणमार्गं' सम्यग्दर्शनादिरूपं विरतः सन् 'उपैति' विशेषेण प्राप्नोति, वर्त्तमाननिर्देश इहोत्तरत्र च प्राग्वत्। ततः स तदा कीदृशः किं करोतीत्याह–अरतिरती संयमासंयमविषये सहते– न ताभ्यां बाध्यत इत्यरतिरतिसहः, 'पहीणसंथवे'त्ति प्रक्षीणसंस्तवः संस्तवप्रहीणो वा, संस्तवश्च पूर्वपश्चात्संस्तवरूपो वचनसंवासरूपो वा गृहिभिः सह, प्रधानः स च संयमो मुक्तिहेतुत्वात् स यस्यास्त्यसौ प्रधानवान्, परमः–प्रधानोऽर्थः पुरुषार्थो वाऽनयोः कर्मधारये परमार्थो–मोक्षः स पद्यते –गम्यते यैस्तानि परमार्थपदानि–सम्यग्दर्शनादीनि सुब्व्यत्ययात् तेषु तिष्ठति–अविराधकतयाऽऽस्ते 'छिन्नसोय'त्ति छिन्नशोकः छिन्नानि वा श्रोतांसीव श्रोतांसि–मिथ्यादर्शनादीनि येनासौ छिन्नश्रोताः अत एवाममोऽकिञ्चनः, इह च संयमविशेषाणामानन्त्यात्तदभिधायिपदानां पुनः पुनर्वचनेऽपि न पौनरुक्त्यं, तथा 'विविक्तलयनानि' स्त्र्यादिविरहितोपाश्रयरूपाणि विविक्तत्वादेव च 'निरोवलेवाइं'ति निरुपलेपानि–अभिष्वङ्गरूपोपलेपवर्जितानि भावतो द्रव्यतस्तु तदर्थं नोपलिप्तानि 'असंसृतानि' बीजादिभिरव्याप्तानि, अत एव च निर्दोषतया 'ऋषिभिः' मुनिभिः 'चीर्णानि' आसेवितानि, चीर्णशब्दस्य तु 'सुचीर्णं प्रोषितव्रत'मितिवत्साधुता, 'फासेज्ज'त्ति अस्पृशत्, सोढवानित्यर्थः, पुनः पुनः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥११--२३॥

दीप अनुक्रम [७८३--७९५]

परीषहस्पर्शनाभिधानमतिशयख्यापनार्थं, ततः स कीदृगभूदित्याह–'सः' इति समुद्रपालनामा मुनिर्ज्ञानमिह श्रुतज्ञानं तेन ज्ञानम्—अवगमः प्रक्रमाद् यथावत्क्रियाकलापस्य तेनोपगतो—युक्तो ज्ञानज्ञानोपगतः, पाठान्तरतः—सन्ति–शोभनानि 'नाने' त्यनेकरूपाणि ज्ञानानि–सङ्ख्यागपर्यायधर्माभिरुचितत्त्वाद्यवबोधात्मकानि तैरुपगतः सन्नानाज्ञानोपगतः 'धर्मसञ्चयं' क्षान्त्यादियतिधर्मसमुदयम् 'अणुत्तरेणाणधरे'त्ति एकारस्यालाक्षणिकत्वादनुत्तरज्ञानं—केवलाख्यं तद्धारयत्यनुत्तरज्ञानधरः, पठ्यते च—'गुणुत्तरे णाणधरे'त्ति, तत्र च गुणोत्तरो–गुणप्रधानो, ज्ञानं प्रस्तावात्केवलज्ञानं तद्धरः, एकारस्यालाक्षणिकत्वाद् गुणोत्तरं यद् ज्ञानं तद्धरो वाऽत एव यशस्वी 'ओभासइ य'त्ति अवभासते प्रकाशते सूर्यवदन्तरिक्षे, यथा नभसि सूर्योऽवभासते तथाऽसावप्युत्पन्नकेवलज्ञान इति त्रयोदशसूत्रार्थः ॥ सम्प्रत्यध्ययनार्थमुपसंहरंस्तस्यैव फलमाह—

दुविहं खवेऊण य पुन्नपावं, निरंजणे सव्वओ विप्पमुक्के।
तरित्ता समुद्दं व महाभवोहं, समुद्दपाले अपुणागमं गए ॥ २४ ॥ त्तिबेमि ॥

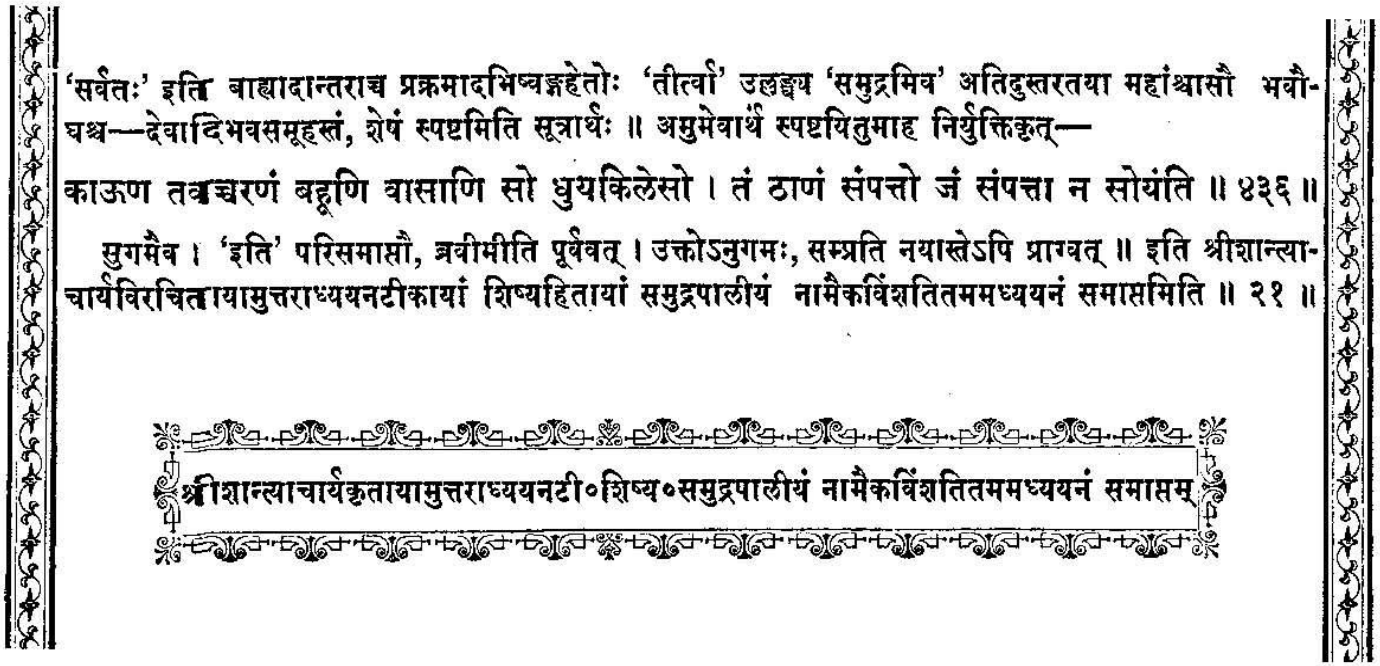
॥ समुद्दपालिज्जं ॥ २१ ॥

'द्विविधं' द्विभेदं घातिकर्मभवोपग्राहिभेदेन 'पुण्यपापं' शुभाशुभप्रकृतिरूपं 'निरञ्जनः' कर्मसङ्गरहितः, पठ्यते च—'निरंगणे'त्ति अङ्गेर्गत्यर्थत्वात् निरङ्गनः—प्रस्तावात्संयमं प्रति निश्चलः शैलेश्यवस्थाप्राप्त इतियावत्, अत एव

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२४॥

दीप अनुक्रम [७९६]



'सर्वतः' इति बाह्यादान्तराच्च प्रक्रमादभिष्वङ्गहेतोः 'तीर्त्वा' उल्लङ्घ्य 'समुद्रमिव' अतिदुस्तरतया महांश्चासौ भवौघश्च—देवादिभवसमूहस्तं, शेषं स्पष्टमिति सूत्रार्थः ॥ अमुमेवार्थं स्पष्टयितुमाह निर्युक्तिकृत्—

काऊण तवच्चरणं बहूणि वासाणि सो धुयकिलेसो । तं ठाणं संपत्तो जं संपत्ता न सोयंति ॥ ४३६ ॥

सुगमैव । 'इति' परिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् । उक्तोऽनुगमः, सम्प्रति नयास्तेऽपि प्राग्वत् ॥ इति श्रीशान्त्याचार्यविरचितायामुत्तराध्ययनटीकायां शिष्यहितायां समुद्रपालीयं नामैकविंशतितममध्ययनं समाप्तमिति ॥ २१ ॥

श्रीशान्त्याचार्यकृतायामुत्तराध्ययनटी०शिष्य०समुद्रपालीयं नामैकविंशतितममध्ययनं समाप्तम्

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भाग 36	आगम ४३/२ 'उत्तराध्ययनानि'मूलसूत्र [४/२] मूलं एवं शान्त्याचार्यजी रचिता टीका परिसमाप्ता: मूल संशोधकः सम्पादकश्च पूज्य आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराज साहेब किंचित् वैशिष्ट्य समर्पितेन सह पुन: संकलनकर्ता मुनि दीपरत्नसागरजी [M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि]

	सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि भाग १ से ४० में कहां क्या मिलेगा?		
भाग	इस भागमे समाविष्ट आगम के नाम और आगम-क्रम		कुलपृष्ठ
01	आगम ०१ आचार मूलं एवं वृत्ति भाग-१ श्रुतस्कन्ध-१, अध्ययन- १,२		३१४
02	आगम ०१ आचार मूलं एवं वृत्ति, भाग-२ श्रुतस्कन्ध-१, अध्ययन- ३ से ९, श्रुतस्कन्ध- २		५८६
03	आगम ०२ सूत्रकृत मूलं एवं वृत्ति, भाग-१ श्रुतस्कन्ध-१, अध्ययन- १ से १३		४९८
04	आगम ०२ सूत्रकृत मूलं एवं वृत्ति, भाग-२ श्रुतस्कन्ध-१, अध्ययन १४ से १६, श्रुतस्कन्ध-२		३९२
05	आगम ०३ स्थान मूलं एवं वृत्ति, भाग-१ स्थान- १ से ४		५९४
06	आगम ०३ स्थान मूलं एवं वृत्ति, भाग-२ स्थान- ५ से १० संपूर्ण		४९४
07	आगम ०४ समवाय मूलं एवं वृत्ति.		३३८
08	आगम ०५ भगवती मूलं एवं वृत्ति, भाग-१ शतक- १ से ६		५९२
09	आगम ०५ भगवती मूलं एवं वृत्ति, भाग-२ शतक- ७ से ११		५५२
10	आगम ०५ भगवती मूलं एवं वृत्ति, भाग-३ शतक- १२ से २०		५१४
11	आगम ०५ भगवती मूलं एवं वृत्ति, भाग-४ शतक- २१ से ४१ संपूर्ण		३८४
12	आगम ०६ ज्ञाताधर्मकथा मूलं एवं वृत्ति.		५२२
13	आगम-७,८,९,१०उपासकदशा, अंतकृतदशा, अनुत्तरोपपातिकदशा, प्रश्नव्याकरण मूलं एवं वृत्ति.		५३८
14	आगम-११,१२, विपाक, उववाई मूलं एवं वृत्ति.		३८४
15	आगम १३ राजप्रश्नीय मूलं एवं वृत्ति.		३१४
16	आगम१४ जीवाजीवाभिगम भाग-१ मूलं एवं वृत्ति. [प्रतिपत्ति-३-अतर्गत] सूत्र- १ से १३८		४८०
17	आगम१४ जीवाजीवाभिगम भाग-२ मूलं एवं वृत्ति. [प्रतिपत्ति-३-अतर्गत] सूत्र- १३९ से प्रतिपत्ती-१० संपूर्ण		४८८
18	आगम १५ प्रज्ञापना भाग-१ मूलं एवं वृत्ति. पद- १ से ५		४२६
19	आगम १५ प्रज्ञापना भाग-२ मूलं एवं वृत्ति. पद- ६ से २२		५१४
20	आगम १५ प्रज्ञापना भाग-३ मूलं एवं वृत्ति. पद- २३ से ३६ संपूर्ण		३३६
21	आगम १६ सूर्यप्रज्ञप्ति मूलं एवं वृत्ति.		६१०

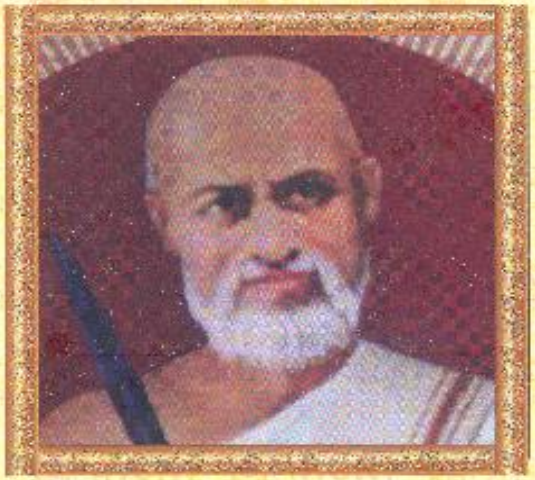
	सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि भाग १ से ४० में कहां क्या मिलेगा?		
भाग	इस भागमे समाविष्ट आगम के नाम और आगम-क्रम		कुलपृष्ठ
22	आगम १७ चन्द्रप्रज्ञप्ति मूलं एवं वृत्ति.		६१४
23	आगम१८ जंबूद्विपप्रज्ञप्ति भाग-१ मूलं एवं वृत्ति. वक्षस्कार- १ एवं २.		३७६
24	आगम१८ जंबूद्विपप्रज्ञप्ति भाग-२ मूलं एवं वृत्ति. वक्षस्कार- ३ एवं ४.		४२६
25	आगम१८ जंबूद्विपप्रज्ञप्ति भाग-३ मूलं एवं वृत्ति. वक्षस्कार- ५ से ७.		३४४
26	आगम १९-३२ निरयावलिका, कल्पवतंसिका, पुष्पिका, पुष्पचूलिका, वृष्णिदशा, चतु:शरण, आतुरपरत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान, भक्तपरिज्ञा, तंदुलवैचारिक, संस्तारक, गच्छाचार, गणिविदया, देवेन्द्रस्तव मूलं एवं छाया		३१२
27	आगम ३३ थी ३९ मरणसमाधि मूलं एवं छाया, निशीथ, बृहत्कल्प, व्यवहार, दशाश्रुतस्कंध, जीतकल्प/पंचकल्प, महानिशीथ मूलं एव		३३०
28	आगम ४० आवश्यक मूलं एवं वृत्ति, भाग-१, निर्युक्ति- १ से ५२१		४६६
29	आगम ४० आवश्यक मूलं एवं वृत्ति, भाग-२, निर्युक्ति- ५२२ से ९५१		४४२
30	आगम ४० आवश्यक मूलं एवं वृत्ति, भाग-३ निर्युक्ति- ९५२ से १२७३ अपूर्ण, [अध्ययन- १ से ४ अपूर्ण]		४६४
31	आगम ४० आवश्यक मूलं एवं वृत्ति, भाग-४ निर्युक्ति- १२७३ अपूर्ण से १६२३, [अध्ययन- ४ अपूर्ण से ६ संपूर्ण]		४२६
32	आगम ४१/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं वृत्ति.		४७२
33	आगम ४१/२ पिंडनिर्युक्ति मूलं एवं वृत्ति.		३७६
34	आगम ४२ दशवैकालिक मूलं एवं वृत्ति.		५९०
35	आगम ४३ उत्तराध्यन मूलं एवं वृत्ति, भाग-१, अध्ययन- १ से ५		५२२
36	आगम ४३ उत्तराध्यन मूलं एवं वृत्ति, भाग-२, अध्ययन- ६ से २१		४८२
37	आगम ४३ उत्तराध्यन मूलं एवं वृत्ति, भाग-३, अध्ययन- २२ से ३६		४६६
38	आगम ४४ नन्दिसूत्र मूलं एवं वृत्ति.		५२८
39	आगम ४५ अनुयोगद्वार् मूलं एवं वृत्ति.		५६०
40	कल्प[बारसा]सूत्र... चतु:शरण, तन्दुलवैचारिक, गच्छाचार मूलं एवं वृत्ति.		३९४


आगम
वाचना शताब्दी वर्ष

नमो नमो निम्मलदंसणस्स

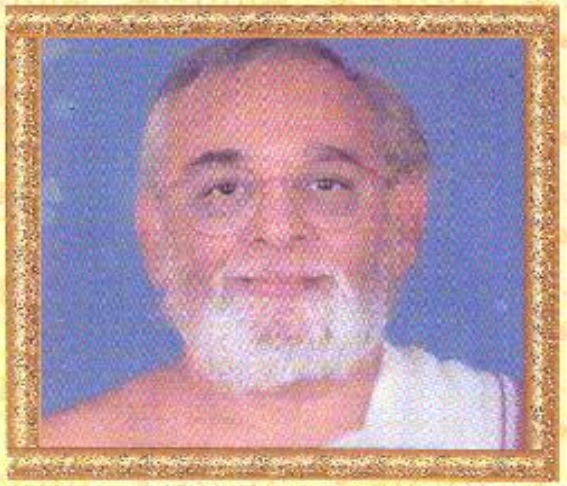
सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि

मूल संशोधक



पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्य
श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराज

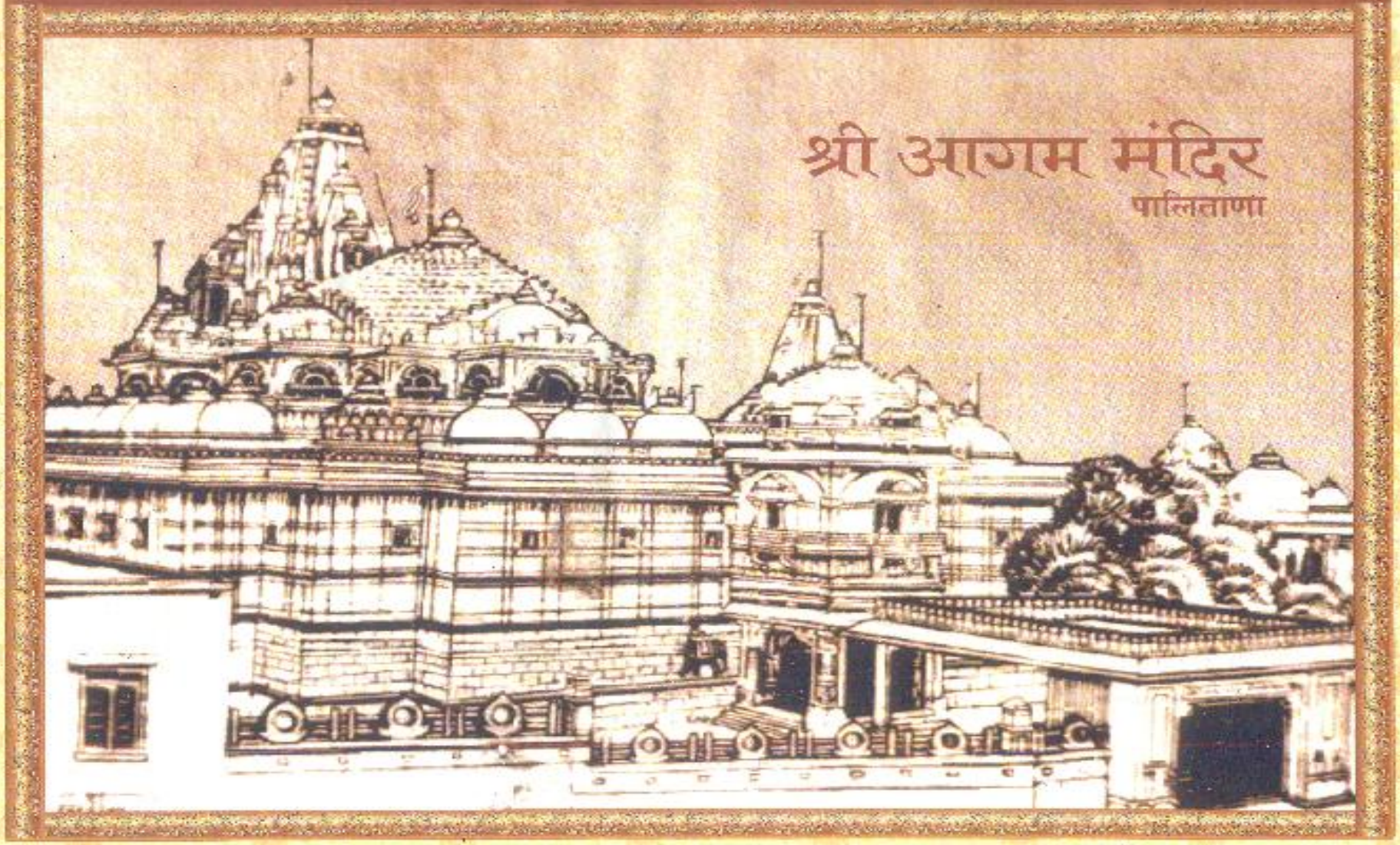
अभिनव-संकलनकर्ता

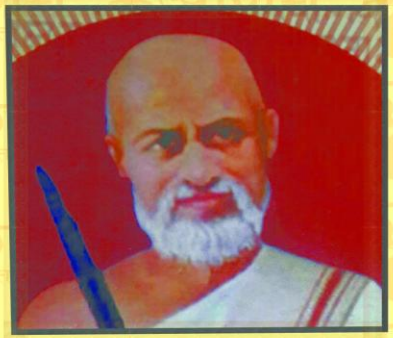


आगम दिवाकर मुनिश्री दीपरत्नसागरजी
[M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि]

प्रत-प्राप्ति और पेज-सेटिंग कर्ता : www.jainelibrary.org के चेरमन श्री प्रवीणभाई शाह, अमेरिका
मुद्रक : नवप्रभात प्रिन्टींग प्रेस अमदाबाद Mo 9825598855 / 9825306275

ईस प्रोजेक्ट के संपूर्ण-अनुदान-दाता





मूल संशोधक

पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्य

श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराजसाहेब

आगम ४३

"उत्तराध्ययनानि" मूलं एवं वृत्तिः [२]

अभिनव-संकलनकर्ता

आगम दिवाकर मुनिश्री दीपरत्नसागरजी

[M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि]

